नीति-शास्त्र

(A MANUAL OF ETHICS)

लेखक

डॉ० जे० एन० सिन्हा, एम० ए०,
पी० आर० एस०, पी-एच० डी०

भूतपूर्व अध्यक्ष, दर्शन विभाग,
मेरठ कॉलिज, मेरठ ।
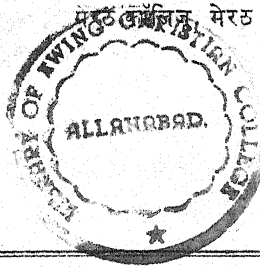
This book has been Published on the Concessional Paper
provided by the Government of India.

प्रकाशक

जय प्रकाश नाथ एण्ड कम्पनी

पुस्तक प्रकाशक—मेरठ ।

प्रस्तावना

इस पुस्तक का उद्देश्य सरल हिन्दी में प्रतीच्य और भारतीय नीति-शास्त्र के मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना है। यह पुस्तक मुख्यतया, उच्च भारतीय विश्वविद्यालयों के लिये है, जो बी० ए० के परीक्षार्थी हैं। इस परीक्षा के पाठ्यक्रम के समस्त विषयों का इसमें समावेश है।

इस समय बिहार, उत्तर प्रदेश, हरियाणा, राजस्थान, मध्य प्रदेश के विश्व-विद्यालयों में बी० ए० परीक्षा के लिये हिन्दी, अध्यापन तथा परीक्षा का एक वैकल्पिक माध्यम है। प्रस्तुत पुस्तक मेरी अंग्रेजी **"A Manual of Ethics"** नामक पुस्तक का हिन्दी अनुवाद है। श्री गोवर्धन प्रसाद भट्ट, एम० ए० पी-एच० डी० ने इसका अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद किया है। अध्यापक नेमीशरण मित्थल एम० ए० तथा अध्यापक बाँकेलाल शर्मा, एम० ए० पी-एच० डी० ने भी कुछ नये अंशों का अनुवाद किया है। मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने इस कठिन कार्य को सफलतापूर्वक पूरा किया।

वर्तमान संस्करण में पेटोन् के संगतिवाद (Coherence Theory), मूर के आदर्श उपयोगितावाद (Stoicism Cynicism), ईसाई सन्यासवाद, आर० एम० हेयर (R. M. Hare) के आदेशवाद (Prescriptive Theory), गांधी जी के सर्वोदय, श्री अरविन्द के नैतिक मानक और आध्यात्मिक स्वातन्त्र्य (Spiritual Freedom) और विश्व राष्ट्र-संघ संयोजित हुये। गांधी जी की अहिंसा की नीति और नीट्शे की प्रभुत्व की नीति संशोधित और परिवर्धित हुई।

इसमें सुखवाद, उपयोगितावाद (बन्थम् तथा मिल्), बौद्धिक उपयोगितावाद (सिजविक), आदर्श उपयोगितावाद (रैशडैल तथा मूर), विकासात्मक सुखवाद (स्पेन्सर, लेस्ली, स्टीफेन तथा अलेकजैण्डर), अपरोक्ष-ज्ञानवाद (बट्लर), तर्कवाद (कड्वर्थ, क्लार्क तथा बुलास्टन), बुद्धिपरतावाद अथवा कृच्छ्रवाद (कान्ट), आत्म-पूर्णतावाद (प्लेटो, अरस्तू, हेगेल तथा ब्रैडले), मूल्य-मानका विशद् विवरण और समीक्षायें हैं।

इसमें नीट्शे की अति-शक्ति और युद्ध की नीति, महात्मा गांधी की अहिंसा की नीति, मार्क्स का साम्यवाद और तार्किक प्रत्यक्षवादियों के भाववाद, झुकाववाद तथा आदेशवाद (Prescriptive Theory) समाविष्ट और विस्तृत रूप से आलोचित हैं। इसमें नव्य अपरोक्ष-ज्ञानवाद (Neo-Intuitionism) की भी आलोचना है। इसका अध्ययन बी० ए० ऑनर्स के विद्यार्थियों के लिये लाभदायक होगा।

भारतीय नीति-शास्त्र में नैतिक प्रत्यय, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, पुरस्कार,

दैव, कर्म, जन्मान्तरवाद, पुरुषार्थ-अर्थ, काम, धर्म, मोक्ष, दैवी सम्पद, आसुरी, सम्पद, स्थितप्रज्ञ के लक्षण आदि, सुखवाद (चार्वाक), संयम और मात्रा (गीता), आत्मा-अनात्मा-विवेक (सांख्य), सदाचार, ईश्वरीय नियम, धर्म (प्रभाकर), गीता के निष्काम कर्म अथवा कर्मयोग और कान्ट के निरपेक्ष आदेश से तुलना, अद्वैत वेदान्त की ब्रह्मानन्द-प्राप्ति, बुद्ध की अहिंसा, महावीर की अहिंसा और अनुव्रत, पतञ्जलि के यम, प्रवृत्ति और निवृत्ति की आलोचना है। इसमें श्री अरविन्द की अतिमानव की धारणा और समान-नीति की सापेक्षता और अतिमानस स्वातन्त्र्य भी समाविष्ट हैं।

इनमें व्यक्ति तथा समाज, नैतिक संस्थायें, अधिकार और कर्त्तव्य, धर्म (Virtue), अन्तःकरण, नैतिक प्रभुशक्ति, नैतिक आदेश, दण्ड के सिद्धान्त, नैतिक प्रगति, राष्ट्र के नैतिक कार्य, अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता, नैतिकता की मान्यतायें, सिद्धान्त और व्यवहार, नैतिक सापेक्षता समाविष्ट हैं।

इसमें सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक समस्यायें नैतिक दृष्टि से आलोचित हुई हैं।

जे० एन० सिन्हा

३६, एस० आर० दास रोड,
कलकत्ता—२६।

विषय-सूची

Philosophy

१ नीति-शास्त्र की परिभाषा, क्षेत्र तथा विधि

नीति-शास्त्र की संज्ञा (Definition of Ethics)—

अंग्रेजी में 'नीतिशास्त्र' का समानार्थक शब्द ईथिक्स (Ethics) है। ईथिक्स (Ethics) लैटिन विशेषण ईथोस (Ethics) से सिद्ध हुआ है। ईथोस (Ethos) रीति, प्रचलन, आदत के अर्थ में प्रयुक्त रहता है। ईथिक्स (Ethos) को नैतिक दर्शन या 'मारल फिलासफी' (Moral Philosophy) भी कहते हैं। 'मारल' (Moral) शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन 'मोर्स' (mores) से जिसका अर्थ भी रीति या आदत होता है, हुई है। रीति-रिवाज (Conventions) केवल कर्म करने की अभ्यासजन्य विधियाँ नहीं हैं, वे समाज द्वारा अनुमोदित भी होती हैं। इस प्रकार, शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से नीतिशास्त्र (Ethics), मनुष्यों की आदतों अथवा रीति-रिवाजों का विज्ञान है। यह मानव-व्यवहार (human conduct) का विज्ञान है। आदतें चरित्र की स्थायी प्रवृत्तियों के प्रकाशन हैं। चरित्र संकल्प (determination) करने की स्थायी आदत है। यह मन की आन्तरिक वृत्ति है। इसकी अभिव्यक्ति अभ्यासजन्य व्यवहार में होती है। इस प्रकार, नीति-शास्त्र आदतों अथवा चरित्र का विज्ञान है। नीति-शास्त्र मनुष्यों की आदतों की पृष्ठभूमि में स्थित सिद्धान्तों का विवेचन और उनकी अच्छाई तथा बुराई के कारणों का विश्लेषण करता है। यह आचार (Conduct) का नियामक विज्ञान है। इसे आचार शास्त्र भी कहते हैं।

नीति-शास्त्र व्यवहार की अच्छाई तथा बुराई का विज्ञान है। यह नीति का विज्ञान है। व्यवहार ऐच्छिक क्रिया (Voluntary action) को कहते हैं। इसमें संकल्प सन्निहित रहता है। इसमें योजना का तत्व वर्तमान होता है। व्यवहार चरित्र का प्रकट-रूप है। चरित्र संकल्प करने की स्थायी आदत है। संकल्प आत्मा की क्रिया है। इस प्रकार, नीति-शास्त्र के अच्छे अथवा बुरे व्यवहार में अभिव्यक्त मानव चरित्र का विज्ञान है। किन्तु अच्छाई और बुराई उस परम हित की ओर संकेत करते हैं जो मानव जीवन का आदर्श है। अत: नीति-शास्त्र उच्चतम कल्याण का विज्ञान है।[1]

नीति-शास्त्र का मनोविज्ञान की तरह व्यवहार की उत्पत्ति और विकास से सम्बन्धित नहीं हैं। इसका सम्बन्ध किसी आदर्श अथवा मान-दण्ड की तुलना में व्यवहार के मूल्यांकन से है। इसका लक्ष्यमानव व्यवहार में सन्निहित उच्चतम आदर्श का निरूपण है। यह हमें यह सिखाने का प्रयास करता है कि हम किस

1. "As the science of the Good, it is the science for excellence of the ideal and the ought." —James Seth

प्रकार मनुष्यों की आदतों अथवा चरित्र के विषय में सम्यक् नैतिक निर्णय दें, तथा किस प्रकार उसको मानव जीवन के महत्तम आदर्श की तुलना में उचित अथवा अनुचित, सत् अथवा असत् समझें। नीति-शास्त्र मानव-जीवन में सन्निहित आदर्श का विज्ञान है। यह मनुष्य के परम-मंगल का विज्ञान है।

प्रश्न यह है कि 'सत्' और 'शुभ' इन दो पदों से क्या अभिप्राय है? 'सत्—जब कोई कार्य किसी नियम का पालन करता है, तो उसे 'सत्' या 'उचित' कहा जाता है। प्रत्येक नियम के पीछे कोई प्रयोजन निहित होता है जिसकी प्राप्ति उसका लक्ष्य होता है। यही प्रयोजन 'शुभ' कहलाता है। अतः 'सत्' 'शुभ' से गौण कोटि का हुआ। 'सत्' 'शुभ' का साधन है। 'शुभ'—किसी कार्य को शुभ या अच्छा कहने से हमारा अभिप्राय यह है कि वह कार्य किसी आदर्श अथवा उद्देश्य की सिद्धि के लिये उपयुक्त है। शुभ लक्ष्य है; सत् उसका साधन है। इस प्रकार, यदि कोई कर्म किसी नियम के अनुकूल है तो सत् है। नियम लक्ष्य अथवा मंगल का साधन होता है। किन्तु लक्ष्यों की एक क्रमिक श्रृङ्खला होती है। नीति-शास्त्र का सम्बन्ध सापेक्ष अथवा गौण हितों से नहीं बल्कि निरपेक्ष अथवा उच्चतम हित से है। इसका ध्येय परम हित को निर्धारित करना है।

अतः नीति-शास्त्र को सर्वोच्च हित का विज्ञान कहा जा सकता है। मैकेंजी (Mackenzie) के अनुसार इसे, "मानव-जीवन में सन्निहित आदर्श का विज्ञान" भी कह सकते हैं। अरस्तु के अनुसार, "नीति-शास्त्र मानव जीवन के चरम लक्ष्य का अन्वेषण है। परम-हित लक्ष्य है। वस्तुतः अन्य तथाकथित लक्ष्य उस लक्ष्य के साधन हैं। नीतिविद् इसी परम-हित की खोज में सतत् प्रयत्नशील रहे हैं"[2] नीति-शास्त्र आचार का नियामक विज्ञान है।

(२) नीति-शास्त्र का स्वरूप (Nature of Ethics)—

नीति-शास्त्र एक नियामक विज्ञान (Normative Science) या आदर्श विज्ञान है। नीति-शास्त्र किसी आदर्श की प्राप्ति के दृष्टि कोण से सम्पूर्ण मानवीय अनुभव की विवेचना करता है। इसका सम्बन्ध विशेषतः मानवीय व्यवहार अथवा आन्तरिक संकल्पों तथा प्रेरणाओं सहित मानवीय कार्य-कलाप से है। नीति-शास्त्र उस सीमा तक एक विज्ञान है जहाँ तक यह एक आदर्श अथवा मानदण्ड की तुलना में मानव-व्यवहार के पर्यवेक्षण और व्याख्या के ऊपर निर्भर है।

किन्तु नीति-शास्त्र प्राकृतिक अथवा विधायक विज्ञान (Positive Science) नहीं है। इसका सम्बन्ध मानव व्यवहार की प्रकृति, उत्पत्ति और विकास से नहीं है। यह मानवीय कार्यों की किन्हीं नियमों के द्वारा व्याख्या नहीं करता। नीति-शास्त्र का सम्बन्ध मानव-व्यवहार के स्वाभाविक रूप से न होकर उस रूप से है जैसा कि मानव व्यवहार को होना चाहिये। यह मनुष्य के कार्यों के ऊपर नैतिक आदर्श की तुलना में मूल्यपरक निर्णय देता है। इसका सम्बन्ध तथ्य-सूचक निर्णय से नहीं, बल्कि

2. *Ethical Principles*, pp. 12–13.

मूल्य-सूचक निर्णय से है। तथ्य-सूचक निर्णय वस्तु-स्थिति बतलाते हैं जबकि मूल्यार्थक निर्णय यह बतलाते हैं कि क्या होना चाहिये। मूल्यपरक निर्णय समालोचनात्मक निर्णय होते हैं। इस प्रकार, नीति-शास्त्र प्राकृतिक या विधायक विज्ञान न होकर नियामक विज्ञान है।

प्राकृतिक विज्ञानों का सम्बन्ध तथ्यों (Facts) से होता है। वे उन समरूपताओं अथवा नियमों का अनुसन्धान करते हैं जो प्राकृतिक तथ्यों और घटनाओं पर शासन करते हैं। वे उन रूपों का वर्णन करते हैं जिनमें वर्ग-विशेष की वस्तुओं की सत्ता पाई जाती है, अथवा जिनके अनुसार किसी जाति-विशेष की घटनायें प्रकृति में घटित होती हैं। उनका किसी लक्ष्य अथवा आदर्श से कोई भी सम्बन्ध नहीं है जिससे तुलना किये जाने पर तथ्यों के ऊपर निर्णय दिया जाय। किन्तु, नियामक विज्ञानों का वास्तविक तथ्यों से अथवा उनके नियमों से कोई सम्पर्क नहीं होता। नियामक विज्ञानों का सम्बन्ध उन आदर्शों से होता है जो मानव-जीवन को नियन्त्रित करते हैं।

नियामक विज्ञान आदर्श, मानदण्ड अथवा मूल्यों का निर्धारण करते हैं। मानव-जीवन के तीन आदर्श हैं—'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्'। इन तीनों आदर्शों का मनुष्य के अनुभव में सर्वाधिक मूल्य है। इनका सम्बन्ध हमारे जाग्रत जीवन के तीन पहलुओं—ज्ञानात्मक, क्रियात्मक और भावात्मक—से है। सत्य के अनुसरण से संलग्न सामान्य अवस्थाओं से न्याय-शास्त्र का सम्बन्ध है। सौन्दर्य-शास्त्र का विषय सुन्दर वस्तुओं की दृष्टि से उनका कलात्मक मूल्य स्थिर करना है। परम कल्याण के अनुसरण के लिये जो उचित है उसको निर्धारित करना नीति-शास्त्र का कार्य है। सत्य, सुन्दर और परम मंगल के आदर्शों से क्रमशः सम्बन्धित होने के कारण तर्कशास्त्र सौन्दर्य शास्त्र तथा नीति-शास्त्र नियामक विज्ञान हैं। तर्क विज्ञान हमारे बौद्धिक मूल्य सूचक निर्णयों का अर्थ और व्याख्या करता है। सौन्दर्य-विज्ञान सुन्दरता विषयक, मूल्य-सूचक निर्णयों का अर्थ और व्याख्या करता है तथा नीति-विज्ञान नैतिक मूल्य-सूचक निर्णयों का अर्थ व व्याख्या करता है।

नीति-शास्त्र व्यावहारिक विज्ञान (Practical Science) नहीं है। विज्ञान हमें जानना सिखाता है। किन्तु व्यावहारिक विज्ञान हमें यह सिखाता है कि हम किसी कार्य को करना किस प्रकार जाने। या किसी विशिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति कैसे करें। इसकी स्थिति विज्ञान और कला की मध्यवर्ती है। व्यावहारिक विज्ञान का सम्बन्ध उन साधनों से है जो किसी निश्चित लक्ष्य अथवा फल की प्राप्ति के लिये आवश्यक है। चिकित्सा-विज्ञान व्यावहारिक-विज्ञान है, क्योंकि इसका उद्देश्य स्वास्थ्य के आदर्श का निर्धारण नहीं, वरन् उन उपायों की ओर संकेत करना है जिनके अवलम्बन से उत्तम स्वास्थ्य प्राप्त हो सके। किन्तु कर्त्तव्य-शास्त्र को व्यावहारिक विज्ञान नहीं कहा जा सकता। यह नैतिक आदर्श का निर्धारण-मात्र करता है, उसकी प्राप्ति के लिये नियमों अथवा साधनों को निश्चित नहीं करता। यह हमें नैतिक जीवन

व्यतीत करने के उपाय नहीं सिखाता। नियामक विज्ञान का कार्य आदर्श की परिभाषा देना है, आदर्श सिद्धि के नियमों का वर्णन करना नहीं। सौन्दर्य-विज्ञान नियामक विज्ञान है। यह सौन्दर्य के आदर्श से सम्बन्धित है; किन्तु सुन्दर वस्तु की रचना कैसे की जाये, यह प्रश्न इसके कार्य का कोई अंग नहीं। अतः नीति-शास्त्र, नियामक विज्ञान होने के नाते, शुभ अथवा सत्कर्म के आदर्श का विवेचन करता है और उसकी प्राप्ति के साधनों से इसका कोई सीधा सम्पर्क नहीं है। यह हमें जीवन के पथ-प्रदर्शक सिद्धान्तों का ज्ञान देता है, किन्तु उन सिद्धान्तों का उपयोग कैसे किया जाये, इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यद्यपि नीति-शास्त्र नियामक विज्ञान है, तथापि व्यावहारिक विज्ञान नहीं है। वस्तुतः नीति-मीमाँसा के अध्ययन का हमारे नैतिक जीवन पर कुछ प्रभाव तो अवश्य ही पड़ता है। अतः यह हमारे व्यवहार को प्रभावित करता है। किन्तु इस कारण नीति-शास्त्र क्रियात्मक विज्ञान नहीं बन जाता।

नीति-शास्त्र कला नहीं है। यदि नीति-शास्त्र को व्यावहारिक विज्ञान नहीं कहा जा सकता तो कला तो कदापि भी नहीं कहा जा सकता। हम व्यवहार की कला की तो कल्पना भी नहीं कर सकते। विद्या की कोई भी शाखा हमें नैतिक जीवन की कला नहीं सिखा सकती। यदि यह मान लिया जाय कि यह हमें नैतिक शिक्षा अथवा नैतिक व्यवहार के नियम दे सकती है, तथापि यह हमें उनका क्रियात्मक प्रयोग नहीं सिखा सकती। नैतिक शिक्षा से अनभिज्ञ होने पर भी सम्भव है कि हम चरित्र की दुर्बलता और संकल्प शक्ति के अभाव के कारण उस कार्य-रूप में परिणित न कर पायें। नैतिक जीवन की कला की शिक्षा के लिये "उपदेश की अपेक्षा उदाहरण वरणीय है" और व्यक्तिगत नैतिक अनुभव तो दोनों से श्रेष्ठ है। अतः यदि नीति शास्त्र का कार्य व्यावहारिक विज्ञान होने के नाते, उपदेश देना भी होता, तब भी वे नैतिक-जीवन की कला की शिक्षा के लिये अपर्याप्त होते। इस प्रकार, नीति शास्त्र न तो व्यावहारिक-विज्ञान है, न कला। यह एक नियामक विज्ञान मात्र है।

क्या व्यवहार की कला सम्भव है? व्यवहार की कला कहना अनुपयुक्त है। 'कला' का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया जाता है। शिल्प कलाओं व ललित कलाओं की प्रकृति समान नहीं है। शिल्प-कलाओं का उद्देश्य उन वस्तुओं का उत्पादन है जो किसी दूरस्थ प्रयोजन के लिये उपयुक्त हैं, जबकि ललित कलाओं का उद्देश्य उन वस्तुओं की सृष्टि है जो स्वतः वांछनीय हैं। एक उपयोगी वस्तुओं का उत्पादन करती है; दूसरी स्वतः मूल्यवान वस्तुओं का। तथापि दोनों का एक निश्चित फल होता है जिसका उत्पादन कला का लक्ष्य होता है। नैतिकता के विषय में यह सत्य नहीं है। यह सच है कि कर्म का अन्तिम लक्ष्य अर्थात् परम-हित की तुलना में मूल्य होता है वहाँ कार्य के अतिरिक्त कुछ नहीं है। कला और नीति-शास्त्र के मध्य निम्नलिखित अन्तर है—

मैकेंजी के अनुसार—"धर्म (Virtue) की सत्ता केवल कर्म करने में है—एक अच्छा चित्रकार वह है जो अच्छा चित्र बना सकता है। एक अच्छा मनुष्य वह है जो अच्छा कर्म करता है, वह नहीं जो सत्कर्म कर सकता है। सच्चरित्रता सामर्थ्य

त्व शक्ति नहीं, बल्कि क्रिया है।"[3] एक सत्यवादी व्यक्ति वह नहीं है जो सत्य कह सकता है, बल्कि वह है जो सत्य कहने का अभ्यस्त है। धार्मिक वह व्यक्ति है जिसने नियमित रूप से कर्त्तव्य करने की आदत डाल दी हो। अतः धर्म क्रिया का गुण है।

"धर्म का तत्व संकल्प में निहित है।"[4] कला दक्षता या कौशल की उपलब्धि का नाम है। नैतिकता संकल्प की वृत्ति-विशेष (Motive) में होती है। वाह्य अथवा दृश्य कार्य की अनुपस्थिति में भी प्रेरणा, अभिप्राय, प्रयोजन या चुनाव में से किसी न किसी संकल्प की वृत्ति सदैव विद्यमान रहती है। वाह्य क्रिया के अभाव में भी आन्तरिक मानसिक क्रिया में नैतिकता पाई जा सकती है। किसी कर्म का नैतिक गुण-दोष कार्य की आन्तरिक प्रेरणा अथवा अभिप्राय में स्थित होता है, उसके वाह्य प्रकाशनों में नहीं।

उदाहरण के लिए एक याचक सहायता के लिये आपके पास आता है। आपके पास उसकी सहायता के लिये कोई उपाय नहीं है। आप उसके दुख के निवारणार्थ कुछ करने में असमर्थ हैं; तथापि आपका हृदय उसकी सहानुभूति में विदीर्ण हो रहा है और आपकी इच्छा है कि उसकी सहायता करें, तो आप की संकल्प-वृत्ति ठीक है। जब वास्तविक कर्म सम्भव नहीं होता, तब भी संकल्प की सद्वृत्ति नैतिक दृष्टि से उचित होती है।

(३) नीति-शास्त्र विज्ञान, तथा दर्शन (Ethics Science and Philosophy)—

विज्ञान का सम्बन्ध इन्द्रियग्राह्य विषयों के विशेष भाग से होता है। यह हमारे अनुभव के एक सीमित क्षेत्र का वर्णन करता है। जबकि नीति-शास्त्र का सम्बन्ध "एक विशेष दृष्टिकोण अर्थात् कर्म अथवा आदर्शानुसरण के दृष्टिकोण से हमारे सम्पूर्ण अनुभव से है।" अतः मैकेंजी के मतानुसार, यदि विज्ञान हमारे अनुभव के अंश विशेष का अध्ययन करता है और दर्शन सम्पूर्ण अनुभव का; तो नीति-शास्त्र विज्ञान नहीं, बल्कि दर्शन का एक अंग है, क्योंकि नीति-शास्त्र मानव-जीवन के चरम उद्देश्य का विवेचन करता है और मनुष्य सम्पूर्ण अनुभव में हेतुओं से प्रेरित होकर उस चरम उद्देश्य की प्राप्ति के लिये सचेत होता है।

तथापि नीति-शास्त्र को दर्शन का एक अंग समझने की अपेक्षा नियामक-विज्ञान समझना अधिक युक्तियुक्त है। क्योंकि यह अन्य प्रकार के तथ्यों से भिन्न नैतिक तथ्यों का अध्ययन करता है अतः यह विज्ञान है। यह नैतिक तथ्यों का पर्यवेक्षण और श्रेणी-विभाग करता है तथा नैतिक आदर्श के द्वारा उनकी व्याख्या करता है। यह तार्किक और सौन्दर्य-विषयक निर्णयों से नैतिक निर्णयों के भेद का भी स्पष्टीकरण करता है तथा उनको एक तन्त्र में संगठित करता है। इस प्रकार यह वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण करता है। विश्व के तीन भागों—ईश्वर, जगत और

---

3. "A good painter is one who can paint beautifully, a good man is not one who can but one who does act rightly." —Mackenzie 'A Manual of Ethics, pp. 8-9.

4. *Ibid*, p. 8.

मनुष्य के मध्य इसका विशेष सम्बन्ध मनुष्य से है। नीति-विज्ञान का कार्य मानव-कल्याण का निर्धारण है, विश्व-कल्याण का नहीं। किन्तु दर्शन सम्पूर्ण और उसके चरम लक्ष्य का चिन्तन करता है। अतः नीति-विज्ञान दर्शन का अंग नहीं है।

तथापि नीति-शास्त्र एक नियामक विज्ञान के रूप में दर्शन के अत्यधिक समीप पहुँच जाता है। मनुष्य के परम-मंगल अथवा नैतिक आदर्श के रूप में इसे स्थूल पर्यवेक्षण की सीमाओं का अतिक्रमण कर देना पड़ता है। नैतिक आदर्श के प्रामाण्य की समीक्षा के लिये नीति-शास्त्र को दार्शनिक विवेचन के क्षेत्र में प्रवेश करना पड़ता है। नैतिक आदर्श की प्रामाणिकता के प्रश्न से सन्निबद्ध प्रश्न चरम सत्ता की मूल-प्रकृति का प्रश्न है। ईश्वर की सत्ता, आत्मा की अमरता, और इच्छा-स्वातन्त्र्य नीति-शास्त्र के ये तीन स्वीकृत-सत्य हैं। नीति-शास्त्र इन्हें कल्पित कर लेता है। यह इनको सिद्ध नहीं करता तथा उसके अन्तिम स्वभाव और प्रामाणिकता को स्थिर करने के जंजाल में नहीं पड़ता। अतः नीति-शास्त्र को व्यवहार का नियामक विज्ञान कहना चाहिए, दर्शन का अंग-विशेष नहीं।

नीति-शास्त्र दर्शन से अभिन्न नहीं है। इसके तीन कारण हैं—प्रथम, यह नैतिक-निर्णयों की प्रामाणिकता को मान लेता है और उनको तन्त्र-बद्ध करने का प्रयत्न करता है। द्वितीय, यह नैतिक-मूल्य को तार्किक और कलात्मक मूल्यों से पृथक् करता है। तृतीय, यह मूल्य-सूचक निर्णयों को तथ्य-सूचक निर्णयों से पृथक् करता है। दर्शन-शास्त्र दोनों प्रकार के निर्णयों अर्थात् मूल्य-सूचक निर्णयों व तथ्य-सूचक निर्णयों की अन्तिम प्रामाणिकता पर विचार करता है। यह तथ्यों और मूल्यों के परस्पर सम्बन्ध पर विचार करता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है सूत्र-रूप में उसका आशय इस प्रकार है—

(१) नीति-शास्त्र वह विज्ञान है, जो मानव-व्यवहार में निहित सद्सत् शुभाशुभ के मान-दण्ड से सम्बन्धित है।

(२) नीति-शास्त्र प्राकृतिक अथवा विधायक विज्ञान से भिन्न एक नियामक विज्ञान है।

(३) नीति-शास्त्र को व्यावहारिक विज्ञान कहना उचित नहीं। परन्तु व्यावहारिक जीवन पर इसका प्रभाव अवश्य पड़ता है।

(४) नीति-शास्त्र कला कदापि नहीं है।

(५) इसे व्यवहार की कला कहना भी उपयुक्त नहीं है।

(६) नीति-शास्त्र दर्शन का अंग नहीं है। किन्तु, नियामक विज्ञान के रूप में यह विधायक विज्ञान की अपेक्षा दर्शन के अधिक समीप है।

(४) नीति-शास्त्र और प्राकृतिक विज्ञान (Ethics and Natural Science)

नियामक विज्ञान और प्राकृतिक विज्ञान के मध्य अन्तर है। पहले का सम्बन्ध मूल्य-सूचक निर्णयों से है जबकि दूसरे का तथ्य-सूचक निर्णयों से। पहला

वस्तुओं के आदर्श-रूप का चिन्तन करता है, दूसरा वास्तविक रूप का। प्राकृतिक विज्ञान के सम्बन्ध वस्तुओं व घटनाओं का अपने प्राकृत रूप में होता है, जबकि नियामक विज्ञान मूल्यांकन के मान-दण्ड से सम्बन्धित है। प्राकृतिक विज्ञान में प्रयुक्त प्रक्रिया इस प्रकार है—(१) सर्वप्रथम प्राकृतिक विज्ञान सम्बन्धित तथ्यों का सम्यक् पर्यवेक्षण करता है। (२) पर्यवेक्षण के मध्य उनकी भिन्न-भिन्न जातियों को पृथक् करता है, और उनके मुख्य भेदों के अनुसार उनको श्रेणी-बद्ध करता है। (३) फिर उनकी व्याख्या की जाती है। यह व्याख्या किसी तथ्य के हेतु-निर्देश से होती है। किसी तथ्य की उचित रूप से व्याख्या तभी होती है जबकि उससे सम्बन्ध रखने वाले विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत हेतुओं की समष्टि से उसे आवश्यक-रूप से फल-स्वरूप निःसृत दिखा दिया जाता है। विज्ञान में व्याख्या का अर्थ है—वह प्रक्रिया जिसके द्वारा कोई तथ्य किसी तन्त्र के अन्तर्गत अन्य तथ्यों से सम्बन्धित कर दिया जाता है, और उसका ग्रहण, तन्त्र के एक ऐसे तत्व के रूप में हो जाता है जिसका तन्त्र से पूर्ण संवाद हो। विज्ञान में व्याख्या आंशिक (Partial) या सीमित (Limited) होती है। विज्ञान किसी दिये हुए तथ्य का अपने सीमित क्षेत्र में दर्शक यांत्रिक, रसायनिक अथवा जैविक इनमें से जो भी उसका क्षेत्र हो—सामंजस्य दिखा देने से सन्तुष्ट हो जाता है। दर्शन की व्याख्या विज्ञान की आंशिक व्याख्या से अधिक व्यापक होती है। इसका प्रयत्न विभिन्न अंगों को पारस्परिक तथा चरम सत्ता से सम्बन्ध दिखाने का होता है।

प्रश्न है कि क्या नीति-शास्त्र को उपर्युक्त किसी अर्थ में व्याख्या करने वाला कहा जा सकता है। हर्बर्ट स्पेन्सर तथा अन्य विद्वानों का मत है कि नीति-शास्त्र एक प्राकृतिक विज्ञान है? नीतिशास्त्र व अन्य प्राकृतिक विज्ञानों के मध्य अन्तर केवल इतना है कि इसकी व्याख्या अपेक्षाकृत अधिक दूरगामी होती है। इसका ध्येय नैतिक तथ्यों को मनुष्य के व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन के ज्ञात हेतुओं से सम्बन्धित करके व्याख्या करने का है। हर्बर्ट स्पेन्सर ने तो पशु-जीवन के जैविक तथ्यों तक से इनके सम्बन्धों को खोज निकालने का प्रयत्न किया है। वह नैतिक तथ्यों को सामाजिक, मानसिक और जैविक उद्विकास के परिणाम-रूप में देखता है।

किन्तु, यह मत पूर्णतः भ्रान्तिपूर्ण है। प्राकृतिक विज्ञान के विपरीत नीति-शास्त्र एक आदर्श-निर्धारक विज्ञान है। इनकी समस्या नैतिक-मूल्य-सूचक निर्णयों का अर्थ और व्याख्या करना है। यह उसी समय सम्भव है जब नैतिक मूल्य का अन्तिम लक्षण ज्ञात हो जाये। इसका प्रश्न यह है कि मानव जीवन में श्रेय क्या है?[5]

प्राकृतिक-विज्ञान परीक्षणीय तत्व ज्ञान के एक विशेष क्षेत्र में आने वाले अन्य पूर्वगामी तत्वों के द्वारा व्याख्या करने का प्रयास करते हैं। जबकि नीति-

5. *Ethical Principles*, p. 37.

शास्त्र नियामक विज्ञान के रूप में नैतिक तथ्यों का सर्वोच्च कल्याण के आदर्श की तुलना में मूल्यांकन करता है। नीति-शास्त्र यह स्वीकार कर लेता है कि नैतिक तथ्यों की व्याख्या पूर्वगामी भौतिक, शारीरिक अथवा मानसिक हेतुओं के द्वारा सम्भव नहीं है। उनकी व्याख्या नैतिक आदर्श के द्वारा ही सम्भव है। यह आदर्श वास्तविक तथ्यों से अतीत है।

नीति-शास्त्र मनुष्य के अपने तथा दूसरों पर जान-बूझ कर दिये गये नैतिक निर्णयों का अनुशीलन करता है। इस प्रकार, नीति-शास्त्र की आधार-शिला यह स्वीकृत सत्य है कि मनुष्य न केवल प्रकृति का एक अविभाज्य अंग और उसके उद्देश्यों का अन्धानुसरण करने वाला जीव है, वरन् उसे प्रकृति का अंश और उसके नियमों से शासित होने की चेतना भी है। मनुष्य विशेष परिस्थितियों में विशेष रूप से क्रियाशील भी नहीं होता; उसे परिस्थितियों और अपने मध्य के सम्बन्ध का भी ज्ञान है, इसी आधार पर वह स्वयं पर निर्णय देता है। अतः मानव व्यवहार और चरित्र के विज्ञान को भौतिक विज्ञान की शाखा-मात्र मानने का प्रयत्न कदापि सफल नहीं हो सकता। नीति-शास्त्र की व्याख्यायें भौतिक-शास्त्र के नियमों और कल्पनाओं के आधार पर नहीं हो सकतीं।[6] नीति-शास्त्र परम-हित की तुलना में मानव-व्यवहार की अच्छाई-बुराई की व्याख्या करता है। प्राकृतिक विज्ञान प्रकृति और समाज में मनुष्य को अपने वातावरण से अंगांगिभाव से सम्बन्धित देखते हैं। किन्तु, नीति-शास्त्र उसको इस सम्बन्ध को ज्ञात करने वाले के रूप में देखता है। यह ज्ञान नीति और प्राकृतिक विज्ञानों के मध्य एक खाई पैदा कर देता है। मनुष्य न केवल एक ज्ञान युक्त प्राणी है वरन् उसे आत्म-ज्ञान भी है। उसे प्राकृतिक और समाज के साथ अपने सम्बन्ध का ज्ञान है। अतः वह प्रकृति का एक भाग मात्र नहीं है। न ही उसकी उत्पत्ति जड़ प्रकृति से हुई है और न ही वह प्रकृति में लीन हो सकता है। इसके विपरीत आत्म-चेतन जीव है और आदर्शों को वास्तविक बनाना उसका ध्येय है। इसलिये, नैतिक आदर्श से व्याप्त मानव-व्यवहार और चरित्र की व्याख्या पूर्ववर्ती, भौतिक, शारीरिक और मानसिक घटनाओं के द्वारा नहीं हो सकती।

विशेष विज्ञानों की व्याख्यायें सापेक्ष होती हैं। किसी तथ्य की व्याख्या तभी निरपेक्ष और पूर्ण हो सकती है जबकि विश्व के सभी अवशिष्ट तथ्यों से उनका सम्बन्ध निर्देश कर दिया जाये। ऐसी व्याख्या केवल दर्शन का ही विषय बन सकती है, और वही व्याख्या पूर्णतया प्रामाणिक मानी जा सकती है। फिर भी, अपने-अपने क्षेत्र में विषय-विज्ञानों की व्याख्यायें प्रामाणिक मानी जाती हैं। प्राकृतिक विज्ञानों का दर्शन से, जिसका विषय सम्पूर्ण विश्व की प्रकृति और सत्यता है, कोई घनिष्ट सम्बन्ध नहीं है। किन्तु नियामक विज्ञान होने के नाते नीति-शास्त्र का दर्शन से निकट सम्बन्ध है।

---

6. Muirhead, *Elements of Ethics*, pp. 19-20.

(५) नीति-विज्ञान और तत्व-विद्या (Ethics and Metaphysics)—

नीति-विज्ञान का सम्बन्ध नैतिक निर्णयों से है। ये निर्णय मूल्य-सूचक निर्णय हैं। ये मूल्य सापेक्ष नहीं, बल्कि निरपेक्ष मूल्य हैं। व्यवहार चाहे सत् हो या असत् निरपेक्ष है। वह परिस्थिति-विशेष में क्या वांछित है क्या अवांछित ; इस प्रकार के व्यक्तिगत दृष्टिकोणों से नहीं, बल्कि एक देशकालातीत व्यापक दृष्टिकोण से होता है। नैतिकता मानव-प्रकृति की निरपेक्ष आवश्यकता है। यह चरम सत्ता की आवश्यकता है। यह हमारी विशेष देश-काल से सम्बन्धित आकस्मिक परिस्थिति-जन्य सापेक्ष आवश्यकता नहीं।[7] जो सत् है, वह स्वभावतः सत् है, तथा सार्वभौमिक दृष्टिकोण से सत् है। वह निरपेक्ष-रूप से सत् है। यदि सदसत् सापेक्ष समझे जाते हैं तो उनका अर्थ ही समाप्त हो जाता है। इस प्रकार, नीति-शास्त्र का तत्व-विद्या से घनिष्ठ सम्बन्ध है ; क्योंकि तत्व-विद्या परक हित का प्राकृत स्वरूप तथा उसका विश्व से सम्बन्ध इनका अन्वेषण करती है।

मनुष्य, प्रकृति तथा समाज से अपने सम्बन्ध का ज्ञान रखता है। विश्व एक दूसरे से संयुक्त अंशों का एक तन्त्र है। मनुष्य को विश्व में अंगांगिभाग से सम्बन्धित होने की चेतना है। सत्ता का अन्तिम स्वरूप निर्धारित करना तत्व-ज्ञान का विषय है। इस प्रकार, नीति-शास्त्र, दर्शन के अत्यन्त निकट आ जाता है, क्योंकि यह मनुष्य को अपने प्राकृतिक तथा सामाजिक वातावरण से सम्बन्धित ही नहीं समझाता बल्कि इसके ज्ञान से युक्त भी। इसके विपरीत प्राकृतिक विज्ञानों का सम्पूर्ण विश्व से कोई सम्बन्ध नहीं है। उन्हें अनुभव के क्षेत्र-विशेष से ही तथ्यों का सामंजस्य दिखा देने से सन्तोष हो जाता है। नीति-विज्ञान प्राकृतिक विज्ञानों की अपेक्षा तत्व विद्या से अधिक सम्बन्धित है।

(६) नीति-विज्ञान का क्षेत्र (Province or Scope of Ethics)—

नीति-विज्ञान के क्षेत्र से अभिप्राय उसके विषय विस्तार से है। नियामक विज्ञान होने के कारण नीति-शास्त्र नैतिक आदर्श की परिभाषा देने का उपक्रम करता है। इसका मानव-व्यवहार की प्रकृति, उत्पत्ति अथवा विकास से कोई सम्पर्क नहीं है। इसका सम्पर्क उस आदर्श अथवा मानदण्ड से है जिससे हमारे व्यवहार का अविरोध होना चाहिये। किन्तु, व्यवहार के आदर्श की परीक्षा करने के पूर्व इसे व्यवहार के स्वभाव से परिचित होना चाहिये। व्यवहार चरित्र का प्रकाशन है। चरित्र संकल्प का अभ्यस्त रूप है। यह मन की आन्तरिक-वृत्ति अथवा अभ्यस्त क्रियाओं से उत्पन्न स्थायी प्रवृत्ति है। कभी-कभी आचार-शास्त्र को चरित्र का विज्ञान भी कहा जाता है। किन्तु, चरित्र के स्वरूप को जानने के लिये, नीति-विज्ञान के लिये यह आवश्यक है कि कार्यों के स्रोत, प्रेरणा, अभिप्राय, ऐच्छिक क्रिया, अनैच्छिक क्रिया तथा ज्ञातव्य वस्तुओं का भी स्वरूप जान लिया जाय। इस प्रकार, नीति-शास्त्र की स्थापना मनोवैज्ञानिक आधार पर होनी चाहिये।

---

7. *Elements of Ethics*. p. 33.

किन्तु, नीति-शास्त्र उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक तत्वों का ज्ञान उनके ऊपर नैतिक निर्णय देने के उद्देश्य से ही प्राप्त करता है। नीति-शास्त्र की मौलिक समस्या तो नैतिक आदर्श का स्वरूप है, जिसकी तुलना में नैतिक निर्णय दिया जाता है। नैतिक आदर्श क्या है ? परम मंगल क्या है ? सब कार्यों में किस वस्तु को सत् कहा जाता है ? यद्यपि नीति-शास्त्र परम हित स्वरूप का अनुसन्धान करता है, तथापि यह उसकी सिद्धि के हेतु नियमों की रचना नहीं करता। न ही नीति-शास्त्र नैतिक जीवन के साधनों का अन्वेषण ही करता है।

जब कोई कर्म नैतिक आदर्श के अनुसार होता है, तो वह सत् कहलाता है। जब उसके विरुद्ध होता है, तो वह असत् कहलाता है। सत्कर्म कर्त्तव्य कहलाते हैं। नैतिक नियमों के द्वारा जिस प्रयोजन की सिद्धि होती है उसे हित कहते हैं। साध्य और साधनों की एक क्रमिक श्रेणी होती है। अतः बहुसंख्यक हित सापेक्ष होते हैं, और एक हित निरपेक्ष हित होता है। नीति-शास्त्र का सम्बन्ध निरपेक्ष हित अथवा परम मंगल से होता है। इस प्रकार, नीति-शास्त्र के आधारभूत प्रत्यय 'सत्' 'कर्त्तव्य' और 'शुभ' हैं जिनके स्वभाव का यह अनुसन्धान करता है।

नीति-शास्त्र का सम्बन्ध नैतिक निर्णय के स्वभाव, विषय, नैतिक शक्ति तथा मानदण्ड से है। नैतिक भावनायें व अनुमोदन, पश्चाताप, तथा ऐसी ही अन्य भावनायें नैतिक निर्णयों की सहगामिनी होती हैं। नीति-शास्त्र नैतिक भावनाओं की प्रकृति तथा उनका नैतिक निर्णयों से सम्बन्ध का भी विचार करता है। नैतिक बाध्यता अथवा कर्त्तव्य-बुद्धि भी नैतिक निर्णय के साथ रहती है। जब हम किसी वस्तु को सत् देखते हैं, तो हमें उसे करने के लिये नैतिक बाध्यता अनुभव होती है। इसी प्रकार. जब हम किसी चीज को असत् देखते हैं, तो उसे न करने के लिये भी नैतिक बाध्यता अनुभव होती है। इस कर्त्तव्य-बुद्धि अथवा नैतिक बाध्यता की व्याख्या करना भी नीति-शास्त्र कार्य है। कर्त्तव्य-बुद्धि की प्रकृति क्या है ? इसकी उत्पत्ति कैसे होती है ? इसका स्रोत क्या है ? अपने व्यवहार के लिये हम किसके प्रति उत्तरदायी हैं ?

हमारे सत्कर्मों से पुण्य होता है ; असत्कर्मों से पाप होता है। नीति-शास्त्र पुण्य-पाप तथा धर्माधर्म के लक्षणों का विवेचन करता है। नीति-शास्त्र यह अध्ययन करने का प्रयास करता है कि कोई कम पुण्य-कर्म क्यों होता है।

नीति-शास्त्र के लिये इच्छा स्वातन्त्र्य या स्वतन्त्र-कर्त्तव्य एक स्वीकृत सत्य है। यह मनुष्य के कर्म-स्वातन्त्र्य की प्रकृति का विवेचन करता है। हम अपने कर्मो के लिये स्वयं उत्तरदायी हैं। नीति-विज्ञान उत्तरदायित्व के अर्थ का विश्लेषण करता है। अपराधी अपने अपराधों के लिये उत्तरदायी हैं। अतः वे दण्डनीय हैं। नीति-शास्त्र दण्ड के नैतिक समर्थन का कारण बतलाता है। यह हमें कर्त्तव्यों और चरित्र के गुणों का स्वरूप बताता है, जो कि नैतिक मानदण्ड से निश्चित किये गये हैं।

यद्यपि नीति-शास्त्र का अपना अलग क्षेत्र है, तथापि यह अध्ययन के अन्य

समस्त विषयों से नितान्त भिन्न नहीं है। इसे परोक्ष रूप से मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, समाजविज्ञान सम्बन्धी तथा राजनैतिक, अनेक प्रकार की समस्याओं में उलझना पड़ता है। नीति-शास्त्र की मनोवैज्ञानिक समस्यायें इस प्रकार हैं—ऐच्छिक कर्म का स्वरूप, कार्यों की प्रेरणाओं का श्रेणी विभाग, और इच्छा तथा सुख का सम्बन्ध। दार्शनिक समस्यायें इस प्रकार हैं—मानव-व्यक्तित्व का तात्विक स्वरूप, इच्छा-स्वातन्त्र्य, आत्मा की अमरता, ईश्वर का अस्तित्व और पूर्णता, तथा विश्व का नैतिक नियन्त्रण। समाज-विज्ञान सम्बन्धी समस्यायें इस प्रकार हैं—व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध। राजनीतिक समस्यायें इस प्रकार हैं—व्यक्ति और राष्ट्र का सम्बन्ध तथा राष्ट्र का नैतिक आधार और उसके नैतिक कार्य।

(७) नीति-शास्त्र की विधियाँ (Methods of Ethics)—

नीति-शास्त्रियों के विभिन्न सम्प्रदाय नैतिक-तथ्यों के अनुसन्धान के लिये अलग-अलग विधियाँ अपनाते हैं। भौतिक तथा जैविक, ऐतिहासिक अथवा जन्म-प्रदर्शक, मनोवैज्ञानिक, और दार्शनिक, इन पद्धतियों का आश्रय अनेक नीति-शास्त्रिज्ञों ने लिया है।

भौतिक और जैविक विधि (Physical and Biological Method)—हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) के अनुसार, नैतिकता का विकास असभ्य-जातियों के व्यवहार से और निम्न श्रेणी के प्राणियों के व्यवहार से हुआ है, जो सुख-लाभ और दुख-निवृत्ति में सतत् यत्नशील रहते हैं। सुख जीवन-शक्ति की वृद्धि का लक्षण है। दु:ख जीवन-शक्ति की न्यूनता का लक्षण है। मूलत: जीवन-शक्ति जड़ द्रव्य और गति का ही एक रूप है। इस प्रकार, स्पेन्सर नैतिक नियमों को सामाजिक नियमों से, सामाजिक नियमों को मनोवैज्ञानिक नियमों से, मनोवैज्ञानिक नियमों को जैविक नियमों से, और जैविक नियमों को भौतिक नियमों से निगमन करता है। उसके मत मे नीति-शास्त्र एक प्राकृतिक अथवा विधायक विज्ञान (Natural or Positive Science) है।

नीति-शास्त्र एक नियामक विज्ञान या आदर्श विज्ञान है। आदर्श का विकास तथ्यों से असम्भव है। नैतिक तथ्यों का इतिहास उनकी प्रामाणिकता को सिद्ध नहीं कर सकता। प्राकृतिक विज्ञानों की पद्धति से नीति-शास्त्र मनुष्य के उच्चतम कल्याण को नहीं समझ सकता। नीति-शास्त्र नियामक विज्ञान है, अत: उनकी पद्धति भौतिक या जैविक नहीं हो सकती। नैतिकता एक विलक्षण वस्तु है। वह भौतिक, जैविक तथा सामाजिक वस्तुओं से पृथक् है। नीति-विज्ञान वास्तविक तथ्यों का अनुसन्धान न कर आदर्श का अनुसन्धान करता है।

ऐतिहासिक अथवा उत्पत्ति-प्रदर्शक विधि (Historical and Genetic Method)—हर्बर्ट स्पेन्सर, लेस्ली स्टीफेन् (Stephen) तथा अन्य उद्विकासवादी इस मत के समर्थक हैं कि नैतिक प्रत्यय क्रमिक रूप से आदिम मनुष्यों के असंस्कृत रीति-रिवाजों के विकसित रूप हैं। नैतिकता, सामाजिक उद्विकास का परिणाम है। नीति-शास्त्र का कार्य नैतिक विचारों की उत्पत्ति और विकास की व्याख्या करना

है। नीति-शास्त्र समाज-विज्ञान का एक अंग है। इसकी पद्धति समाज-वैज्ञानिक अथवा ऐतिहासिक है।

यह मत भ्रान्तिपूर्ण है। नीति-शास्त्र प्राकृतिक विज्ञानों से भिन्न एक नियामक विज्ञान है। इसका कार्य नैतिक विचारों की उत्पत्ति तथा विकास का अध्ययन न कर नैतिक आदर्श की तुलना में उनका मूल्यांकन करना है। नैतिकता का विकास अनैतिक वस्तुओं से सम्भव नहीं है। नैतिक आदर्श की प्राप्ति वास्तविक तथ्यों से सम्भव नहीं है। नीति-शास्त्र का आलोच्य विषय ऐतिहासिक तथ्य नहीं, बल्कि उनका शाश्वत अर्थ और व्याख्या है। वास्तविकता की आदर्श से तुलना इसका ध्येय है। नैतिक आदर्श का अन्वेषण इस पद्धति से नहीं किया जा सकता। ऐतिहासिक विधि तथ्यों का तो स्वरूप बतला सकती है—आदर्श का नहीं।

मनोवैज्ञानिक विधि (Psychological Methods)—ह्यूम (Hume), बेन्थम (Bentham), जे० एस० मिल (J. S. Mill), बेन (Bain) आदि विद्वानों का मत है कि नैतिक तथ्य चेतना के तथ्य हैं, और उनका मनोवैज्ञानिक अध्ययन हो सकता है। नीति-शास्त्र को मनोवैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण करना चाहिये। मनुष्य के परम मंगल का निर्धारण, मानव-कर्मों की प्रेरणाओं के विश्लेषण तथा सहानुभूति, अन्तःकरण इत्यादि की उत्पत्ति के अन्वेषण के द्वारा करना चाहिये। उनके 'सुखवाद का नैतिक सिद्धांतों' अर्थात्—सुख ही परम मंगल है—इस वास्तविक तथ्य के ऊपर आधारित है कि सब मनुष्य स्वभावतः सुख की खोज और दुःख का परित्याग करते हैं।

यह मत भी प्रमादपूर्ण है। मनोवैज्ञानिक यथार्थ मानसिक तथ्यों का विचार करता है। नीति-शास्त्र उस आदर्श से सम्बन्ध रखता है जिसका हमें अपने कार्यों में अनुसरण करना चाहिये। आदर्श की वास्तविक तथ्यों से व्याख्या नहीं हो सकती। मनोविज्ञान नैतिक तथ्यों की प्रकृति का अन्वेषण और उनका उनके घटकों में विश्लेषण कर सकता है। किन्तु यह उनका अर्थ और प्रामाण्य बिना नैतिक आदर्श की ओर संकेत किये नहीं बता सकता। नैतिक तथ्यों की मनोवैज्ञानिक उत्पत्ति उनके नैतिक मूल्य का कारण नहीं बता सकती। इस तथ्य के आधार पर कि प्रत्येक व्यक्ति सुख की इच्छा करता है—सुख का वांच्छितत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। एक वास्तविक तथ्य का कथन-मात्र है; दूसरा आदर्श का। वास्तविक तथ्य द्वारा आदर्श को नहीं समझाया जा सकता।

दार्शनिक विधि—हेगेल (Hegel), ग्रीन (Green) तथा अन्य चैतन्यवादियों का मत है कि मनुष्य का नैतिक आदर्श सम्पूर्ण विश्व की प्रकृति की अनुमति से हो सकता है। अन्तिम सद्वस्तु निरपेक्ष ब्रह्म है। यह एक शाश्वत् असीम आत्मा है जो स्वयं को प्रकृति के रूप में अभिव्यक्त करता है। अतः अंशतः सीमित जीवात्माओं में जन्म धारण करता है। इस प्रकार, मनुष्य की आत्मा प्रकृति से अतीत है, ईश्वर का सम स्वभाव है, और शनैः शनैः ईश्वर के द्वारा प्रकाशित आदर्श की सिद्धि करता है। मनुष्य के अन्दर जो नैतिक आदर्श है वह उस ईश्वर का अपूर्ण प्रतिबिम्ब

है जो नैतिक पूर्णता की शाश्वत प्रतिमा है। वह आदर्श ईश्वरी पूर्णता का एक प्रकाशन-मात्र है। नीति-शास्त्र का आधार दर्शन या तत्वविद्या है। अतः इसकी विधि दार्शनिक विधि है।

यह मत भी भ्रान्तिपूर्ण है। नीति-शास्त्र नियामक विज्ञान है। इसका सम्बन्ध नैतिक आदर्श से है। इसलिये प्राकृतिक विज्ञानों में प्रयुक्त प्रत्यक्षमूलक-पद्धति इसमें स्वीकृत नहीं है। साथ ही, यह दार्शनिक पद्धति भी नहीं हो सकती। नीति-शास्त्र दर्शन का अंग नहीं हैं यद्यपि दर्शन से इसका निकट सम्बन्ध अवश्य है। पर दर्शन इसका आधार नहीं है। वरन यह दर्शन का आधार है। यह नैतिक आदर्श की खोज करता है। दर्शन, प्राकृतिक तथा नियामक दोनों प्रकार के विज्ञानों पर आश्रित है। यह तथ्यों और आदर्शों को एक संवादित-तन्त्र में संगठित करता है।

नीति-शास्त्र की विधि अनुभव-मूलक और अनुभवातीत दोनों हैं—नीति-शास्त्र की पद्धति वैज्ञानिक भी है और दार्शनिक भी। यह अनुभवमूलक भी है और अनुभवातीत भी। म्यूरहेड का विचार है कि अन्य विज्ञानों के समान नीति-विज्ञान भी नैतिक तथ्यों का सम्यक् पर्यवेक्षण, श्रेणी-विभाग और व्याख्या करता है। किन्तु यह उनकी व्याख्या अन्य पूर्ववर्ती तथ्यों से सम्बन्ध-निर्देश द्वारा नहीं करता। यह एक निम्न-श्रेणी की व्याख्या है। किन्तु नीति-शास्त्र नैतिक तथ्यों को विश्व तन्त्र के आवश्यक अवियोज्य भाग दिखाकर उनकी व्याख्या करता है। इस प्रकार, नैतिक तथ्यों का अन्य तथ्यों मात्र से नहीं बल्कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड से सम्बन्ध दिखाया जाता है। यह उच्च-श्रेणी की व्याख्या है। दूसरे शब्दों में नीति-शास्त्र की विधि वैज्ञानिक और दार्शनिक दोनों हैं। यह नैतिक तथ्यों का पर्यवेक्षण और वर्गीकरण करता है तथा एक तन्त्र से उन्हें सम्बन्धित करता है। नैतिक आदर्श विश्व-तन्त्र का एक आवश्यक घटक है। उसी के प्रकाश में नीति-शास्त्र नैतिक तथ्यों का अर्थ और व्याख्या करता है।

जेम्स सेथ (James Seth) का भी यही मत है। वैज्ञानिक पद्धति सदा एक-सी होती है। यह सामान्य बुद्धि के निर्णयों को एक तन्त्र में संगठित करती है। जिस प्रकार अन्य विज्ञान वास्तविकता सम्बन्धी सामान्य बुद्धि के निर्णयों को तन्त्रबद्ध करते हैं, उसी प्रकार नीति-शास्त्र नैतिक-मूल्य-सम्बन्धी सामान्य-बुद्धि के निर्णयों को तन्त्र-बद्ध करता है। किन्तु इस वैज्ञानिक पद्धति का दार्शनिक पद्धति से योग होना चाहिये। सेथ का कथन है कि नीति-शास्त्र का संकीर्ण वैज्ञानिक कार्य के अतिरिक्त व्यापक दार्शनिक कार्य भी है। तथ्य-सूचक निर्णय वर्णनात्मक होता है, मूल्य-सूचक निर्णय विवेचनात्मक। परिवर्ती निर्णय का दृष्टिकोण प्रत्यक्ष मूलक नहीं वरन् प्रत्यक्षातीत होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि ऐसे निर्णयों का संगठन करने वाला विज्ञान भी दर्शन के समान प्रत्यक्षातीत होगा। वुन्ड्ट का भी यही मत है कि नीति शास्त्र की विधि वैज्ञानिक और दार्शनिक, अनुभवमूलक और अनुभवातीत, प्रत्यक्षमूलक और विचार-मूलक दोनों हैं।

(८) नीति-शास्त्र का उद्देश्य (End of Ethics)—

नीति-शास्त्र का उद्देश्य समाज के एक सदस्य के रूप में मनुष्य के परम-हित के स्वरूप को निश्चित करना है। नीति-शास्त्र परम कल्याण का अनुसंधान करता है, जो सर्वोच्च व्यक्तिगत और सामाजिक हित है। यही सब नैतिक विभिन्नताओं का मूल है। व्यवहार की अच्छाई और बुराई के प्रयत्नों का यही स्रोत है। नीति-शास्त्र का सैद्धान्तिक उद्देश्य यही है। यद्यपि नीति-शास्त्र व्यावहारिक विज्ञान नहीं है, तथापि वह सर्वोच्च हित के विचार से मूर्त कर्त्तव्यों और चरित्र गुणों का अनुमान करता है। यही व्यवहार को नियमित करने में हमारा पथ-प्रदर्शन करते हैं। नीति-शास्त्र सैद्धान्तिक विज्ञान है, व्यावहारिक नहीं। यह नैतिक जीवन-यापन करने की प्रणाली नहीं बताता। तथापि सर्वोच्च हित से अनुचित कर्त्तव्य और चरित्र गुण या धर्म हमारे क्रियात्मक जीवन और व्यवहार के नियन्त्रण पर परोक्ष-रूप से प्रभाव डालते हैं। क्रिया, सिद्धान्त का प्रकाशन है। नीति-शास्त्र नैतिकता की मीमांसा है। यह नैतिकता के सामान्य प्रत्ययों की आलोचना करता है और उसके युक्ति युक्त तथा आवश्यक तत्वों को ढूंढता है। नीति-विज्ञान चिन्तनात्मक विज्ञान है, व्यावहारिक नहीं।

(९) नीति-शास्त्र के अध्ययन से लाभ (Utility of the Study of Ethics)—

विज्ञान लौकिक बुद्धि की आलोचना है। अतः नीतिशास्त्र अस्पष्ट और कतिपय भ्रान्त, प्रचलित सद्सत् विषय धारणाओं का खण्डन करता है। यह सामाजिक-रीति और रिवाजों के तथा सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक प्रथाओं के दोषों को प्रकाश में लाता है तथा नैतिक आदर्श के स्वरूप के सम्बन्ध में हमारे विवेक को जाग्रत करता है। इसकी आलोचना का परिणाम विविध भ्रान्त धारणाओं का निराकरण तथा लोकप्रिय विश्वासों के विसंवादों का परित्याग होता है।

भ्रान्तियों के निर्देश के फलस्वरूप कुछ भ्रामक तथा युक्तिहीन बातें तो क्रमशः छूट जायेंगी। सदोष विचारों के परित्याग में दोषपूर्ण कार्यों की सम्भावना कम हो जाती है।

नीति-शास्त्र जनप्रिय नैतिकता के मूल पर आक्रमण करता है तथा नैतिकता में जो कुछ भी आवश्यक और प्रमाणित है उसे सुदृढ़ भित्ति पर खड़ा करता है। युक्तियुक्त आलोचना के द्वारा नीति-शास्त्र सृजनात्मक कार्य के लिये तत्पर हो जाता है। यह नैतिकता में आवश्यक को अनावश्यक से, शाश्वत को परिवर्तनशील से, सार को असार से विविक्त करके मानव-स्वभाव में व्याप्त तत्व को उस सम्मान तथा पवित्रता से आभूषित करता है जो कि परम्परा-मात्र होने से उसे प्राप्त नहीं थे।[8]

कर्त्तव्यों में नैतिक अन्तर्दृष्टि के द्वारा उचित आचरण सम्भव हो जाता है। सिद्धान्त अवश्यम्भावी रूप से क्रिया को प्रभावित करता है। सुकरात (Socrates) का सिद्धान्त "ज्ञान ही धर्म है"—किसी सीमा तक उचित है। सैद्धान्तिक नीति-शास्त्र व्यावहारिक नीति-शास्त्र का सुदृढ़ आधार है। नैतिक आदर्श के द्वारा

8. *Elements of Ethics*, pp. 15–16.

कर्त्तव्यों का निर्धारण करना चाहिये। धर्म, ज्ञान तथा अभ्यास पर निर्भर है। अभ्यास नैतिक जीवन से प्रभावित होता है। इसलिये कहा जाता है कि उदाहरण उपदेश से उत्कृष्ट है।" नीति-शास्त्र का अध्ययन यद्यपि जीवन को अवश्यम्भावी रूप से नैतिक नहीं बनाता है, परन्तु प्रभावित अवश्य करता है। यह पाठक की दृष्टि को व्यापक, गम्भीर और दार्शनिक बनाता है।

परोक्ष-रूप से नीति-शास्त्र हमारे व्यावहारिक जीवन के सभी अंगों पर प्रभाव डालता है। धर्म, राजनीति, अर्थशास्त्र, विधान, शिक्षा इत्यादि की महत्वपूर्ण समस्याओं का समुचित हल सदसत् के स्पष्ट विचारों पर आश्रित है। धर्म का आधार नीति-शास्त्र होना चाहिये। नैतिकता से शून्य (devoid) धर्म विवेकशून्य अतिमानवीय शक्ति, जादू-टोना और अन्य अन्ध-विश्वासों में पतित हो जाता है। राजनीति का निर्माण नीति-शास्त्र के द्वारा होना चाहिये। शक्ति का आधार नीति होना चाहिये। अनैतिक नियमों को तोड़ दिया जाना चाहिये। जनता के नैतिक स्वास्थ्य की उन्नति के हेतु विधान बनना चाहिये। अर्थशास्त्र का आधार नीति-शास्त्र होना चाहिये। सम्पत्ति का उत्पादन, वितरण और उपभोग (Consumption) न्याय तथा साम्य के आधार पर होना चाहिये। शिक्षा के क्षेत्र में नीति-शास्त्र ही यह निर्णय करेगा कि बालकों की किन प्रवृत्तियों की वृद्धि तथा किनका निग्रह होना चाहिये। नीति-शास्त्र को मानव कार्य के सभी विभागों का आलिंगन करना चाहिये और उनका परिष्कार करते हुए मानव जाति को उच्चतर स्तर पर पहुँचा देना चाहिये। नीति—राजनीति, अर्थनीति, सामाजिक जीवन तथा धर्म का आधार है, नीति-विरुद्ध मनुष्य-जीवन पशु-जीवन है। नैतिक जीवन ही मनुष्योचित है।

(१) नीति-शास्त्र नियामक विज्ञान है, कला नहीं

नीति-शास्त्र नियामक विज्ञान इसलिये है कि वह परम श्रेय को जानने का प्रयास करता है। नीति-शास्त्र कला नहीं है, क्योंकि वह नैतिक आदर्शों की प्राप्ति के लिये नियम निर्धारित नहीं करता। नीति-शास्त्र एक सैद्धान्तिक विज्ञान है, व्यावहारिक विज्ञान नहीं।

लेकिन सिद्धान्त को व्यवहार से पूरी तरह अलग नहीं किया जा सकता। सिद्धान्त व्यवहार पर आधारित होता है और उस पर प्रभाव डालता है। उचित और अनुचित का तथा नैतिक सिद्धान्त का नीतिशास्त्रीय विवेचन हमारे व्यावहारिक नैतिक जीवन और उचित-अनुचित कर्मों के विषय में सामान्य व्यक्तियों की प्रचलित धारणाओं पर आधारित होता है। नीति-शास्त्र, लौकिक नैतिकता की आवश्यक बातों को ग्रहण करता है और अनावश्यक बातों को छोड़ देता है, यह आवश्यक बातों की पारस्परिक असंगतियों को दूर करके उन्हें एक सुसंगत यन्त्र का रूप देता है। जिन नैतिक सिद्धांतों पर नीति-शास्त्र अन्त में पहुँचता है, वे हमारे व्यावहारिक नैतिक जीवन पर प्रभाव डालते हैं और उनमें परिवर्तन लाते हैं। नैतिक सिद्धान्त, नैतिक आचरण में प्रकट होता है। इस प्रकार नैतिक सिद्धान्त और नैतिक व्यवहार परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं। उन्हें एक दूसरे से दूर रख सकना सम्भव नहीं है।

२ नीति-शास्त्र का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध

(१) नीति-शास्त्र का भौतिक विज्ञानों से सम्बन्ध
(Relation of Ethics to Physical Sciences)—

भौतिक विज्ञान भौतिक परिस्थितियों का विचार करते हैं। नीति-शास्त्र नैतिकता का विचार करता है। किन्तु, नैतिक जीवन प्राकृतिक स्थितियों में व्यतीत होता है तथा इसका भौतिक वातावरण से विच्छेद नहीं हो सकता। प्रकृति के नियमों का ज्ञान हमें निर्भीक बना देता है। सागर, आकाश, पर्वत और मरुस्थल फिर हमें भयानक प्रतीत नहीं होते। ज्ञान शक्ति है। प्रकृति के रहस्यों का ज्ञान परोक्ष-रूप से हमारे नैतिक जीवन को प्रभावान्वित करता है। भौतिक विज्ञान हमें भौतिक वातावरण को समझने में सहायक होते हैं, जिनके मध्य हमारा नैतिक-जीवन-यापन होता है। वे स्वयं नैतिक जीवन के स्वरूप का अन्वेषण नहीं करते। इस प्रकार नीति-शास्त्र परोक्षतः भौतिक विज्ञानों से सम्बन्धित है। नीति-शास्त्र का भौतिक विज्ञानों से घनिष्ट सम्बन्ध नहीं है।

(२) नीति-शास्त्र का जीव-विज्ञान से सम्बन्ध
(Relation of Ethics to Biology)—

नीति-शास्त्र नैतिकता अथवा मानव-व्यवहार का विज्ञान है। मानव-जीवन मानसिक जीवन मात्र नहीं है, वरन् शारीरिक जीवन भी है। मन का शरीर से अटूट सम्बन्ध है। कई कर्त्तव्यों (उदाहरणार्थ मिताहार) के आधार शरीर हेतु हैं, तथा बिना उनके सम्बन्ध दिखाये वे बुद्धिगम्य नहीं हो सकते। इस प्रकार, नैतिक जीवन का शारीरिक जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध है, तथा नीति-शास्त्र परोक्षतः जीव-विज्ञान से सम्बन्धित है।

किन्तु, हर्बर्ट स्पेन्सर की यह धारणा कि शुभ अथवा अशुभ व्यवहार का लक्षण जीवन के विकास का उत्कर्ष अथवा अवरोध करने की प्रवृत्ति में निहित है भ्रान्तिपूर्ण है। नैतिकता की कुन्जी शरीर के जीवन में उपलब्ध नहीं है। विवेक-युक्त इच्छा के अभाव में नैतिक व्यवहार का कोई अर्थ नहीं रह जाता। शारीरिक जीव का विकास जीवन के महान् उद्देश्य का एक गौण अंश है। इस प्रकार, जीव-विज्ञान का नीति-शास्त्र पर प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं है।

(३) नीति-शास्त्र का मनोविज्ञान के सम्बन्ध
(Relation of Ethics to Psychology)—

नीति-शास्त्र व्यवहार का नियामक विज्ञान है। यह मानव-जीवन के चरम लक्ष्य—परम हित के स्वरूप का निर्णय करता है। यह परम कल्याण के मानदण्ड को

स्थिर करता है, जिसके द्वारा हमारे संकल्पों और कार्यों का निर्धारण होना चाहिये। यह इस बात की शिक्षा देता है कि हमें कैसे संकल्प करना चाहिये। किन्तु, इस निश्चय के पूर्व हमें यह जानना चाहिये कि संकल्प किस प्रकार किया जाता है? मनोविज्ञान हमें बतलाता है कि हमारा वास्तविक संकल्प किस प्रकार होता है। इस प्रकार नीति-शास्त्र मनोविज्ञान पर आधारित है। यह इच्छा-शक्ति के मनोविज्ञान का आश्रय लेता है। मनोविज्ञान, नीति-शास्त्र का आधार है। अतः नीति-शास्त्र, नैतिकता के मनोवैज्ञानिक आधार का अध्ययन करता है।

संकल्प-शक्ति के स्वरूप का सम्यक् विश्लेषण, विभिन्न क्रियाओं जैसे—ऐच्छिक क्रिया की प्रवर्तनाओं, कामना, प्रयोजन, अभिप्राय, सुख इत्यादि से सम्बन्ध, नैतिक और अनैतिक कार्यों का भेद, अन्तःकरण अथवा नैतिक शक्ति का स्वरूप, बुद्धि और संकल्प का सम्बन्ध, इच्छा की स्वाधीनता इत्यादि मानव-व्यवहार के उचित मूल्यांकन तथा परम हित के स्वरूप-निर्णय के लिए नितान्त आवश्यक है। ये समस्यायें यद्यपि मनोवैज्ञानिक हैं तथापि इनका अध्ययन नीति-शास्त्र भी करता है। दोषपूर्ण मनोविज्ञान दोषपूर्ण नीति-शास्त्र को जन्म देगा। इस प्रकार नीति-शास्त्र मनोविज्ञान पर आश्रित है।

यद्यपि नीति-शास्त्र का निर्माण मनोविज्ञान पर होता है तथापि दोनों में पर्याप्त अन्तर है। मनोविज्ञान का विस्तार नीति-शास्त्र की अपेक्षाकृत अधिक व्यापक है। मनोविज्ञान समस्त मानसिक प्रतिक्रियाओं का अर्थात् ज्ञान, अनुभूति और संकल्प का विज्ञान है। नीति-शास्त्र केवल संकल्प से सम्बन्ध रखता है। यह ज्ञान और अनुभूति का अध्ययन नहीं करता। अथवा यह उनका उसी सीमा तक अध्ययन करता है जहाँ तक उनका सम्बन्ध सकल्प और क्रिया से है। नीति-शास्त्र, मानव अनुभव को किसी उद्देश्य अथवा आदर्श के अनुसरण के हेतु क्रिया के रूप में देखता है।

यद्यपि मनोविज्ञान और नीति-शास्त्र दोनों संकल्प का अध्ययन करते हैं, तथापि नीति-शास्त्र के संकल्प को मनोविज्ञान के साथ एकीकृत नहीं किया जा सकता। मनोविज्ञान तथ्य-विज्ञान या विधायक विज्ञान है, और नीति-शास्त्र आदर्श विज्ञान या नियामक-विज्ञान। स्टाउट् के अनुसार "मनोविज्ञान संकल्प के अध्ययन में उन शर्तों का अध्ययन छोड़ देता है जिससे सदसत् का विचार होता है। मनोविज्ञान वास्तविक संकल्प का अध्ययन करता है; नीति-शास्त्र संकल्प के आदर्श का।[1] मनोविज्ञान विधायक के रूप में सैद्धान्तिक ज्ञान के लिए समस्त मानसिक प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करता है। नीति-शास्त्र नियामक विज्ञान के रूप में नैतिक जीवन के तथ्यों की जीवन के आदर्श की तुलना में व्याख्या करता है। नैतिक तथ्य मानसिक तथ्य हैं, इसलिये वे मनोविज्ञान के क्षेत्र के अन्दर आते हैं, किन्तु, मनोविज्ञान उनका अध्ययन केवल मानसिक तथ्यों के रूप में करता है, नैतिक तथ्यों के

1. Stout, *Manual and Psychology*, 1960, p. 6,

रूप में नहीं। मनोविज्ञान उनका अध्ययन बगैर उनका नैतिक अर्थ ग्रहण किये करता है, जबकि नीति-शास्त्र पूर्णतया आदर्श का विज्ञान है।

कुछ नीति-शास्त्र (यथा, सुखवाद) नीति-शास्त्र को मनोविज्ञान की शाखा मानते हैं। वे हैं (Is) तथा होना चाहिये (ought) के मध्य भेद को भूल जाते हैं। वे तथ्य और आदर्श के मध्य भेद को भूल जाते हैं। वे नियामक विज्ञान के रूप में नीति-शास्त्र के विशिष्ट लक्षण को छोड़ देते हैं। नीति-शास्त्र एक नियामक विज्ञान है। वह मनोविज्ञान की शाखा-मात्र कदापि नहीं हो सकता।

(४) नीति-शास्त्र का समाज विज्ञान से सम्बन्ध (Relation of Ethics to Sociology)—

नीति-शास्त्र मनुष्य के व्यवहार का नियामक विज्ञान है। किन्तु, मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज से विछिन्न होकर नहीं रह सकता। वह अपनी मानसिक तथा नैतिक सम्पत्ति के बहुत बड़े अश के लिये समाज का ऋणी है। व्यक्ति समाज से प्रचलित प्रथाओं तथा रीतियों के सदसत्, शुभाशुभ के प्रयत्नों को ग्रहण करता है। समाज से पृथक् मानव एक काल्पनिक जीव है, वास्तविक नहीं। इसके अतिरिक्त सामाजिक प्रगति व्यक्तियों की नैतिक अन्तर्दृष्टि पर अवलम्बित है। नैतिक-सुधारकों की कल्पनाओं से समाज की नैतिक प्रगति का निर्धारण होता है एवं व्यक्ति और समाज एक दूसरे को प्रभावित करते है। नीति-शास्त्र व्यक्ति की नैतिकता का विज्ञान है। समाज-विज्ञान, मानव-समाज की रचना, उत्पत्ति और विकास का विज्ञान है। यह सामाजिक समूहों का प्राकृतिक इतिहास है। यह सामाजिक समूहों की उत्पत्ति, वृद्धि और रीति तथा प्रथाओं से जनित परिवर्तनों के द्वारा उनका जो विकास होता है उसका अध्ययन करता है। इस प्रकार नीति-शास्त्र का समाज-विज्ञान से घनिष्ट सम्बन्ध है।

समाज-विज्ञान, मानव समाज की असभ्य-दशा से लेकर सभ्य-दशा तक विकास की समस्त श्रेणियों की आदतों, रीतियों, प्रथाओं और संस्थाओं का अनुसंधान करता है। वह सामाजिक संस्थाओं की उत्पत्ति और उनके वर्तमान दशा-पर्यन्त विकास के विभिन्न सोपानों के क्रम का अन्वेषण करता है।

नीति-शास्त्र समाज-विज्ञान से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। नीति-शास्त्र व्यक्ति के सर्वोच्च हित की प्रकृति का निर्धारण करता है। व्यक्ति समाज का अभिन्न अंग है। समाज से अलग उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। व्यक्ति समाज-रूपी शरीर के अन्योन्याश्रित सदस्य हैं। अत: व्यक्ति का परम हित समाज के परम हित पर निर्भर करता है। व्यक्तिगत हित का लोक हित अथवा सामाजिक हित से सामंजस्य होना चाहिये। नीति-शास्त्र का मुख्यत: व्यक्ति के व्यवहार से सम्बन्ध है। समाज-विज्ञान के व्यवहार को प्रभावित करने वाले समाज के व्यवहार से सम्बन्धित है। व्यक्ति को समाज के सदस्य-रूप मात्र में जाना जाता है। उसके अधिकांश चरित्र-गुण अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क में प्रदर्शित होते हैं। अत: मनुष्य के परम

मगल को सामाजिक सम्बन्धों से स्वतन्त्र मानना भ्रान्तिपूर्ण है। इस प्रकार, नीति-विज्ञान सामाजिक सम्बन्धों में आबद्ध व्यक्ति के परम हित के स्वरूप-निर्धारण के लिये समाज-विज्ञान पर आश्रित है।

समाज विज्ञान एक विधायक विज्ञान हैं। इसका मुख्य उद्देश्य सामाजिक समूहों की आदतों, रीतियों, प्रथाओं और संस्थाओं की प्रकृति, उत्पत्ति और विकास का अनुसंधान है। यह उनके नैतिक मान का विचार नहीं करता। समाज-विज्ञान सामाजिक समूहों के नैतिक मूल्यांकन के लिये नीति विज्ञान का आश्रय लेता है। समाज-विज्ञान उन्हें केवल प्राकृतिक तथ्यों के रूप में ग्रहण करता है जबकि नीति-विज्ञान उनके नैतिक मूल्य अर्थात् अच्छाई-बुराई का विचार करता है।

नीति-विज्ञान और समाज-विज्ञान के घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण कुछ नीति-शास्त्री (यथा उद्विकासात्मक सुखवादी) नीति-विज्ञान को समाज विज्ञान की शाखा मानते हैं। उनका यह मत है कि नैतिकता सामाजिक उद्विकास का परिणाम है। वे नैतिक हित की परिकल्पना का अन्तिम स्रोत पशुओं के व्यवहार में देखते हैं। वे वास्तविक तथ्यों से आदर्श को सिद्ध करने का निरर्थक प्रयास करते हैं।

किन्तु यह वाद भ्रान्तिपूर्ण है। आदर्श की सिद्धि तथ्यों से तथा 'होना चाहिये' (ought) की सिद्धि 'है' (is) से नहीं हो सकती। समाज-विज्ञान एक विधायक विज्ञान है। यह मानव-समाज के रिवाजों और संस्थाओं की उत्पत्ति, वृद्धि और उद्विकास के कारणों को खोजता है, किन्तु नीति-शास्त्र नियामक या आदर्श विज्ञान है। यह परमहित के स्वभाव का निर्धारण करता है और इसके दृष्टि-गत प्रथाओं और संस्थाओं के नैतिक मूल्य का निर्णय करता है। अतः नीति-शास्त्र, समाज-विज्ञान का अंग कदापि नहीं हो सकता।

इस प्रकार समाज-विज्ञान से सम्बन्धित होते हुए भी यह उसका अंग नहीं है। समाज-विज्ञान तथ्य-विज्ञान या विधायक-विज्ञान है, जबकि नीति-शास्त्र आदर्श-विज्ञान या नियामक-विज्ञान है। समाज-विज्ञान सामाजिक समूहों से सम्बन्धित वास्तविक तथ्यों का विवरण देता है। नीति-विज्ञान उन पर मूल्यांकन सम्बन्धी निर्णय देता है, तथा नैतिक आदर्श की तुलना में उनका अर्थ बताता है। यह प्रचलनों, रीतियों और संस्थाओं का नैतिक दृष्टिकोण से मूल्यांकन करता है और उन्हें नीतिसम्मत अथवा नीतिबद्ध रूप में दिखलाता है।

समाज-विज्ञान एक सैद्धान्तिक मीमांसा-मात्र है। नीति-विज्ञान नियामक-विज्ञान है। इसका हमारे व्यावहारिक जीवन पर प्रभाव पड़ता है। यह परम-हित के दृष्टिगत कर्त्तव्य और अधिकारों का अनुमान करता है, हमारे चरित्र के गुणों को निर्धारित करता है, राज्य के नैतिक कार्यों का निर्देश करता है, सामाजिक रीतियों, राजनैतिक नियमों, विधान तथा संस्थाओं के नैतिक मूल्य को स्थिर करता है।

समाज-विज्ञान सैद्धान्तिक-विज्ञान मात्र है, जब कि नीति-शास्त्र का तत्व-विद्या से निकट सम्बन्ध है। नीति-शास्त्र नैतिक आदर्श का विज्ञान है। दर्शन नैतिक-

आदर्श की प्रमाणिकता तथा परम सत्ता से उसके सम्बन्ध का निरूपण करता है। इस प्रकार नीति-शास्त्र का दर्शन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। परन्तु, समाज-विज्ञान पूर्णतया सैद्धान्तिक या चिन्तनात्मक विज्ञान है।

समाज-विज्ञान प्रथा संस्थाओं में अभिव्यक्त सामाजिक अथवा सामूहिक मन का अध्ययन करता है। नीति-विज्ञान व्यक्तिगत मन का अध्ययन स्वतन्त्र रूप में नहीं, बल्कि समाज के सदस्य के रूप में करता है। इस प्रकार सामूहिक मन समाज विज्ञान का विषय है, वैयक्तिक मन नीति-विज्ञान का विषय है।

समाज-विज्ञान वाह्य-विषयात्मक मानसिक विज्ञान है। यह समूह-मनोवृत्तियों के वाह्य फलों का जैसे—रीति रिवाज, नियम, संस्था इत्यादि का अध्ययन करता है। नीति-विज्ञान अन्तरात्मक मानसिक विज्ञान है। यह व्यक्ति के आन्तरिक प्रवृत्ति, अभिप्राय, इच्छा और संकल्पों से सम्बन्धित रूप में संकल्पात्मक अध्ययन करता है। इस प्रकार नीति-शास्त्र, समाज-विज्ञान की शाखा कदापि नहीं हो सकता।

(५) नीति-विज्ञान का राजनीति-विज्ञान से सम्बन्ध
(Relation of Ethics to Politics)—

राजनीति-विज्ञान शासन का विज्ञान है। यह सरकार की रचना और कार्यों का अध्ययन करता है। यह एक नियामक विज्ञान है। यह विधान निर्माण और और संस्थाओं का संगठन करता है। वह व्यक्ति के व्यवहार का लोकोपयोगिता के दृष्टिकोण से नियन्त्रण करता है। सरकार मनुष्यों द्वारा अपने लाभ के लिये निर्माण की हुई एक संस्था है। यह जन-हित के लिए कानून बनाती है और दण्ड का भय देकर उनको लोगों के ऊपर लागू करती है। राजनीति-विज्ञान जन-हित को लक्ष्य बनाते हुये नीति-शास्त्र से निकटतः सम्बन्धित है। संकुचित अर्थ में राजनीति-विज्ञान का लक्ष्य ऐसे कानूनों का निर्णय है जो कि राज्य के अन्दर व्यक्ति की सुरक्षा और सम्पत्ति-रक्षा का आश्वासन दिलायें। सरकारों का पथ-प्रदर्शन अपने बहुसंख्यक सम्बन्धों और क्रिया-कलाप नैतिकता के नियमों के द्वारा होना चाहिये। उन्हें नैतिक-विचार की अवहेलना नहीं करनी चाहिये। राज्य का नैतिक-आधार आम जनता की सम्पत्ति है। यही शक्ति और सुरक्षा निरंकुश शासन पर नहीं, बल्कि जनता की इच्छा पर अवलम्बित है। व्यापक अर्थ में राष्ट्र-विज्ञान का उद्देश्य समाज की वह आदर्श-व्यवस्था है जो व्यक्ति को अपने उच्चतम लक्ष्यों को सम्पादित करने में समर्थ बनाने के हेतु सर्वोत्कृष्ट हो।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। एकान्तवासी मनुष्य चिन्तन का विषय नहीं है। इसीलिये अरस्तू ने मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी कहा है। नैतिक जीवन राष्ट्र से बाहर व्यतीत नहीं किया जाता। इसका यापन किसी न किसी प्रकार की राजनैतिक व्यवस्था के अन्दर होता है। यद्यपि नैतिक जीवन तथा राजनैतिक जीवन एक नहीं है, तथापि नैतिक जीवन राजनीतिक जीवन का एक भाग अवश्य है। नैतिक व्यवहार की राजनैतिक जीवन से घनिष्ठता है। कर्त्तव्य और अधिकारों का

संरक्षण राष्ट्र के ही द्वारा होता है। अतः नीति-शास्त्र का राजनीति विज्ञान से सम्बन्ध है।

नीति-शास्त्र तथा राजनीति-विज्ञान दोनों मानव-चरित्र और व्यवहार का जाति-विज्ञान के रूप में विचार करते हैं। दोनों के लक्ष्य मनुष्य के हित-साधन हैं। दोनों मनुष्यों के आचार को सामाजिक सम्बन्धों में निर्धारित होने वाला और निर्धारित करने वाले के रूप में विचार करते हैं। परन्तु नीति-विज्ञान व राजनीति विज्ञान परस्पर शाखा नहीं हैं।

नीति-शास्त्र व राजनीति विज्ञान के मध्य महत्वपूर्ण अंतर है। उनके मान-दण्ड भिन्न-भिन्न हैं। नीति-शास्त्र का मान-दण्ड नैतिक पूर्णता है, जब कि राजनीति-विज्ञान का लोकोपयोगिता है। राजनीति-विज्ञान का लक्ष्य जनता का कल्याण है। नीति-शास्त्र का लक्ष्य व्यक्ति का नैतिक उत्कर्ष है। नीति-शास्त्र का ध्येय है धर्म या नैतिक उत्कर्ष, राजनीति-विज्ञान का ध्येय समाज-कल्याण या लाभ है।

राजनैतिक नियमों को दण्ड के भय से लागू किया जाता है। राजनैतिक नियमों के उल्लंघन का परिणाम दण्ड होता है, परन्तु नैतिक नियमों का पालन ऐच्छिक स्वीकृति से होता है। राज्य का अन्तिम अवलम्बन बल-प्रयोग है। नैतिकता संकल्प की स्वाधीनता पर आधारित है। बल-प्रयोग से नैतिकता नष्ट हो जाती है। राजनैतिक नियमों को राष्ट्र बाहर से लादता है, नैतिक नियमों को आत्मा स्वतः अपने ऊपर लादती है।

राजनीति-विज्ञान वाह्य-वस्तु विषयक विज्ञान है, नीति-शास्त्र अन्तर-विषयक विज्ञान है। राजनीति-विज्ञान जन-हित-सम्बन्धी, मनुष्य की वाह्य क्रियाओं का विचार करता है, किन्तु नीति-शास्त्र आन्तरिक प्रवृत्तियों और अभिप्रायों का उनको अभि-व्यक्त करने वाले कार्यों सहित विचार करता है। कानून व्यवहार के वाह्य परिणामों से अथवा कार्यों के आन्तरिक अभिप्रायों से सम्पर्क रखता है, जबकि नीति-शास्त्र और अधिक गहराई में उतरकर प्रेरणाओं तथा अभिप्रायों पर भी विचार करता है। नीति-शास्त्र मानस प्रेरणाओं से लेकर दूसरों को प्रभावित करने वाले स्थूल व्यवहार तक का विचार करता है। राजनीति-विज्ञान व्यक्ति के आन्तरिक जीवन को अछूता छोड़ देता है। कानून बनाकर मनुष्य को नैतिक नहीं बनाया जा सकता। कानून के भय से अनैतिक कार्य न करने वाला नैतिक पुरुष नहीं है। नीति-शास्त्र व्यवहार के आन्तरिक पक्ष से कार्य का विचार करता है; राजनीति-विज्ञान वाह्य पक्ष से कार्य करता है।

राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध सामूहिक मन से है, यह मानव-कर्मों से समूह पर पड़ने वाले प्रभावों का विचार करता है। नीति-शास्त्र स्वयं अपने लिये नैतिक मूल्य रखने वाले वैयक्तिक मन का विचार करता है। राजनीति-विज्ञान का लक्ष्य जन-हित है। नीति-शास्त्र का लक्ष्य व्यक्तिगत-हित है। इसका ध्येय मनुष्य का परम कल्याण है।

राजनीति-विज्ञान की अपेक्षा नीति-शास्त्र का अधिकार क्षेत्र अधिक व्यापक है। राजनैतिक नियम नैतिक नियमों से निम्न-कोटि के होते हैं। नीति-शास्त्र उनकी अच्छाई-बुराई की विवेचना करता है। नीति-शास्त्र राजनैतिक नियमों पर निर्णय देने का अधिकार रखता है। आधुनिक सभ्य शासन-सत्तायें जनता की सामान्य नैतिक इच्छा पर आधारित होने का दावा करती हैं। अतः उनके राजनैतिक नियमों का नियन्त्रण नैतिकता से होता है।

नीति-विज्ञान तथा राष्ट्र-विज्ञान के परस्पर सम्बन्ध के विषय में विभिन्न मत हैं। मैकियावेली और उनके समर्थकों का मत है कि नीति और राष्ट्र-विज्ञान में कोई सम्बन्ध नहीं। सम्राट की इच्छा ही कानून है, और सम्राट सिद्धान्तों को मानने के लिये बाध्य नहीं है। लेकिन यह धारणा भ्रान्त है। राज्य का पथ-प्रदर्शन उपयोगिता व न्याय के द्वारा होना चाहिये। राज्य का नैतिक आधार जन-साधारण की इच्छा है।

हॉब्स, बेन तथा अन्य दिद्वानों का मत है कि नीति-शास्त्र राष्ट्र-विज्ञान की एक शाखा-मात्र है और राजनैतिक नियम है। यह मत भी दोषपूर्ण है। राजनैतिक नियम का स्वरूप 'करना होगा' का होता है जबकि नैतिक नियम की प्रकृति 'करना चाहिए' की होती है। राजनैतिक नियम बाध्यतामूलक होता है। नैतिक नियम स्वतन्त्र इच्छा पर आधारित है। इसमें भौतिक बाध्यता या बल-प्रयोग नहीं है।

प्लेटो (Plato), अरस्तू (Aristotle), स्पिनोजा (Spinoza) व हेगेल (Hegal) आदि का मत है कि राष्ट्र-विज्ञान नीति-शास्त्र की एक शाखा-मात्र है। यह मत भी दोषपूर्ण है। नैतिक नियम इच्छा से अपने ऊपर लादे जाते हैं, राजनैतिक नियम बाहर से इच्छा के विरुद्ध लादे जाते हैं। ये सभी मत भ्रान्त हैं। ये राजनीति-विज्ञान और नीति-विज्ञान के भेद की अवहेलना कर देते हैं।

(६) नीति-विज्ञान का अर्थ-विज्ञान से सम्बन्ध
(Relation of Ethics to Economics)

नीति-शास्त्र परम हित का विज्ञान है, अर्थ-विज्ञान मनुष्य की आवश्यकताओं के तृप्तिकारक साधनों का विज्ञान है। नीति-शास्त्र निरपेक्ष हित का विज्ञान है, अर्थ-विज्ञान आपेक्षित हितों का विज्ञान है। "यदि हमें आर्थिक हितों का वास्तविक मूल्य समझना है, तो हमें उनका नैतिक हित की तुलना में विचार करना चाहिये।"[2] उनका अन्तिम मूल्य उनके नैतिक मूल्य के द्वारा ही निर्धारित होना चाहिये। भोजन, वस्त्र, मकान और अन्य वस्तुयें मूल्यवान हैं, क्योंकि वे व्यक्तियों के आत्म-विकास के साधन हैं। इस प्रकार अर्थशास्त्र का नीति-शास्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

अर्थशास्त्र सम्पत्ति का विज्ञान है, किन्तु सम्पत्ति स्वतः साध्य नहीं है वरन् मानव-हित का साधन है। सम्पत्ति का उत्पादन, वितरण और उपभोग इस प्रकार

---

2. *Manual of Ethics, p. 22.*

व्यवस्थित होने चाहियें कि जिससे मनुष्य जाति का अधिकतम कल्याण हो सके। उनका स्थान नैतिक लक्ष्य की तुलना में गौण होना चाहिये। नैतिक लक्ष्य मानव-जाति के प्रत्येक सदस्य के व्यक्तित्व का विकास है। अर्थशास्त्र को नीति-शास्त्र से वियुक्त नहीं करना चाहिये। कार्लाइल (Caryle) और रस्किन (Ruskin) ने इस बात पर जोर दिया है कि नीति-विज्ञान और अर्थ-विज्ञान को एक दूसरे के अधिक घनिष्ठ सम्पर्क में लाया जाना चाहिये। आधुनिक काल के अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र को धन (Wealth) के विज्ञान के रूप में ग्रहण करने की अपेक्षा, कल्याण (Welfare) के विज्ञान के रूप में ग्रहण करने की ओर झुक रहे हैं। आर्थिक तथ्यों का नियन्त्रण इस प्रकार होना चाहिये कि सार्वजनिक सामाजिक कल्याण का उत्कर्ष हो सके। इस प्रकार अर्थशास्त्र और नीति-शास्त्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

नीति-शास्त्र व अर्थशास्त्र के मध्य घनिष्ट सम्बन्ध होते हुए भी उसमें निम्न-लिखित अन्तर हैं। अर्थ-विज्ञान विधायक विज्ञान है, जबकि नीति-शास्त्र नियामक विज्ञान है। अर्थशास्त्र पूर्ववर्ती तथ्यों से सम्बन्ध रखता है तो नीति-शास्त्र परवर्ती मूल्यों से। अर्थशास्त्र सम्पत्ति के उत्पादन, वितरण और उपभोग से सम्बन्धित तथ्यों का अध्ययन करता है, और लोगों के भौतिक उत्कर्ष अथवा अभ्युदय के दृष्टिकोण से उनके आर्थिक नियमों को निश्चित करता है। नीति-शास्त्र उस नैतिक आदर्श का अनुसन्धान करता है जिसे सम्पत्ति के उत्पादन, वितरण और उपभोग का भी नियन्त्रण करना चाहिये।

अर्थशास्त्र का सम्बन्ध सम्पत्ति और अभ्युदय अथवा धार्मिक उत्कर्ष से है, किन्तु नीति-शास्त्र का सम्बन्ध नैतिक कल्याण से है। अर्थशास्त्र का पथ-प्रदर्शन नीति-शास्त्र के द्वारा होना चाहिये। आर्थिक उत्कर्ष, नैतिक उत्कर्ष से निम्न-श्रेणी का है। तृप्ति को नैतिक जीवन से कम महत्व मिलना चाहिये। सुख को कर्त्तव्य की तुलना में हेय समझा जाना चाहिये। इन्द्रियाँ आर्थिक मूल्य साधक मूल्य हैं, चरित्र मूल्य साध्य मूल्य है। आर्थिक मूल्य का नैतिक जीवन में स्थान निम्न है—

अर्थशास्त्र का पथ-प्रदर्शन नीति-शास्त्र के द्वारा होना चाहिये। सम्पत्ति के अधिकार का आधार व्यक्तित्व के नैतिक अधिकार हैं। व्यक्तित्व के विकास के हेतु व्यक्तिगत सम्पत्ति आवश्यक है। व्यक्तिगत सम्पत्ति और व्यक्तित्व सहगामी हैं। व्यक्तित्व के नैतिक अधिकारों से ही सम्पत्ति से विनिमय (Exchange) और वितरण (Distribution) के अधिकारों का जन्म हुआ है। इस प्रकार नीति-शास्त्र अर्थशास्त्र से उच्च-कोटि का है।

(७) नीति-शास्त्र का तत्व-विद्या से सम्बन्ध

(Relation of Ethics to Metaphysics)—

नीति-शास्त्र नैतिक आदर्श का विज्ञान है। नैतिक आदर्श की प्रकृति तथा अन्तिम प्रामाण्य का अन्वेषण करने हेतु इसे मानव के व्यक्तित्व की, समाज में रहने वाले अन्य व्यक्तियों, विश्व और ईश्वर से सम्बन्धित रूप में, अन्तिम प्रकृति, आरम्भ

और अन्त का भी विचार करना चाहिये। नीति शास्त्र नैतिक मूल्य का विज्ञान है। अतः इसे मनुष्य और विश्व के सम्बन्ध में नैतिक मूल्य के यथार्थ स्वरूप का विचार करना चाहिये। व्यवहार के उचित नियन्त्रण के लिए यह दार्शनिक विचार अत्यधिक महत्व का है। प्रामाण्य और मूल्य का विचार हमें सत्य में सम्बन्धित समस्यायों में उलझा देता है। मानव-जीवन के मूल्य का प्रश्न मानव व्यक्तित्व के तात्विक स्वरूप तथा वास्तविक जगत में उनके स्थान के प्रश्नों को उत्पन्न कर देता है।[3] तत्वविद्या प्राकृतिक विज्ञानों के तथ्य सूचक निर्णयों और नियामक विज्ञानों के मूल्य-सूचक निर्णयों को संगठित करता है, तथा उनमें ऐक्य स्थापित करता है।

नीति-शास्त्र नियामक विज्ञान होने के नाते तत्वविद्या से बहुत अधिक सम्बन्धित है। नीति-शास्त्र सर्वोच्च हित के आदर्श का निर्धारण करता है। किन्तु विभिन्न प्रश्न, उदाहरणार्थ आदर्श मानसिक है या वास्तविक है? वास्तविक सत्ता से इसका क्या सम्बन्ध है? क्या सर्वाधिक पूर्ण और पवित्र ईश्वर में यह निष्पन्न है? क्या इसकी सिद्धि के लिये मनुष्य स्वतन्त्र है? क्या इस संसार में इसकी सिद्धि सम्भव है? क्या इसकी सिद्धि के लिये संसार अवसर प्रदान करता है? दार्शनिक प्रश्न है? नीति-शास्त्र दर्शन के समान इन समस्याओं का सांगोपांग अध्ययन नहीं करता। फिर भी इसे आनुषंगिक रूप में निम्नलिखित दार्शनिक प्रश्नों का विचार करना पड़ता है।

१. आत्मा का स्वरूप—क्या आत्मा केवल इन्द्रिय-परक है अथवा केवल बुद्धि-परक अथवा दोनों? आत्म-विषयक विभिन्न मत नीति-शास्त्र के भिन्न-भिन्न मतों को जन्म देते हैं।

२. संकल्प स्वातन्त्र्य—आत्म चुनाव करने में स्वतन्त्र है अथवा परिस्थितियों के आधीन परतन्त्र? इच्छा की स्वाधीनता नैतिकता का आधार है इच्छा-स्वातन्त्र्य से इन्कार नैतिकता की आधारशिला हिला देता है। संकल्प की स्वाधीनता नैतिकता का मौलिक सिद्धान्त है। इच्छा-स्वातन्त्र्य नीति का मूल आधार है।

३. आत्मा की अमरता—आत्मा अपने नैतिक आदर्श की निष्पत्ति इसी जीवन में कर सकता है? क्या परलोक का अस्तित्व है जिसमें इस आदर्श की क्रमिक रूप से प्राप्ति होती है? नैतिक जीवन नैतिक आदर्श की क्रमिक निष्पत्ति में निहित होता है। इस सीमित जीवन में उसकी पूर्ण-प्राप्ति असम्भव है। अतः इसकी सिद्धि के लिये अमर जीवन होना चाहिये। जीवात्मा की अमरता नैतिकता का दूसरा मान्य सिद्धान्त है।

४. व्यक्ति का समाज से सम्बन्ध—व्यक्ति समाज का आवश्यक सदस्य है अथवा वह स्वतः पूर्ण इकाई है? व्यक्ति समाज का आवश्यक अंग है। उसका सामाजिक स्वरूप ही उसका आदर्श स्वरूप है।

---

3. *Manual of Ethics*, p. 20-21.

५. आत्मा का जगत से सम्बन्ध—क्या संसार नैतिक जीवन के लिये कर्म-क्षेत्र है ? क्या यह नैतिक पूर्णता की प्राप्ति के लिये उचित अवसर प्रदान करता है ? क्या इसका संचालन नैतिक नियमों से होता है ? अथवा संसार अचेतन भौतिक शक्तियों का क्षेत्र मात्र तो नहीं है। जिसका कोई नैतिक उद्देश्य न हो। नैतिकता जगत की रचना को ईश्वर-बुद्धि-मूलक मानती है। जगत नैतिक जीवन का क्षेत्र है। यह नैतिक आदर्श की प्राप्ति के लिये अवसर प्रदान करता है। यह नैतिक मूल्य के प्रति उदासीन नहीं है। यह एक नैतिक लक्ष्य से युक्त नैतिक जगत है। यह जगत पूर्णतया जड़ तथा अनैतिक नहीं है वरन् यह परमात्मा का बाह्य प्रकाशन है।

६. ईश्वर की सत्ता और पूर्णता—क्या ईश्वर से पृथक् नैतिकता की पूर्णतया व्याख्या सम्भव है ? क्या नैतिक आदर्श सत्य है ? यह मनोगत वस्तु है अथवा बाह्य ? यह मानव-मन की सृष्टि है अथवा मनुष्य के हृदय की आकांक्षा-मात्र ? अथवा, क्या यह पहले से ही ईश्वर में सिद्ध है, जो कि पूर्णतया की शाश्वत प्रतिमा है ? यह सत्य है या भ्रम मात्र ? इन सब प्रश्नों का आनुषंगिक विचार नीति-शास्त्र में होता है।

निम्नलिखित कारणों से नीति-शास्त्र दर्शन से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है :—

नीति-शास्त्र नियामक विज्ञान है। यह नैतिक आदर्श का विचार करता है। दर्शन नैतिक आदर्श की यथार्थता का विचार करता है और इसका सत्ता से सम्बन्ध का विवेचन करता है। जीवात्मा की सम्भावनाओं की पूर्ति के लिये नैतिकता आवश्यक है। अतः नैतिक निर्णयों के अन्तिम आधार की परीक्षा के लिये नीति-शास्त्र के दर्शन को क्षेत्र में प्रवेश करना पड़ता है।

नीति-शास्त्र मनुष्य को भौतिक और सामाजिक वातावरण में संयुक्त ही नहीं समझता, बल्कि इस सम्बन्ध का जानने वाला भी समझता है। इस प्रकार मनुष्य को जगत, समाज और ईश्वर से सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त करने के लिये नीति-शास्त्र को दर्शन में प्रवेश करना पड़ता है।

उपर्युक्त सम्बन्ध के होते हुए भी नीति शास्त्र और दर्शन शास्त्र में निम्नलिखित अन्तर हैं—दर्शन शास्त्र सम्पूर्ण सद् वस्तुओं—प्रकृति, जीवात्मा और ईश्वर-के स्वरूप का विवेचन करता है जबकि नीति-शास्त्र केवल मानव व्यवहार और चरित्र से सम्बन्ध रखता है। इसलिये दर्शन का क्षेत्र नीति से अधिक विस्तृत है।

नीति-शास्त्र का सम्बन्ध मानव-हित, अथवा वैयक्तिक-हित से है। दर्शन-शास्त्र, विश्व-हित अथवा सम्पूर्ण जगत के उद्देश्य का अध्ययन करता है। नीति-शास्त्र मानव के परम हित का अध्ययन करता है। दर्शन-शास्त्र विश्व के उद्देश्य का अध्ययन करता है।

दर्शन सैद्धान्तिक या चिन्तनात्मक शास्त्र मात्र है। नीति शास्त्र सैद्धान्तिक शास्त्र होते हुए भी मनुष्य के चरम हित से सम्बन्ध रखता है, जो कि हमारे

क्रियात्मक जीवन को प्रभावित करता है। नीति-शास्त्र व्यावहारिक विज्ञान तथा कला नहीं है।

हेगेल, (Hegel), ग्रीन (Green) तथा अन्य दार्शनिकों की धारणा है कि नीति दर्शन पर आश्रित है। इसके विपरीत राशडैल तथा अन्य विद्वानों के मतानुसार दर्शन नीति पर आश्रित है। यह एक विवादास्पद विषय है। किन्तु कोई भी दार्शनिक नीति और दर्शन के घनिष्ठ सम्बन्ध को अस्वीकार नहीं करता। दर्शन-शास्त्र सब विधायक विज्ञान और नियामक विज्ञान पर आश्रित है।

(८) नीति का धर्म से सम्बन्ध
(Relation of Morality to Religion)

इच्छा-स्वातन्त्र्य, आत्मा का अमरत्व और ईश्वर की सत्ता नैतिकता के मान्य सिद्धान्त हैं। नीति-शास्त्र का सम्बन्ध नैतिक आदर्श से है। क्या नैतिक आदर्श प्रामाण्य का प्रश्न हमें चरम सत्य के प्रश्न में ले जाता है? क्या नैतिक आदर्श सत्य है? यह मानव मन की कल्पना मात्र तो नहीं हैं? यदि यह काल्पनिक-सृष्टि-मात्र है तो इसका हमारे जीवन पर कोई प्रभाव नहीं हो सकता। यदि यह केवल मानसिक सृष्टि है तो यह हमको प्रेरित नहीं कर सकता और न हमारा नैतिक उत्थान ही कर सकता है। किसी भी काल्पनिक आदर्श की वास्तविकता में सत्ता नहीं हो सकती। नैतिक आदर्श की शक्तिमत्ता का भेद इस विश्वास में निहित है कि यह आदर्श-मात्र नहीं है, वरन् एक पूर्ण, चरम ईश्वरीय सत्ता का प्रकाशन है। जो हमारे लिये आदर्श है, अवास्तविक है, वह दैवी सत्ता का स्वरूप है, वास्तविक है। नैतिक आदर्श में नित्य सिद्ध है। ईश्वर पूर्णतः अथवा नैतिक चरम उत्कर्ष की शाश्वत मूर्ति है। ईश्वर सर्वोच्च मूल्यों की निधि है, जिनकी प्राप्ति के लिये हम सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। इस प्रकार नीति और धर्म का सम्बन्ध घनिष्ठ है।

पुनः, नैतिक-जीवन की माँग है कि आत्मा देह के साथ समाप्त नहीं होती। नैतिक आदर्श असीमित है, वर्तमान सीमित जीवन में उसकी पूर्ण प्राप्ति असम्भव है। जीवन का उद्देश्य इस जीवन में पूर्णतया सफल नहीं हो सकता। वर्तमान जीवन तो तैयारी में बीत जायेगा। क्या नैतिक शिक्षा के लिये जो इतने कष्ट सहन किये जा रहे हैं मृत्यु के कारण व्यर्थ हो जावेंगे? हमारा नैतिक जीवन यथार्थ है। नैतिक आदर्श असीम किन्तु साध्य है। यदि इसकी सिद्धि इस सीमित जीवन में नहीं हो सकती तो इसकी सिद्धि के लिए असीम जीवन चाहिए। नैतिक जीवन आत्मा की वैयक्तिक अमरता का विश्वास दिलाता है। अमरता की समस्या नैतिक जीवन के लिये अवसर प्राप्त होने की समस्या है। बड़ी से बड़ी लेकिन परिमित समय-वृद्धि भी अपरिमित कार्य को करने के लिये पर्याप्त नहीं है। नैतिक कार्य अपरिमित है। नैतिक जीवन की यथार्थता में नैतिक आदर्श की सिद्धि की सम्भावना गुप्त है। लेकिन इस जीवन की अवधि इस कार्य के लिये अपर्याप्त है। अतः आत्मा को अमर

होना चाहिए। नैतिक जीवन की यथार्थता आत्मा की अमरता की ओर संकेत करती है।

ईश्वर की सत्ता और आत्मा की अमरता, यही दो विश्वास धर्म में मौलिक हैं। अतः नीति शास्त्र और धर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

यह प्रश्न कि नीति पहले है या धर्म, विवादस्पद है। विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न मत प्रकट किये हैं।

(१) धर्म नीति का पूर्णगामी है—

देकार्ते (Descartes), **लॉक** (Locke), **पैली** (Paley), इत्यादि विद्वानों का मत है कि धर्म नीति का मूल है। नीति का उत्थान धर्म से होता है। ईश्वर द्वारा आदिष्ट कर्म सत् है, ईश्वर द्वारा निषिद्ध कर्म असत् है। ईश्वरीय नियम ही नैतिक मानदण्ड हैं। ईश्वर अपनी इच्छा से नीति की सृष्टि करता है। नैतिक नियम ईश्वर की इच्छा के ऊपर आधारित हैं।

यह मत ईश्वर के नैतिक स्वभाव को समाप्त कर देता है। यह ईश्वर को नैतिकता से शून्य बना देता है। इस नियम के अनुसार सत्-असत् का भेद उसकी निरंकुश इच्छा पर आश्रित हो जाता है। वह अपने संकल्प से नीति की सृष्टि करता है, यद्यपि वह नैतिक भेदों के ऊपर है। यह मत प्रमादपूर्ण है। ईश्वर अनैतिक नहीं हैं। वह तो नैतिक पूर्णता की शाश्वत मूर्ति है। ईश्वर उसी कार्य आदि का आदेश देता है जो सत् है, और उसी का निषेध करता है जो असत् है। जो सत् है उसका उसके स्वभाव से सामञ्जस्य है। असत् का उसके स्वभाव से विरोध है। नैतिक भेद उसकी स्वेच्छाचारिता पर आश्रित नहीं हैं। वे उसकी नैतिक प्रकृति पर आश्रित हैं। कर्मों के सदसत-भाव का कारण ईश्वराज्ञा और निषेध नहीं है। इसके विपरीत ईश्वर के आदेश अथवा निषेध का कारण उनका सत् भाव है।

(२) नीति धर्म की पूर्वगामी है—

कान्ट् (Kant) का विचार है नीति आवश्यक रूप से धर्म में ले जाती है। पूर्णहित के लिये हमारा विचार उच्चतम श्रेय और अधिकतम सुख के विचारों को सम्मिलित करता है। उच्चतम श्रेय चरित्र-शुद्धि है, किन्तु पूर्णहित में सुख से संयुक्त चरित्र-शुद्धि है। परन्तु साधुजन इस संसार में विरले ही सुखी पाये जाते हैं। तो सुख, धर्म का आवश्यक परिणाम कैसे हो सकता है? धर्म हमारे अधिकार की वस्तु है, लेकिन सुख नहीं। धर्म हमारी इच्छा के आधीन है, लेकिन सुख-प्राप्ति हमारे नियन्त्रण से बाहर स्थित अनुकूल परिस्थितियों पर निर्भर है। इस प्रकार धर्म के विश्लेषण से सुख प्राप्त नहीं होता। धर्म और सुख में आन्तरिक नहीं, वाह्य सम्बन्ध है। परन्तु कौन उनमें सम्बन्ध स्थापित करता है? वह एक अति-प्राकृत सर्वोच्च दैवी शक्ति है जो आन्तरिक और वाह्य दोनों दुनियाओं पर शासन

करती है। वह ईश्वर है जो धर्म को सुख से संयुक्त कर सकता है। अतः ईश्वर की सत्ता नीति का मान्य सिद्धान्त है।

मार्टिन्यू (Martineau) के अनुसार भी नीति धर्म में ले जाती है। नैतिक बाध्यता ईश्वर की सत्ता को उपलक्षित करती है। नैतिक बाध्यता दो व्यक्तियों के मध्य का सम्बन्ध है। मैं नैतिकता से बाध्य हूं। प्रश्न यह है कि यह बाध्यता किसके प्रति है ? मैं स्वयं नैतिक बाध्यता का जनक नहीं हूँ। यदि ऐसा होता तो मैं इच्छानुसार इस बाध्यता की बुद्धि को नष्ट कर देता। समाज अथवा राष्ट्र भी इसका जनक नहीं हो सकता। क्योंकि वह मेरे समस्त कार्यों, प्रवृत्तियों और अभिप्रायों से अनभिज्ञ नहीं हो सकता। अतः ईश्वर को नैतिक बाध्यता का कारण होना चाहिये, जो हमारी सब गुप्त इच्छाओं और कार्यों से अनभिज्ञ है। इस प्रकार नीति धर्म से पूर्ण होती है।

(३) नीति और धर्म अन्योन्याश्रित हैं—

वस्तुतः न तो नीति धर्म की पूर्वगामी है, न धर्म नीति का, बल्कि दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं। धर्म नैतिकता का आदर्श आधार है, और नैतिकता धर्म का, हमारे सामाजिक सम्बन्धों में बाह्य प्रकाशन है। नीति, व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध पर जोर देती है, धर्म, व्यक्ति और ईश्वर के सम्बन्ध पर जोर देता है। हमारे मत में नीति और धर्म के मूल भिन्न है। वे हमारे अनुभव में साथ-साथ विकसित होते हैं और एक बड़ी सीमा तक परस्पर प्रभावित करते हैं। नीति, धर्म पर प्रतिक्रिया करती है और उसे परिष्कृत करती है। धर्म, नीति पर प्रतिक्रिया करता है, उसे प्रेरणा देता है और उसका उत्थान करता है। नीति, धर्म को नहीं हटा सकती। प्रत्यक्षवादी होते (Comte) धर्म के स्थान पर नीति को लाना चाहते हैं। उनका विश्वास है कि मानव-सेवा ही धर्म है। किन्तु यथार्थ मानव-धर्म ईश्वर के धर्म के बिना अपूर्ण है। धर्म भी नीति का स्थानापन्न नहीं हो सकता। नीतिविहीन धर्म अंध-विश्वास है। नीति और धर्म का सहयोग होना चाहिये। नीति एक मनुष्य के दूसरे मनुष्य के सम्बन्ध से सन्तुष्ट हो जाती है। धर्म, सीमित से दूर असीम की ओर जाता है। मनुष्य में ससीम तथा असीम का योग है। वह कभी सीमित वस्तु से तृप्त नहीं होता। उसकी अतृप्त वासना अनन्त ईश्वर की इच्छा करती है। अनन्त ईश्वर को प्राप्त करना ही उसका लक्ष्य है।

मनुष्य आदिम काल से एक अतिप्राकृत तथा अतिमानवीय शक्ति अथवा शक्तियों में, अथवा देवताओं में अथवा ईश्वर में विश्वास रखते रहे हैं। इसका कारण यह है कि वे पूर्णरूपेण, प्राकृतिक घटनाओं को नियन्त्रित अथवा प्रभावित नहीं कर सकते। अतः वे पहले से धर्म ही में विश्वास रखते हैं। मनुष्य आदिम काल से गोष्ठीबद्ध रूप से वास करते हैं। अतः मनुष्य पारस्परिक सम्बन्ध में आचार-नियम अथवा नैतिक नियम को मानते हैं। यह इनका नैतिक जीवन का आधार है। अतः मनुष्य में नीति और धर्म अविच्छिन्न हैं।

३ नीति-शास्त्र का मनोवैज्ञानिक आधार

(१) नैतिक कर्म और नीतिशून्य कर्म (Moral and Non-moral Actions)—

इस संदर्भ में 'नैतिक' पद व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ सत्-व असत्-गुण-सम्पन्न है। 'नैतिक' शब्द से अभिप्राय: है कि जिसमें नैतिक गुण (सत् व असत्) विद्यमान हो। 'नीतिशून्य' का अर्थ है नैतिक-गुण से रहित कर्म, जो कि नैतिक निर्णय का विषय नहीं है। नीतिशून्य कर्म, नीति-सम्पन्न तथा नीति-विरुद्ध कर्मों से बाहर है।

सभी कर्म नैतिक निर्णय के विषय नहीं हैं। केवल बुद्धिसम्पन्न व्यक्तियों के इच्छाकृत और अभ्यासजन्य कर्म ही नैतिक निर्णय के विषय हैं। प्राकृतिक घटनाओं को (यथा—आँधी, बाढ़, अकाल इत्यादि) नैतिक अथवा अनैतिक नहीं कहा जा सकता। निर्जीव पदार्थ और प्राकृतिक घटनायें निर्णय के क्षेत्र से बाहर हैं। इसी प्रकार पशुओं के कर्म भी न तो नीति-सम्पन्न होते हैं और न नीति-विरुद्ध। पशु, विचारहीन तथा विवेकहीन हैं। उन्हें कर्तव्याकर्तव्य का विवेक नहीं होता। अतः उनके कर्म नीति-शून्य होते हैं। बच्चों के, पागलों के तथा बुद्धिहीनों के कर्म भी नैतिक-गुण-रहित होते हैं, क्योंकि वे विचार और विवेक के योग्य नहीं होते। जो कर्म बल-पूर्वक कराये जाते हैं अथवा जो भौतिक कारणों से बाध्य होकर किये जाते है वे भी नीति-शून्य होते हैं, यदि उनके प्रतिरोध की शक्ति मनुष्य में नहीं है। सम्मोहित (Hypnotic) अवस्था में दिये गये आदेशों के फलस्वरूप जो कर्म किये जाते हैं, वे भी नीति-शून्य होते हैं, क्योंकि उनका प्रतिरोध असम्भव होता है। भावना-ग्रन्थियों के प्रभाव में किये हुए बाध्यतामूलक कर्म भी नीति-शून्य होते हैं। क्योंकि वे साधारण कर्म नहीं, अतः उनमें नैतिक गुण नहीं पाया जाता। प्रकृतिस्थ वयस्क मनुष्यों के अनैच्छिक कर्म भी नीति-शून्य होते हैं। प्रतिक्षेप-क्रियायें, अनियमित क्रियायें, सहजात कर्म, विचार प्रत्यावर्ती क्रियायें, संवेगों के स्वतः प्रकाशन और आकस्मिक कर्म नैतिक-गुण-रहित होते हैं।

इस प्रकार केवल विवेक-सम्पन्न व्यक्तियों के ऐच्छिक और अभ्यासजन्य कर्म ही नैतिक निर्णय के विषय हैं। ऐच्छिक कर्म आत्मा-चेतक युक्त स्वतन्त्र कर्ता के द्वारा इच्छा भविष्य-दृष्टि और साध्य-साधनों के चुनावपूर्वक जान-बूझ कर बुद्धिमानी के साथ किये जाते हैं। अतः वे नैतिक निर्णय के विषय हैं। आदतें बार-बार किये गये ऐच्छिक कर्मों के परिणाम हैं। अभ्यास से ऐच्छिक कर्म स्थायी आदतें बन जाते हैं। वे स्वयं चलित हो जाते हैं। आदतें दो कारणों से नैतिक निर्णय का विषय होती हैं। प्रथम, आदतें इच्छापूर्वक अर्जित की जाती हैं, ऐच्छिक कर्मों के बारम्बार दोहराने से उनकी उत्पत्ति होती है; शरीर के अन्दर जड़ पकड़ने से पूर्व ही उनको रोका जा सकता था। द्वितीय, आदतों का आरम्भ संकल्पनात्मक मनोवेग के साथ होता है।

उनके दृढ़ हो जाने के उपरान्त भी संकल्प-शक्ति के प्रबल प्रयत्न के द्वारा उन पर विजय पाई जा सकती है।

(२) अनैच्छिक कर्म (Nonvoluntary Actions)—

कर्म दो प्रकार के होते हैं—ऐच्छिक और अनैच्छिक। अनैच्छिक कर्म ऐच्छिक कर्मों के पूर्वगामी होते हैं। अनैच्छिक कर्म कई प्रकार के होते हैं, यथा (१) स्वयं चलित-कर्म, (२) अनियमित कर्म, (३) प्रतिक्षेप क्रिया, (४) विचार-जन्य कर्म, और (५) सहजात कर्म।

(३) ऐच्छिक कर्म (Voluntary Actions)—

ऐच्छिक कर्म वे कर्म हैं जिन्हें कर्ता जान-बूझ कर किसी इष्ट फल की प्राप्ति के उद्देश्य से करता है। वे आत्मा द्वारा इच्छापूर्वक किये जाने वाले कर्म हैं। ऐच्छिक कर्म की तीन स्थितियाँ होती हैं—मानसिक स्थिति, शारीरिक स्थिति और शरीर के बाहर की, अर्थात् दृश्य परिणामों की स्थिति।

(१) मानसिक स्थिति (Mental stage)—

कर्म की प्रेरणा (Spring of action)—प्रत्येक ऐच्छिक कर्म के पीछे कोई न कोई प्रेरणा अवश्य होती है। यह प्रेरणा किसी वास्तविकता अथवा काल्पनिक अभाव अथवा अपूर्णता की भावना होती है। यह या तो कोई मूल प्रवृत्ति होती है या एषणा, अथवा कोई बौद्धिक, नैतिक, सौन्दर्यविषयक या धार्मिक तृष्णा। आवश्यकता अथवा अपूर्णता की भावना सदैव कष्टप्रद होती है। तथापि प्रायः यह भविष्य में आवश्यकता की तृप्ति के पूर्वज्ञान के द्वारा जनित सुखप्रद भावना के साथ मिश्रित होती है। इस प्रकार, कमी की दुःखप्रद भावना काल्पनिक तृप्ति की सुखप्रद भावना के साथ मिश्रित होती है, किन्तु दुखःप्रद भावना सुखप्रद भावना से अधिक प्रबल होती है।

(क) इच्छा (Desire)—कर्म की प्रेरणा अथवा कमी की भावना तथा क्षुधा इत्यादि इच्छा परिवर्तित हो जाती हैं। आत्मचेतना अतृप्ति की भावना के ऊपर हस्तक्षेप करती है और उसे इच्छा में परिणत कर देती है। इच्छा, एषणा की भाँति अन्धी नहीं होती है। आत्म-ज्ञान के कारण यह विवेकयुक्त होती है। इच्छा से अभिप्रायः किसी एषणा अथवा अभाव की भावना को उसकी उचित वस्तु की उपलब्धि के द्वारा तृप्त करने की तृष्णा है। इच्छा से अभिप्राय उस वस्तु अथवा लक्ष्य के विचार से है जो अभाव की भावना को सन्तुष्ट करे। उसमें लक्ष्य-प्राप्ति के लिये उचित अथवा अनुचित साधन का भी विचार रहता है और उसमें उस वस्तु की प्राप्ति की अभिलाषा होती है।

ऐसी परिस्थिति में जब धर्म साधारण और इच्छाओं के द्वन्द्व से रहित होता है, चुनाव भी शीघ्र ही हो जाता है और कर्म तत्काल सम्पन्न हो जाता है। किन्तु जटिल कर्म की दशा में इच्छा के उपरान्त चुनाव तत्काल नहीं होता।

(ख) प्रयोजन-संघर्ष (Conflict of Motives)—इसे इच्छाओं का संघर्ष (Conflict of Desires) भी कहा जाता है। किसी जटिल कार्य में कभी-कभी

आत्मा का साम्मुख्य विविध प्रतियोगी प्रवृत्तियों से हो जाता है। कई आवश्यकतायें तृप्ति चाहती हैं जिनके परिणामस्वरूप मन में एक साथ कई लक्ष्यों, उद्देश्यों और प्रवृत्तियों का उदय हो जाता है। इस प्रकार विविध इच्छायें मन को विभिन्न दिशाओं में आकर्षित करती हैं। सभी लक्ष्यों की प्राप्ति एक साथ नहीं हो सकती। सब इच्छाओं की पूर्ति एक ही समय नहीं हो सकती। उनमें परस्पर विरोध भी हो जाता है। यदि एक की पूर्ति होती है तो दूसरी अपूर्त रह जाती है। इस प्रकार, मन में इच्छाओं अथवा प्रवृत्तियों में प्रतियोगिता या संघर्ष उत्पन्न हो जाता है।

किन्तु, इस प्रकार का कथन एक मिथ्या उक्ति है। प्रवृत्तियाँ आत्मा के ऊपर बाहर से प्रतिक्रिया करने वाली बाह्य शक्तियाँ नहीं हैं। वे आत्मा की ही दशायें हैं। स्टाउट के अनुसार प्रेरणायें निरपेक्ष द्रष्टा के रूप में आत्मा के सम्मुख युद्ध करने वाली स्वतन्त्र शक्तियाँ नहीं हैं; वे आत्मा के स्वभाव से उत्पन्न आत्मा की ही अवस्थायें हैं। ड्यूई के अनुसार, संघर्ष आत्मा का आत्मा से है; विरोधी योद्धा और युद्धभूमि सब आत्मा ही है। इस द्वन्दात्मक अवस्था में आत्मा कार्य को स्थगित कर देता है और विभिन्न प्रेरणाओं के द्वारा, जिनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, इधर-उधर खींचा जाता है। कुछ लोगों की धारणा है कि प्रयोजन आत्मा द्वारा स्वीकृत इच्छा है। इस दशा में हम प्रयोजन-संघर्ष नहीं कह सकते; इच्छाओं का संघर्ष कह सकते हैं।

(ग) विचारणा (Deliberation)— विभिन्न प्रवृत्तियों के मध्य संघर्ष की अवस्था में आत्मा कर्म को स्थगित कर देती है और विविध प्रवृत्तियों से प्रेरित कार्यों के गुण-दोषों के ऊपर विचारणा करती है। आत्मा विभिन्न विकल्पों के पक्ष और विपक्षों का तुलनात्मक विचार करती है। इसे विचारणा कहते हैं। विचारणा से अभिप्राय आत्मा से पृथक् इच्छाओं के बलाबल की परीक्षा नहीं है। इच्छायें आत्मा की ही अवस्थायें हैं। विचारणा प्रतिद्वन्द्वी इच्छाओं में एक के चुनाव के हेतु विविध इच्छाओं के द्वारा प्रेरित कर्मों के गुण-दोषों के चिन्तन की मानसिक प्रक्रिया है।

(घ) निर्णय अथवा चुनाव (Decision or Choice)— विचारणा के उपरान्त आत्मा एक प्रेरणा-विशेष को चुन लेती है और अपने को उसके साथ एकाकार कर देती है। यह एक को चुनकर अन्य प्रेरणाओं का निषेध कर देती है। इस चयनात्मक क्रिया को चुनाव अथवा निर्णय कहते हैं। इस स्थिति में आत्मा चुने हुए साधनों के द्वारा एक निश्चित प्रेरणा या अभीष्ट को सिद्ध करने के हेतु एक निश्चित कार्य-प्रणाली का निर्णय कर देता है। निर्णय की अवस्था किसी विशेष-साध्य और विशेष-साधन के चुनाव की अवस्था है। निर्णय से अभिप्राय आत्मा से परे प्रबलतर प्रेरणा की निर्बल प्रेरणाओं के ऊपर विजय नहीं है। आत्मा के द्वारा चुनी हुई प्रेरणा कर्म की वास्तविक प्रेरणा बन जाती है। चुनी हुई प्रवृत्ति प्रबलतम प्रवृत्ति बन जाती है। अस्वीकृत प्रेरणायें मन के अवचेतन स्तर में चली जाती हैं। विचारणा के साथ प्रतिद्वन्द्वी प्रेरणायें कर्म की सम्भावित प्रवर्त्तनायें समझी जाती हैं; निर्णय के उपरान्त चुनी हुई प्रेरणा कर्म की वास्तविक प्रेरणा बन जाती है।

(ङ) निश्चय अथवा संकल्प—कभी-कभी निर्णय तत्काल कार्य-रूप में परिणत हो जाता है। उस दशा में निश्चय की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। परन्तु, कभी-कभी कर्म स्थगित कर दिया जाता है और उस दशा में निश्चय की आवश्यकता होती है। निश्चय से अभिप्राय पूर्वक्त निर्णय पर डटे रहना है। यह निर्णय को कार्यान्वित करने का और निर्णयभाव तथा दुविधा को हटाने का संकल्प है।

(२) शारीरिक स्थिति (Bodily State)—

जब चुनाव का निश्चय हो जाता है तो वह शारीरिक क्रिया में परिवर्तित हो जाता है। संकल्प और शारीरिक गति में क्या सम्बन्ध है? संकल्प में हमें उस शारीरिक गति की स्पष्ट कल्पना होती है, जो संकल्प को कार्यान्वित करेगी। गति की यह स्पष्ट कल्पना जब चेतना के ऊपर अधिकार कर लेती है तो अनायास ही पेशियों में गति उत्पन्न हो जाती है। विलियम जेम्स के मतानुसार, गति का विचार अपने प्रवर्त्तक स्वभाव के कारण शारीरिक क्रिया में सम्पन्न हो जाता है।

(३) बाह्य परिणाम (External Consequences)—

शारीरिक क्रिया वाह्य जगत से परिवर्तन पैदा करती है। ये परिवर्तन परिणाम कहलाते हैं। परिणाम विभिन्न प्रकार के होते हैं जैसे—चुने हुए उद्देश्यों की सिद्धि; चुने हुए उचित व अनुचित साधनों की सिद्धि; कुछ प्रत्याशित परिणाम; कुछ अप्रत्याशित अथवा आकस्मिक परिणाम।

(४) इच्छा (Desire)—

इच्छा से अभिप्राय किसी कर्त्ता की अभीष्ट-सिद्धि अथवा अभाव-पूर्ति की चाह है। इच्छा आत्मा की वास्तविक दशा और किसी अपेक्षित-भविष्य-दशा की कल्पना के बीच एक तनाव की स्थिति है। यह एक जटिल मानसिक स्थिति है, जिसमें ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक तीनों तत्व वर्तमान होते हैं।

ज्ञानात्मक तत्व इस प्रकार हैं—अभाव की भावना को दूर करने वाली वस्तु का विचार; उचित व अनुचित साधनों का विचार जो कि उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक होंगे; वास्तविक स्थिति और आदर्श के भेद का ज्ञान अथवा वर्तमान अपूर्णता की भविष्य पूर्णता की स्थिति से तुलना। वास्तविक स्थिति और आदर्श के वैषम्य की चेतना जितनी अधिक तीव्र होती है इच्छा भी उतनी अधिक बलवती होती है।

भावात्मक तत्व इस प्रकार है—अभाव की तीव्र वेदना जो कि कर्म की प्रवर्त्तक होती है; प्रत्याशित तृप्ति से उत्पन्न सुखप्रद भाव।

क्रियात्मक तत्व इस प्रकार हैं—अतृप्ति के भाव को दूर करने वाली वस्तु की प्राप्ति की एषणा; उद्देश्य प्राप्ति कराने वाले कर्म के लिये वेगयुक्त मनोवृत्ति।

(५) जैव-वृत्ति पशु-वृत्ति और इच्छा (Want, Appetite and Desire)—

पेड़-पौधे चेतनारहित होते है; पशु चेतनायुक्त होते हैं; मनुष्य विचारवान्

और आत्म-चेतनायुक्त होते हैं। पेड़ पौधों की जैव-वृत्तियाँ या शारीरिक आवश्यकतायें होती हैं; उनकी पोषक-द्रव्य खींचने के लिये जड़ों को भूमि में फेंकने की और प्रकाश लेने के लिये शाखाओं को फैलाने की अचेतन जैव-वृत्ति होती है। शारीरिक आवश्यकताओं की उन्हें अनुभूति नहीं होती, क्योंकि वे अचेतन हैं। पेड़-पौधों की शारीरिक आवश्यकतायें अन्धी और अचेतन एषणायें होती हैं।

किन्तु, पशुओं की प्रवृत्तियाँ अन्धी किन्तु चेतन वृत्तियाँ होती हैं। पशु चेतनायुक्त होते हैं, उन्हें सुख-दुख की अनुभूति होती है। अतः पशु को प्रवृत्ति की अनुभूति होती है। यह अनुभूति किसी वस्तु के प्रति केवल एक अन्धी प्रवृत्ति न होकर किसी सीमा तक चेतना में विद्यमान होती है। किस प्रकार की वस्तु आवश्यकता की पूर्ति करेगी, इस विषय का निश्चित विचार भी चेतना में हो सकता है। उच्च श्रेणी के पशुओं में इच्छित वस्तु की स्पष्ट चेतना होती है, किन्तु सुख-दुख-रूप भावात्मक तत्व तीव्र रूप में पाया जाता है। उदाहरणार्थ, एक भूखे कुत्ते को अभीष्ट वस्तु के स्वरूप की प्रायः पूर्ण चेतना होती है। किन्तु, निम्न-श्रेणी के पशुओं में उस वस्तु की चेतना कुछ अस्पष्ट होती है। उनकी चेतना में किसी वस्तु के निश्चित विचार की अपेक्षा सुख अथवा दुःख का तत्व अधिक तीव्र होता है। पशु चेतनायुक्त होते हैं, किन्तु आत्म-चेतनायुक्त नहीं।

मनुष्य की इच्छा में केवल वस्तु की चेतना और सुख तथा दुःख की भावनायें मात्र न होकर शुभाशुभ की भी पहिचान होती है। पेड़-पौधों के अन्दर पोषक-तत्वों की शरीर के लिये आवश्यकता-मात्र होती है। पशुओं में क्षुधा होती है। किन्तु मनुष्यों में इसका परिवर्तन भोजन की इच्छा के रूप में हो जाता है। मनुष्य निश्चित रूप से भोजन को एक लक्ष्य के रूप में पहिचानते हैं। इस प्रकार इच्छा केवल मनुष्य की होती है जो कि विवेकयुक्त कर्त्ता है। मनुष्य आत्म-चेतनायुक्त होते हैं, अतः उनको शुभाशुभ का ज्ञान है।

(६) इच्छा का आत्म और चरित्र से सम्बन्ध
(Relation of Desire to Self and Character)

इच्छायें बुद्धियुक्त कर्त्ता की होती हैं। वे क्षुधा के समान अन्धी नहीं होती। वे अचेतन वृत्तियाँ भी नहीं हैं। वे आत्म-चेतना के कारण प्रबुद्ध होती हैं। वे किसी शुभ-वस्तु की प्राप्ति के लिये आत्मा की चेतनायुक्त चाहें होती हैं। आत्मा किसी अभीष्ट वस्तु या लक्ष्य को प्राप्ति के लिये चुनता है, जिससे उसका हित-साधन होता है और जिसे वह अपने चरित्र का अविरोधी जानता है।

म्यूरहेड का मत है कि इच्छायें सदैव वस्तु-विषयक होती हैं, और वस्तुओं का आत्मा के लिये मूल्य होता है जिसका चरित्र से सामंजस्य रहता है।[1] उदाहरणार्थ, एक दार्शनिक को दर्शन-सम्बन्धी पुस्तकें पढ़ने की तीव्र इच्छा है। यह इच्छा घनिष्ठ रूप से उसकी आत्मा तथा चरित्र से सम्बन्धित है। दार्शनिक ग्रन्थों का

1. *Elements of Ethics*, p. 53.

अध्ययन उसकी आत्मा के लिये मूल्य रखता है। क्योंकि, अध्ययन का उसके मन की दार्शनिक वृत्ति से अथवा उसकी स्थायी प्रवृत्ति से अर्थात् उसके चरित्र से सामंजस्य है।

म्यूरहेड के अनुसार, इच्छा और आत्मा व उसके चरित्र के सम्बन्ध इस प्रकार हैं—मनुष्य की इच्छायें मनुष्य को निरर्थक भ्रमित करने वाली अन्ध शक्तियाँ नहीं हैं। वे सदा वस्तुओं के स्पष्ट अथवा अस्पष्ट विचारों से युक्त होती हैं। इस लिये पशु-प्रवृत्ति मात्र से उनका वैषम्य है। वस्तुयें आत्मा से द्विविध सम्बन्ध रखती हैं। आत्मा के चरित्र से उनका आवश्यक सम्बन्ध होता है। आत्मा, इच्छाओं की सृष्टि रोचक वस्तुओं की प्राप्ति के हेतु करता है क्योंकि उनका उसके चरित्र से सामंजस्य होता है। उनका आत्मा से सम्बन्ध इसलिये होता है कि उनकी उपलब्धि आत्मा को इष्ट होती है। इस कथन—कि कोई व्यक्ति किसी वस्तु की कामना करता है, का अभिप्राय है कि वह व्यक्ति उस वस्तु में आत्मा की पूर्णता लक्षित करता है। समस्त इच्छायें आत्मा की इच्छायें होती हैं। उनका लक्ष्य किसी प्रकार की आत्म-पूर्णता होता है।

(७) इच्छा का क्षेत्र (Scope of Desire)—

मैकेन्जी का कथन है कि प्रत्येक इच्छा का अपना एक विशिष्ट क्षेत्र होता है। इस क्षेत्र से बाहर वह निरर्थक होती है। यह क्षेत्र सम्पूर्ण चरित्र का उस काल में प्रकाशित-रूप होता है जिसमें व्यक्ति को इच्छा की अनुभूति होती है। इच्छा का क्षेत्र किसी क्षण में मनुष्य के नैतिक दृष्टिकोण का क्षेत्र होता है।[2] प्रत्येक व्यक्ति को एक विशेष इच्छा-क्षेत्र में रहने की आदत होती है। यह विशेष-इच्छा क्षेत्र उसका स्थायी चरित्र होता है। इस प्रकार उसकी इच्छायें उसके मन में स्थित स्वतन्त्र सत्तायें नहीं हैं। वे किसी इच्छा-क्षेत्र से सम्बन्धित होती हैं, जो उसके चरित्र अथवा स्थायी-संकल्प-प्रवृत्ति का बना हुआ होता है। किन्तु वही व्यक्ति नियमित रूप से एक ही इच्छा-क्षेत्र में नहीं रहता। विविध इच्छायें अलग-अलग मानसिक स्थितियों में, स्वास्थ्य की भिन्न-भिन्न दशाओं में हमारे मन पर अधिकार करती हैं। इन परि-वर्तनों के कारण इच्छा-क्षेत्र भी परिवर्तित होते रहते हैं। प्रत्येक इच्छा-क्षेत्र में इच्छाओं का विन्यास भी नूतन होता है। कोई व्यक्ति एक इच्छा-क्षेत्र से दूसरे में जा सकता है। किन्तु, उसकी इच्छायें स्वतन्त्र न होकर सदैव किसी इच्छा-क्षेत्र से सम्बन्धित रहती है।

(८) इच्छा, अभिलाषा और संकल्प (Desire, wish and will)

संकल्प की क्रिया इच्छा एक तत्व है। सर्वप्रथम किसी अभाव की अनुभूति होती है, फिर आत्मा उसको इच्छा में परिवर्तित कर देती है, विचारणा के उपरान्त आत्मा जब किसी इच्छा को चुन लेती है तो उसे चुनाव कहते हैं। इस प्रकार बिना इच्छा के संकल्प असम्भव है।

2. *Manual of Ethics*, p. 34.

किसी जटिल कार्य में इच्छाओं का संघर्ष होता है। ऐसी स्थिति में आत्मा कार्य का विरोध कर देती है और विभिन्न इच्छाओं के गुणावगुणों पर विचारणा करते हुए एक इच्छा को चुनकर अन्य इच्छाओं को छोड़ देती है। इस प्रकार स्वीकृत इच्छा प्रधान और कर्म-प्रेरक बन जाती है। ऐसी इच्छा को **मैकेंजी** ने प्रबल इच्छा (Wish) कहा है। द्वन्द्वात्मक-स्थिति में कुछ इच्छायें दूसरी इच्छाओं पर हावी हो जाती हैं और कुछ दब जाती हैं। जिन इच्छाओं की शक्ति संघर्ष के कारण क्षीण नहीं होती बल्कि स्थिर रह जाती है उन्हीं को प्रबल इच्छा कहना चाहिये।[3]

एक प्रभावहीन इच्छा सदैव इच्छा कहलाती है। प्रबल इच्छा अभिलाषा कहलाती है। यह सम्भव है कि कोई प्रबल इच्छा उस इच्छा क्षेत्र से सामन्जस्य न रखती हो जिसमें व्यक्ति रहता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति उसे अस्वीकृत कर सकता है। परन्तु वह जब उसके इच्छा-क्षेत्र से मेल खाती है तो उसका परिवर्तन ऐच्छिक या संकल्पात्मक कर्म में हो जाता है। उदाहरणार्थ एक निर्धन औषधि-विक्रेता विष का विक्रय करता है। उसे विष बेचना पसन्द नहीं है। किन्तु उसकी भयानक दरिद्रता उसे ऐसा करने को बाध्य करती है। उसकी प्रबल इच्छा विष-विक्रय के विरुद्ध है। किन्तु उसका प्रभावशाली इच्छा-क्षेत्र, जिसकी रचना उसकी दरिद्रता के कारण हुई है उसे विष बेचने का संकल्प करने के लिये बाध्य करता है। इस प्रकार, "अभिलाषा एक प्रबल इच्छा है, जबकि संकल्प किसी इच्छा-क्षेत्र के प्रभुत्व पर आश्रित होता है।"[4] संकल्प आत्मा द्वारा स्वीकृत, प्रबल और इच्छा-क्षेत्र से सामंजस्य रखने वाला होता है।

(६) प्रयोजन, लक्ष्य तथा उद्देश्य (Motive)—

प्रयोजन का अर्थ है—वह जो किसी विशेष कर्म में प्रवृत्त करता है। "प्रयोजन के दो अर्थ हो सकते हैं: एक, वह जो विशेष प्रकार की क्रिया के लिए बाध्य करता है, दूसरा, वह जो उसके लिए प्रेरित करता है।"[5] पूर्व अर्थ में प्रयोजन क्रिया की प्रेरणा है। यह किसी अभाव की अनुभूति है। यह वह 'भाव' है जो हमें कार्य के लिये उत्तेजित करता है। इस अर्थ में, किसी मनुष्य की सुख अथवा दु:ख की अनुभूति को या क्रोध, ईर्ष्या, भय अथवा दया के संवेगों को उसकी प्रवर्तना कह सकते हैं। **ह्यूम** (Hume), **बेन्थम** (Bentham) **जे० एस० मिल** (J. S. Mill) और **बेन** (Bain) जैसे सुखवादियों का मत है कि केवल सुख और दु:ख के भाव ही कार्यों की प्रेरणायें हैं। इच्छाकृत कर्मों का नियामक केवल यही हैं। लोग सदैव सुख-प्राप्ति और दु:ख-निवृत्ति का प्रयत्न करते हैं। भाव और संवेग कर्म की प्रेरणा हैं। बेन्थम का कथन है कि, "प्रेरणा वस्तुत: विशेष रूप में प्रवर्तक सुख अथवा दु:ख के अतिरिक्त कुछ नहीं है।" मिल के अनुसार "प्रेरणा एक भाव है जो उस कर्त्ता को कुछ करने का संकल्प करवाती है।" मिल ने मोटिव (motive) शब्द को प्रेरणा अर्थ में लिया है।

---

3. Ibid. p. 38.
4. Ibid. p. 41.
5. Ibid. p. 50.

किन्तु, मनुष्य एक बुद्धिमान् प्राणी है। केवल अन्ध भाव और संवेग उसे कर्म के लिये प्रेरित नहीं कर सकते। आत्मा के द्वारा विचार के उपरान्त उनका इच्छाओं में परिवर्तन होना चाहिये। यदि कोई मनुष्य पूर्ण-रूप से भाव व संवेग के आवेश में होता है तो उसे कार्य का कर्त्ता कहना बिल्कुल असंगत है। ऐच्छिक-कर्म में विचारण चुनाव और संकल्प का समावेश होता है। ये विवेकपूर्ण क्रियायें हैं। लक्ष्य के विचार को ही प्रयोजन कहना उपयुक्त है। शुभ के रूप में उसका चुनाव आत्मा के द्वारा होता है। यही धर्म के लिये प्रेरित करता है। भावों को कर्म का निमित्त-कारण कहा जा सकता है। लक्ष्य का विचार उद्देश्य कारण है। म्यूरहेड का कथन है कि एकान्तरूप से केवल भाव ही कर्म का प्रयोजन नहीं हो सकता। इच्छा के तत्व के रूप में भाव केवल निमित्त कारण होता है, जबकि प्रयोजन का संकेत उद्देश्य कारण की ओर होता है।[6]

ग्रीन (T. H. Green), **मैकेन्जी** जैसे नीतिशास्त्रियों के मतानुसार, साध्य-लक्षण का विचार ही कर्म का प्रयोजन है। ग्रीन की परिभाषा है, "प्रयोजन लक्ष्य का विचार है जिसे कोई आत्मा-चेतनायुक्त प्राणी अपने सम्मुख रखता है व जिसे प्राप्त करने के लिये वह प्रयत्नशील होता है।" मैकेन्जी के अनुसार, नैतिक व्यवहार ऐच्छिक होता है, और ऐच्छिक कर्म साधारण रूप से भाव-प्रेरित नहीं होता। भाव इसके लिए अपर्याप्त होता है। जब कोई कर्म में प्रवृत्त होता है तो भाव के अतिरिक्त साध्य का विचार भी आवश्यक होना चाहिए।[7]

म्यूरहेड के अनुसार प्रयोजन से अभिप्राय अपने चरित्र के अनुकूल आत्मा के द्वारा चुने हुये लक्ष्यों के विचार से है। प्रयोजन चुनी हुई इच्छा या उद्देश्य है। कभी-कभी-इच्छाओं के मध्य संघर्ष उत्पन्न हो जाया करता है। ऐसी अवस्था में कई लक्ष्य आत्मा के सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं। आत्मा उनके गुण-दोषों का विचार करती है और उनमें से एक का चुनाव करके दूसरों को अस्वीकृत कर देता है। यही चुना हुआ लक्ष्य कर्म का वास्तविक प्रवर्त्तक है। म्यूरहेड के अनुसार, "ठीक है कि कर्म का प्रवर्त्तक-भाव अकेला नहीं हो सकता; किन्तु साध्य या वस्तु का विचार भी एकान्त रूप से नहीं हो सकता। विचार स्वत: कर्म के लिये प्रेरित नहीं कर सकता। ऐच्छिक कर्म में मन में विचार की उपस्थिति-मात्र विचार को प्रेरित करने की क्षमता नहीं प्रदान कर सकती। यह तो विचार की किसी पूर्व-निश्चित प्रवृत्ति या इच्छा-क्षेत्र से संगति ही कर सकती है।" इस प्रकार प्रयोजन से अभिप्राय उस उद्देश्य के विचार से है जिसका चुनाव आत्मा ने उस इच्छा-क्षेत्र से उसका साम्य होने के कारण किया है जिसमें उस काल में आत्मा पाई जाती है। यह मत सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। यह मत मैकेन्जी के मत से भिन्न नहीं है। यह केवल उसके 'प्रयोजन' के अर्थ को संकुचित कर देता है।

---

6. *Elements of Ethics, pp. 60–61.*
7. *Manual of Ethics pp. 51–52:*

(१०) सुख और प्रयोजन (Pleasure and Motive)—

मनोवैज्ञानिक सुखवादी (यथा, बेन्थम और जे० एस० मिल) कहते हैं कि इच्छा का विषय सदा सुख होता है। स्वभावत: मनुष्य सुख-प्राप्ति और दु:ख-निवृत्ति का इच्छुक होता है। सुख इच्छा का सामान्य विषय है। केवल यही कर्म का प्रवर्त्तक होता है।

यह मत दोषपूर्ण है। इच्छा की उत्पत्ति अभाव की अनुभूति से होती है। जब इस अभाव की पूर्ति हो जाती है तो सुख की प्राप्ति होती है। जब हमारी इच्छा पूर्ण हो जाती है तो सुख मिलता है। उदाहरण के लिये—हमें भूख लगती है। हमें भोजन की इच्छा होती है। जब वस्तु (यथा, भोजन) प्राप्त हो जाती है, तो सुख मिलता है। अत: इच्छा सुख के लिये नहीं होती। किन्तु, सुख इच्छित-वस्तु की प्राप्ति का फल है। कुछ अवस्थाओं में सुख भी इच्छा का विषय हो सकता है। स्वाद-लोलुप मनुष्य भूख की अनुपस्थिति में केवल सुख-प्राप्ति के हेतु स्वादिष्ट भोजन की इच्छा करता है। इस प्रकार सामान्यतया सुख इच्छा का विषय नहीं होता।

(११) बुद्धि और प्रयोजन (Reason and Motive)—

ह्यूम ने बुद्धि को प्रवृत्तियों की सेविका बताया है। उसके अनुसार, "मनुष्य की बुद्धि है और उसे प्रवृत्तियों की सेविका होना चाहिये; उसका उनकी सेवा और आज्ञापालन के अतिरिक्त अन्य कार्य का बहाना करना मिथ्या है।" प्रवृत्तियाँ मनोवेग हैं। विशेष मनोवेग कार्यों को लक्ष्य प्रदान करते हैं। बुद्धि केवल उन साधनों का निर्देश मात्र कर सकती है जिससे उन लक्ष्यों की प्राप्ति हो सकती है। कार्य के लक्ष्य का निर्धारण मूल-प्रवृत्तियों के द्वारा होता है। बुद्धि उन साधनों का निर्देश करती है जिससे उनकी प्राप्ति सुगमतापूर्वक हो सकती है। इस प्रकार, बुद्धि का स्थान प्रवृत्ति की तुलना में गौण है। बुद्धि हमारे लिये एक नवीन प्रयोजन की सृष्टि नहीं कर सकती यह केवल वर्तमान प्रयोजन की प्राप्ति के लिये उपायों का निर्देश कर सकती है।

यह मत भ्रान्त है। यह मत इस धारणा पर आधारित है कि मन अलग-अलग स्वतन्त्र इच्छाओं का समूह है जिनमें बुद्धि एक पृथक् शक्ति के रूप में कार्य करती है। यह धारणा निराधार है। मन एक ऐक्ययुक्त सत्ता है जिसमें बुद्धि केवल इच्छाओं और प्रवृत्तियों का नियन्त्रण ही नहीं करती बल्कि उनकी प्रकृति को भी निर्धारित करती है। बुद्धि प्रवृत्तियों को उन वस्तुओं के लिये इच्छाओं में परिवर्तित कर देती है जिनको वह अच्छा समझती है। पशु मे केवल प्रवृत्तियाँ तथा मनोवेग होते हैं। किन्तु मनुष्य उनको आत्म-चेतना और आत्म-हित के विचार के द्वारा प्रबुद्ध बना देता है। इस प्रकार बुद्धि हमें कर्म की प्रेरणायें दे सकती है। बुद्धि-युक्त मनुष्य की प्रेरणायें अंशत: इच्छाओं से और अंशत: बुद्धि से निर्मित होती हैं।

मनुष्य आंशिक-रूप में अनुभूतिक्षम है और आंशिक रूप में विचारवान् है। अत: उसकी प्रेरणायें अंशत: भाव, प्रवृत्ति और इच्छाओं के द्वारा तथा अंशत: बुद्धि

द्वारा निर्धारित होती हैं। हमें यह नहीं समझ लेना चाहिये कि सभी प्रेरणायें बुद्धि-युक्त होती हैं, क्योंकि मनुष्य पूर्णतया विचारवान् प्राणी नहीं हैं। यदि वह पूर्णतया विचारवान् होता है तो उसकी सभी प्रेरणायें बुद्धियुक्त होतीं। किन्तु, मनुष्य मूल प्रवृत्तियों और वासनाओं से युक्त है। अतः प्रायः सर्वोच्च शुभ का ज्ञान रखते हुये भी वह उसका अनुसरण नहीं कर सकता। वह जानता है कि परिस्थिति-विशेष में क्या करना उचित है, किन्तु कभी-कभी वह अनुचित करता है। अतः केवल बुद्धि ही कर्म की प्रवर्तक नहीं है।

(१२) प्रेरणाओं की रचना (Constitution of Motives)—

प्रेरणायें न तो पूर्णतया विवेकहीन और न पूर्णतया विवेकयुक्त होती हैं। उनकी रचना अंशतः भावों, वासनाओं से और इच्छाओं से और अंशतः बुद्धि से होती है। इच्छाओं के लक्ष्य अंशतः अतृप्ति की भावना से निर्धारित होते हैं जिसकी निवृत्ति उनको इष्ट होती हैं, और अंशतः शुभ के बौद्धिक विचार के द्वारा जिसका अनुसरण किया जाना चाहिये। इस प्रकार भाव और बुद्धि दोनों प्रेरणा की प्रकृति को निर्धारित करते हैं मनुष्य की प्रकृति ऐन्द्रिय तथा बौद्धिक है।

(१३) प्रयोजन और अभिप्राय (Motive and Intention)—

बेन्थम और जे० एस० मिल 'प्रेरणा' को कर्म के स्रोत या भाव अथवा संवेग के अर्थ में और 'अभिप्राय' को लक्ष्य, विषय अथवा कर्म के उद्देश्य के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। प्रयोजन कर्म का निमित्त कारण व अभिप्राय उद्देश्य कारण मानते हैं। किन्तु यह दोषपूर्ण है। प्रयोजन और अभिप्राय दोनों ही उद्देश्य कारण हैं। अभिप्राय प्रयोजन से व्यापक अवश्य है। प्रयोजन अभिप्राय का अंश है। किन्तु ऐच्छिक कर्म का प्रयोजन चुना हुआ लक्ष्य है जिसकी सिद्धि इसके द्वारा होती है। यह आत्मा को कर्म के लिये प्रेरित करता है, किन्तु इसकी सिद्धि के लिये साधनों का प्रयोग आवश्यक होता है। लक्ष्य सुखकर हो सकता है, किन्तु इसकी सिद्धि के लिये दुःखप्रद उपाय हो सकते हैं। यह भी सम्भव है कि उपाय अंशतः सुखप्रद और अंशतः दुःख-प्रद हों। प्रयोजन चुने हुये लक्ष्य का विचार होता है। अभिप्राय आत्मा के द्वारा चुने हुये लक्ष्य और सुखकर अथवा दुःखकर साधन दोनों का विचार होता है। इस प्रकार अभिप्राय प्रयोजन से अपेक्षाकृत व्यापक है। अभिप्राय प्रयोजन को अपने में शामिल करता है। यह चुने हुये साधनों और कर्म के पूर्वदृष्ट परिणामों का विचार है।

बेन्थम ने प्रयोजन और अभिप्राय के भेद को स्पष्ट करते हुये कहा है कि प्रयोजन वह है जिसके लिये कर्म किया जाता है जबकि अभिप्राय में, जिसके लिये कर्म किया जाता है और जिसके निवारणार्थ किया जाता है, दोनों सम्मिलित हैं। इस प्रकार, अभिप्राय प्रवर्तक और निवारक दोनों को शामिल करता है। पिता अपने पुत्र को उसके हितार्थ दण्ड देता है। पुत्र का हित उसका प्रयोजन है। किन्तु, पुत्र को दण्डित करने का उसका अभिप्राय भी होता है। पुत्र को सजा देना उसके अभिप्राय

का भाग है, किन्तु, यह उसका प्रयोजन नहीं हो सकता। इस प्रकार अभिप्राय में लक्ष्य का विचार अथवा प्रयोजन तथा उपायों का विचार दोनों शामिल हैं।

किसी कर्म का प्रयोजन लक्ष्य का विचार है जो उसे करने के लिये प्रवृत्त करता है। इसे अभिप्राय में शामिल किया जाना चाहिये, लेकिन यह सम्पूर्ण अभिप्राय के तुल्य नहीं है। अभिप्राय साधन के विचार को भी शामिल करता है जोकि कर्त्ता को कर्म करने के लिये निवारित भी कर सकता है। जब ब्रूटस (Brutus) ने अपने देश के कल्याण के लिये सीजर (Ceasor) के बध के लिये षडयन्त्र में भाग लिया था तो निश्चय ही सीजर का बध उसका अभिप्राय था, लेकिन प्रयोजन नहीं। देश को स्वतन्त्र करना ब्रूटस का उद्देश्य था; सीजर का बध उसके उद्देश्य का कोई अंश नहीं था। किन्तु यह कष्टप्रद उपाय या अवलम्बन अपने उद्देश्य-सिद्धि के लिये प्रयुक्त किया गया था। अतः वह उसके अभिप्राय का एक भाग था। इस प्रकार अभिप्राय का क्षेत्र प्रयोजन से अधिक व्यापक है। इसमें चुने हुए उद्देश्य का विचार, चुने हुये उपाय का विचार और प्रत्याशित फलों का विचार सम्मिलित है।

(१४) आदत (Habit)—

आदत या अभ्यास बार-बार दोहराये गये ऐच्छिक कर्मों का फल है। ऐच्छिक कर्मों को पहिले संकल्प की आवश्यकता होती है, लेकिन जब वे दोहराये जाते हैं तो उनकी आदत बन जाती है। तत्पश्चात् उन्हें चेतना के द्वारा पथ-प्रदर्शन अथवा प्रयास की आवश्यकता नहीं रहती। जब कोई अभ्यस्त कर्म-पूर्णरूपेण स्थायी हो जाता है तो वह प्रायः पूर्णतया यान्त्रिक और स्वयचालित हो जाता है। आदत के लक्षण इस प्रकार हैं—सुगमता, समरूपता, शीघ्रता, यथार्थता, चेतना के आधार से मुक्ति, और अपरिवर्तनीयता। आदतों का नैतिक महत्व है। वे ऐच्छिक क्रियाओं के बार-बार दोहराये जाने के फल हैं। अतः वे नैतिक निर्णय के विषय हैं। हम नैतिक रूप से केवल अपने इच्छापूर्वक किये गये कार्यों के लिये ही नहीं वरन् आदतों के लिये भी उत्तरदायी हैं। बुरी आदतों से क्रीतदासों को अपने नैतिक अपराधों के लिये क्षमा नहीं किया जा सकता। वे अपनी आदतों के लिये स्वयं उत्तरदायी हैं। आदतों में चरित्र निहित होता है। चरित्र नैतिक निर्णय का विषय है। व्यवहार चरित्र की अभिव्यक्ति है। इसमें ऐच्छिक कर्म और आदतें दोनों शामिल हैं।

(१५) धर्म ज्ञान और आदत (Virtue, Knowledge and Habit)—

सुकरात (Socrates 469 BC–399 BC) की धारणा है कि धर्म ज्ञान है। किसी परिस्थिति-विशेष में धर्म के लिये कर्त्तव्य का ज्ञान आवश्यक है। जटिल परिस्थितियों में नैतिक जीवन के लिये मूर्त्त कर्त्तव्यों में नैतिक अन्तर्दृष्टि नितान्त आवश्यक है।

अरस्तू (Aristotle 385 B. C.–322 B. C.) का विचार है कि धर्म आदत है। यद्यपि फर्म के लिये कर्त्तव्य-ज्ञान आवश्यक है किन्तु प्रायः सत् का ज्ञान रखते हुये भी हम वासनाओं के प्रभाव में आकर अथवा संकल्प-शक्ति की निर्बलता

के कारण असत् कर्म कर बैठते हैं। अत: धर्म के लिये धर्माचरण का अभ्यास आवश्यक है। धर्माचरण की आदत पड़ जाने पर चरित्र अच्छा बन जाता है। इस प्रकार, धर्म के लिये ज्ञान की अपेक्षा जो कि प्राय: वर्तमान होता है, आदत महत्व-पूर्ण है।

मैकेंजी का मत इस विषय में मान्य है। उसके अनुसार, धर्म-ज्ञान दोनों ही हैं। आदत कोई कार्य करने की होती है। उसी आदत का जिसमें विचारणा और चुनाव के तत्व उपस्थित हैं, नैतिक रूप से महत्वपूर्ण है। चुनाव तभी नैतिक हो सकता है जबकि हमें सदसत् का विवेक हो। अत: धर्म का अन्तिम आधार ज्ञान है।[8]

इसलिये धर्म चरित्र की उत्कृष्टता है। इसकी प्राप्ति कर्त्तव्य करने के अभ्यास से होती है, और कर्त्तव्य का ज्ञान नैतिक अन्तर्दृष्टि से होता है। अरस्तू के अनुसार "मनुष्य तब तक अच्छा नहीं है जब तक उसे उत्कृष्ट कर्म करने में आनन्द न प्राप्त हो।" धार्मिक व्यक्ति धर्माचरण का अभ्यस्त होता है और उसमें आनन्द मिलता है, जिसे कर्त्तव्य करने में आनन्द का अनुभव नहीं होता उसे धार्मिक कहना कठिन है। इस प्रकार नैतिक जीवन में आदत का अत्यधिक महत्व है।

(१६) व्यवहार (Conduct)—

व्यवहार के अन्तर्गत ऐच्छिक और अभ्यासजन्य कर्मों का समावेश होता है। अनैच्छिक कर्म व्यवहार में सम्मिलित नहीं हैं, क्योंकि वे विचारणा, चुनाव, संकल्प और उद्देश्य से शून्य होते हैं। वे उद्देश्यहीन कर्म होते हैं, अत: वह नैतिक-गुण-रहित होते हैं। व्यवहार में उन कर्मों का समावेश नहीं होता जो बाहरी दबाव के परिणाम-स्वरूप किये जाते हैं व्यवहार चुनाव और उद्देश्य से युक्त संकल्प-जनित कर्म है।

व्यवहार सचेतन ऐच्छिक क्रिया है। व्यवहार को बनाने वाले हेतु और माध्य साधनों का चुनाव है। व्यवहार चरित्र का सूचक है। चुनाव संकल्पात्मक क्रिया है, एक स्वतन्त्र क्रिया नहीं है। अनेक चुनाबों की एक श्रेणी बन जाती है जिसके पीछे एक स्थायी प्रवृत्ति काम करती है, जिसे चरित्र कहते हैं। व्यवहार इसी चरित्र की अभिव्यक्ति करता है।[9] व्यवहार चरित्र का बाह्य प्रकाशन है।

हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) 'व्यवहार' शब्द का प्रयोग विस्तृत अर्थ में करता है। वह व्यवहार को कार्यों का ध्येय में समायोजन मानता है। ये ध्येय और कार्य चेतन या अचेतन, ऐच्छिक या अनैच्छिक हो सकते हैं। इस अर्थ में व्यवहार सभी ध्येय-युक्त जीवन के व्यापारों को समाविष्ट कर लेता है। स्पेन्सर की परिभाषा है कि "व्यवहार आन्तरिक-सम्बन्धों का बाह्य-सम्बन्धों से निरन्तर समायोजन है।" इसमें जीव को वातावरण से समायुक्त करने वाली सभी जीवित चेष्टाओं का समावेश हो जाता है।

---

8. *Manual of Ethics pp*. 71–72.
Ethical principles, pp 4–5.

यह व्यवहार के अर्थ का अनुचित विस्तार है। नैतिक दृष्टि से व्यवहार चरित्र की अभिव्यक्ति है। इसमें केवल ऐच्छिक क्रियायें और उनको दोहराने से उत्पन्न हुई आदतें शामिल हैं। 'व्यवहार' शब्द को उन्हीं कर्मों तक सीमित रखना चाहिए जो केवल लक्ष्यों से समायोजित ही नहीं हैं बल्कि जिनका निश्चित स्वरूप से संकल्प भी किया जाता है। किसी व्यक्ति का व्यवहार उसके चरित्र का प्रकाशन है। व्यवहार कर्मों का उन उद्देश्यों से स्वतन्त्र और चेतन समायोजन है जिनका आत्मा ने विचार करके चुनाव किया है।

(१७) चरित्र (Character)—

चरित्र मन की स्थायी प्रवृत्ति है जिसकी उत्पत्ति संकल्पजन्य आदतों से होती है। नोवेलिस चरित्र को 'पूर्णरूप से निर्मित संकल्प' कहता है। यह कर्म करने की स्वेच्छापूर्वक अर्जित स्थायी प्रवृत्तियों का संगठित रूप है। यह स्वभाव से भिन्न वस्तु है। चरित्र का निर्माण व्यक्ति अपने ऐच्छिक कर्मों के द्वारा करता है। स्वभाव सहजात होता है, व चरित्र अर्जित होता है। स्वभाव प्राकृतिक देन है। यह नैतिक जीवन का प्रकृति-प्रदत्त उपादान है। स्वभाव सभी सहजात प्रवृत्तियों और वासनाओं का नाम है। चरित्र अर्जित किया जाता है। अतः यह प्रयत्न और परिश्रम का फल है। यह संकल्प और प्रयास का परिणाम है। चरित्र का निर्माण व्यक्ति अपनी सहज प्रवृत्तियों की बुद्धि के द्वारा नियन्त्रण और संस्कार करके करता है। इस प्रकार चरित्र-निर्माण स्वभाव से होता है। इसका प्रकाशन दृश्य व्यवहार में होता है। चरित्र और व्यवहार एक दूसरे से अवियोज्य हैं। चरित्र व्यवहार का अदृश्य पक्ष है और व्यवहार दृश्य पक्ष है।

स्वभाव के उत्पादन से, चरित्र-निर्माण को नैतिकता कहते हैं। जब स्वाभाविक प्रवृत्तियों का बुद्धि और संकल्प के द्वारा आत्म-नियन्त्रण होता है तो वे स्थिर और स्थायी हो जाती हैं जिन्हें हम चरित्र कहते हैं। चरित्र-निर्माण के लिए स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ मूल-तत्व है। म्यूरहेड आदि नीतिशास्त्रियों के अनुसार, चरित्र संकल्प से पृथक् होकर उस पर बाहर से प्रतिक्रिया करने वाली स्वतंत्र सत्ता नहीं है, बल्कि संकल्प का वासनाओं और इच्छाओं का नियमन करने वाला एक अभ्यस्त-रूप है।

चरित्र का प्रदर्शन व्यवहार में होता है। व्यवहार चरित्र का बाह्य रूप है। चरित्र व्यवहार को व व्यवहार चरित्र को प्रभावित करता है। बाहरी संकल्पजन्य कर्म अंशतः पूर्वनिर्मित चरित्र के द्वारा निर्धारित होते हैं। किन्तु उनका पूर्ण-रूप में पूर्वार्जित चरित्र के द्वारा निर्धारण नहीं होता। इनमें इच्छा की स्वतन्त्रता भी होती है। वे आत्मा के स्वतन्त्र चुनाव के परिणाम हैं। यद्यपि पूर्व-चरित्र भी उन्हें प्रभावित करता है। चरित्र भी पूर्णरूपेण स्थिर और स्थायी नहीं होता वरन् इसका विकास होता रहता है। स्वतन्त्र ऐच्छिक कर्म पूर्वनिर्मित चरित्र को परिवर्तित कर देते हैं। इस प्रकार चरित्र और व्यवहार एक दूसरे का निर्माण करते हैं। स्थायी चरित्र

स्वतन्त्र इच्छाकृत कर्मों के द्वारा निर्मित होने पर भी समरूप व्यवहार में अभिव्यक्त होता है, जिसकी एक बड़ी सीमा तक भविष्यवाणी की जा सकती है । परिवर्तनशील चरित्र विविध स्वाधीन व्यवहार में लक्षित होता है जिसकी भविष्यवाणी नहीं की जा सकती । व्यवहार व चरित्र दोनों नैतिक निर्णय के विषय हैं, क्योंकि उनमें चुनाव, उद्देश्य या संकल्प विद्यमान होते हैं । अतः नीति-शास्त्र को व्यवहार की नैतिकता अथवा चरित्र की अच्छाई-बुराई का विज्ञान कहते हैं ।

(१८) परिस्थितियाँ (Circumstances)—

किसी व्यक्ति का व्यवहार आंशिक रूप में उसके चरित्र पर और आंशिक रूप में भौतिक और सामाजिक वातावरण-गत दशाओं और स्थितियों पर निर्भर होता है । बाह्य परिस्थितियाँ व्यवहार का अंशतः निर्धारण करती हैं । दृढ़ चरित्र वाला व्यक्ति भी परिस्थितियों के प्रभाव से नहीं बच सकता ।

प्रश्न यह है कि परिस्थिति का नैतिक महत्व क्या है ? परिस्थिति से अभिप्राय उस बाह्य वातावरण मात्र से नहीं है जिसमें मनुष्य निवास करता है । यदि ग्रहों की स्थिति, पृथ्वी के स्तर, पर्वत, समुद्र, हवा और ज्वार-भाटा मनुष्य के व्यवहार को प्रभावित नहीं करते तो वे परिस्थितियाँ नहीं समझी जा सकतीं । किन्तु जलवायु, भूमि की उर्वरता, कोयले या लोहे की उपस्थिति और अन्य बातें व परिस्थितियाँ समझी जाती हैं, क्योंकि वे किसी व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करती हैं । अध्यापक, मित्र, साथी, रीति-रिवाज, साहित्य, धर्म और कृषि, अधिक महत्वपूर्ण परिस्थितियाँ हैं, क्योंकि उनका व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करने में बहुत बड़ा हाथ है ।

परिस्थितियाँ केवल बाह्य दशायें मात्र नहीं हैं । वे बाह्य दशायें तभी तक हैं जब तक कि वे, व्यक्ति के जीवन में प्रवेश पाती हैं । परिस्थितियाँ व्यक्ति के चरित्र पर निर्भर हैं । व्यक्ति केवस उन्हीं परिस्थितियों पर ध्यान देता है जिनका उसके चरित्र से सामंजस्य है । वातावरण-गत अन्य स्थितियों की वह सर्वथा अवहेलना करता है और उन पर ध्यान नहीं देता । उनका उसके जीवन में प्रवेश नहीं होता । चरित्र और परिस्थितियाँ मानव जीवन में दो समकक्ष तत्व नहीं हैं, क्योंकि किसी वातावरणगत स्थिति का परिस्थिति समझा जाना या न समझा जाना चरित्र पर निर्भर होता है । एक ही भौतिक या सामाजिक दशा एक को उत्तेजित और दूसरे को अनुत्तेजित कर सकती है । अतः यद्यपि दशा एक ही है, तथापि परिस्थिति उन दोनों के लिए अलग-अलग है । उदाहरण के लिये हवाई हमला (Air Raid) बहुत से मनुष्यों को भयक्रान्त कर देता है, किन्तु चोरों को अस्वीकृत माल उठाने को प्रोत्साहित करता है । अतः चरित्र का प्रभाव परिस्थिति पर उसी प्रकार है जिस प्रकार परिस्थिति का प्रभाव चरित्र पर है ।

(१) नैतिक चेतना का विकास
(Development of Moral Consciousness)—

पशु चेतन होते हैं, परन्तु उनमें आत्म-चेतना नहीं होती। वे अपनी मूल-वृत्तियों के वशीभूत होते हैं और मूलप्रवृत्तियों द्वारा ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। उन्हें अपनी क्रियाओं के लक्ष्यों का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। लेकिन उनकी मूलप्रवृत्ति से प्रेरित क्रियायें भी अनुभव के आधार पर कुछ-कुछ बदल जाती हैं। उदाहरणार्थ कुछ पशुओं के छोटे बच्चे बड़े पशुओं की क्रियाओं का अनुकरण करना सीख लेते हैं। विशेषतौर पर झुण्ड में रहने वाले पशुओं के बच्चे अपने बड़ों का अनुकरण करते हैं। इस तरह, एक झुण्ड में रहने वाले पशुओं की क्रियाओं के अर्जित रूप में भी असमानता पैदा हो जाती है। लेकिन पशुओं में चिन्तन-शक्ति और नैतिक चेतना का अभाव होता है।

जंगली मानव जातियों में नैतिक-चेतना बीजरूप में ही रहती है। उनकी क्रियायें प्रवृत्तियों पर निर्भर करती हैं। उनमें दूरदर्शिता नहीं होती। वे किसी परिणाम के स्पष्ट विचार से प्रेरित नहीं होते। तथापि उनमें मनमानापन की पूर्ण उच्छृंखला नहीं होती। ये लोग किसी न किसी जाति के सदस्य होते हैं और उनके रीति-रिवाजों और मर्यादाओं की छाप अज्ञात रूप में इनके आचरण पर पड़ जाती है। ये लोग अनजाने ही दूसरे लोगों के आचरण का अनुकरण करते हैं जिससे कि ये सामाजिक निन्दा से बच सकें। जंगली जातियों के लोगों की क्रियाओं में 'अनुकरण' (Imitation) और 'निर्देशन' (Suggestion) का विशेष हाथ होता है।

मनुष्य की चिन्तन-शक्ति का विकास धीरे-धीरे सामाजिक सम्पर्क द्वारा होता है। बुद्धि सामाजिक सम्पर्क का ही परिणाम है। शुरू-शुरू में मनुष्य समुदाय के सदस्यों के रूप में अपना जीवन-व्यतीत करते हैं। इनकी क्रियायें 'अनुकरण' और 'निर्देशन' पर आधारित होती हैं। ये अनजाने ही अन्य लोगों के व्यवहार की विशेषताओं, उनके रीति-रिवाजों, धर्म और भाषा को अनुकरण द्वारा अपना लेते हैं। उनका आचरण समुदाय की प्रशंसा और निन्दा से नियन्त्रित होता है। ये बिना आलोचना किये अपने वर्ग की नीति अपना लेते हैं। वर्ग-नीति की अवस्था से धीरे-धीरे वैयक्तिक नीति का विकास हुआ।

वर्ग-नीति मुख्य रूप से रीति-रिवाजों के रूप में ही होती है। रीति-रिवाज समाज के लोगों की समान आदतें मात्र नहीं होती। ये सामाजिक जीवन की मर्यादायें भी होती हैं, जिन्हें समाज की सम्मति प्राप्त होती है व जिनकी समाज रक्षा भी करता है। सामाजिक रीति-रिवाज धीरे-धीरे सामाजिक नियमों का रूप धारण कर

लेते हैं। इन सामाजिक नियमों का पालन करना समाज के हर व्यक्ति के लिये आवश्यक माना जाने लगा।

आवश्यक रीति-रिवाजों और अनावश्यक रीति-रिवाजों में अन्तर माना जाने लगा। वर्ग की सुरक्षा और हित के लिये आवश्यक माने गये रीति-रिवाजों को लोगों पर सख्ती से लागू किया गया।

जब सामाजिक नियम निश्चित हो गये और उन्हें वर्ग के लोगों पर लागू किया जाने लगा तो लोगों ने चिन्तन करना शुरू कर दिया। बहुत से नियमों में परस्पर विरोध पाया गया; बहुत से नियमों का रीति-रिवाजों के साथ ही संघर्ष होने लगा। फलतः इन नियमों के आधारभूत सिद्धान्तों को निश्चित करने के लिये लोगों ने चिन्तन करना शुरू कर दिया। नियमों के शब्दों की अपेक्षा उनके तात्पर्य को विशेष महत्व दिया जाने लगा। जब लोगों ने सामाजिक नियमों के आधारभूत सिद्धान्तों को निश्चित करने के लिये चिन्तन करना शुरू किया तब रीति-रिवाजों की चिन्ताहीन अवस्था से, चिन्तन-मूलक नीति की अवस्था का आरम्भ हुआ। लोगों की क्रियायें तब 'अनुकरण या निर्देशन' पर आधारित न होकर 'नैतिक विचारों' से निश्चित होने लगीं।

व्यक्तियों की क्रियाओं को नियमित करने वाले नैतिक विचार केवल आंशिक रूप में ही उनके अपने स्वतन्त्र-चिन्तन के परिणाम थे। अधिकतर ये जाति के सचित अनुभव पर आधारित थे।

चिन्तनशील व्यक्ति भी समाज में प्रचलित नैतिक विचारों के प्रभाव से ही बच सकते थे। इनका आचरण रीति-रिवाजों (Customs), लोक-रीतियों (Folk-ways) और वर्ग के नैतिक नियमों से नियमित होता था। इन पर भी 'अनुकरण' और 'निर्देशन' का प्रभाव था। परन्तु धीरे-धीरे इनके आचरण पर उपरोक्त तथ्यों का प्रभाव कम होने लगा और बुद्धि पर आधारित नैतिक सिद्धान्तों और नैतिक-भावनाओं का प्रभाव बढ़ने लगा।

बोसांके (Bosanquet) ने 'नैतिक विचार' (Moral Ideas) और नीति सम्बन्धी (Ideas about Morality) विचारों में भेद किया है। यह सम्भव है कि एक व्यक्ति का आचरण नैतिक विचारों से नियमित होता हो, परन्तु उसे उनमें निहित नैतिक सिद्धान्तों का स्पष्ट ज्ञान हो।

ऐसी स्थिति में, व्यक्ति आचरण ऐसे नैतिक विचारों से नियमित होता है जिन पर उसने स्वयं चिन्तन-मनन नहीं किया है। जब व्यक्ति नीति के प्रश्न पर स्वयं मनन करता है, अपने लक्ष्य का स्पष्ट विचार बनाता है और अपने संकल्प से उसे प्राप्त करने की चेष्टा करता है तब वह नीति सम्बन्धी विचारों से अपनी क्रिया निश्चित करता है। प्रारम्भ में लोगों का आचरण समाज से प्राप्त नैतिक विचारों से निश्चित होता है। तत्पश्चात् वे उन पर मनन शुरू करते हैं और उसमें निहित नैतिक सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करते हैं। प्रारम्भ में उनकी क्रियायें नैतिक

विचारों से नियमित होती हैं। बाद में उसकी क्रियायें नीति सम्बन्धी विचारों से नियमित होती हैं। प्रत्येक नैतिक विचार का बुद्धि द्वारा विश्लेषण किया जा सकता है और उसे नीति-सम्बन्धी विचार का रूप दिया जा सकता है। प्रत्येक नीति-सम्बन्धी विचार नैतिक विचारों का आधार बन जाता है।

इस प्रकार, बर्ग नीति से धीरे-धीरे वैयक्तिक नीति का विकास होता है। एक व्यक्ति का नैतिक-जीवन 'अनुकरण' और 'निर्देशन' पर आधारित रीति-रिवाजों की क्रियाओं से आरम्भ होकर स्वतन्त्र वैयक्तिक नीति के रूप में विकसित होता है।

(२) रीति-रिवाज नैतिक माप-दण्ड के रूप में—
(Custom as the Moral Standard)—

प्रारम्भिक सामुदायिक जीवन में रीति-रिवाज नैतिकता के माप-दण्ड माने जाने हैं। रीति-रिवाज क्रिया करने की सामुदायिक विधियाँ होती हैं। यद्यपि रीति-रिवाज सम्बन्धी आचरण मुख्य रूप में दूसरों के व्यवहार का बिना सोचे-समझे अनुकरण करना है, तथापि आंशिक रूप में इसमें व्यक्ति के चिन्तन का भी योग होता है। समुदाय के लोग जिन रीति-रिवाजों का पालन करते हैं वे प्रायः समुदाय द्वारा स्वीकृत होते हैं। व्यवहार के जिन रूपों को समुदाय के लोग अपना लेते हैं वे परम्परागत बन जाते हैं। रीति-रिवाज सामुदायिक आदतें ही नहीं होतीं बल्कि उनके पीछे समुदाय की स्वीकृति भी होती है। इसमें समुदाय का नैतिक निर्णय निहित होता है। ये सामुदायिक हित को प्राप्त करने के आवश्यक साधन समझे जाते हैं।[2] अतः इन्हें तोड़ने वाले व्यक्ति को समुदाय दण्ड देता है।

वृद्ध पुरुष और महिलायें, पुरोहित लोग और समुदाय के सरदार रीति-रिवाजों के संरक्षक माने जाते हैं। ये बच्चे और नवयुवकों को रीति-रिवाज के पालन की शिक्षा देते हैं और जो व्यक्ति इन्हें तोड़ते हैं उन्हें दण्ड देते हैं। वे रीति-रिवाजों की विधियों में परिवर्तन कर देते हैं और पुराने रीति-रिवाजों में नई-नई बातें भी जोड़ देते हैं। लेकिन वास्तव में सम्पूर्ण समुदाय, जिसमें जीवित और मृत सभी सदस्य और परम्परागत देवी-देवता शामिल होते हैं, रीति-रिवाजों का संरक्षक होता है। इस प्रकार रीति-रिवाज की दैवी सत्ता मानी जाती है।

रीति-रिवाज की अवस्था में उस क्रिया को अच्छा समझा जाता है, जिसे सभी लोग नियमित रूप से करते हैं। जिस क्रिया को सभी लोग नहीं करते उसे बुरा समझा जाता है। लोक-रीतियाँ ही रीति-रिवाज होती हैं। लोगों की जन्मजात सामूहिक मूल-प्रबृत्ति, सहानुभूति, अनुकरणशीलता और निर्देशनशीलता रीति-रिवाज सम्बन्धी नीति का आधार होती हैं। समुदाय के लोग सामूहिक रूप में लोक-रीतियों का अनुकरण करते हैं। एक व्यक्ति 'अनुकरण' और 'निर्देशन' द्वारा लोक-रीतियों को अपनाता है।

1. मेकेन्जी : ए मैनुएल ऑफ एथिक्स पृ० ८३–८१
2. डिवी एन्ड टफ्ट्स, एथिक्स पृ० ४५।

लोक-रीतियों के तोड़ने वाले सभी व्यक्तियों को दण्ड का भय होता है और शेष सभी व्यक्तियों में इनके प्रति क्रोध और घृणा के भाव पैदा होते हैं। भय और क्रोध के ये भाव सभी रीति-रिवाजों का पालन करने के लिये समान रूप से प्रेरित करते हैं। लोगों का आचरण रीति-रिवाजों में निहित नैतिक सिद्धान्तों के विचार से प्रेरित नहीं होता।

रीति-रिवाजों के निर्माण में अनेक तत्वों का योगदान होता है। सबसे पहले समुदाय का प्रत्येक व्यक्ति शेष सभी सदस्यों पर और सामूहिक रूप में सम्पूर्ण समुदाय पर निर्भर होता है। सामुदायिक जीवन पारस्परिक आदान-प्रदान का जीवन है। परिवार में माँ, बाप और बच्चे भी जीविकोपार्जन में अपना-अपना काम करते हैं। इनके अपने-अपने अधिकार और कर्तव्य होते हैं। जब समूह के रूप में लोग मछली पकड़ने या शिकार खेलने जाते हैं तो प्रत्येक का अपना अलग कार्य होता है। प्रत्येक का अपने श्रम के फल पर अधिकार होता है। उसका यह कर्तव्य भी होता है कि सौंपे गये कार्य को ठीक प्रकार करे। जब एक व्यक्ति अपने सरदार को कुछ भेंट देता है तो उससे बदले में कुछ लाभ की आशा रखता है। इसी प्रकार, जब एक व्यक्ति शादी-विवाह आदि उत्सवों पर दूसरे लोगों को कुछ उपहार देता है तो उनसे भी बदले में इसी प्रकार उपहार पाने की आशा रखता है। समुदाय के लोगों की ये लेन-देन की क्रियायें धीरे-धीरे निश्चित हो जाती है और कालान्तर में रीति-रिवाज का रूप ले लेती हैं।

दूसरे, कुछ क्रियायें अनुभव में सफल कुछ क्रियायें असफल पायी जाती हैं। जब किसी क्रिया के करने में व्यक्ति को सफलता है तो वह समझता है कि उसका भाग्य अच्छा है, और जब उसे असफलता मिलती है तो वह समझता है कि उसका भाग्य बुरा है। इसलिये सफल क्रियाओं को अच्छा समझा जाता है और असफल क्रियाओं को बुरा। इस प्रकार जिन क्रियाओं को प्रायः सफलता मिलती है, वे धीरे-धीरे समाज के रीति-रिवाजों का अंग बन जाती हैं। प्रायः असफल सिद्ध क्रियाओं को निन्दनीय समझा जाता है और इसलिये लोग उन्हें छोड़ देते हैं। भाग्य और दुर्भाग्य को आकस्मिक घटनायें ही समझा जाता है। इनके निर्धारण में अज्ञात दैव शक्तियों का हाथ समझा जाता है। इस अवस्था में, समूह-हित के लिये सभी लोगों के आचरण की समानता पर जोर दिया जाता है।

तीसरे, कुछ कार्यों के प्रति व्यक्तियों में कुछ स्वाभाविक भावात्मक प्रतिक्रियायें होती हैं। साहस के कार्य, चाहे वे उपयोगी हों या अनुपयोगी, लोगों को पसन्द आते हैं। वे उनकी प्रशंसा करते हैं। इस प्रकार, जिन कार्यों की व्यक्ति प्रशंसा करते हैं, वे रीति-रिवाजों के अङ्ग बन जाते हैं। व्यक्तियों की सहमति और सामाजिक परम्परा दोनों रीति-रिवाजों को जन्म देती हैं।

(३) सामुदायिक नीति से वैयक्तिक नीति का विकास
(Development of Personal Morality from Group Morality)

सामुदायिक नीति रिवाजों की नीति होती है। इसमें रीति-रिवाज को नैति-

कता का माप-दण्ड माना जाता है। रिवाजों की नीति वैयक्तिक न होकर सामूहिक होती है। इसमें व्यक्तियों का आचरण विवेक-बुद्धि आधारित नहीं होता है और न ही उन्हें नैतिक शुभ का स्पष्ट ज्ञान होता है। तथापि इसमें लोगों को सामूहिक हित का अस्पष्ट विचार होता है और उन्हें यह भी आभास होता है कि समुदाय के लोग कुछ क्रियाओं को अच्छा समझते हैं और कुछ को बुरा। रिवाजों की नीति वैयक्तिक नीति नहीं होती। इसमें लोगों का आचरण अपने शुभ के स्पष्ट के विचार से प्रेरित न होकर लोगों की आदतों और ज्ञात और अज्ञात अनुकरण पर आधारित होता है। समाज में शान्ति बनाये रखने के उद्देश्य से लागू किये गये सामाजिक दबाव इसका आधार होते हैं। स्वतन्त्र रूप से अपना नैतिक विकास करने की व्यक्ति की प्रवृत्ति को उसमें प्रोत्साहन नहीं मिलता। व्यक्ति के स्वतन्त्र-चिन्तन और नैतिक विकास की चेष्टायें दबा दी जाती हैं। इस प्रकार यह चिन्तन-रहित सामुदायिक नीति होती है।

नैतिक विकास के लिये यह आवश्यक है कि वैयक्तिक नीति का सामुदायिक नीति की अवस्था से विकास हो। इसके लिये विवेक-बुद्धिहीन नीति के स्थान पर विवेक-बुद्धियुक्त नीति का विकास आवश्यक है। नैतिक उन्नति की विशेषतायें इस प्रकार हैं—(१) प्रथाओं के अन्धानुकरण स्थान पर, आचरण का मूल्यांकन करने के लिये बुद्धि पर आधारित एक माप-दण्ड निश्चित किया जाता है। (२) सामूहिक हित के लिये क्रिया करने की आदतों का स्थान स्वतन्त्र चिन्तन पर आधारित संकल्प ले लेते हैं। लोग अपनी आदतों के कारण ही क्रिया नहीं करते वरन् अच्छाई और बुराई के अपने विचारों के अनुसार अपनी क्रियाओं के उद्देश्य का स्वतन्त्रतापूर्वक चुनाव करने लगते हैं। (३) व्यक्ति के सुख को सामूहिक हित का आवश्यक अंग स्वीकार किया जाता है। नैतिक उन्नति में दो प्रकार के संघर्ष अवश्यम्भावी हैं—(i) सामूहिक और वैयक्तिक हित के मध्य संघर्ष, तथा (ii) प्रतिष्ठित व्यवस्था और परिवर्तन के मध्य आदत और चिन्तन के मध्य संघर्ष।[3]

मानव प्रकृति में सामाजिक और वैयक्तिक दोनों तत्व होते हैं। व्यक्ति स्वतः ही समुदाय से तादात्म्य कर लेता है, सामुदायिक संवेगों को स्वयं अनुभव करता है, और प्रथाओं के पालन की अपनी आदतों का अनुसरण करता है। लेकिन उसमें आत्म-प्रकाश की प्रवृत्तियाँ भी होती हैं और यह अपने व्यक्तित्व के प्रकाशन के लिये समाज के विरुद्ध विद्रोह भी करता है। इस प्रकार सामुदायिक प्रभुत्व और वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा सामाजिक व्यवस्था और वैयक्तिक उत्थान के संघर्ष से नीति के क्षेत्र में बहुत महत्वपूर्ण परिवर्तन होते हैं और इससे नैतिक समस्याओं पर स्वतन्त्र चिन्तन करने की प्रवृत्ति का विकास होता है।

सामूहिक नीति से वैयक्तिक नीति के विकास में कुछ सामाजिक और मनोवैज्ञानिक कारण, सहायक होते हैं। सामाजिक कारण इस प्रकार हैं—

3. *Dewey & Tufts Ethics*, pp. 66–67

(१) आर्थिक शक्तियों के कारण समुदाय या संयुक्त परिवार बनता है। आदि-काल में लोग 'कबीलों' में रहते थे। जब तक इन लोगों का जीवन सामूहिक खेती-बाड़ी या सामूहिक शिकार करने पर निर्भर रहा, 'कबीलों' का संगठन बना रहा। कुछ समय उपरान्त खेती करने के ढग में सुधार के कारण तथा उद्योग-धन्धों और व्यापार में विशेष प्रगति के कारण संयुक्त परिवार का विघटन हुआ और 'व्यक्ति' का महत्व बढ़ गया। व्यक्ति यह अनुभव करने लगा कि उसका आर्थिक हित इसी बात में है कि वह स्वयं अपनी सम्पत्ति का स्वामी हो। विशेष उद्योग-धन्धों में बुद्धि और विशेष कारीगरी की आवश्यकता होती है। कुशल और बुद्धिमान कारीगर यह सहन नहीं कर सकता कि अकुशल और अनाड़ी कारीगर उसकी विशेष योग्यता से कमाये धन के समान रूप से अधिकारी हों। व्यापार में सफलता के लिए भी विशेष होशियारी की जरूरत है। चतुर व्यापारी यह पसन्द नहीं कर सकता कि अकुशल व्यापारी को भी व्यापार के लाभ का उतना ही भाग मिले जितना उसे मिलता है। इस प्रकार, व्यक्ति ने सामुदायिक बन्धनों से स्वयं को मुक्त किया और वह अपने व्यक्तित्व के महत्व को पहचानने लगा।

(२) विज्ञान और कलाओं में उन्नति से भी सामुदायिक नीति के बन्धन शिथिल होते हैं और वैयक्तिक नीति को प्रोत्साहन मिलता है। एक वर्ग की प्रथाओं का दूसरे वर्ग की प्रथाओं से विरोध होता है। इसलिए चिन्तनशील व्यक्ति, इन प्रथाओं में निहित नैतिक सिद्धान्तों पर चिन्तन करने के लिए विवश हो जाते हैं। ये नीति के आवश्यक सिद्धान्तों और उनके साथ आकस्मिक रूप से जुड़ी हुई परिपाटियों के भेद को स्पष्ट रूप से सामने रखते हैं और नीति से इन आकस्मिक परिपाटियों को समाप्त करने पर बल देते हैं। ये लोग प्राकृतिक घटनाओं, जैसे—आँधी, तूफान और बाढ़, अच्छी या खराब फसल तथा रोग और मृत्यु के कारणों को वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण करते हैं। वे इनके सम्बन्ध में प्रचलित प्रतिबन्धों (Taboos) और धार्मिक अनुष्ठानों (Rituals) की निन्दा करते हैं और इन्हें छोड़ देते हैं। विज्ञान की उन्नति से मानव का ज्ञान बढ़ता है और नीति को बौद्धिक आधार मिलता है।

(३) सामुदायिक नीति को समाप्त करने और उसके स्थान पर वैयक्तिक नीति का विकास करने में औद्योगिक तथा ललित कलाओं का भी योगदान होता है। **इनकी उन्नति के लिए समाज के आर्थिक जीवन में श्रम-विभाजन होना आवश्यक है।** ये व्यक्ति की कला या कौशल पर आश्रित होती है। कलाकार के अपनी कला में अधिकाधिक निपुण होने के साथ-साथ उसमें वैयक्तिकता उभरने लगती है। ये लोग सामाजिक माप-दण्डों को स्वीकार नहीं करते। ये स्वयं अपनी कलाओं के माप-दण्ड निश्चित करते हैं। ये अपना 'शुभ' अपने ही ढंग से प्राप्त करना चाहते हैं। इस प्रकार, कला और कारीगरी से वैयक्तिक नीति का विकास होता है।

(४) एक जाति के लोगों को प्रतिद्वन्द्वी जातियों के लोगों से संघर्ष करना

पड़ता है । इस संघर्ष में सफल होने के लिये यह आवश्यक है कि उनका अपना संगठन हो । संगठन के लिये किसी सत्ता का होना आवश्यक है । परिणामतः एक बलवान नेता अपनी शक्ति अपने समुदाय पर प्रकट करता है और उसे अपनी आज्ञा का पालन करने के लिये विवश करता है । उसे अपनी शक्ति प्रकट करने का विशेष अवसर युद्ध में प्राप्त होता है । अनेक बार नृशंस व्यक्ति (Tyrant) सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था को निजी स्वार्थ के लिये प्रयोग में लाता है, लेकिन उसमें केन्द्रीभूत सत्ता से सामाजिक प्रथाओं और सामुदायिक एकता को भीषण आघात पहुँचता है । इस प्रकार, केन्द्रीभूत सत्ता चाहे राजा में केन्द्रित हो या किसी अन्य नृशंस व्यक्ति में हो वह वैयक्तिक नीति को प्रोत्साहित करती है ।

(५) नये धर्म से भी सामुदायिक नीति का विघटन (Disintegration) होता है और वैयक्तिक नीति को बल मिलता है । धर्म का नीति से घनिष्ट सम्बन्ध है । एक नया धर्म अपने साथ नीति-सम्बन्ध में भी नवीन विचार प्रस्तुत करता है । यहूदी धर्म आचरण और बाहरी नियमों के सामञ्जस्य पर बहुत जोर देता है । ईसाई धर्म में संकल्प इरादों की आन्तरिक पवित्रता पर बल दिया जाता है । पुराने और नये धर्म में विरोध होने पर लोग दोनों की अच्छाई और बुराई के विषय में सोचने के लिये विवश हो जाते हैं । विभिन्न धर्मों में विरोध होने पर प्रत्येक की अच्छाई के बारे में जो दावे किये जाते हैं उनके विषय में चिन्तनशील व्यक्ति विचार करने लगते हैं । इस प्रकार वैयक्तिक नीति की स्थापना में धर्म का विशेष हाथ है ।

(६) सामुदायिक नीति के स्थान पर वैयक्तिक नीति की स्थापना करने में चार प्रवृत्तियाँ, जो व्यक्ति के आत्म-प्रकाशन से सम्बन्ध रखती हैं, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं ।

(७) **प्रथाओं की अवस्था से नैतिक चेतना की ओर प्रगति** (Transition from custom to conscience)—रीति-रिवाज सामुदायिक नीति का मापदण्ड होते हैं । एक प्रथा का दूसरी प्रथा से विरोध होता है । इसलिये मनुष्य चिन्तन करना शुरू करता है और नीति के आवश्यक तत्वों को अनावश्यक तत्वों से पृथक् करता है । कभी-कभी आवश्यक प्रथाओं को उपयोगी समझ कर लोगों पर नियम के रूप में लागू किया जाता है । लेकिन इन बाह्य नियमों में भी परस्पर विरोध होता है । इन विरोधों के कारण व्यक्ति इन बाह्य नियमों में निहित नैतिक सिद्धान्तों पर विचार करने के लिये विवश हो जाता है । धीरे-धीरे व्यक्ति नैतिक चेतना के लिये ऐसे सामान्य नियम की खोज कर लेता है जिसमें इन्हें निकाला जा सकता है । इस प्रकार, व्यक्ति सामुदायिक नीति से वैयक्तिक नीति की ओर, प्रथाओं से नैतिक-चेतना की ओर, और बाह्य नियमों से आन्तरिक नियमों की ओर प्रगति करता है ।

रीति-रिवाज सम्बन्धी नीति की अवस्था में नैतिक सत्ता व्यक्ति के बाहर होती है । यह समुदाय की सत्ता होती है । लेकिन वैयक्तिक नीति की अवस्था में,

नैतिक सत्ता व्यक्ति में ही होती है। आरम्भ में, उसकी आन्तरिक नैतिक-चेतना समुदाय के लोक-मत की ही प्रतिध्वनि होती है। लेकिन बाद में चिन्तन शक्ति के विकसित होने पर उनकी अन्तःचेतना समुदाय के आदेशों का विरोध करने लगती है। रीति-रिवाज सम्वन्धी नीति विवेक-बुद्धि-शून्य होती है जबकि वैयक्तिक नीति विवेक-बुद्धि पर आधारित होती है। पहली अवस्था में, व्यक्ति सामाजिक प्रथाओं या रीतियों में निहित समुदाय के आदेशों को बिना सोचे-समझे स्वीकार कर लेता है, लेकिन दूसरी अवस्था में वह नैतिक सिद्धान्तों पर विचार करता है, उनका स्वयं पालन करता है और सामुदायिक मर्यादाओं के विरुद्ध अपने विचारों को दृढ़तापूर्वक प्रगट करता है। यह नैतिक आचरण के सम्बन्ध में स्वयं को स्वतन्त्र समझता है। उसकी राजनीतिक तथा सामाजिक क्रियायें राजनीतिक और सामाजिक नियमों से निर्धारित होती हैं, लेकिन उसका नैतिक आचरण उसकी अपनी अन्तःचेतना की आवाज से निर्धारित होता है।

नैतिक निर्णय

(१) नैतिक निर्णय का स्वरूप (Nature of Moral Judgment)—

नैतिक-निर्णय तथा तथ्य-विषयक निर्णय के मध्य आधार भूत अन्तर है। नैतिक निर्णय, तथ्य विषयक निर्णय से भिन्न एक मूल्य विषयक निर्णय होता है। तथ्य विषयक निर्णय तथ्य-सूचक होता है। मूल्य-विषयक निर्णय यह बतलाता है कि होना क्या चाहिये। पहला, वर्णनात्मक निर्णय होता है; दूसरा, समालोचनात्मक। नैतिक निर्णय वह मानसिक व्यापार हैं जो किसी कर्म को सत् या असत् घोषित करता है।

मैकेंजी के अनुसार तर्क-शास्त्र में निर्णय वाक्यार्थक होता है। नैतिक निर्णय भी एक वाक्य होता है। लेकिन यह नैतिक तथ्यों के विषय में वाक्य मात्र न रह उनके ऊपर निर्णय भी देता है। यह नैतिक तथ्यों की एक नैतिक आदर्श या मान-दण्ड से तुलना करता है और उन्हें सत् या असत् घोषित करता है। नैतिक दृष्टि-कोण को नियामक कहने का तात्पर्य यही है।[1] इस प्रकार, नैतिक निर्णय कर्म के विषय से वाक्य नहीं, बल्कि कर्म के ऊपर नैतिक आदर्श के दृष्टिकोण से निर्णय है।

नीति-शास्त्र नियामक विज्ञान है। म्यूरहेड के अनुसार तथ्य-विषयक निर्णय और मूल्य-विषयक निर्णय में वही अन्तर है जो तार्किक निर्णय और नैयायिक निर्णय में है। नैतिक निर्णय दूसरे प्रकार का होता है।[2] इस प्रकार नैतिक निर्णय यह निर्देश करता है कि हमारे कर्मों को कैसे होना चाहिये। नैतिक निर्णय में नैतिक आदर्श परम हित का ज्ञान समाविष्ट है। इसमें नीति-विषयक मूल्यांकन होता है। यह मूल्य-सूचक है।

किसी कर्म की नैतिकता की पहिचान इस प्रकार होती है—जब हम किसी ऐच्छिक कर्म को देखते हैं, तो हम नैतिक मानदण्ड से उसकी तुलना करते हैं। इस प्रकार यह निर्णय करते हैं कि वह ऐच्छिक कर्म नैतिक मानदण्ड के अनुसार है या नहीं। अन्य शब्दों में, नैतिक निर्णय के लिये मानदण्ड को कर्म-विशेष पर लागू करना होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नैतिक निर्णय अनुमानजन्य होता है; क्योंकि यह एक सामान्य सत्य के उपनय का फल है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हमारे सामान्य नैतिक निर्णयों में अनुमान की प्रक्रिया स्पष्ट होती है। अत्यधिक दशाओं में हमारे नैतिक निर्णयों में वर्तमान अनुमान का तत्व अस्पष्ट होता है। केवल जटिल और सन्देहास्पद दशाओं में अथवा विवेचनात्मक परीक्षा करने में ही सम्पूर्ण अनुमान की प्रक्रिया व्यक्त होती है। ऐसी दशाओं में, नैतिक मानदण्ड स्पष्टतः बुद्धि के आगे

1. *Manual of Ethice,*. pp. 103,
2. *Elements of Ethics*. pp. 19—20.

होता है और परीक्ष्य जटिल दशा में उसका उपनय होता है। लेकिन, सामान्यतया नैतिक निर्णय आन्तरिक अनुभव के द्वारा शीघ्र कर लिये जाते हैं। वे विचार-जन्य नहीं होते। हम सहज रूप से किसी कर्म को समाज के द्वारा अनुमोदित नैतिक नियम के नीचे लाते हैं और उसके सत्-असत् भाव का निर्णय करते हैं। केवल विवादास्पद अवस्था में ही हम वास्तविक परिस्थिति का चिन्तन करते हैं। जान-बूझ कर कर्म की नैतिक आदर्श से तुलना करते हैं, और उसके सत् या असत् होने का निर्णय करते हैं। इस प्रकार जटिल दशाओं में नैतिक निर्णयों का अनुमानिक स्वरूप स्पष्ट चेतना का विषय बनता है।

नैतिक निर्णय की सम्भावना के लिये, चार तत्वों की आवश्यकता होती है जैसे—निर्णयक, निर्णय की वस्तु, निर्णय का मानदण्ड, तथा निर्णय करने की शक्ति अथवा नैतिक शक्ति।

(२) नैतिक निर्णय का तार्किक और सौन्दर्य-विषयक निर्णय से भेद (Difference between Moral Judgment and Logical and Aesthetic Judgment)—

नीति, तर्क और सौन्दर्यशास्त्र नियामक विज्ञान है। वे जीवन के तीन सर्वोच्च आदर्शो अर्थात् परम मंगल, परम सत्य व परम सुन्दर के स्वरूप का निर्धारण करते हैं। नीति-शास्त्र का विषय परम मंगल, तर्कशास्त्र का परम सत्य सौन्दर्य-शास्त्र का परम सुन्दर है। इस प्रकार, तार्किक निर्णय सत्य के आदर्श की ओर नैतिक निर्णय व्यवहार के आदर्श परम हित की ओर, और सौन्दर्य-विषयक निर्णय सौन्दर्य के आदर्श परम सुन्दर की ओर संकेत करते हैं। ये सब आलोचनात्मक निर्णय हैं। किन्तु नैतिक निर्णय सदा नैतिक बाध्यता और नैतिक भावनाओं से युक्त होता है। तार्किक और सौन्दर्य-विषयक निर्णय नैतिक बाध्यता और नैतिक भावनाओं से युक्त नहीं होते। जब हम किसी कर्म को सत् समझते हैं तो उसे करने के लिये नैतिक बाध्यता का अनुभव होता है और अनुमोदन की भावना का उदय होता है। जब हम उसे असत् समझते हैं तो उसे न करने की नैतिक बाध्यता और असम्मति की भावना का उदय होता है। सम्मति, असम्मति, सन्तोष, पश्चाताप, इत्यादि नैतिक भावनायें हैं। नैतिक बाध्यता कर्त्तव्य-बुद्धि को कहते हैं। नैतिक निर्णय का स्वरूप नैतिक बाध्यता-मूलक होता है और नैतिक भावनायें उसकी सहगामिनी होती हैं। अतः उन्हें तार्किक अथवा सौन्दर्य-विषयक निर्णयों में विघटित नहीं किया जा सकता; जो कि नैतिक बाध्यता और नैतिक भावनाओं से शून्य होते हैं। नैतिक बाध्यता भौतिक दबाव नहीं है। यह कर्त्तव्य अर्थात् कर्म करना चाहिये और अकर्त्तव्य अर्थात् नहीं करना चाहिये, इसकी अनुभूति है। यह कर्त्तव्य बोध है।

(३) नैतिक निर्णय का विषय (The Object of Moral Judgment)

जैसा कि विदित है इच्छाकृत-कर्म और अभ्यासजनित-कर्म नैतिक निर्णय के विषय हैं। अनैच्छिक कर्मों का समावेश नैतिक निर्णय के क्षेत्र में नहीं होता।

अभ्यासजनित कर्म नैतिक निर्णय के विषय इसलिये हैं कि वे बार-बार किये गये ऐच्छिक कर्मों के फल हैं। इस प्रकार केवल ऐच्छिक कर्मों के ऊपर सत्-असत् होने का निर्णय दिया जाता है। जिसका संकल्प नहीं किया गया है, उसका नैतिक-मूल्य भी नहीं है।

ऐच्छिक कर्म की तीन अवस्थायें होती हैं—(१) प्रयोजन, अभिप्राय, इच्छा, विचारणा, चुनाव और संकल्प की आन्तरिक अवस्था; (२) शारीरिक-क्रिया की अवस्था अथवा अंग-संचालन; (३) परिणामों की बाह्य-अवस्था। प्रश्न यह उठता है कि हमारा निर्णय किसी कर्म की प्रेरणा के आधार पर होता है अथवा कर्म के परिणामों के आधार पर होता है।

नैतिक निर्णय सब प्रकार के कर्मों पर नहीं दिये जाते, बल्कि केवल व्यवहार पर ही दिये जाते हैं। किन्तु, व्यवहार या इच्छाकृत कर्म के दो पहलू होते हैं—इच्छा और कर्म; इसमें एक आन्तरिक प्रेरक-तत्व होता है और एक बाह्य परिणाम।

सुखवादी और सहज ज्ञानवादियों में इस विषय में बड़ा विवाद चलता है। सुखवादियों का मत है कि किसी कर्म का सद्सत्-भाव उसके परिणामों पर निर्भर है, इसके विपरीत सहज ज्ञानवादियों के अनुसार किसी कर्म का सद्सत्-भाव उसकी अन्तरस्थ प्रेरणा पर निर्भर है। बेन्थम के अनुसार, यदि प्रेरणा शुभ या अशुभ है तो केवल "उसके परिणामों के कारण।" इसी प्रकार जे० एस० मिल के अनुसार "प्रेरणा का कर्म की नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं।" बेन्थम और मिल, जो कि सुखवादी हैं 'प्रेरणा' का प्रयोग 'कर्म के स्रोत' के अर्थ में करते हैं। सुख तथा दुख के भाव कर्म के स्रोत हैं—यह यथार्थ नहीं है। उद्देश्य का विचार वास्तविक प्रेरणा है। यह आत्मा को कर्म के लिये प्रवृत्त करता है। यह कर्म का लक्ष्य है। इसके विपरीत कांट के अनुसार, 'हमारे कर्मों के फल उनके नैतिक-मूल्य के कारण नहीं हो सकते।" बटलर के अनुसार, "किसी कर्म का सत् और असत् भाव अधिकांशतः उस प्रेरणा पर निर्भर होता है जिसके लिये वह किया जाता है।" कांट और बटलर सहजज्ञानवादी और बुद्धिवादी हैं।

प्रश्न यह है कि नैतिक निर्णय का विषय ऐच्छिक कर्म की प्रेरणा है या उसके परिणाम हैं? इनमें से कौन उसकी नैतिकता को निर्धारित करता है? जब आन्तरिक प्रेरणा और बाह्य परिणामों में साम्य होता है तो दोनों नैतिक निर्णय के विषय होते हैं। प्रेरणा और परिणाम में वास्तविक असगति नहीं है। प्रेरणा बाह्य परिणाम है जिसका पूर्वज्ञान और इच्छा होती है। परिणाम अन्तरस्थ प्रेरणा का बाह्य प्रकाशन है, प्रेरणा अथवा अभीष्ट लक्ष्य का विचार निश्चय ही नैतिक निर्णय का विषय है। परिणाम भी अन्तरस्थ उद्देश्य की सिद्धि करने की सीमा तक नैतिक-निर्णय का विषय है।

किन्तु, कभी-कभी यह अनुभव किया जाता है कि उद्देश्य तो शुभ है, किन्तु परिणाम अशुभ हो जाता है। उदाहरणार्थ एक कुशल चिकित्सक रोगी को अच्छा

करने के लिये बहुत सावधानी के साथ शल्य-क्रिया करता है; किन्तु उसके उत्तम प्रयत्न करने पर भी रोगी की मृत्यु हो जाती है। यहाँ फल अशुभ हुआ, जबकि उद्देश्य शुभ था। चिकित्सक की प्रवृत्ति बुरी नहीं थी; इसलिये उसका कार्य बुरा नहीं कहा जा सकता। फिर, कभी-कभी उद्देश्य तो बुरा होता है, लेकिन परिणाम अच्छा हो जाया करता है। डॉ० जौनसन के अनुसार "किसी कर्म की नैतिकता उस उद्देश्य पर आश्रित होती है जिसके लिये हम कर्म करते हैं। यदि मैं किसी भिखमंगे पर एक रुपया इस अभिप्राय से फेंकूँ कि उसका सिर टूट जाय, और वह उसे उठाकर कोई खाने की वस्तु खरीद ले, तो कर्म का बाह्य परिणाम तो शुभ हुआ, किन्तु मेरे लिये यह कार्य बहुत बुरा हुआ।" यहाँ पर कार्य प्रत्यक्षतः अशुभ है, क्योंकि प्रवृत्ति अशुभ है। इस प्रकार, जब अन्तरस्थ प्रेरणा और बाह्य परिणाम में विरोध होता है, तो कर्म की नैतिकता का निर्णय आन्तरिक उद्देश्य से होता है, न कि परिणाम से।

दूसरा प्रश्न यह उठता है कि केवल प्रेरणा अथवा प्रयोजन अथवा अभिप्राय नैतिक निर्णय का विषय है?

बेन्थम ने प्रेरणा को सुख और दुःख के अर्थ में प्रयुक्त किया है जो कि कार्यों के स्रोत हैं। बेन्थम के अनुसार, "प्रेरणा वस्तुतः विशेष रूपों में काम करने वाले सुख और दुःख के अतिरिक्त कुछ नहीं है।" बेन्थम अभिप्राय का प्रयोग कर्म के लक्ष्य के अर्थ में करता है, जो कर्त्ता को कर्म करने हेतु प्रोत्साहित और निरुत्साहित करते हैं। अतः वह अभिप्राय को नैतिक निर्णय का विषय मानता है। उसकी स्पष्टोक्ति है कि सभी प्रेरणायें नैतिक दृष्टि से एक ही प्रकार के होने के कारण निर्दोष हैं—समस्त प्रेरणायें सुख-प्राप्ति और दुःख-निरोध के लिये होती हैं। इसी प्रकार, जे० एस० मिल की धारणा है कि कर्म के स्रोत के अर्थ में अथवा सुख और दुःख के भावों के अर्थ में प्रेरणा नैतिक निर्णय का विषय नहीं, बल्कि अभिप्राय अथवा कर्म का लक्ष्य उसका विषय है। उसके शब्दों में, "कर्म की नैतिकता पूर्णतया अभिप्राय अर्थात् कर्त्ता का जिसे करने का संकल्प होता है उसके ऊपर निर्भर है, किन्तु जब उसकी प्रेरणा अर्थात् उसकी चिकीर्षा का प्रवर्त्तक भाव, जब कार्य में कोई अन्तर उत्पन्न नहीं कर सकती तो उसकी नैतिकता में भी नहीं कर सकती।"

यह मत भ्रामक है। प्रेरणा कर्म का स्रोत अथवा सुख या दुःख का भाव नहीं है। भाव उद्देश्यहीन होता है। वह विचारवान कर्त्ता को सक्रिय नहीं कर सकता। प्रेरणा कर्म का उद्देश्य होती है। प्रेरणा कर्म का उद्देश्य-कारण है, निमित्त-कारण नहीं। यह आत्मा को कर्म करने के लिये पीछे से नहीं धकेलती है, बल्कि आगे से खींचती है। यह आत्मा को कार्य करने के लिये प्रेरित करती है। अतः इस अर्थ में प्रेरणा अथवा प्रयोजन नैतिक निर्णय का विषय है, लेकिन सुख और दुःख के भाव, जो कर्म के स्रोत हैं, कभी नैतिक निर्णय के विषय नहीं हो सकते। जैसी बेन्थम की उक्ति है, वे नैतिक दृष्टि से निर्दोष हैं। यहाँ तक बेन्थम न्यायोचित है। लेकिन बेन्थम और जे० एस० मिल 'प्रेरणा' शब्द को गलत अर्थ में ग्रहण करते हैं।

प्रयोजन आत्मा के द्वारा चुने हुये लक्ष्य का विचार है। यह अभिप्राय का एक भाग है। प्रश्न है कि क्या प्रयोजन एकान्त रूप से नैतिक निर्णय का विषय है? अथवा अभिप्राय इसका विषय है? क्या कर्म इसलिये सत् है कि उसका उद्देश्य शुभ है? अथवा इसलिये कि उसका अभिप्राय शुभ है? यदा-कदा चुना हुआ उद्देश्य शुभ होता है, किन्तु उसकी सिद्धि के हेतु प्रयुक्त उपाय अशुभ होता है। क्या शुभ-उद्देश्य वाला कार्य जिसकी सिद्धि अशुभ साधनों से हुई है वह सत् समझा जा सकता है? क्या साध्य से साधनों का औचित्य सिद्ध हो सकता है? कहा जाता है कि सेंट क्रिस्पिन गरीबों के लिये जूते बनाने के लिये अमीरों से चमड़ा चुराया करता था। क्या यह कर्म उचित है? प्रत्यक्षतः हम उसके व्यवहार को अच्छा नहीं कह सकते, क्योंकि यद्यपि उसका उद्देश्य अच्छा था, तथापि उसने अनैतिक उपाय का प्रयोग किया। एक वणिक धन-प्राप्ति के लिये अनुचित उपाय काम में लाता है। उसका उद्देश्य — लाभ बुरा नहीं है किन्तु उपाय बुरे हैं। इस कारण उसका कार्य अनुचित या असत् हो जाता है। इस प्रकार, हम इस सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि अभिप्राय नैतिक निर्णय का विषय है। इसमें प्रयोजन अथवा उद्देश्य का विचार तथा साधनों का विचार दोनों का समावेश होता है। इस प्रकार प्रयोजन या लक्ष्य एकान्त रूप से किसी कार्य की नैतिकता को निर्धारित नहीं कर सकता। यदि कर्त्ता का अभिप्राय सत् है तब कर्म भी सत् है। अभिप्राय के असत् होने से कर्म भी असत् हो जाता है। शब्दान्तर में कर्म की अच्छाई के लिये साध्य और साधन दोनों को अच्छा होना पड़ेगा; यदि दोनों में से एक भी बुरा है तो कर्म भी बुरा होगा। शुभ उद्देश्य अशुभ साधनों को कभी शुभ नहीं बना सकता।

मैकेंजी ने विविध प्रकार के अभिप्रायों में भेद स्पष्ट किया है।

प्रथम, कर्म के समीपस्थ और दूरस्थ अभिप्रायों में भेद है। दो व्यक्तियों का समीपस्थ अभिप्राय एक ही हो सकता है, यथा, किसी अपराधी को डूबने से बचाना। किन्तु दोनों के दूरस्थ अभिप्राय भिन्न हो सकते हैं। एक का अभिप्राय उसके जीवन की रक्षा हो सकती है; दूसरे का अभिप्राय उसे पुलिस को सौंप कर फांसी दिलवाना हो सकता है। कभी-कभी दूरस्थ अभिप्राय भूलवश प्रयोजन कहलाया जाता है। समीपस्थ और दूरस्थ अभिप्राय भूलवश प्रयोजन कहलाया जाता है। समीपस्थ और दूरस्थ अभिप्राय दोनों नैतिक निर्णय के विषय हैं। वह कर्म असत् है जिसका दूरस्थ अभिप्राय असत् तथा निकटस्थ अभिप्राय सत् है।

द्वितीय, कर्म के आन्तरिक और बाह्य अभिप्रायों में अन्तर है। यदि कोई भिखमंगा आपके पास आता है, और आप अपने हृदय से उसके दुःख दर्शन से जनित दुःख को दूर करने हेतु उसकी सहायता करते हैं तो आपका बाह्य अभिप्राय तो पीड़ित मनुष्य की सहायता है, लेकिन आन्तरिक अभिप्राय अपने ही दुःख को हटाना है। कर्म का आन्तरिक अभिप्राय नैतिक निर्णय का विषय है, केवल बाह्य कर्म नैतिक निर्णय का विषय नहीं हैं।

तृतीय, कर्म के अपरोक्ष और परोक्ष अभिप्रायों में अन्तर है। जब किसी आंतकवादी ने रूस के जार के बंध के लिये गाड़ी के ऊपर बम फेंका था तो उसका

अपरोक्ष अभिप्राय जार की मृत्यु था। किन्तु परोक्ष अभिप्राय गाड़ी में जाने वाले अनेक व्यक्तियों की मृत्यु था। इस प्रकार अपरोक्ष और परोक्ष दोनों प्रकार के अभिप्राय नैतिक निर्णय के विषय हैं।

चतुर्थ, कर्म के ज्ञात और अज्ञात अभिप्रायों में अन्तर है। अज्ञात अभिप्राय मन के अवचेतन स्तर में निहित होने पर भी कर्म को प्रभावित करता है, किन्तु, कर्त्ता उसको स्वीकार नहीं करता। कोई मन्त्री अपने प्रभुत्व की वृद्धि के लिये अथवा स्वार्थ-पूर्वक किसी योजना को कार्यान्वित कर सकता है, किन्तु वह इसे अपना स्वार्थ स्वीकार नहीं करता और अपना वास्तविक अभिप्राय देश-हित बतलाता है। ज्ञात अभिप्राय नैतिक निर्णय का विषय है। अवचेतन अभिप्राय भी नैतिक निर्णय का विषय है, चाहें कर्त्ता उसका आभास स्वीकार करे या न करें।

पंचम, कर्म के आदर्शगत और वस्तुगत अभिप्रायों के मध्य अन्तर है। वस्तुगत अभिप्राय कर्म का अभीष्ट फल है; आदर्शगत अभिप्राय कर्म में मूर्त सिद्धान्त है। अनुदारदलीय लोग और समाजवादी दोनों का उद्देश्य इगलैंड की उदारदलीय सरकार को उलटना हो सकता है। दोनों के वस्तुगत-अभिप्राय एक ही हैं। किन्तु उनके आदर्शगत अभिप्राय भिन्न-भिन्न हैं। अनुदारदलीय लोग सोचते हैं कि यह उदारदलीय सरकार बहुत अधिक प्रगतिवादी है, जबकि समाजवादी सोचते हैं कि वह आवश्यकता से अधिक अनुदार है। इस प्रकार आदर्शगत और वस्तुगत दोनों प्रकार के अभिप्राय नैतिक निर्णय के विषय हैं।

अभिप्राय उद्देश्य और उपाय दोनों से मिलकर बनता है। उद्देश्य का अर्थ है वह जिसे संकल्प से विषय के रूप में निश्चित-रूप से स्वीकृत किया जाय। उपाय का अर्थ है वह जिसे कर्त्ता ने उद्देश्य-प्राप्ति के लिये आवश्यक माना है। नैतिक निर्णय का विषय सम्पूर्ण अभिप्राय है, केवल प्रयोजन की प्रेरणा नहीं।

तीसरा प्रश्न यह है कि नैतिक-निर्णय का विषय अभिप्राय है या चरित्र है?

अभिप्राय एक स्वतन्त्र मानसिक व्यापार नहीं है। यह चरित्र का प्रकाशन है। यह सदैव बारम्बार किये गये ऐच्छिक कामों से अर्जित स्थायी मनोवृत्ति अथवा चरित्र से प्रभावित होता है। अतः कुछ लोगों की धारणा है कि अन्ततोगत्वा चरित्र ही नैतिक निर्णय का विषय है। मैकेंजी का कथन है, "केवल संकीर्ण अर्थ में ही यह कहा जा सकता है कि नैतिक निर्णय केवल अभिप्राय के ऊपर या केवल उद्देश्य के ऊपर दिया जाता है। वास्तविकता यह है कि पूर्णतया विकसित निर्णय प्रत्यक्षतः अथवा परोक्षतः सदैव कर्त्ता के चरित्र के ऊपर दिया जाता है। हम केवल किये हुए कर्म के ऊपर नहीं, बल्कि करने वाले व्यक्ति के ऊपर भी नैतिक निर्णय देते हैं।"[3]

यह मत आपत्तिजनक है। हम व्यक्ति के चरित्र के ऊपर उसी अवस्था में निर्णय देते हैं जब हमारा अभीष्ट उसका नैतिक मूल्यांकन होता है। किन्तु किसी कर्म की नैतिकता को कर्त्ता के चरित्र का विचार करके निर्धारित नहीं किया जाता,

---

3. *Manual of Ethics*, p. 111.

क्योंकि किसी सच्चरित्र व्यक्ति का अभिप्राय सदैव अच्छा नहीं होता। इसी प्रकार किसी दुश्चरित्र व्यक्ति का अभिप्राय आवश्यक-रूप से सदैव बुरा नहीं होता। अतः अभिप्राय को नैतिक निर्णय का विषय मानना अपेक्षाकृत अधिक वांछनीय है। कर्म की नैतिकता का निर्धारण कर्त्ता के अभिप्राय द्वारा होता है।

संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है—

(१) इच्छाकृत-कर्म या चुने हुए उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किया हुआ कर्म नैतिक निर्णय का विषय है। अनैच्छिक कर्म नैतिक निर्णय का विषय नहीं है।

(२) बाह्य परिणाम जो कि अन्तरस्थ प्रयोजन या अभिप्राय का प्रकाशन है नैतिक निर्णय का विषय है। प्रत्याशित अथवा अभिप्रेत परिणाम कर्म की नैतिकता को निर्धारित करते हैं। अप्रत्याशित तथा अनभिप्रेत बाह्य परिणाम नैतिक निर्णय का विषय नहीं होते।

(३) जब बाह्य परिणाम आन्तरिक उद्देश्य के अनुरूप नहीं होता तो प्रयोजन ही नैतिक निर्णय का विषय होता है। परिणाम नैतिक निर्णय का विषय नहीं होता।

(४) केवल प्रयोजन ही कर्म की नैतिकता के निर्धारण के लिये पर्याप्त नहीं है। प्रयोजन का समाविष्ट करने वाला अभिप्राय नैतिकता का निर्धारण करता है। कर्म की अच्छाई के लिए साध्य और साधन दोनों को उचित होना चाहिये। साध्य के औचित्य के आधार पर साधना का औचित्य सिद्ध नहीं हो सकता। यदि उद्देश्य शुभ है लेकिन प्रयुक्त उपाय अशुभ है तो कर्म को अशुभ समझना चाहिये।

(५) यह मत, कि केवल चरित्र नैतिक निर्णय का विषय होता है, नितान्त भ्रामक है। यह व्यक्ति के नैतिक मूल्य का निर्धारण कर सकता है, लेकिन उसके कर्म-विशेष का नहीं। कर्म की नैतिकता कर्त्ता के अभिप्राय पर आश्रित है।

(४) नैतिक निर्णय का कर्त्ता (The Subject of Moral Judgement)—

प्रश्न यह है कि नैतिक निर्णय कौन देता है? नैतिक निर्णय का देने वाला या तो विवेकयुक्त आत्मा है या आदर्श आत्मा? आत्मा अपने ही अभिप्रायों और कर्मों पर निर्णय देता है और दूसरों की प्रेरणाओं, अभिप्रायों तथा कर्मों पर भी?

मैकेंजी नैतिक निर्णय के कर्त्ता का अर्थ उस दृष्टिकोण को समझता है जिससे कोई कर्म भला या बुरा निर्धारित किया जाता है। कोई व्यक्ति किसी कर्म के सत् व असत् का निर्णय किसी आदर्श मानदण्ड से करता है।

शैफ्ट्सबरी (Shaftesbury) (1671–1713) एक नैतिक-संवित्वादी है। उसका मत है कि किसी कला-कृति को अच्छा या बुरा, सुन्दर या असुन्दर कला-विशेषज्ञ ही निर्णीत (Decide) करता है। कलाकार सौन्दर्य की प्रशंसा के लिये कला-विशेषज्ञ के निर्णय की अपेक्षा रखता है। इसी प्रकार व्यवहार के नैतिक मूल्यांकन के हेतु हम नीति-विशेषज्ञ के निर्णय पर आश्रित हैं।

कला का उद्देश्य किसी फल का उत्पादन होता है। यह फल सुन्दर है या असुन्दर—इसका निर्णय आलोचक ही करता है। किन्तु नीति में कर्म के ऊपर निर्णय

देना होता है, उसके परिणाम के ऊपर नहीं। कर्म का कर्त्ता ही उसका निर्णय कर चुका है। कर्त्ता ने भली-भाँति सोच-विचार कर उसे चुना है। यदि उसका कर्म अनुचित है, तो इसका निर्णय केवल नीति-विशेषज्ञ ही नहीं करता, बल्कि जब वह स्वयं उसके ऊपर विचार करता है तो वह भी करता है। इस प्रकार नैतिक निर्णय का कर्त्ता नीति-विशेषज्ञ नहीं, बल्कि कर्त्ता पुरुष स्वयं होता है। बौद्धिक आत्मा अथवा आदर्श आत्मा ही नैतिक निर्णय का कर्त्ता है।

एडम स्मिथ (Adam Smith) का मत शैफ्ट्सबरी के मत के समान है। उसकी धारणा है कि व्यक्ति अपने और दूसरों के कर्मों पर निष्पक्ष दृष्टा (Impartial Spectator) के दृष्टिकोण से निर्णय देता है। जब हम दूसरों के चरित्र और व्यवहार के ऊपर नैतिक निर्णय देते हैं तब हमें ज्ञात होता है कि वे भी हमारे व्यवहार और चरित्र के ऊपर निर्णय देते हैं। इस प्रकार हम अपने ही उद्देश्यों, अभिप्रायों और कर्मों पर विचार करने लगते हैं और हमें जिज्ञासा होती है कि हम किस सीमा तक उनकी निन्दा अथवा स्तुति के पात्र हैं। इस विधि से हम अपने ही व्यवहार के दृष्टा हो जाते हैं।[4]

इस मत में आंशिक सत्य है। नैतिक निर्णय का दृष्टिकोण निष्पक्ष विचार का दृष्टिकोण है। हमें निष्पक्ष आलोचक बनकर अपने कर्मों की परीक्षा करनी चाहिए। व्यक्ति का अन्तरस्थ निर्णायक उसकी आदर्श आत्मा है। परीक्ष्य व्यक्ति वास्तविक आत्मा है। यह भी सत्य है कि नैतिक चेतना का विकास सामाजिक सम्पर्क से होता है। किन्तु, यह आवश्यक नहीं कि हम अपने कर्मों का निर्णय करने से पूर्व दूसरे के कर्मों का निर्णय करें। हम पहले अपनी प्रवृत्तियों और अभिप्रायों से परिचित होते हैं और उनके सत्-असत्-भाव का निर्णय करते हैं। फिर हमें अपने अनुभव के प्रकाश में दूसरे व्यक्तियों के कर्मों से उनकी प्रवृत्तियों और अभिप्रायों का अनुमान होता है। फिर भी एडम्-स्मिथ स्पष्टतया कहता है कि नैतिक निर्णय का संकेत व्यक्ति के दृष्टिकोण से उच्चतर दृष्टिकोण की ओर होता है। यह उच्चतर दृष्टिकोण आदर्श आत्मा का होता है। बौद्धिक, अथवा आदर्श आत्मा अपनी क्रिया तथा अन्यों के कर्म पर नैतिक निर्णय देता है। बौद्धिक, विवेकयुक्त, आदर्श आत्मा नैतिक निर्णय का कर्त्ता है।

---

4. *Theory of the Moral Sentiments,* Part III, Ch ii *Manual of Ethics,* pp. 113–16.

(१) नैतिक प्रत्यय (Moral Concepts)—

नीति-शास्त्र व्यवहार की नैतिकता का विज्ञान है। यह कर्मों के सत् असत् भाव का नैतिक गुण-दोष का, अच्छे-बुरे कर्मों में प्रवृत्त नैतिक कर्त्ताओं की सच्चरित्रता और असच्चरित्रता का; समाज में रहने वाले व्यक्तियों के अधिकार, कर्त्तव्य और चरित्र गुणों या धर्म का; उनकी संकल्प-स्वतन्त्रता और उत्तरदायित्व का विवेचन करता है। चेतना में सन्निहित इन्हीं आधारभूत प्रत्ययों का सम्यक् विवेचन नैतिकता का लक्ष्य है। सत् और शुभ के प्रत्यय इन समस्त नैतिक प्रत्ययों में अधिक मौलिक हैं।

(२) सत् और असत् (Right and Wrong)—

'सत्' का अर्थ 'नियमानुसार' है। जब कोई कर्म किसी आचार-विषयक नियम से संगति रखता है तो उसे 'सत्' कहा जाता है। आचार-विषयक नियम की व्यतिक्रम जिससे होता है उसको असत्कर्म कहते हैं। सत् नियम का अनुवर्त्ती होता है और असत् नियम-विरुद्ध होता है। प्रत्येक नियम किसी ध्येय को लेकर चलता है जिसकी पूर्ति इसका लक्ष्य होता है। इस ध्येय का 'शुभ संज्ञा' है। सद्सत् के प्रत्ययों का सम्बन्ध नैतिक नियमों से होता है जिसका लक्ष्य अत्युत्तम शुभ अथवा परम मंगल है।

(३) सत् और शुभ (Right and Good)—

'सत्' 'शुभ' की प्राप्ति का साधन है। 'शुभ' की प्राप्ति में सहायक कर्म को सत्कर्म कहा जाता है। इसी प्रकार असत्कर्म वह है जो 'अशुभ' का कारण हो। सत् का प्रत्यय शुभ के प्रत्यय से गौण कोटि का है। 'सत्' 'शुभ' का साधक है। 'शुभ' एक आदर्श या साध्य है जिसकी प्राप्ति के लिये व्यक्ति को आत्म-पूर्णता के हेतु प्रयत्न करना चाहिए। 'शुभ' ही वह आदर्श है जो उसके बौद्धिक स्वरूप की तुष्टि करता है। यह उसकी इन्द्रिय पर स्वभाव की आवश्यकताओं की उच्चतर-बुद्धि सम्भत नियम के अनुसार पूर्ति करता है। यह वह आदर्श है जो उसकी सम्पूर्ण आत्मा को—इन्द्रियमय और बुद्धिमय दोनों को—सन्तुष्टि प्रदान करता है। सत्य के प्रत्यय को व्युत्पत्ति नैतिक नियम अथवा कर्त्तव्य नियम के प्रत्यय से हुई है। नैतिक नियम प्राकृतिक नियम नहीं हैं। यह वास्तविकता का कथन-मात्र नहीं है। नैतिक नियम 'होना चाहिए, का नियम है। 'सत्' वैधानिक नीति-शास्त्र का आधारभूत प्रत्यय है। 'शुभ' उद्देश्यवादी नीति-शास्त्र का मूलभूत प्रत्यय है।

सत्-भाव या अच्छाई एक नैतिक गुण है। असत्-भाव या बुराई नैतिक दोष है। शुभ नैतिक मंगल या हित है। सत्-कर्म हित का साधन है। असत्-कर्म अहित का साधन है। 'शुभ' का प्रत्यय मुख्य है। 'सत्' का प्रत्यय गौण है। शुभ के प्रत्यय के बिना सत् के प्रत्यय की व्याख्या नहीं हो सकती।

(४) शुभ और अत्युत्तम शुभ (Good and Highest Good)—

'शुभ' का अर्थ है जो किसी आवश्यकता की पूर्ति करे अथवा किसी इच्छा की तृप्ति करें। स्वास्थ्य, सम्पत्ति, ज्ञान, संस्कृति, इत्यादि 'शुभ' हैं। कुछ वस्तुयें हमारी जीवन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। ये वस्तुएँ शारीरिक 'शुभ' है। 'कुछ वस्तुयें, जो आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं वे आर्थिक 'शुभ' हैं। सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली वस्तुयें सामाजिक 'शुभ' हैं। कुछ वस्तुयें हमारी बौद्धिक, नैतिक और सौन्दर्य-भोग सम्बन्धी आवश्यकताओं की साधक हैं। उन वस्तुओं को सत्य, शिव (परम शुभ या निःश्रेयस) और सुन्दर कहते हैं। शुभ वस्तुओं की एक क्रमिक-श्रेणी है जिसके शिखर पर अत्युत्तम शुभ-विराजमान है। यह परम मंगल है। यह मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। यह शुद्ध शुभ है। यह किसी उच्चतर शुभ का साधन नहीं वरन् स्वतः वांछनीय है।

(५) अधिकार और कर्त्तव्य (Right and Duty) —

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह समाज का सदस्य है। उसकी अत्युत्तम शुभ की साधना समाज में ही होती है। सामाजिक या सामान्य हित के लिये समाज अपने सदस्यों को कुछ नैतिक अधिकार प्रदान करता है। व्यक्ति समाज के द्वारा संरक्षित इन अधिकारों का उपभोग करता है। उसके अधिकारों का विरोध कोई नहीं कर सकता। दूसरे व्यक्तियों को उनका सम्मान करना चाहिये। जो दूसरों के अधिकारों का उल्लंघन करते हैं वे समाज द्वारा दण्डनीय हैं। उदाहरणार्थ यदि 'क' को कुछ वस्तुयें, जैसे-सम्पत्ति रखने का अधिकार प्राप्त है तो 'ख' 'ग' इत्यादि समाज के अन्य सदस्यों का 'क' के अधिकारों का सम्मान करने का नैतिक कर्त्तव्य हो जाता है। जो 'क' का नैतिक अधिकार है वही 'ख' 'ग' तथा अन्य व्यक्तियों का नैतिक कर्त्तव्य है। अधिकार और कर्त्तव्य सापेक्ष हैं। एक का दूसरे से वियुक्त होना स्वयं को निरर्थक कर देता है। उनकी सत्ता और प्रमाणिकता का स्रोत समाज है। समाज व्यक्तियों को अधिकार देता है और साथ ही उनके ऊपर कर्त्तव्य लाद देता है। **समाज ही अधिकार और कर्त्तव्यों की सृष्टि** करता है, उनको जीवन देता है, अक्षुण्ण बनाये रखता है और व्यक्तियों को उन्हें मानने के लिये बाध्य करता है। समाज के अभाव में अधिकार तथा कर्त्तव्य अर्थ हीन होंगे।

कर्त्तव्य क्या है? जो भी कर्म सत् है वह व्यक्ति का कर्त्तव्य है। यदि व्यक्ति किसी कर्म को सत् समझता है तो वह उसे करने के लिये नैतिक-रूप से बाध्य है।

(६) कर्त्तव्य और धर्म अथवा चरित्र-गुण (Duty and Virtue)—

जब हम किसी कर्म को सत् समझते हैं तब उस कर्म को करना हमारा कर्त्तव्य हो जाता है। जब हम किसी कर्म को असत् समझते हैं तब उस कर्म को न करना भी हमारा कर्त्तव्य हो जाता है। जो सत् है उसे करना चाहिये, जो असत् है उसे नहीं करना चाहिए। सत्कर्म करना कर्त्तव्य है, असत्कर्म करना अकर्त्तव्य।

यदि हम अभ्यासपूर्वक सत् कर्त्तव्य करते हैं तो हम धर्मार्जन करते हैं। यदि

हम अभ्यस्त रूप से असत् कर्म करते हैं तब हम अधर्म करते हैं । धर्म चरित्र की उत्कृष्टता है । अधर्म-चरित्र का दोष है । कर्त्तव्य बाह्य कर्म की ओर संकेत करता है; धर्म अन्तर्निहित चरित्र की ओर संकेत करता है । कर्त्तव्य का संकेत कर्म-विशेष की ओर होता है, धर्म का संकेत स्थायी-रूप से अर्जित प्रवृत्ति की ओर होता है । कर्त्तव्य करने की आदत से सच्चरित्र की सृष्टि होती है । कर्त्तव्य के व्यक्तिक्रम की आदत से दुश्चरित्र की उत्पत्ति होती है । कर्त्तव्य की अभ्यस्तता धर्म की जनक है । अकर्त्तव्य की अभ्यस्तता अधर्म की जनक है ।

(७) पुण्य और पाप (Merit and Demerit)—

पुण्य मनुष्य के चरित्र के नैतिक उत्थान का सूचक है, पाप मानव-चरित्र के नैतिक पतन का सूचक है । पुण्य इच्छापूर्वक कर्त्तव्य करने से उत्पन्न व्यक्ति के चरित्र के नैतिक उत्कर्ष में अभिवृद्धि का विधायक है । पाप इच्छापूर्वक नैतिक मानदण्ड के उल्लंघन करने से उत्पन्न व्यक्ति के चरित्र के नैतिक मूल्य का विधायक है । पुण्य भावात्मक नैतिक योग्यता है । यह चरित्र के नैतिक मूल्य होने का सूचक है । पाप अभावात्मक नैतिक योग्यता है । यह चरित्र के नैतिक मूल्य न होने का सूचक है । जब कोई व्यक्ति कर्त्तव्य करता है तो वह नैतिक पूर्णता की ओर अग्रसर होता है और पुण्य अर्जित करता है । जब वह निषिद्ध कर्म करता है तो उसका नैतिक पूर्णता की विपरीत दिशा में पतन हो जाता है और वह पाप अर्जित करता है । इस प्रकार पुण्य और पाप चरित्र के लक्षण हैं । सत् कर्म पुण्य उत्पन्न करते हैं । असत् कर्म पाप उत्पन्न करते हैं ।

यद्यपि पुण्य और पाप चरित्र के गुण-दोष हैं, तथापि कभी-कभी कहा जाता है कि सत्कर्म में पुण्य है और दुष्कर्म में पाप निहित है । कर्त्तव्य करने से सन्तोष प्राप्त होता है, अकर्त्तव्य करने से ग्लानि होती है । जब हमारा कर्म नैतिक मानदण्ड का अनुसरण करता है तो उसमें पुण्य होता है । जब वह उससे असंगत होता है तो उसमें पाप होता है । पुण्य, चरित्र की उन्नति का सूचक है । पाप, चरित्र की अधोगति का सूचक है ।

(८) पुण्य और पाप का सदसत् से भेद
(Difference between Merit and Demerit and Right and Wrong)

कर्म सत् उस अवस्था में होता है जब उसका नैतिक आदर्श से संवाद होता है । यदि कर्म का नैतिक आदर्श से विसंवाद है तो कर्म असत् कहलाता है । इस प्रकार, 'सत्' या 'असत्' कर्मों पर लागू होते हैं । किन्तु 'पुण्य' और 'पाप' चरित्र पर लागू होते हैं । पुण्य का अर्थ सत्कर्म करने से अर्जित चरित्र का नैतिक उत्कर्ष है । पाप का अर्थ असत्कर्म करने से प्राप्त चरित्र का नैतिक अपकर्ष है । कभी-कभी हम 'पुण्य कर्म' और 'पाप कर्म' का प्रयोग कर दिया करते हैं । अतः 'पुण्य' और 'पाप' स्थानान्तरिक विशेषण हैं । वस्तुतः ये चरित्र के विशेषण हैं । अतः 'पुण्य' और 'पाप' को 'सत्' और 'असत्' के अर्थ में नहीं लेना चाहिये । यद्यपि इनका पारस्परिक सम्बन्ध अवश्य है ।

'सत्' और असत् दोनों में परिणाम के अनुसार भेद नहीं होते; 'पुण्य' और 'पाप' में परिणाम के भेद होते हैं। किन्हीं परिस्थितियों में किया हुआ कर्म या तो सत् होता है या असत्। दो कर्मों को एक-दूसरे से तुलनात्मक दृष्टि से न्यून या अधिक सत् नहीं कहा जा सकता। न हम एक दूसरे से न्यून या अधिक असत् कह सकते हैं। किन्तु पुण्य या पाप व्यक्ति से सम्बन्धित होता है। यह उसके चरित्र का लक्षण होता है जिसे वह धर्म या अधर्म करने से प्राप्त करता है। कोई व्यक्ति सत् कर्म करने के कारण नैतिक पूर्णतया के सोपान पर चढ़ता या असत् कर्म करने के कारण नैतिक पूर्णतया के सोपान पर गिरता है। उसका उत्थान या पतन, पुण्य या पाप किसी परिणाम का हो सकता है। उनका मात्रात्मक न्यून या अधिक होना भी सम्भव है। इस प्रकार सदसत् गुण-निर्धारक निर्णय में होते हैं, और पुण्य-पाप परिणाम-निर्धारक निर्णय में।

(९) पुण्य और पाप का तारतम्य (Degrees of Merit and Demerit)—

कान्ट और मार्टिन्यू की धारणा है कि संकल्प-शक्ति के ऊपर जितना अधिक दबाव पड़ता हे कर्त्ता का पुण्य उतना अधिक होता है। इसी प्रकार जितना अधिक प्रलोभन का प्रतिरोध किया जायेगा, उतना ही अधिक इच्छा-शक्ति के ऊपर दबाव पड़ेगा। दूसरे शब्दों में पुण्य और प्रलोभन के प्रतिरोध की तीव्रता में अनुलोम अनुपात होता है। पुण्य इन्द्रिय-बिषय-वासना के विरोध में निहित है। कान्ट का मत है कि इच्छा और कर्त्तव्य में शाश्वत संघर्ष होता है। कर्त्तव्य-बुद्धि के कारण बुद्धि जितनी ही तीव्र इच्छा पर विजय प्राप्त करती है, कर्त्ता को उतना ही अधिक पुण्य मिलता है; जितना ही कम तीव्र वासना के ऊपर विजय मिलती है कर्त्ता को उतना ही कम पुण्य मिलता है।

यह मत आंशिक रूप में सत्य है। जो व्यक्ति एक तीव्र वासना पर विजय प्राप्त कर लेता है। अवश्यमेव उससे हार खा जाने वाले व्यक्ति से अधिक पुण्यशाली है। इसके अतिरिक्त एक व्यक्ति जो इच्छापूर्वक वासनाओं के निरन्तर नियन्त्रण करने से प्राप्त चरित्र के नैतिक उत्थान के कारण वासना की तीव्रता का अनुभव नहीं करता, कुछ कम पुण्यशाली नहीं है। यह मत उपयुक्त प्रतीत होता है कि चरित्र बल जितना ही अधिक होता है कर्त्ता का पुण्य उतना अधिक होता है। इन्द्रिय-प्रवृत्तियों के निग्रह से जितना अधिक नैतिक उत्कर्ष चरित्र का होता है, उतना ही अधिक पुण्य व्यक्ति को होता है।

कान्ट पूर्ण-बाध्यतामूलक कर्त्तव्य और अपूर्ण बाध्यतामूलक कर्त्तव्यों में अन्तर बतलाता है। प्रथम प्रकार के कर्त्तव्य कानून के द्वारा लागू होते हैं। उनसे सम्बन्धित कुछ लोगों के अधिकार होते हैं। दूसरे प्रकार के कर्त्तव्यों के पालन के लिये बाह्य विधान की आवश्यकता नहीं होती। उनके व्यतिक्रम के लिये राज्य दण्डित नहीं करता। उनके पालन के लिये कोई व्यक्ति बाध्य नहीं है। उनसे सम्बन्धित दूसरे लोगों के अधिकार नहीं होते। किसी कानूनी समझौते के अनुसार लिए गये ऋण की

अदायगी के लिये सरकार बाध्य करती है। इस प्रकार का कर्म कर्त्ता के पुण्य में इतनी वृद्धि नहीं करता जितना कि अपने जीवन को खतरे में डालकर दूसरे की प्राण-रक्षा करना। दूसरे प्रकार के कर्म के लिए सरकार किसी को बाध्य नहीं करती। अतः कर्म को करने से पहिले प्रकार के कर्त्तव्य को करने से अधिक पुण्य है। बाह्य कानून निर्दिष्ट कर्त्तव्य का पालन करवाता है। अतः यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि उन कर्त्तव्यों का पालन कोई दूरदर्शिता-पूर्वक करता है या कर्त्तव्य-बुद्धि से करता है। किन्तु जब कोई अनिर्दिष्ट कर्त्तव्य अर्थात् कानून के द्वारा लागू न किये जाने वाला कर्म करता है तो वह अपने चरित्र के नैतिक उत्कर्ष को प्रदर्शित करता है। इस प्रकार अनिर्दिष्ट कर्म को करना निर्दिष्ट कर्म करने की अपेक्षा अधिक प्रशंसनीय है। यह एक कर्त्ता की नैतिक योग्यता को दूसरे से अधिक बढ़ाने वाला है। सामान्यतया हम निर्दिष्ट कर्त्तव्यों को न करने में अनिर्दिष्ट कर्त्तव्यों को न करने की अपेक्षा अधिक पाप मानते हैं। यदि कोई व्यक्ति अपने वैध ऋण का भुगतान न करते हुए अपने अपर्याप्त धन को दान में दे डालता है तो उसे नैतिक अपराधी समझा जाता है। किसी व्यक्ति को, न्याय की माँग पूरा किये बिना दानी होने का अधिकार नहीं है। यह मत लोक दृष्टि से ठीक है।

किन्तु, निर्दिष्ट और अनर्दिष्ट, पूर्ण-बाध्यता-मूलक और अपूर्ण-बाध्यता-मूलक कर्त्तव्यों का भेद कानूनी है, नैतिक नहीं। नैतिक दृष्टि से परिस्थिति-विशेष में हमारे कर्त्तव्य सदा निश्चित होते हैं। हमारे कर्त्तव्य सदैव पूर्ण-बाध्यता-मूलक होते हैं। हम किसी भी परिस्थिति में अपने कर्त्तव्य से अधिक कुछ नहीं कर सकते। अतः नैतिक दृष्टिकोण से, निर्दिष्ट और अनिर्दिष्ट कर्त्तव्यों का भेद पुण्य-पाप के तारतम्य से कदापि सम्बन्धित नहीं।

यदि कोई व्यक्ति आत्म-हित का बलिदान करके अपने कर्त्तव्य का पालन करता है तो उसका अत्यधिक पुण्य है। उस दशा में जबकि कर्त्तव्य पालन के लिये स्वार्थ के अधिक बलिदान की आवश्यकता नहीं है, उसका पुण्य इतना बड़ा नहीं होता। यदि अधिक स्वार्थ-साधन के हेतु कोई असत्कर्म कर बैठता है तो उसका पाप अधिक नहीं है। जब अपने तुच्छ स्वार्थ के लिए वह असत्कर्म करता है तो उसको पाप अधिक होता है। यदि कोई व्यक्ति स्वार्थ का त्याग न करते हुए सत्कर्म करता है तो मुश्किल से उसके पुण्य अथवा चरित्र का उत्कर्ष होता है। किन्तु, यदि वह अपने बड़े से बड़े स्वार्थ का बलिदान करके कर्त्तव्य-पालन करता है तो उसके चरित्र का नैतिक उत्थान होता है। जो व्यक्ति अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए अपने जीवन की बलि चढ़ा देता है, निश्चय ही उसका पुण्य दूसरे से अधिक है जो युद्ध के लिए थोड़ा सा चन्दा देता है। इसी प्रकार अपने बड़े से बड़े स्वार्थ-साधन के लिए असत्कार्य करने वाले का पाप अपने तुच्छ स्वार्थ के लिए अपराध करने वाले के पाप की अपेक्षाकृत कम जघन्य है। अपनी क्षुधा तृप्ति के हेतु चोरी करने वाले व्यक्ति का पाप धनी बनने के लिए दूसरे की सम्पत्ति लूटने वाले व्यक्ति के पाप से कम

घृणित है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि सत्य के लिए जितना बडा स्वार्थ का बलि-दान किया जाता है उतना ही बड़ा कर्म का पुण्य होता है, और असत्कर्म करने से जितना अधिक स्वार्थ-साधन होता है उतना ही कम उसका पाप होता है।

(१०) आत्म-स्वातन्त्र्य और उत्तरदायित्व (Freedom and Responsibility)—

इच्छा-स्वातन्त्र्य नैतिकता का मौलिक अधिकार है। कान्ट का कथन है— "तुम्हें करना चाहिये, अत: तुम कर सकते हो।" यदि तुम्हें जो ठीक है वह करना चाहिये, तो उसे करने की तुम्हें स्वतन्त्रता है। यदि तुम्हें असत्कर्म नहीं करना चाहिय, तो उसे न करने के लिए स्वतन्त्र हो। 'चाहिए' (ought) के अन्दर स्वत-न्त्रता (can) छिपी हुई है। मनुष्य स्वाधीन होकर सत् या असत् का चुनाव करता है। वह सत् या असत् करने के लिए परिस्थितियों के वश में नहीं है। मनुष्य अपने ऐच्छिक कर्मों में स्वाधीन है। अत: वह अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी है। मनुष्य अपने इच्छाकृत-कर्मों और आदतों के लिए जो उसके व्यवहार के अंग हैं, उत्तरदायी है। उसका अच्छा या बुरा चरित्र उसके बारम्बार किए ऐच्छिक कर्मों का परिणाम है, और उसके लिए वह उत्तरदायी है। इस प्रकार स्वातन्त्र्य और उत्तरदायित्व महत्वपूर्ण नैतिक प्रत्यय हैं। स्वतन्त्रता को अस्वीकार करने के परिणामस्वरूप नैति-कता का आधार जाता रहता है और उत्तरदायित्व तो पूर्णतया लुप्त हो जाता है। आत्मा का इच्छा-स्वातन्त्र्य नैतिकता का मौलिक आधार है। यदि आत्मा परतन्त्र है, तो नैतिकता असम्भव है।

नीति-शास्त्र का यह मौलिक सिद्धान्त है कि मनुष्यों का अपने कर्मों के लिए नैतिक उत्तरदायित्व है। यदि वह मिथ्या है तो नैतिक निर्णयों का औचित्य समाप्त हो जाना है। पेड़ों अथवा निर्जीव पदार्थों के व्यापारों को नैतिक अथवा अनैतिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे भौतिक कारणों के पूर्ण नियन्त्रण में हैं। बच्चों और पागलों के कर्मों को भी नैतिक अथवा अनैतिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे स्वाधीन नहीं हैं। यदि वयस्क मनुष्य समझदार और बन्धन-मुक्त हैं तो उन्हें अपने कर्मों के लिए नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी ठहराया जाता है, क्योंकि वे कर्म करने के लिए स्वतन्त्र हैं। इस प्रकार नैतिक उत्तरदायित्व के लिए इच्छा-स्वातन्त्र्य को मानना पड़ता है। रैशडैल का कथन है, "उत्तरदायित्व का वास्तविक अर्थ क्या है? शब्द-व्युत्पत्ति से इसका अर्थ है कि कर्त्ता से अपने कर्म के लिए उत्तर माँगा जा सकता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि यदि उसका उत्तर संतोषजनक न हुआ तो न्यायपूर्वक दण्ड दिया जा सकता है। किसी कर्म के कर्त्ता के ऊपर दायित्व होने से उसको उसके लिए दण्ड देना सर्वथा न्याय-सम्मत है। हम कहते हैं कि कोई व्यक्ति अपने अपराध के लिए जिम्मेदार है, क्योंकि उसके लिए उसको दण्डित करना उचित है। यह धारणा, कि नियन्त्रणवाद उत्तरदायित्व के मूल पर कुठाराघात करता है, यह अर्थ रखती है कि नियन्त्रणवादी दृष्टिकोण से दण्ड देना अनुचित होगा।"

यदि मनुष्य पूर्णतया वंश-परम्परा और वातावरण के बन्धन में होता और उसमें स्वतन्त्र चेष्टा की शक्ति का अभाव होता, तो उसके ऊपर स्वकीय कर्मों का दायित्व न होता; सत्कर्मों के लिये उसकी प्रशंसा और असत्कर्मों के लिये उसकी निन्दा न हो पाती; तथा उसके कर्म, भौतिक घटनाओं के तुल्य होते। किन्तु मनुष्य अपने परम हित के विचार के अनुसार अपने उद्देश्य और कर्मों का चुनाव करते हैं, और यद्यपि अंशत: वंश-परम्परा और परिस्थितियों का उनके ऊपर प्रभाव पड़ता है तथापि वे अपने ऐच्छिक कर्मों के लिये उत्तरदायी हैं। यदि मनुष्य को स्वाधीनता-विहीन समझा जाय तो उनके कर्मों की नैतिकता, अनैतिकता समाप्त हो जाती है। यदि मनुष्य परिस्थितियों के दास हैं तो पुण्य-पाप, सद्सत्, धर्माधर्म, दायित्व और दण्ड आदि के विचार निरर्थक हो जाते हैं और नैतिकता एक काल्पनिक वस्तु हो जाती है। यदि नैतिक मूल्य यथार्थ हैं तो आत्मा स्वतन्त्र है।

मनुष्य स्वतन्त्र हैं; उन्हें आदर्श का ज्ञान है, और वे इच्छा से स्वतन्त्रतापूर्वक उसका साधन करते हैं। वे अपने कर्मों को स्वयं निर्धारित करते हैं। वे परिस्थितियों के असहाय दास नहीं हैं। यद्यपि उनके ऊपर परिस्थितियों का आंशिक प्रभाव अवश्य है किन्तु उसकी प्रतिक्रिया स्वतन्त्रतापूर्वक और चरित्र के अनुसार होती है। चरित्र के द्वारा परिस्थितियों में परिवर्तन किया जाता है। एक ही वातावरण में रहने वाले दो व्यक्तियों की परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। वे वातावरण की उन्हीं परिस्थितियों पर ध्यान देते हैं जिनकी उनके चरित्र से संगति होती है और उन्हीं पर उनकी प्रतिक्रिया होती है। दूसरी परिस्थितियाँ उनके संकल्पों और कार्यों को प्रभावित नहीं करतीं। मनुष्य अपने स्वतन्त्र इच्छाकृत कर्मों के लिये उत्तरदायी है। दायित्व उसी कर्म के लिये हो सकता है जो इच्छा-स्वातन्त्र्य से किया गया है।

मनुष्य के ऐच्छिक कर्म परिस्थिति द्वारा नियन्त्रित होते हैं, या पूर्णतया अनियन्त्रित होते हैं, या आत्मा द्वारा नियन्त्रित होते हैं? आत्मा के स्वातन्त्र्य का अर्थ आत्म-नियन्त्रण है अनियन्त्रण नहीं।

(११) उत्तरदायित्व में सन्निहित स्वातन्त्र का स्वरूप
(Nature of Freedom involved in Responsibility)—

इच्छा स्वातन्त्र्य का अर्थ आत्म-स्वातन्त्र्य है। इसका अर्थ अनियन्त्रणवाद अथवा उदासीनता की स्वतन्त्रता नहीं है। अनियन्त्रणवाद के अनुसार आत्मा में एक रहस्यमय शक्ति है जिसकी सहायता से वह अकारण वैकल्पिक प्रेरणाओं में से किसी एक को स्वच्छन्दतापूर्वक चुन लेता है। आत्मा में अनियन्त्रित चुनाव की शक्ति निहित है। अनियन्त्रणवाद का तात्पर्य यह है कि आत्मा में पूर्णतया निरंकुश चुनाव की शक्ति है—वह शक्ति जो कर्म में प्रवृत्त होने से पूर्व के आत्मा के चरित्र से पूर्णत: असम्बन्धित कार्य को प्रारम्भ कर सकती है। इस सम्बन्ध में रैशडैल का मत उचित प्रतीत होता

है। नियन्त्रणवाद का उत्तरदायित्व से विरोध नहीं है। उसका विरोध अनियन्त्रणवाद से है। अनियन्त्रणवाद के अनुसार स्वतन्त्र कर्म सर्वथा नवीन सृष्टि होता है और भूत से उसका कोई कार्य-कारण का सम्बन्ध नहीं होता। अब प्रश्न यह है कि यदि कोई अतीत कर्म मेरे वर्तमान स्वभाव से निःसृत नहीं हुआ तो उसके लिये मैं क्यों उत्तरदायी बनूँ ? यदि उस कर्म का मूल मेरी अतीत सत्ता में निहित नहीं तो मेरी अच्छाई उस कार्य को होने से नहीं रोक सकती थी। यदि मेरी अतीत आत्मा उसमें प्रतिबिम्बित नहीं होतीं तो उसके लिये मुझे प्रशंसित या दण्डित करना निरर्थक है।[1]

उत्तरदायित्व में निहित इच्छा-स्वातन्त्र्य अनियन्त्रित नहीं बल्कि आत्म-नियन्त्रित चुनाव है। आत्मा अन्य सभी प्रेरणाओं को छोड़कर एक प्रेरणा अथवा प्रयोजन का चुनाव अपने शुभ साधन के लिये करता है। चुनाव का व्यापार आत्मा के द्वारा निर्धारित होता है जो आत्म-मंगल की भावना से प्रभावित होता है। स्वाधीनता का अर्थ आत्म-नियन्त्रण है, अनियन्त्रणवाद नहीं। अनियन्त्रणवाद का अर्थ होता है—अनियन्त्रित इच्छा, उद्देश्यहीन चुनाव अथवा आकस्मिक कर्म। यदि नैतिक दायित्व निरर्थक नहीं है तो इसका तात्पर्य है आत्म-नियन्त्रण के अर्थ में स्वतन्त्रता। मेरे स्वतन्त्र कर्म मेरे द्वारा निर्धारित होते हैं। वे मेरे स्वभाव से निःसृत होते हैं। इसलिये मैं उनके लिये उत्तरदायी हूं। यदि उनकी उत्पत्ति मेरे अन्दर स्थित उद्देश्य-हीन चुनाव की रहस्यमय और अज्ञात शक्तियों से होती जिनके ऊपर मेरा शासन नहीं है, तो अपने कर्मों का दायित्व मेरे ऊपर न होता। इस प्रकार, मनुष्य अपने कर्मों के लिये उत्तरदायी हैं, क्योंकि वे स्वतन्त्र रूप से उनका चुनाव करते हैं, और आन्तरिक और बाह्य शक्तियों के द्वारा (यथा, वंशानुक्रम प्राप्त शारीरिक और मानसिक प्रवृत्तियाँ तथा भौतिक और सामाजिक वातावरण) उनका यन्त्रवत् नियमन नहीं होता। मनुष्यों के कर्मों का निर्धारण बाहर के वातावरण द्वारा नहीं होता। बल्कि अन्दर से आत्मा और उसके आदर्श के विचार द्वारा होता है। मनुष्य के कर्म आत्म-नियन्त्रित होते हैं, अतः उनका नैतिक मूल्य होता है। स्वतन्त्रता-विषयक यह मत आत्म-नियन्त्रणवाद कहलाता है।

अनियन्त्रणवाद उत्तरदायित्व की नींव पर आक्रमण करता है। यदि हमारे संकल्प और कर्म पूर्णतः अनिश्चित या स्वच्छन्द हैं और अपने शुभ साधन के हेतु आत्मा के आधीन नहीं हैं, तो उनका दायित्व हमारे ऊपर नहीं हो सकता। उनमें निर्णय होता है और निर्णय का कारण होता है। आत्मा प्रेरणा-विशेष को चुन लेता है और अन्य उद्देश्यों को छोड़ देता है, क्योंकि वह सोचता है कि वह शुभ का साधक है। निर्णय आत्मा का व्यापार है, यह स्वतन्त्र इसलिये है कि आत्मा निर्णय का करने वाला है। आत्मा उसका कर्त्ता है। आत्मा ही अपने चरित्र-समस्त उद्देश्य का चुनाव करता है। चुनाव और कर्म में सम्पूर्ण व्यक्तित्व की झलक मिलती है।

---

1. Rashdall, *Theory of Good and Evil*, pp 335–36.

इस प्रकार नियन्त्रणवाद और अनियन्त्रणवाद दोनों दायित्व के विरोधी हैं। आत्म-नियन्त्रणवाद का नैतिक दायित्व से सामंजस्य है, उत्तरदायित्व की व्याख्या आत्म-नियन्त्रणवाद के ही आधार पर सम्भव है। बलप्रयोग की बाध्यता, विचार-हीनता, अचेतन भाव-ग्रन्थि भी बाध्यता, उन्माद आदि का दायित्व से विरोध है।

(१२) स्वतन्त्रता और आचार की समरूपता (Uniformity of Freedom and Morality)—

मैकेन्जी का मत, कि स्वतन्त्रता और समरूपता दोनों नैतिकता के लिये आवश्यक हैं, तर्क संगत है। कान्ट की उक्ति है, "तुम्हें करना चाहिये, अतः तुम कर सकते हो।" मनुष्य को अपनी निम्न वासनाओं पर नियमन करना चाहिये, इसका अर्थ यह हुआ कि वह उनका नियमन कर सकता है। मनुष्य को वही करना चाहिये जो सत् है। अर्थात् मनुष्य सत् व्यवहार के लिये स्वाधीन है। यदि मनुष्य की इच्छा पूर्णरूपेण परिस्थितियों के वश में होती, तो उसके लिये 'चाहिये' अर्थात् नैतिक आदेश व्यर्थ होता। यदि नैतिक आदेश कुछ भी अर्थ रखता है तो व्यक्ति की इच्छा को स्वतन्त्र होना चाहिये, पूर्णतः परिस्थितियों के अधीन नहीं। स्वतन्त्रता का अर्थ आत्म-नियंत्रण है। "स्वाधीन होने का अर्थ है कि व्यक्ति केवल अपने द्वारा नियन्त्रित है।"[2] मनुष्य के कर्म अपने कर्म तभी हो सकते हैं जब उसे कर्त्तव्याभिमान होता है, जब उसके कर्त्तव्य उसके अभ्यस्त इच्छा-क्षेत्र के केन्द्र से निःसृत होते हैं। उसके कर्म स्वतन्त्र तभी हैं जब उनका स्रोत उसकी आत्मा या पूर्ण व्यक्तित्व होता है। आत्म-नियन्त्रण के अर्थ स्वतन्त्रता नैतिकता का मूल सिद्धान्त है। स्वतन्त्रता से रहित मनुष्य नैतिकता और दायित्व से विहीन चेतनायुक्त यन्त्र होता है।

एक दृष्टि से आचार की समरूपता या अवश्यम्भाविता भी नैतिकता के लिये आवश्यक है। चुनावपूर्वक स्वतन्त्र कर्म करने से व्यक्ति अपने चरित्र का निर्माण करता है। उसका चरित्र जितना स्थायी होगा, उतना ही अधिक समरूप उसका व्यवहार भी होगा। व्यवहार की समरूपता अर्थात् अवश्यम्भाविता चरित्र के स्थायित्व से उत्पन्न होती है। यदि मनुष्य का इच्छा-क्षेत्र निरन्तर परिवर्तित होता रहता है तो उसके व्यवहार के विषय में कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। किन्तु, यदि वह नियमित रूप से एक ही इच्छा-क्षेत्र में रहता है और उसका चरित्र स्थायी है, तो हम पर्याप्त सीमा तक उसके भावी व्यवहार का अनुमान लगा सकते हैं। भविष्य ज्ञान तथा इच्छा-स्वातन्त्र्य के मध्य विरोध अवश्यम्भावी नहीं है। अवश्यम्भाविकता से अभिप्राय इच्छा और कर्म का बाह्य परिस्थितियों द्वारा पूर्ण नियन्त्रण नहीं है। अवश्यम्भाविकता स्थाई चरित्र का बाह्य प्रकाशन समरूप व्यवहार है। यदि चरित्र दृढ़ तथा स्थायी है तो आचार भी समरूप तथा परिवर्तनहीन होगा और उसकी भविष्यवाणी की जा सकती है।[3]

---

2. *Manual of Ethics*, pp. 75–76.
3. *Ibid* pp. 75–79.

इस प्रकार आत्म-स्वातन्त्र्य और अवश्यम्भाविकता दोनो नीति के लिये आवश्यक हैं। स्वातन्त्र्य का अर्थ आत्म-नियन्त्रण है। अवश्यम्भाविकता का अर्थ है स्थायीचरित्र से उत्पन्न चुनाव और ऐच्छिक कर्म की समरूपता। चरित्र की रचना स्वतन्त्र इच्छाकृत कर्मों से होती है, और स्थायी चरित्र समरूप-व्यवहार में प्रतिविम्बित होता है। नैतिक जीवन के लिये स्वतन्त्र ऐच्छिक कर्मों के द्वारा बना हुआ स्थायी चरित्र उतना ही आवश्यक है जितनी उससे निःसृत व्यवहार की समरूपता। अवश्यम्भाविकता व्यवहार का वंश-परम्परा तथा परिस्थिति द्वारा सम्पूर्ण नियन्त्रण नहीं है। यह आत्म-स्वातंत्र्य आत्म-नियंत्रण से सामंजस्य रखना है।

बाह्य नियम

(१) नैतिक सिद्धान्तों का विकास (Development of Ethical Theories)—

म्यूरहेड नैतिक चेतना के विकास की तीन अवस्थायें बतलाता है। पहली अवस्था में व्यवहार का नियन्त्रण बहुत कुछ बाह्य नियमों द्वारा होता है। यह मानव-जाति के विकास की विचारहीन अवस्था है। उत्तरार्ध काल में जब विचार-शक्ति विकसित हो जाती है तो बाह्य नियमों का स्थान अन्त:करण (conscience) का आन्तरिक नियम ले लेता है। इस अवस्था में व्यक्ति बाह्य आदेश के पाश से अपेक्षा-कृत मुक्त हो जाता है और उसका पथ-प्रदर्शन अन्त:करण के आन्तरिक नियम के द्वारा होने लगता है। तीसरी अवस्था में 'कानूनी' (Legal) नैतिकता के इन दो रूपों की अपर्याप्तता समझ में आ जाती है और उसका स्थान नैतिक-मानदण्ड विषयक एक नवीन बिचार ग्रहण लेता है, जिससे नियम किसी उद्देश्य का साधक समझा जाता है और उद्देश्य स्वत: साध्य होता है।

नीति-शास्त्र के दो प्रकार हैं—कानूनी अथवा विधि-मूलक नीति-शास्त्र और उद्देश्य-मूलक नीति-शास्त्र (teleological ethics)। विधि-मूलक नीति-शास्त्र सत् के विचार अथवा नैतिक नियम पर जोर देता है; उद्देश्य मूलक नीति-शास्त्र, शुभ अथवा आत्मा के किसी उद्देश्य पर। सत् का अर्थ नियम के अनुसार व शुभ का अर्थ किसी 'उद्देश्य का साधक है।

(२) नैतिक-मानदण्ड-विषयक विविध परिकल्पनायें (Different Theories of Moral Standard)—

चरम नैतिक-मानदण्ड के प्रश्न के बारे में विविध परिकल्पनायें हैं। इन नैतिक परिकल्पनाओं का श्रेणी-विभाग कानूनी और उद्देश्यवादी परिकल्पनाओं में हो सकता है। कानूनी परिकल्पनाओं के अनुसार कोई बाह्य या अन्तरस्थ कानून अन्तिम नैतिक मानदण्ड है। उद्देश्यवादी परिकल्पनाओं के अनुसार आत्मा का कोई उद्देश्य अथवा शुभ अन्तिम नैतिक मानदण्ड है। उद्देश्यवादी परिकल्पनायें आत्मा-विषयक विचारों के भेद के अनुसार कई प्रकार की होती हैं। सुखवाद, सुख अथवा इन्द्रिय-तृप्ति को ही चरम नैतिक मानदण्ड मानता है। बुद्धि परकतावाद या कठोरतावाद इन्द्रियमय आत्मा के दमनपूर्वक शुभ बुद्धिमय आत्मा के जीवन को ही चरम नैतिक आदर्श मानता है। आत्मपूर्णतावाद के अनुसार अन्तिम नैतिक आदर्श बुद्धि की सहायता से इन्द्रियवृत्ति और इच्छाओं के नियमनपूर्वक आत्मा की पूर्णता प्राप्ति या आत्मा का पूर्ण-विकास है।

(३) बाह्य नियम (External Law)—

कुछ विद्वानों के अनुसार बाह्य नियम अथवा आज्ञा चरम नैतिक मानदण्ड

हैं। कोई कर्म स्वयं में सत् व असत् नहीं है। उसके सत् या असत् बनने का कारण एक बाह्य आदेश अथवा उच्चतर शक्ति की इच्छा है। वह कर्म जो नियम का पालन करता है सत् कहलाता है। नियम के उल्लंघन करने वाले कर्म को असत् कहा जाता है। कर्म के सदसत् भाव को निर्धारित करने वाला बाह्य नियम या तो सामाजिक, राजकीय, या ईश्वरीय होता है। प्रत्येक दशा में वह एक उच्चतर शक्ति का आदेश होता है जोकि दण्डविधान और कभी-कभी पुरस्कार के वायदों की सहायता से हमारे ऊपर लागू किया जाता है।

बाह्य नियम की समीक्षा—किन्तु, जिस नैतिकता को बाहर से हमारे ऊपर लादा गया है अर्थात् जिसका मूल बल-प्रयोग है, वह नैतिकता नहीं। नैतिकता का मूल आधार इच्छा-स्वतन्त्र्य है। एक बाह्य प्रभुत्वसम्पन्न शक्ति का आदेश 'करना पड़ेगा' (Must) अर्थात् भौतिक बाध्यता की सृष्टि करता है, 'करना चाहिये' (Ought) अर्थात् नैतिक बाध्यता की सृष्टि नहीं करता।

बाह्य नियम सदैव पुरस्कार के प्रलोभन और दण्ड के भय से लागू होता है। किन्तु यदि पुरस्कार की आशा और दण्ड-भय ही नैतिकता की प्रवर्त्तक शक्तियाँ हैं तो ऐसी दशा में किये हुए कर्म की नैतिक महत्ता नहीं रह जाती। बाध्यता-मूलक नैतिकता, को नैतिकता नहीं कहा जा सकता।

इस परिकल्पना के अनुसार नैतिक मानदण्ड एक बाहरी कानून या आदेश है जो विवेकहीन होता है। किन्तु वास्तविक नैतिक मानदण्ड बिवेकशून्य नहीं हो सकता, उसे बुद्धिसम्मत होना चाहिये। उसे आत्मा का विवेकपूर्ण उद्देश्य होना चाहिये।

नियम का स्वत: कोई अर्थ नहीं होता। वह उच्चतर उद्देश्य का साधनमात्र होता है। इस प्रकार नियम की अपेक्षा नियम-साध्य उच्च ध्येय को ही नैतिकता का अन्तिम मानदण्ड समझना चाहिए। नियम शुभ या हित का साधन है। नियमपालन से शुभ प्राप्ति होती है। आत्मा का मंगल या शुभ नैतिक मानदण्ड होना चाहिये।

(४) (क) समुदाय का नियम (Tribal Law)—

प्राचीन युग में लोग समुदाय में रहते थे। समुदाय के सरदार का आदेश का पालन सभी सदस्यों का कर्त्तव्य होता था। उसका आदेश उनके लिये नैतिक नियम होता था। समुदाय या दल का नियम नैतिक नियम समझा जाता था। समुदाय के नेता का आदेश व्यक्ति का नैतिक मानदण्ड था। जो कर्म सरदार के आदेश का पालन करता था वह सत् और जो कर्म सरदार के आदेश को भंग करता था। वह असत् समझा जाता था। कोई धर्म स्वत: सत् या असत् नहीं समझा जाता था।

किन्तु, दल के सरदार का आदेश शीघ्र ही निरपेक्षतारहित समझा जाने लगा। यह अनुभव किया जाने लगा कि सरदार द्वारा दिये गये विभिन्न आदेश परस्पर-विरोधी हैं। उसके आदेशों को अपर्याप्त माना जाने लगा, क्योंकि आदेशों की पूर्वापर-संगति अत्यावश्यक है। उन आदेशों की प्रकृति 'करना पड़ेगा' की होती है, 'करना

चाहिए' की नहीं। मनुष्य की स्वतन्त्राप्रिय आत्मा बल-प्रयोग का प्रतिरोध करती है। बल-प्रयोग नैतिकता का विरोधी है; यह नैतिकता का नाश कर देता है। आत्म-स्वातन्त्र्य नैतिकता का मूलभूत आधार है।

(४) (ख) **समाज का नियम** (Social Law)—

कुछ विद्वानों का मत है कि समाज का नियम व आदेश ही सद्सत् का मानदण्ड है। सत्कर्म वह है जो समाज के आदेशों का पालन करता है। सामाजिक नियम के उल्लंघन से कर्म असत् हो जाता है। समाज द्वारा आदेश दिया हुआ कर्म सत्; समाज द्वारा निषिद्ध कर्म असत् है। इस प्रकार समाज का नियम-मत, रीति-रिवाज नैतिकता का अन्तिम मानदण्ड है। सामाजिक नियमों को लागू करने वाले जनता का अनुमोदन-अननुमोदन-सूचक भावनायें हैं; जाति-बहिष्कार समाज द्वारा व्यक्ति को दिये जाने वाले महान् दण्ड हैं। बेन (Bain) के अनुसार, "नैतिकता एक सामाजिक संख्या है जिसका संरक्षण समाज की शक्ति और दण्ड के द्वारा होता है।" "एक नैतिक कर्म वह कर्म है जिसका समाज के आदेश से विधान होता है और जिसे करना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है। इसकी नैतिकता इसकी विधिमूलक प्रकृति में निहित है, समाज के मौलिक उद्देश्यों की पूर्ति करने में नहीं।" सामाजिक रीतियों का विवेक शून्य पालन सत् है और उनका उल्लंघन असत् है।

सामाजिक नियम की समीक्षा—किन्तु सामाजिक नियम समरूप नहीं होते; वे परिवर्तनशीलन होते हैं। वे कालान्तर में परिवर्तित हो जाते हैं। जिन सामाजिक नियमों की एक युग में प्रशंसा होती है, दूसरे में वे दोषपूर्ण घोषित कर दिये जाते हैं। अलग-अलग समाजों में सामाजिक नियम अलग-अलग होते हैं। अतः उन्हें अन्तिम नैतिक मानदण्ड समझना आयुक्तियुक्त है, क्योंकि मानदण्ड तो समरूप होता है। यदा-कदा सामाजिक नियमों में परस्पर विरोध हो जाता है। इसलिये उनसे नैतिकता मानदण्ड नहीं बच सकता, जो कि समरूप, अवरोधी तथा संगत होता है।

समाज के नियम, रीतियाँ, रिवाजें नैतिक आलोचना की वस्तुयें हैं। एक उच्चतर नैतिक मानदण्ड की तुलना में उनमें से कुछ नैतिक ठहरते हैं, कुछ अनैतिक, अतः जो परम्परागत हैं उनका नैतिक होना आवश्यक नही। कुछ सामाजिक नियम नीति-सम्मत और कुछ नीति-विरुद्ध हैं। अंतः ये नैतिक मानदण्ड नहीं हो सकता।

समाज हमारे सभी स्थूल बाह्य कर्मों को भी नहीं जान सकता, आन्तरिक प्रेरणाओं व अभिप्रायों को समझना तो उसके वश में है ही नहीं। किन्तु आन्तरिक प्रेरणाओं और अभिप्रायों को व्यक्त करने वाला हमारा सम्पूर्ण व्यवहार नैतिक निर्णय का विषय है। अतः समाज का नियम नैतिक मानदण्ड नहीं हो सकता।

बाह्य नियम को नैतिक मानदण्ड समझने वाले मत के विरुद्ध जितनी भी सामान्य आपत्तियाँ हैं वे यहाँ पर भी सामान्य रूप से लागू होती हैं।

(४) (ग) **राष्ट्र का नियम** (Political Law)—

हॉब्स, बेन जैसे विद्वान् राष्ट्र के आदेश अर्थात् राजनैतिक नियम को सद्सत

का मानदण्ड मानते हैं। राष्ट्र नियमों का निर्माण करता है और दण्ड का भय देकर उनका पालन करवाता है। राष्ट्र द्वारा आदेश किया कर्म सत् है और राष्ट्र द्वारा निषिद्ध कर्म असत् है। हॉब्स (Hobbes) (1588–1679) के अनुसार, "सदसत् का विचार करने वाला उच्चतम न्यायालय राजनियम ही है।"[1] नैतिकता राष्ट्र के नियमों को मानने में निहित है। राजा का आदेश नैतिक मानदण्ड है। इसका आधार भौतिक शक्ति या बल प्रयोग है। पुरस्कार तथा दण्ड राजा के आदेश को लागू करते हैं। राजादेश के उल्लंघनकारी को दण्ड दिया जाता है। राजादेश के पालनकारी को पुरस्कार दिया जाता है।

राष्ट्र के नियम की समीक्षा—किन्तु, राजनैतिक नियम एक उद्देश्य अर्थात् लोकरहित के साधन हैं। अतः उनसे चरम नैतिक मानदण्ड नहीं बन सकता।

राजनैतिक नियम परिवर्तनशील होते हैं, विभिन्न देशों में अथवा उसी देश में अलग-अलग समयों में वे भिन्न-भिन्न होते हैं। अन्तिम नैतिक मानदण्ड समरूप और संवादयुक्त होता है। वह परिवर्तनशील राज नियम नहीं हो सकता।

राजनैतिक नियम सभी सम्भव परिस्थितियों के लिये नहीं बनाये जा सकते। वे केवल हमारे व्यवहार के अंश पर ही शासन कर सकते हैं। हमारे सभी स्थूल कर्मों की परीक्षा उनके द्वारा नहीं हो सकती। ये हमारे मानसिक जीवन को स्पर्श करने में असमर्थ हैं। वे हमारी प्रेरणाओं और अभिप्रायों में प्रवेश नहीं पा सकते, जो नैतिक निर्णय के विषय हैं।

राजनैतिक नियम नैतिक निर्णय के विषय है। उनमें से कुछ नैतिक, कुछ अनैतिक समझे जाते हैं अतः जिस उच्चतर उद्देश्य के सामने वे गौण हैं वही अन्तिम नैतिक मानदण्ड माना जा सकता है। राष्ट्र के नियम उच्चतर उद्देश्य के साधन हैं। अतः राष्ट्र के नियम नैतिक मानदण्ड नहीं हो सकते।

बाह्य निगम को मानदण्ड मानने के विरुद्ध जितनी भी सामान्य आपत्तियाँ हैं वे यहाँ पर भी लागू होती हैं।

(४) (घ) **ईश्वरीय नियम** (Divine Law)—

देकार्त, लॉक् तथा पैले आदि विद्वानों के अनुसार ईश्वरीय नियम अंतिम नैतिक मानदण्ड है। ईश्वर के द्वारा आदिष्ट कर्म सत् है, ईश्वर के द्वारा निषिद्ध कर्म असत् है। ईश्वर की निरपेक्ष इच्छा ही नैतिक मानदण्ड है। सदसत् का भेद ईश्वर की अनियंत्रित इच्छा पर आश्रित है। ईश्वर सत् का आदेश इसीलिये नहीं देता कि वह सत् है। वह असत् का निषेध इसलिये नहीं करता कि वह असत् है। वह सत् को असत् और असत् को सत् कर सकता है। ईश्वर की प्रकृति नैतिकता तथा अनैतिकता से ऊपर है। ईश्वर की इच्छा सद्सत् से परे है। यह सत् या असत् नहीं है। यह अतिनैतिक। ईश्वर में नैतिक गुण कुछ भी नहीं हैं। वह परमशक्तिशाली है। ईश्वर की इच्छा स्वच्छन्द तथा अनियन्त्रित है, ईश्वर की इच्छा नैतिक नियम के

---

1. *Leviathan.*

अधीन नहीं है। ईश्वर अपनी इच्छा का प्रकाश दिव्य-ज्ञानयुक्त ऋषियों के हृदयों में करता है जो उसे धार्मिक ग्रन्थों में प्रकाशित कर देते हैं। दूसरे लोगों को ईश्वररेच्छा का ज्ञान धार्मिक ग्रन्थों से होता है।

देकार्त के मत से ईश्वर गणितशास्त्रीय, तार्किक तथा नैतिक सभी सत्यों का सृष्टा है। सद्सत् का भेद उसकी स्वच्छन्द इच्छा पर निर्भर है। लॉक् के अनुसार "नैतिकता का वास्तविक आधार ईश्वरीय इच्छा और नियम ही हो सकता है।"

ईश्वरीय नियम की समीक्षा—यह मत ईश्वर को एक स्वेच्छाचारी शासक बना सकता है जो सदसत् के भेद से परे है। अतः ईश्वर नैतिक दृष्टि से उदासीन बन जाता है। किन्तु, वस्तुतः ईश्वर नैतिक पूर्णता की शाश्वत् मूर्ति है। धर्म ईश्वर का आवश्यक स्वभाव है। यह कहना कि जो कुछ ईश्वर का आदेश है वह सत् है उचित नहीं है। सत्य तो यह है कि जो सत् है, सत् होने के कारण ईश्वर उसका आदेश देता है। ईश्वर की प्रकृति आवश्यक रूप से नैतिक है और वह सत् उद्गम है। जो सत् है उसका दैवी स्वभाव से सामञ्जस्य है। असत् का उससे विरोध है। सद्-सत् का भेद ईश्वर की स्वच्छन्द इच्छा पर आश्रित नहीं है, बलिक उसके नित्य, परि-वर्तनहीन और नैतिक स्वभाव पर आश्रित है। देकार्त भी ईश्वर की पूर्णता का उल्लेख करता है। लॉक ने ईश्वर को सत् और ज्ञानी बताया है। यह मत स्वविरोधी हो जाता है। यदि ईश्वर सत् कर्म को असत् और असत् कर्म को सत् कर सकता है, तो वह सत् और पूर्ण नहीं हो सकता। वह अति-नैतिक हो जाता है। अति-नैतिक परम-शक्तिशाली ईश्वर बलिष्ठ दैत्य के समकक्ष है, वह ईश्वर-पदवाच्य और उपासना के योग्य नहीं है।

नैतिक नियम को ईश्वर का आदेश समझकर उसका पालन करना दूरदर्शिता है, धार्मिकता नहीं। स्वर्ग में पुरस्कार की आशा और नरक में दण्ड मिलने का भय नैतिक जीवन की प्रेरणायें हो जाते हैं। अतः नैतिकता दूरदर्शिता हो जाती है।

(५) न्याय-दर्शन में ईश्वरीय नियम नैतिक मानदण्ड के रूप में
(Divine Law as Moral Standard in the Nyaya)—

न्याय-दर्शन ईश्वरीय विधान को नैतिक मानदण्ड मानता है। ईश्वर द्वारा आदेश किया गया कर्म सत् हैं। ईश्वर द्वारा निषिद्ध कर्म असत् हैं। ईश्वर की विधियाँ और उसके विषेद वेदों में वर्णित हैं। वेदों की रचना ईश्वर ने की है। वह नैतिक नियमों को लागू करने वाला है। वे नियम शास्त्रों में पाये जाते हैं। नीति का स्रोत ईश्वर है। मनुष्य ईश्वरीय नियम का पालन करके धर्म या पुण्य अर्जन करता है और उस का उल्लंघन करके अधर्म या पाप अर्जन करना हैं। मनुष्यों के ऐच्छिक कर्म संकल्प-स्वातन्त्र्य से प्रेरित हैं। ये स्वयं-नियन्त्रित अथवा आत्म-निय-न्त्रित हैं। मानव-स्वतन्त्रता ईश्वराधीन है। मनुष्य स्वभावतः इन्द्रियों से प्राप्त दमन कर निवृत्ति मार्ग पर चले। ईश्वरीय आदेश इस मार्ग को बतलाता है, इन्द्रिय-सुख या प्रेयः को छोड़ कर परमहित या श्रेयः की प्राप्ति के साधनों की ओर अग्रसर होना चाहिये।

(१) सुखवाद (Hedonism)—

हैडोनिज्म (Hedonism) शब्द की व्युत्पत्ति यूनानी शब्द हैडोन (Hedone) से हुई है, जिसका अर्थ है, आनन्द या सुख। सुखवाद के अनुसार, सुख ही नैतिकता का अन्तिम मानदण्ड है। सुख ही परम मंगल है। सुख ही जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है।

सुखवाद जिस दार्शनिक कल्पना पर आधारित है उसके अनुसार आत्मा की प्रकृति विशुद्ध इन्द्रिय पर है। आत्मा संवेदन, भाव वासना और मूल-प्रवृत्तियों की एक समष्टि है। मनुष्य में बुद्धि अवश्य है, किन्तु मानवीय स्वभाव में इनका स्थान सर्वोपरि नहीं है। "बुद्धि वासनाओं की सेविका मात्र है। बुद्धि केवल वासनाओं के लक्ष्यों की प्राप्ति के हेतु सर्वोत्तम साधना ढूँढा करती है। ह्यूम ने बुद्धि को वासना के सेविका माना है। (Reason is a hand maid of passion.) (Hume)। सुखवाद के अनुसार वासनामय आत्मा की तृप्ति ही परम शुभ है। इन्द्रिय-सुख परम मंगल है।

अनेक सुखवादियों (यथा बेन्थम, जे० एस० मिल तथा अन्य) की धारणा है कि मनुष्य स्वभावतः सुख का अनुसन्धान और दुख की निवृत्ति करते हैं। इच्छा का प्रारम्भिक लक्ष्य सुख है। अन्तिम-रूप से हम सुख की ही इच्छा करते हैं। दूसरी वस्तुओं की इच्छा सुख के साधनों के रूप में होती है। इच्छा का सामान्य विषय सुख है। हम स्वतः सुख का अन्वेषण और दुःख का परित्याग करते हैं।

(२) मनोवैज्ञानिक सुखवाद और नैतिक सुखवाद
(Psychological Hedonism and Ethical Hedonism)—

सुखवाद के मुख्यतः दो रूप हैं—मनोवैज्ञानिक व नैतिक। मनोवैज्ञानिक सुखवाद के अनुसार सुख इच्छा का स्वाभाविक और साधारण विषय है; हम सदैव सुख का ग्रहण और दुःख का त्याग करते हैं। नैतिक सुखवाद के अनुसार, इच्छा का उपयुक्त विषय सुख है। हम सदैव सुख का अनुसन्धान नहीं करते, बल्कि ऐसा करना चाहिये। मनोवैज्ञानिक सुखवाद वास्तविक तथ्य का कथन मात्र है। नैतिक सुखवाद और आदर्श अथवा उद्देश्य विषयक उचित है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद की मान्यता है कि हम सदैव सुख का अन्वेषण तथा दुःख का परित्याग करते हैं। नैतिक सुखवाद की यह मान्यता है कि हमें सुख का अन्वेषण तथा दुःख का परित्याग करना चाहिये।

(३) मनोवैज्ञानिक सुखवाद (Psychological Hedonism)—

मनोवैज्ञानिक सुखवाद वह परिकल्पना है जिसके अनुसार इच्छा का अन्तिम

विषय सुख है। सुख मानवीय कर्मों का स्वाभाविक लक्ष्य प्रेरक है। हम सदा सुख का अनुसन्धान और दु:ख का परित्याग करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति उसी वस्तु की कामना करता है जो उसके विचार से सुखप्रद होगी, वह इच्छित वस्तु से सुख-प्राप्ति की आशा रखता है। वस्तु-विषयक-इच्छा वस्तु के लिये नहीं बल्कि उनसे मिलने वाले सुख के लिये होती है। सुख इच्छा का स्वाभाविक विषय है।

सिरनैक (Cyrenaic) (प्राचीन यूनानी सुखवादियों का सम्प्रदाय) इस मत के प्रचारक थे। जेरेमि बेन्थम (Jeremy Bentham, 1748—184.) और जे० एस० मिल भी इसके समर्थक हैं। बेन्थम का कथन है कि "प्रकृति ने मनुष्य को सुख और दु:ख के साम्राज्य में रक्खा है। उसका एकमात्र लक्ष्य सुख-प्राप्ति और दु:ख त्याग है। उपयोगिता का सिद्धान्त प्रत्येक वस्तु को इनको प्रेरक-शक्तियों के शासन में रखता है।" प्रकृति ने मनुष्य जाति को दो राजोचित शक्तियों से सम्पन्न प्रभुओं के आधीन स्थापित किया है, वे सुख और दु:ख हैं। यह वही स्थिर करते हैं कि क्या हमें करना चाहिए और क्या हम करेंगे।"[1]

इसी प्रकार, जे० एस० मिल (J. S. Mill. 1806—1873) की उक्ति है, "किसी वस्तु की इच्छा करना और उसे सुखप्रद पाना, किसी वस्तु से विरक्त होना और उसे दु:खप्रद समझना दोनों पूर्णत अवियोज्य तथ्य हैं, बल्कि दोनों एक ही तथ्य के दो भाग हैं। किसी वस्तु को वांछनीय समझना और उसे सुखप्रद समझना एक ही बात है, किसी वस्तु के विचार की सुखप्रदता के अनुपात में उसकी कामना न करना एक स्वाभाविक और दार्शनिक असम्भावना है।"[2] इससे जे० एस० मिल ने यह परिणाम निकाला है कि हम सदैव सुख की इच्छा करते हैं अथवा सुख ही इच्छा का एकमात्र विषय है। सुख ही चरम लक्ष्य है। जे० एस० मिल के मत के अनुसार, हम ज्ञान सौन्दर्य तथा नीति का परिशीलन करते हैं। ये स्वत: परम मंगल नहीं हैं। सुख ही एकमात्र चरम हित है।

(४) मनोवैज्ञानिक सुखवाद की आलोचना
(Criticism of Psychological Hedonism)—

मनोवैज्ञानिक सुखवाद यथार्थ नहीं है। इसके विरुद्ध निम्नलिखित आपत्तियां उठाई जा सकती हैं—यह मत अमनोवैज्ञानिक है। सुख इच्छा की तृप्ति का परिणाम है, इच्छा किसी वस्तु की होती है। सामान्यत:, हमें किसी वस्तु की इच्छा होती है, जब और वस्तु की प्राप्ति हो जाती है तो उसका फल सुख होता है। किन्तु सुख की अनुभूति पहले से इष्ट नहीं होती। मानसिक प्रक्रिया का मनोवैज्ञानिक क्रम इस प्रकार है—अभाव या आवश्यकता की अनुभूति ; किसी वस्तु की इच्छा; वस्तु की

1. *"Nature has placed mankind under two sovereign masters—pleasure and Pain. It ls for them alone to point out what we ought to do as well as what we shall do "* —*Bentham*
2. *'Utilitarianism.'*
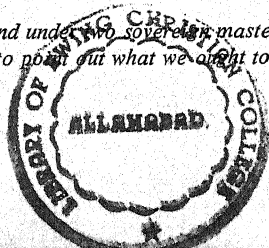
प्राप्ति; सुख की अनुभूति। इस क्रम में सर्वप्रथम हमें किसी आवश्यकता जैसे—भूख का अनुभव होता है; भूखे होने पर हमें भोजन (वस्तु) की इच्छा होती है, जब भोजन खा लिया जाता है अथवा इष्ट वस्तु की प्राप्ति हो जाती है तो हमें सुख की अनुभूति होती है। इस प्रकार भूखे होने पर हम स्वभावतया खाद्य वस्तु की इच्छा करते हैं, सुखानुभूति की नहीं। हम स्वभावत: सुख नहीं खोजते हैं, परन्तु उस अभाव या आवश्यकता की पूर्ति करने की वस्तु खोजते हैं। सुख इच्छा का विषय नहीं है; वस्तु इच्छा का विषय हैं। वस्तु प्राप्ति से सुख का उदय होता है। सुख इच्छापूर्ति का परिणाम है।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद, सुख के विचार तथा सुखप्रद-विचार के मध्य अन्तर को समझने में भूल करता है। चुनी हुई वस्तु अथवा लक्ष्य का विचार सुखप्रद होना चाहिये। किन्तु वह सुख नहीं। सुख चुनाव का निमित्त कारण या प्रवर्त्तक है, उसका अन्तिम कारण या उद्देश्य नहीं। सुखप्रद चुनाव आवश्यक रूप से सुख का चुनाव नहीं होता। चुनाव का विषय सदैव सुखकर होता है; लेकिन आवश्यक रूप से सुख नहीं। हमें वस्तु की इच्छा होती है. जब वस्तु की प्राप्ति हो जाती है, तो इच्छा की तृप्ति हो जाती है हमें सुख मिलता है। इस प्रकार सुख स्वभावत: इच्छा का लक्ष्य नहीं है।

इसके अतिरिक्त आवश्यकता की तृप्ति पूर्व-गामिनी होती है। अर्थात् आवश्यकता का अनुभव तृप्ति से पूर्व किया जाता है। उदहरणार्थ—आवश्यकतायें सदैव सन्तोष-पूर्व-गामिनी होती हैं। बटलर के अनुसार, यदि सुख से पहिले वस्तुओं की इच्छायें न होतीं तो विविध प्रकार के सुखों की सत्ता हीन होती। परोपकार के सम्भवतया किसी को सुख प्राप्त न होता, यदि पहिले दूसरों के हित की इच्छा न होती। इस प्रकार इच्छा का लक्ष्य सुख से भिन्न कोई वस्तु, यथा परोपकार होता है। मैकेंजी के अनुसार, "सुख का उदय किन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के उपरान्त होता है, और आवश्यकताओं को सन्तोष से पहिले होना चाहिये।"[3] इस प्रकार कम से कम कुछ इच्छायें ऐसी होती हैं जो सुख के लिये नहीं होतीं। सुख आवश्यकता की पूर्ति से उत्पन्न होता है। सुख इच्छापूर्ति का परिणाम है, इच्छा का प्रवर्त्तक नहीं।

'सुख' शब्द की द्वयर्थकता—सुख शब्द को दो अर्थों में प्रयुक्त किया जा सकता है—(क) सुखकर अथवा इच्छित वस्तु की प्राप्ति के पश्चात् तृप्ति की अनुभूति या (ख) सुखप्रद अथवा सन्तोष देने वाली वस्तु। दूसरे अर्थ में, हम मूर्त्त 'सुख' अथवा 'सुखों' का प्रयोग करते हैं। जब हम जीवन में 'सुखों' के विषय में कहते हैं, तो हमारा तात्पर्य सुखप्रद वस्तुओं से होता है। किन्तु जब हम अमूर्त्त सुख के विषय में कहते हैं साधारणत: हमारा तात्पर्य सुख अथवा सन्तोष के भाव से होता है जो सुखप्रद वस्तुयें अपने साथ लाती है।[4]

इस प्रकार इस कथन का, कि कि जिसके लिये हमारी इच्छा होती है वह सदैव

---

3. *Manual of Ethics*, p. 116
4. *Ibid*, p. 59.

सुख है,' का अभिप्राय यह है कि जिसके लिये हमारी इच्छा होती है वह सदैव कोई वस्तु है, जिसकी प्राप्ति के पश्चात् सुखकर अनुभूति का उदय होता है। हम वस्तुओं की इच्छा करते हैं, जिनकी उपलब्धि से सुख मिलता है। यह कहना सत्य है कि हम वस्तुओं की इच्छा करते हैं, लेकिन यह कहना कि हम सुख की इच्छा करते हैं सत्य नहीं है। मैकेंजी के अनुसार "यह तथ्य कि हम सुख (वस्तुओं) की इच्छा करते हैं इस बात का प्रमाण नहीं है कि हम अनुभूति की इच्छा करते हैं।"[5] हम सुखप्रद वस्तुओं की प्राप्ति के लिये इच्छा करते हैं, परन्तु सुख का अन्वेषण नहीं करते।

कभी-कभी सुख चुनाव के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। 'जैसे तुम चाहो या जैसे तुमको सुख मिले वैसा करो' का अर्थ होता है कि 'जिस प्रकार करने का तुम्हारा चुनाव है वैसा करो' यह कथन एक निरर्थक पुनरुक्ति-मात्रा है।

सुखवाद में विरोधाभास (Paradox of Hedonism)—सिजविक (Henry (Sidgwick) के अनुसार मनोवैज्ञानिक सुखवाद में एक बड़ा दोष है। सिजविक का कथन है कि "यदि सुख विषयक इच्छा बहुत अधिक बलवती हो तो वह अपने ही उद्देश्य के लिये घातक सिद्ध होती 'जितना कि अधिक हम सुख का अनुसन्धान करते हैं, उतना ही कम हमें उसकी प्राप्ति होती है।"[6] "जब भी हमारी कामना सुख प्राप्ति की होती है, उसे प्राप्त करने का सर्वोत्तम उपाय उसको भूल जाना है। यदि हम स्वयं सुख की चिन्ता करते रहें तो हमें उसकी उपलब्धि नहीं हो सकती। इसके विपरीत यदि इच्छायें विषयोन्मुखी होती है तो सुख की प्राप्ति स्वत: ही हो जाती है।"[7] यह सुखवाद का मौलिक विरोधाभास है। लेकिन यह भी सुखों के विषय में सत्य नहीं है। इसकी सत्यता विशेषत: उन सुखों में लक्षित होती है जिनका जान-बूझकर अनुसरण किया जाता है। सुखों के उपभोग के लिये उदासीनता की कुछ मात्रा आवश्यक है। जब हम कोई नाटक देखते है तो हमें नाटक के ऊपर ध्यान देना चाहिये न कि उससे उपलब्ध होने वाले सुख पर। यदि जानबूझकर (Deliberately) हम सुख को अपना लक्ष्य बनाते है, तो उसका प्राप्त न होना निश्चित है। परन्तु रैशडैल (Rashdall) इस आलोचना से सहमत नहीं है।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद और नैतिक सुखवाद में कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं है। यदि मनोवैज्ञानिक सुखवाद को यथार्थ सिद्धान्त मान भी लिया जाये, तो भी इसका नैतिक सुखवाद के साथ कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं ठहरता। मैकेंजी का यह कहना यथार्थ है कि नैतिक सुखवाद की मनोवैज्ञानिक सुखवाद से, कम से कम उसके चरम रूप से कोई संगति मुश्किल से हो सकती है। यदि हम सदैव स्वभावत: अपने सुख का अनुसन्धान करते हैं तो इस शिक्षा का कि 'हमें ऐसा करना चाहिये' का कोई भी अर्थ नहीं है।

5. *Manual of Ethics*, p. 172.
6. *Methods of Ethics*,
7. *Manual of Ethics*, p. 56.

मनोवैज्ञानिक सुखवाद की नैतिक आत्म-सुखवाद से इस प्रकार संगति सम्भव है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद का यह अर्थ होना चाहिये कि हम किसी प्रकार के आत्म-सुख का अन्वेषण करते हैं, और नैतिक आत्म-सुखवाद का यह कि हमें अपने ही अधिकतम सुख का लाभ करना चाहिये। मनोवैज्ञानिक सुखवाद का नैतिक पर सुखवाद से भी समझौता किया जा सकता है, लेकिन इस शर्त पर कि परसुख में हमें आत्म-सुख की प्राप्ति हो।

इस प्रकार मनोवैज्ञानिक सुखवाद अमनोवैज्ञानिक है, सुख इच्छा का विषय नहीं है। इच्छा वस्तु की इच्छा में होती है, और सुख उसकी तृप्ति का परिणाम है। इच्छा प्रारम्भिक लक्ष्य वस्तु होती है, जिसकी प्राप्ति से सुख की अनुभूति होती है। अतः सुख इच्छा का विषय नहीं, बल्कि इच्छा-पूर्ति का फल हैं।

'सुख' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जा सकता है—(क) इष्ट वस्तु की प्राप्ति से जनित सुखकर अनुभूति या (ख) सन्तोषप्रद अथवा तृप्तिकारक वस्तु। दूसरे अर्थ में हम 'एक सुख' या 'अनेक सुखों' का प्रयोग करते हैं। 'एक सुख' 'एक सुखप्रद वस्तु' है। 'अनेक सुख' अनेक सुखप्रद वस्तुयें हैं।

सुख की इच्छा करने पर भी सुख की पूर्ण रूपेण प्राप्ति उसी अवस्था में सम्भव है जब उसका अनुसन्धान कम से कम किया जाये। सीधे सुख के पीछे दौड़ना आत्म-घातक है। जितना ही अधिक हम सुख की खोज करते हैं, उतना ही कम सुख हमें मिलता है। इसे सिजविक ने सुखवाद के मौलिक विरोधाभास की संज्ञा दी है।

यदि हम स्वाभाविक रूप से सुख का अनुसन्धान करते भी हों, तो भी इससे यह सिद्ध नहीं होता कि हमें सुख का अनुसन्धान करना चाहिये। मनोवैज्ञानिक सुख-वाद और नैतिक सुखवाद के मध्य कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं है। यदि हम अवश्य ही सुख की खोज करते हैं, तो यह कहने में कि, हमें ऐसा करना चाहिये, कोई सार नहीं है। सुखवाद मूल्य नहीं है। यह भावात्मक मूल्य का सूचक है। यह मूल्य प्राप्ति का लक्षण है। श्रेय या मंगल सुख से व्यापक है। सुख आनन्द, भव्य, सुन्दर, चरित्र, धर्म मूल्य हैं। इनमें अपकर्ष उत्कर्ष है।

(५) आत्म-सुखवाद—

नैतिक सुखवाद के अनुसार, हमें सुख प्राप्त करना चाहिये, सुख ही प्रश्न का उपयुक्त विषय है। सुख के दो रूप हो सकते हैं—स्वार्थ मूलक और परार्थमूलक।

आत्म-सुखवाद के अनुसार व्यक्ति का सुख नैतिक मानदण्ड है। परसुखवाद के अनुसार बहुसंख्यक अर्थात् अधिकतम जन-समुदाय का अधिकतम सुख अथवा सामान्य सुख ही नैतिक मानदण्ड है।

आत्म-सुखवाद भी दो प्रकार का है—स्थूल और संस्कृत।

(क) स्थूल (Gross)—**आत्म-सुखवाद**—सिरेनैक सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक, ऐरि-स्टिप्स (Aristippus) स्थूल अथवा इन्द्रिय-पर आत्म-सुखवाद का प्रचारक था। उसके मतानुसार, सभी सुख एक ही प्रकार के होते हैं। सुखों में भेद उनकी केवल

तीव्रता अथवा मात्रा और स्थिति में होता है। अर्थात् उनमें मानात्मक भेद होता है, गुणात्मक भेद नहीं होता। शारीरिक सुख अथवा इन्द्रिय-तृप्ति आध्यात्मिक सुखों की अपेक्षा अधिक वरण करने योग्य हैं, क्योंकि शारीरिक सुख आध्यात्मिक सुख की अपेक्षाकृत तीव्रतर होते हैं। अतीत मर चुका है और भविष्य संशयात्मक है। वर्तमान ही सब कुछ हैं। वर्तमान से ही हमें अधिक से अधिक सुख-लाभ करना होगा। खाओ, पियो और मजे उड़ाओ, क्योंकि कल तो मरना ही है। एक भी क्षण तीव्रतम सुख-भोग से खाली न जावे। इसलिये जीवन का सच्चा नियम यह है कि वर्तमान क्षणिक विषय सुखों के लिए अविचारपूर्वक अपना उत्सर्ग कर दो।[8]

भारत का चार्वाक-सम्प्रदाय भी इसी मत का प्रचारक था। हॉब्स सब चरित्र गुणों को आत्म-प्रेम में विघटित कर देता है। मैंडेविल (Mandevile 1676–1771) और हेल्वेशियम (Helvetius 1715–71) भी इसी मत के अनुयायी हैं। उनके अनुसार, आनन्द का अर्थ इन्द्रियों की तृप्ति से उत्पन्न सुख की उच्चतम मात्रा है। वही परम शुभ भी है।

(ख) **संस्कृत** (Refined) **आत्म सुखवाद**—एपिक्यूरस (Epicurns) के अनुसार, हमारे नैतिक जीवन में बुद्धि का महत्वपूर्ण स्थान है। सच्चे आनन्द की प्राप्ति के लिये बुद्धि ही उपयुक्त पथ-प्रदर्शक है। जीवन का ध्येय क्षणिक सुख नहीं, बल्कि सुखी जीवन है। सुखी जीवन विचारपूर्ण जीवन है। यद्यपि सुख जीवन का लक्ष्य है तथापि बुद्धि की सहायता से ही उसकी उपलब्धि हो सकती है। बुद्धि के द्वारा ही एकान्त-रूप से दुःख से रहित पूर्ण काम-तृप्ति सम्भव है। अतः क्षणिक सुख से मनुष्य का भला नहीं हो सकता, सुखी जीवन ही शुभ है।

एपिक्यूरस (Epicurus 340 B. C.—270 B.C.) के अनुयायी 'सुख' का अर्थ शारीरिक दुःख और मानसिक कष्ट का अभाव मानते हैं। सुख का अर्थ है दुःख का अभाव। एपिक्यूरस का सिद्धान्त यह है कि हमें सुख-दुख के प्रति उदासीनता का भाव अपनाना चाहिये। इससे आत्मा के अन्दर शान्ति का उद्‌भव हो जायेगा। वास्तव में, जीवन का ध्येय भावात्मक अनुभूति अथवा विषयभोग की अपेक्षा अनुभूति शून्यता, तटस्थता अथवा उदासीनता है।

एपिक्यूरस बौद्धिक सुखों को शारीरिक सुखों की अपेक्षा अधिक महत्व देता है, क्योंकि वे दुःख से कम मिश्रित होते हैं और अपेक्षाकृत अधिक समय तक उनका उपभोग किया जा सकता है। एपिक्यूरस स्पष्ट रूप से शारीरिक सुखो को बौद्धिक सुखों की अपेक्षा गुणात्मक श्रेष्ठ स्वीकार नहीं करता।

आत्म-सुखवाद का आधार मनोवैज्ञानिक सुखवाद है, अतः मनोवैज्ञानिक सुखवाद के दोषों से वह भी दूषित हैं।

हॉब्स (Hobbes 1588–1679) का विचार है कि मनुष्य निसर्गतः स्वार्थी है और सब उच्चतर संवेग तथा कर्म के उद्‌गम आत्म-प्रेम के ही प्रकार हैं। किन्तु

8. Weber. *History of Philosophy*, E. T. (T. Thilhy) 1896, p. 71.

हमारा जीवन अपने लिये कम और दूसरों के लिये अधिक होता है। आत्मोत्सर्ग आत्म-रक्षण से कम नैसर्गिक नहीं है। परोपकारमुलक संवेग स्वार्थमूलक भावों में नहीं घटाये जा सकते, न उनसे उनका विकास हो सकता है। स्वार्थ और परार्थ दोनों की जड़ें मानव स्वभाव में निहित हैं। स्वार्थ का आधार स्वार्थमूलक प्रवृत्तियाँ हैं और परार्थ दोनों की जड़ें मानव स्वभाव में निहित हैं। स्वार्थ का आधार स्वार्थमूलक प्रवृत्तियां हैं और परार्थ का आधार परोपकार प्रवृत्तियाँ। स्वार्थ का आधार आत्म-रक्षा-रूप सहज-वृत्ति है। परार्थ का आधार वंशरक्षा-रूप-सहजवृत्ति है।

आत्म-सुखवाद हमें नैतिकता का समान मानदण्ड प्रदान करने में असमर्थ है। जो एक के लिये सुखद है, वही दूसरे के लिये दुःखद हो सकता है। यदि सुख सत् है और दुःख असत् तो नैतिक मानदण्ड कभी भी एकरूप नहीं हो सकता। इस प्रकार, जिस नैतिकता को लोग समरूप समझते हैं उसकी परिसमाप्ति हो जाती है।

आत्म-सुखवाद हमें सुखों के न्यूनाधिक मूल्यों की परिगणना के लिये कहता है। लेकिन वह कार्य कष्टसाध्य है। आन्तरिक अनुभूतियों के परिणाम को नापा नहीं जा सकता। दूसरी कठिनाई यह है कि आत्मगत अनुभूतियाँ उमंग, स्वभाव और परि-स्थितियों के परिवर्तन के परिणामस्वरूप परिवर्तित हो जाती हैं, और इस प्रकार सुख-वादी परिगणना अव्यवहार्य हो जाती है।

स्थूल अथवा इन्द्रियपूरक स्वार्थवाद को नैतिक परिकल्पना कहना अनुपयुक्त है। यह निर्लज्ज होकर वासना-तृप्ति और विषय-भोग को नैतिक जीवन सिद्ध करना चाहता है। यह नैतिकता का स्थान दुराचार को प्रदान करता है, और विवेकयुक्त आत्म-नियम को, जोकि वास्तव में नैतिकता है तुच्छ समझता है।

एपिक्यूरस का संस्कृत आत्म-सुखवाद निश्चय ही ऐरिस्टिप्पिस् के इन्द्रियपरक आत्म-सुखवाद की अपेक्षा अधिक विचारपूर्ण है। यह नैतिक जीवन में वृद्धि के कार्य को पहिचानता है। इसके अनुसार, परमहित सुखी जीवन है, लेकिन आनन्द भावात्मक सुख की अपेक्षा दुःख के अभाव में अधिक हैं। यह सुख को दुःख का अभाव समझता है; सुख को अभावात्मक अनुभूति समझता है। अतः यह सक्रिय जीवन को प्रोत्साहित नहीं करता, बल्कि निष्क्रिय, वेदनाहीन जीवन को प्रोत्साहित करता है। यह भूल जाता है कि नैतिकता निरन्तर क्रियाशीलता में निहित है; वेदनाशून्य निष्क्रिय जीवन में नहीं। यह शुभ के सक्रिय अनुसरण की अपेक्षा इच्छाओं की न्यूनता और सुख-दुःख के प्रति उदासीन-भाव धारण कर लेने से उत्पन्न मानसिक शान्ति के ऊपर अधिक जोर देता है। पुनः वैयक्तिक सुख मनुष्य का सर्वोच्च शुभ नहीं हो सकता। आत्म-सुखवाद परोपकार की प्रवृत्तियों की तृप्ति कर सकने में असमर्थ है।

(६) प्राचीन और नव्य सुखवाद (Ancient and Modern Hedonism)—

जेम्स सेथ के अनुसार प्राचीन और आधुनिक सुखवाद में तीन भेद हैं—प्रथम, "प्राचीन सुखवाद, चाहे सिरेनैक सम्प्रदाय का हो, चाहे एपिक्यूरस का, निराशावादी है; आधुनिक सुखवाद आशावादी है।" एपिक्यूरियन लोगों ने भावात्मक सुख की

अपेक्षा दु:खभाव को ही जीवन का लक्ष्य समझता था। आधुनिक सुखवादी, सिरेनैक लोगों की मनुष्य के उद्देश्य के विषय में जो धारणा थी उसको अर्थात् वास्तविक विषय-भोग को स्वीकार करते हैं। वे सिरेनैक लोगों के भावात्मक सुख को ही वास्तविक आनन्द मानते हैं, दु:ख के अभाव की अवस्था को नहीं।

द्वितीय, "प्राचीन सुखवाद वैयक्तिक था, लेकिन आधुनिक सुखवाद सार्वजनिक है। अधिकतम वैयक्तिक सुख का स्थान आजकल बहुसंख्यक जनों का अधिकतम सुख ग्रहण कर चुका है।"[9] ह्यूम, बेन्थम और जे० एस० मिल व्यक्तिगत-सुख अथवा अधिक लोगों के अधिकतम सुख को जीवन का उद्देश्य मानते हैं। मिल के अनुसार उपयोगितावाद का मानदण्ड कर्त्ता का अपना अधिकतम सुख नहीं बल्कि सबके सुख की अधिकतम मात्रा है। उपयोगितावादी को अपने और दूसरों के सुख के बीच चुनाव में एक निरपेक्ष परोपकारी द्रष्टा की भाँति निष्पक्ष होना पड़ता है।[10]

तृतीय, जे० एस० मिल का नव्य सुखवाद सुखों की क्रमिक श्रेणियों अथवा उनके गुणात्मक (Qualitative) अन्तरों को मान्यता देता है। मिल सुखों के परिमाणात्मक (Quantitative) अन्तरों के अतिरिक्त उनके गुणात्मक अन्तरों को भी मानता है। एपिक्यूरियन लोग मानसिक सुखों को उनके अधिक काल तक स्थिर रहने तथा दु:खदायी परिणामों से उनके अपेक्षाकृत मुक्त होने के आधार पर दैहिक सुखों से अधिक पसन्द करते थे, किन्तु मानसिक सुखों की स्वत: श्रेष्ठता को वे नहीं मानते थे। पैलि और बेन्थम और एपिक्यूरस के अनुयायी भी सभी सुखों को एक ही प्रकार का मानते हैं। मिल के विचार के इस प्रकार का अन्तर परिणाम के अन्तर से स्वतन्त्र है, और गुणात्मक भेद भी परिमाणात्मक भेद के समान ही वैध है।

(७) परसुखवाद : (क) स्थूल उपयोगितावाद (बेन्थम) (Gross Altruistic Hedonism)—

परसुखवाद के अनुसार सार्वजनिक या सामान्य सुख अर्थात् "समष्टि का अधिकतम सुख" अन्तिम नैतिक मानदण्ड है। बेन्थम और मिल दोनों इस मत के प्रचारक हैं। बेंथम व मिल के मध्य आधारभूत अन्तर यह है कि बेंथम सुखों के **परिमाणात्मक अन्तरों को ही मानता है, जबकि जे० एस० मिल उनके गुणात्मक** अन्तरों को भी। यह सिद्धान्त उपयोगितावाद (Utilitarianism) कहलाता है, क्योंकि यह कर्मों के सदसत् भाव का निर्णय सामान्य सुख की वृद्धि अथवा सामान्य दु:ख की निवृत्ति के साधनों के रूप में उनकी उपयोगिता के आधार पर करता है। **बेंथम की धारणा है कि सुखों का मूल्यांकन का एकमात्र मानदण्ड परिमाणात्मक है।** किन्तु परिणाम के विविध रूप होते हैं। इनका मूल्यांकन कई दृष्टियों से हो सकता है—(१) तीव्रता (Intensity), (२) स्थितिकाल (Duration), (३) निकटता (Proximity), (४) निश्चय (Certainty), (५) शुद्धता (Purity), (६) उत्पादकता

9. सेथ।
10. मिल।

(Productivity), तथा (७) व्यापकता (Extent), अर्थात् उससे प्रभावित होने वाले व्यक्तियों की संख्या । एक सुख दूसरे से अधिक तीव्र है । अन्य दृष्टियों के समान सुखों में से वहां अधिक वरणीय है जिसका स्थितिकाल अधिक है । निकटस्थ सुख, दूरस्थ सुख की अपेक्षा वरणीय है । निश्चित सुख अनिश्चित सुख की अपेक्षा अधिक वरणीय है । सुख शुद्ध वह सुख है जो दुःख से व्याप्त नहीं होता । दुःख के साथ संयुक्त होने से वह अशुद्ध हो जाता है । अशुद्ध सुख की अपेक्षाकृत विशुद्ध सुख वरणीय है । उत्पादकता सुख के अन्दर होती है जो अन्य अनेक सुखों का जन्मदाता होता है । उत्पादक सुख अनुत्पादक सुख से अधिक वरणीय है, क्योंकि अनुत्पादक सुख अन्य सुखों को उत्पन्न नहीं करता । एक सुख का उपभोग कम या अधिक व्यक्तियों द्वारा किया जा सकता है । अधिक व्यापक सुख कम व्यापक सुख की अपेक्षाकृत वरणीय है ।

बेंथम मनोवैज्ञानिक सुखवाद का अनुयायी है । उसके अनुसार, "प्रकृति ने मनुष्य को सुख और दुःख के शासन में रखा है । हमारे सब विचार उन्हीं की बदौलत हैं; हमारे सभी निर्णय और जीवन के संकल्प उन्हीं से सम्बन्धित हैं । मनुष्य का ध्येय सुखलाभ और दुःख से मुक्तिलाभ है । उपयोगिता का सिद्धान्त सब वस्तुओं को इन दो प्रेरक-शक्तियों के नियन्त्रण में रखता है ।" "प्रकृति ने मनुष्य जाति को इन दो राजोचित्त-शक्ति-सम्पन्न प्रभुओं के आधीन स्थापित किया है, वे सुख और दुःख हैं, यह केवल वे ही स्थिर करते हैं कि क्या करना चाहिये और क्या नहीं ।"[11]

बेंथम सुखवादी परिगणना में आस्था रखता है । उसका कहना है कि "सुख और दुःखों को तोलो, दोनों की तुलना की प्रक्रिया से ही सद्सत् का प्रश्न हल हो जावेगा ।" कर्म सत् है यदि उसको सुख अथवा दुःख से अधिक सुख की प्राप्ति हो । असत् कर्म वह है जिससे दुःख अथवा सुख से अधिक दुःख प्राप्त हो । सत्-भाव सुख प्रदान करने में और असत्-भाव दुःख प्रदान करने में निहित हैं जो कर्म सुखप्रद है, वह सत् है । जो कर्म दुःखप्रद है वह असत् है ।

बेन्थम का उपयोगितावाद स्थूल या इन्द्रियपरक कहलाया जा सकता है, क्योंकि वह सुखों के गुणात्मक अन्तरों को अस्वीकार करता है । इसके विपरीत, वह कहता है कि कोई भी सुख उतना ही अच्छा है जितना कि दूसरा, केवल उनकी मात्रा एक ही हो । बेन्थम के अनुसार, सुख के परिमाण के समान होने पर आलपिन से चुभाना उतना ही अच्छा है जितना कविता ।" बेन्थम का तात्पर्य, शुद्धता से उच्च गुण या प्रकारात्मक श्रेष्ठता नहीं बल्कि केवल दुःखहीनता है । बेन्थम के अनुसार, वही सुख विशुद्ध है जो दुःख के साथ मिश्रित न हो ।

बेन्थम का सुखवाद परोपकारी-प्रवृत्ति का है, क्योंकि वह सुखों की व्यापकता का अर्थात् उनसे प्रभावित होने वाले व्यक्तियों की संख्या का ध्यान रखता है । यदि किसी सुख का उपभोग बहुसंख्यक व्यक्ति करते हैं तो उस सुख की व्यापकता अधिक

11. *Principles of Legislation*, Chapter 1.

है, और इसी कारण वह उस सुख की अपेक्षाकृत अधिक वरणीय है जिसका उपयोग केवल एक ही व्यक्ति कर सकता है। इस प्रकार सुख की मात्रा को स्थिर करने में व्यापकता को शामिल करने से बेन्थम अपने सिद्धान्त में परोपकार का भी समावेश करता है। अधिक व्यक्तियों का अधिकतम सुख नैतिक मानदण्ड है।

यद्यपि बेन्थम परसुखवाद का प्रचारक है, तथापि वह स्पष्ट रूप से मनुष्य की स्वाभाविक स्वार्थपरता को ही मानता है। उसका कथन है कि अपने हेतु सुख के महत्तम अंश की प्राप्ति ही विचारवान् मनुष्य का उद्देश्य है; स्वार्थ में ही मनुष्य की स्वाभाविक-रुचि है। बेन्थम ने मनुष्य की नैसर्गिक स्वार्थपरता को बार-बार दोहराया है। मनुष्य दूसरों के लिये तुच्छ से तुच्छ उसी समय करता है जब उसे उससे अपने लाभ की आशा हो। तुम्हारी सेवा वह तभी करेगा जब उससे उसकी अपनी सेवा हो। इस प्रकार, बेन्थम मनुष्य की नैसर्गिक स्वार्थपरता को स्पष्टतः मानता है। फिर भी, वह पदार्थमूलक सुखवाद का प्रचारक है। उसके अनुसार "हर एक की गिनती एक है, एक से अधिक किसी की नहीं" अर्थात् सुख में प्रत्येक समान अंश का अधिकारी है। यह न्याय का प्रजातन्त्रवादी सिद्धान्त है। नैतिक मानदण्ड व्यक्ति का अधिकतम सुख नहीं, बल्कि बहुसंख्यक समुदाय का अधिकतम सुख है जिसकी गणना सबके समान अधिकार के आधार पर की जाती है।

प्रश्न यह है कि बेन्थम स्वार्थवाद से परार्थवाद की ओर कैसे गया? यदि मनुष्य स्वभावतः स्वार्थपरक है, तो उसे दूसरों के सुख के लिये प्रयत्न करना ही क्यों चाहिये? वह सामान्य सुख की वृद्धि के लिये क्यों बाध्य होता है? दूसरों के सुख के लिये उसे अपने सुख का बलिदान क्यों करना चाहिये? नैतिकता की वह कौन सी शक्ति है जो इसके लिये बाध्य करती है। बेन्थम स्वार्थवाद से परार्थवाद के संक्रामण की व्याख्या कैसे करता है। बेन्थम इनकी व्याख्या चार बाह्य नैतिक आदेशों के द्वारा करता है—प्राकृतिक, राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक। प्राकृतिक आदेशों का अर्थ है शारीरिक कष्ट जिसकी उत्पत्ति प्राकृतिक नियमों की, यथा, स्वास्थ्य के नियमों की अवहेलना से होती है। यह प्रकृति का नियम है कि हमें अपनी क्षुधा-तृष्णा इत्यादि वेगों की तृप्ति संयम के साथ करनी चाहिये। यदि इस नियम का उल्लंघन होता है तो व्याधि और कष्टों का शिकार होना पड़ता है। राजनैतिक आदेश उन कष्टों को कहते हैं जो राष्ट्र के शासन के द्वारा दिये जाने वाले दण्डों से मिलते हैं। इन कष्टों का भय व्यक्ति को राजनैतिक नियमों के अतिक्रमण से रोकता है और राज्य से पुरस्कार प्राप्ति की आशा उसे समाज के हित में कर्म करने को प्रोत्साहित करती है। सामाजिक आदेश उन कष्टों को कहते हैं जो समाज द्वारा मिले हुये दण्डों के परिणाम हैं, यथा, जाति-बहिष्कार। कष्टों का भय व्यक्ति को स्वार्थपूर्वक कर्म करने से रोकता है। धार्मिक आदेश में, नरक में दण्ड मिलने का भय और स्वर्ग में पुरस्कार प्राप्ति की आशा सम्मिलित है। इस प्रकार, बाह्य आदेश केवल व्यक्ति के ऊपर बाहरी दबाव हैं जिनसे वह समाज के हित में स्वार्थ का बलिदान करने के लिए

बाधित किया जाता है। बेन्थम के मतानुसार बाहरी आदेशों के दबाव से व्यक्ति स्वार्थी से परार्थी बन जाता है। प्रकृति, समाज, राज्य तथा ईश्वर के दण्ड मनुष्य को स्वार्थपरता से परार्थपरता की ओर ले जाते हैं। मनुष्य निसर्गतः स्वार्थ पर हैं, परन्तु इन दण्डों के भय से धीरे-धीरे परार्थपर बन जाते हैं।

(६) स्थूल उपयोगितावाद की समीक्षा
(Criticism of Gross Utilitarianism)—

बेन्थम के स्थूल उपयोगितावाद के विरुद्ध निम्नलिखित आपत्तियाँ की जा सकती हैं। बेन्थम मनोवैज्ञानिक सुखवाद का अनुयायी है। अतः उसके सिद्धान्त में भी वही दोष पाये जाते हैं जो मनोवैज्ञानिक सुखवाद में प्राकृत रूप से हमारी इच्छा का विषय वस्तु होती हैं, जिसकी प्राप्ति से सुख मिलता है। यदि हम सुखद वस्तु की इच्छा करते हैं, तो यह सिद्ध नहीं होता कि हम सुखवाद की इच्छा करते हैं। पुनः प्रायः यह होता है कि जितना ही अधिक हम सुख का पीछा करते हैं, उतना ही कम हम उसे पाते हैं। यह सुखवाद का मौलिक विरोधाभास है। फिर यदि यह मान भी लिया जाय कि हम सुख का अनुसन्धान करते हैं, तब भी इससे प्रमाणित नहीं होता कि ऐसा करना ही चाहिये। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक सुखवाद से नैतिक सुखवाद का अनुमान करना अनिवार्य नहीं है। दोनों के मध्य कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं है। वस्तुतः आदर्श का विकास वास्तविक तथ्यों से नहीं हो सकता।

जब बेन्थम सुखों के मूल्याँकन (Valuation) के आधार पर मानता है और दुःख से सुख की अधिकता को सत्कर्म का लक्षण तथा सुख से दुःख की अधिकता को असत्कर्म का लक्षण समझता है, तो वह सुख और दुःख को भावात्मक सिक्कों के रूप में देखता है, जिनको जोड़ा और घटाया जा सकता है, और इस प्रकार जिनके परिमाण को नापा जा सकता है। किन्तु सुख-दुख के भाव मन की आन्तरिक अवस्थायेंहैं, जिन को सिक्कों के समान गिना नहीं जा सकता। उनकी प्रकृति अत्यधिक चंचल होती है। उमंग, स्वभाव और परिस्थिति के साथ वे भी बदलते रहते हैं। इस प्रकार बेन्थम द्वारा प्रस्तावित सुखवादी परिगणना नितान्त अव्यवहार्य है।

बेन्थम स्पष्टतः मनुष्य की स्वार्थी प्रकृति को स्वीकार करता है; फिर भी वह परसुखवाद का प्रचार करता है। परार्थवाद के पक्ष में वह कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं करता। सामान्य सुख के अनुसरण के लिए वह कोई कारण नहीं बतलाता। उस के विचार में मनुष्य का स्वभाव स्वार्थी है। बेन्थम के अनुसार "अपने लिये सुख के अधिकतम अंश की प्राप्ति प्रत्येक विचारवान् प्राणी का लक्ष्य है। प्रत्येक मनुष्य दूसरे की अपेक्षा स्वयं के निकटतर है।" इस विशुद्ध स्वार्थवाद में बेन्थम परार्थवाद की कल्पना नहीं कर सकता। फिर भी उसे सुख की व्यापकता मान्य है, जिससे उसके सिद्धान्त में परार्थवाद का समावेश हो जाता है।

बेन्थम सुखों की व्यापकता अर्थात् उनसे प्रभावित होने वाली मनुष्य-संख्या का विचार करके अपने सिद्धान्त में परार्थवाद का समावेश करता है। किन्तु उसने

अपने इस सिद्धान्त की कि, कम व्यापक सुख की अपेक्षा अधिक व्यापक सुख को चुनना चाहिये का कोई कारण नहीं बताया है। वस्तुतः बौद्धिक और सौंदर्यभोग-जन्य सुखों का उपभोग बहुसंख्यक व्यक्ति कर सकते हैं, किन्तु खाने-पीने से सम्बन्धित स्थूल दैहिक सुखों का उपभोग अधिक व्यक्ति नहीं कर सकते। पहिले वाले उच्च सुख हैं, क्योंकि उनसे बुद्धि को सन्तोष मिलता है। दूसरे, निम्न कोटि के सुख हैं, क्योंकि उनसे इन्द्रियों की तृप्ति होती है। किन्तु बेन्थम सुखों के गुणात्मक या प्रकारात्मक अन्तरों को मान्यता नहीं देता। सुख की व्यापकता उसके गुण की ओर संकेत करती है।

बाह्य आदेश तथा दण्ड स्वार्थवाद से परार्थवाद तक के संक्रमण की व्याख्या कदापि नहीं कर सकते। हम प्रकृति, समाज, राष्ट्र और ईश्वर के नियमों का पालन करना उनके लिये नहीं वरन् अपने ही हित के लिये स्वीकार करते हैं। दूरस्थ स्वार्थ के कारण हम बाह्य आदेशों के द्वारा पर-हित के हेतु अपने ही हित और सुखों का उत्सर्ग करने को बाध्य किये जाते हैं। ये बाहरी आदेश 'करना होगा' अथवा भौतिक बाध्यता की सृष्टि कर सकते हैं, पर 'करना चाहिये' अथवा नैतिक बाध्यता की सृष्टि नहीं कर सकते। बेन्थम नैतिक बाध्यता की व्याख्या नहीं कर सकता।

बेन्थम का परार्थवाद स्थूल अथवा इन्द्रियपरक है क्योंकि वह सुखों में गुणात्मक (Qualitative) अन्तरों या प्रकार-भेदों को नहीं मानता। वह शुद्धता (Purity) को सुखों मूल्यांकन में स्थान अवश्य देता है, किन्तु शुद्धता से उसका तात्पर्य गुणात्मक श्रेष्ठता अथवा आन्तरिक उत्कृष्टता नहीं हैं। शुद्धता का अर्थ दुःख शून्यता हैं। सर्व सुख समा रूपन से एक ही प्रकार के होते है। लेकिन यह मनोवैज्ञानिक तथ्यों का अन्तर है। बौद्धिक सुख, सौंदर्य का उपभोग आध्यात्मिक आनन्द अवश्य ही खाने पीने से प्राप्त सुखों में उच्चतर कोटि के हैं। बेन्थम सुखों में परिमाणात्मक (Quantitative) भेद मानता है गुणात्मक नहीं।

बेन्थम सुखों की व्यापकता (extensity) को मान्यता देने से सुखवादी परिगणना (Hedonistic calculation) को अत्यन्त जटिल बना देता है। हम दूसरों के सुखों को कैसे तोल सकते हैं? क्या हमें अपने सुखों की अपेक्षा दूसरों के सुखों को अधिक महत्व देना चाहिये? सुखवादी दृष्टिकोण से ऐसा करना अनुचित है। अपने सुख को छोड़कर दूसरों के सुख को महत्व देने का अर्थ है एक बिल्कुल नये मूल्य-निर्धारण के मानदण्ड का आश्रय लेना। अपने सुख की अपेक्षा दूसरों का सुख क्यों वरणीय होना चाहिये। इसका बेन्थम के पास कोई उत्तर नहीं है। इसके अतिरिक्त हम सम्पूर्ण मानव जाति के सुखों का हिसाब भी नहीं लगा सकते।

(१०) जे०एस० मिल का संस्कृत, गुणात्मक परसुखवाद अथवा उपयोगितावाद (Refined or Qualitative Altruistic Hedonism or Utilitarianism)—

सुखवाद—जे० एस० मिल सुखवादी है। उसका मत है, "कर्म उसी अनुपात में सत् हैं जिसमें वे सुख का उत्पादन करते हैं, असत् उस अनुपात में हैं जिसमें वे सुख का विपरीत परिणाम का उत्पादन करते हैं। सुख से अभिप्राय है "दुःख का

अभाव।" "सुख मानव व्यवहार का एक मात्र उद्देश्य है।" "सुख और दुःख से युक्तिलाभ ही वांछनीय लक्ष्य है।" इस प्रकार मिल की धारणा कि सुख ही एक-मात्र शुभ है। उसके अनुसार "सुख वांछनीय है, और यही एकमात्र वांछनीय वस्तु है जिसको लक्ष्य बनाया जा सकता है; सब अन्य वस्तुयें इस साध्य के लिये साधन रूप में वांछनीय हैं।" "आनन्द सुख तथा दुःख का अभाव है।" मिल सुख (Pleasure) और आनन्द (Happiness) का प्रयोग समान अर्थ में करता है। वह उनको एक दूसरे से भिन्न नहीं समझता। मिल ज्ञान, सदाचार, स्वास्थ्य इत्यादि को सुख के साधन समझता है। वह उनको स्वतः मूल्यवान नहीं मानता।

जे० एस० मिल सदसत् का सुखवादी लक्षण देता है। सत्कर्म वह है जो सुख देता है अथवा दुःख से अधिक सुख देता है। असत् कर्म वह है जो दुःख देता है अथवा सुख से अधिक दुःख देता है। यह विशद्ध सुखवाद है। वह सत् है जो सुख का साधन है, और असत् वह है जो दुःख का साधन है।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद— मिल मनोवैज्ञानिक सुखवाद को अपने सुखवाद का आधार बनाता है। उसने मनोवैज्ञानिक सुखवाद का प्रमाण इस प्रकार दिया है— "किसी वस्तु की इच्छा करना और उसे सुखद पाना शुद्ध भाषा में एक ही मनोवैज्ञानिक तथ्य को कहने के दो प्रकार हैं; किसी वस्तु को वाँछनीय विचारना और उसको सुखद समझना एक ही बात है; किसी वस्तु को तद्विषयक विचार की सुखप्रदता के अनुपात में इच्छा न करना एक मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक असम्भावना है।"[12] स्पष्ट शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ कि हम सदैव जिसकी इच्छा करते हैं सुखप्रद होता है। इसका निष्कर्ष यह हुआ कि हम सुख की इच्छा करते हैं।

नैतिक सुखवाद—जे० एस० मिल नैतिक सुखवाद का प्रचारक है। उसका नैतिक सुखवाद मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित है। सुखवाद का प्रमाण वह इस प्रकार देता है—हम सदैव सुख की इच्छा करते हैं, अतः सुख इच्छनीय है। उसके शब्दों में, "किसी वस्तु की दर्शनीयता का एकमात्र प्रमाण यह है कि लोग सचमुच उसे देखते हैं। किसी वस्तु के श्रवणीय होने का एकमात्र प्रमाण यह है कि लोग उसे सचमुच सुनते हैं। किसी वस्तु के वांछनीय होने का एकमात्र प्रमाण यह है कि लोग सचमुच उसे वांछनीय समझते हैं" सब लोग सुख की कामना करते हैं; अतः सुख काम्य है। सब लोग सुख की वांछा करते हैं; अतः सुख वांछनीय है।

सुख के प्रकार और गुण (Kinds of Pleasure)—जे० एस० मिल सुखों के प्रकार, भेद या गुणात्मक अन्तर करता है। सर्वप्रथम मिल ही परिमाण (Quantity) के अन्तर के अतिरिक्त गुण (Quality) के अन्तर को भी मान्यता देता है। एपिक्यूरस ने शारीरिक और मानसिक सुखों के भेद के ऊपर जोर दिया था और मानसिक सुखों को उनके स्थायित्व तथा कष्टप्रद फलों से अपेक्षाकृत मुक्त होने के कारण उच्च माना था। किन्तु उसने मानसिक सुखों की गुणात्मक उत्कृष्टता को स्वीकार

12. *Utilitarianism,"*

नहीं किया था। बेन्थम के लिये भी सब सुख एक ही प्रकार के हैं। यद्यपि बेन्थम सुख की विशुद्धता को मानता है, तथापि इसका अर्थ गुण की उच्चता नहीं है, बल्कि दुःख से अमिश्रित होना है। सबसे पहले मिल ही गुण के अन्तर से स्वतन्त्र और दोनों को समान रूप से वास्तविक मानता है। मिल सुखों के परिमाण तथा गुण दोनों को मानता है। गुण परिमाण में घटाया नहीं जा सकता।

मिल की उक्ति है, "इस तथ्य को स्वीकार करना कि कुछ प्रकार के सुख दूसरों की अपेक्षा अधिक वांछनीय और मूल्यवान् हैं, उपयोगिता के सिद्धांत के कदापि विरुद्ध नहीं हैं। यह युक्ति पूर्ण नहीं होगा कि जब सभी अन्य वस्तुओं के मूल्यांकन में गुण और परिणाम दोनों का ध्यान रखा जाता है, तो सुखों के मूल्यांकन में केवल परिणाम का ही ध्यान रखा जाये।"[13] अतः मिल की युक्ति को बेन्थम के स्थूल तथा असंयत उपयोगितावाद के विरुद्ध संयत तथा संस्कृत उपयोगितावाद कहा जाता है।

गुण की परीक्षा (Test of quality)—जे० एस० मिल के गुण प्रतीक्षा कर प्रकाश डाला है। वह योग्य निर्णायकों के निर्णय को ही इस सम्बन्ध में मान्य समझता है। मिल कहता है कि यदि कोई व्यक्ति, जो दो सुखों का अनुभव कर चुका हो, बिना किसी नैतिक बाध्यता को एक को दूसरे से अधिक पसन्द करता हो, ऐसा सुख वांछनीय है। निःसन्देह लोग उन सुखों को अधिक पसन्द करते हैं जिनमें उनकी उच्चतर शक्तियों का उपयोग होता है। ऐसे व्यक्ति विरले ही होंगे जो पाशविक सुख के पूर्ण उपभोग के लिये निम्न-श्रेणी के पशु बनना पसन्द करें। योग्य निर्णायिक सदैव शारीरिक सुखों की अपेक्षा बौद्धिक सुखों को अधिक पसन्द करते हैं। योग्य निर्णायकों के निर्णय की अपील के लिये कोई उच्चतर अदालत नहीं है। यदि उनमें मतभेद हो तो उनमें से बहुसंख्यकों का ही निर्णय मान्य होना चाहिये। उन्हीं का निर्णय अन्तिम होगा।

गौरव की भावना (Sense of dignity)—जब योग्य निर्णायकों के निर्णय के समर्थन में अन्तिम कारण बतलाने के लिये मिल के ऊपर जोर डाला जाता है तो वह मनुष्य के अन्दर पाई जाने वाली गौरव की स्वाभाविक भावना की ओर संकेत करता है। मनुष्य की गौरव की भावना ही इस बात का कारण है कि वह केवल ऐन्द्रिक सुखों के उपभोग में क्षम निम्न श्रेणी के प्राणियों में परिवर्तन हो जाने के लिये अपनी सम्मति कदापि नहीं देगा। "एक सन्तुष्ट सुअर होने की अपेक्षा एक असन्तुष्ट मानव बनना अधिक अच्छा है; एक तृप्त बेवकूफ की अपेक्षा अतृप्त सुकरात (Socrates) बनना अधिक श्रेयस्कर है—यदि एक बेवकूफ या सुअर का भिन्न मत हो, तो इसका कारण यह है कि वे केवल अपने विषय का ज्ञान रख सकते हैं। तुलना का दूसरा पक्ष दोनों पक्षों का ज्ञान रखता है।" (मिल)

मिल के पदार्थवाद का प्रमाण (Proof of Mill's altruism)—मिल का सुखवाद परार्थवादी है। बेन्थम भी परसुखवाद का मानने वाला है लेकिन

13. *Utilitarianism.*

उसने इसके समर्थन में कोई प्रमाण नहीं दिया। मिल संस्कृत उपयोगितावाद का समर्थक है, और कतिपय युक्तियाँ देता है, "उपयोगितावादी मानदण्ड कर्त्ता का अधिकतम सुख नहीं बल्कि सब मिलकर सुख की अधिकतम मात्रा है।"[14] जब अपने और दूसरे के सुख में से एक के चुनाव का प्रश्न उठे तो उपयोगितावाद चाहता है कि व्यक्ति निरपेक्ष होकर विचार करे। उपयोगितावाद नैतिकता का आदर्श है कि तुम्हें वही करना चाहिये जो तुम चाहो कि लोग तुम्हारे साथ करें, तथा अपने पड़ौसी को अपने समान प्यार करो।

मिल परार्थवाद के लिये निम्न प्रकार तार्किक युक्ति देता है। "इसका कोई कारण नहीं बताया जा सकता कि सामान्य सुख क्यों वांछनीय है। सिवाय इसके कि जहाँ तक व्यक्ति अपने सुख की प्राप्यता (availability) पर विश्वास करता है वहाँ तक उसी की इच्छा करता है। प्रत्येक व्यक्ति का सुख उसका हित है, अतः सामान्य सुख सब व्यक्तियों के समूह का हित है।" प्रत्येक व्यक्ति का सुख उसका हित है; अतः व्यक्ति समुदाय का सुख अथवा सामाजिक सामान्य सुख व्यक्ति-समुदाय का हित है।

सहानुभूति (Sympathy)—मिल स्वार्थवाद से परार्थवाद की ओर अग्रसर की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करता है। पदार्थ का विकास स्वार्थ से होता है। इस प्रक्रिया में रुचि साध्य के साधनों में स्थानान्तरित हो जाती है। आदि में हम सभी स्वार्थी थे और दूसरों के कष्टों की मुक्ति अपने ही कष्टों को दूर करने के हेतु करते थे। तब इसकी आवृत्ति होते-होते हमारी अपनी रुचि साध्य से साधन में स्थानान्तरित हो गई; हम अपने सुख को भूल गये और दूसरों के कष्टों का निवारण करने में सुख का अनुभव करने लगे। इस प्रकार हमने सहानुभूति का अर्जन अपने ही जीवन-काल में किया।

नैतिक आवेश (बाह्य और आन्तरिक) (Moral Sanction-external and internal)—मिल ने विभिन्न प्रश्नों का उत्तर दिया है जैसे—नैतिकता को बाध्य करने वाली शक्ति क्या है ? मैं क्यों सामान्य सुख की वृद्धि के लिये बाध्य बनूँ ? यदि मेरा अपना सुख किसी अन्य वस्तु में है, तो मैं इसी को क्यों न चुनूँ ? मिल परोपकार-मूलक व्यवहार के लिये दो प्रकार के आदेशों की कल्पना करता है—बाह्य और आन्तरिक। बेन्थम चार बाहरी आदेश मानता है—प्राकृतिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक। किन्तु अन्ततोगत्वा इन सब का आधार व्यक्ति का स्वार्थ है। अतः मिल इन बाहरी आदेशों के साथ अन्तःकरण का आन्तरिक आदेश भी जोड़ देता है। यह आन्तरिक आदेश मनुष्य-जाति के सुख की भावना है। यह भावना दूसरों की अनुभूतियों और दुःखों के प्रति अर्थात् मानव-जाति की सामाजिक भावनाओं के प्रति सम्मान का भाव है। यह अपने सहयोगी प्राणियों के साथ एकता स्थापित करने की इच्छा है जो सहज न होने पर भी निःसन्देह प्राकृतिक है, (मिल)। "मिल ने इसकी परिभाषा देते हुए कहा है कि "कर्त्तव्य के उल्लंघन से जनित दुःख की अनुभूति है।" यह अन्तःकरण का पाश्चाताप है।

---

14. *Utilitarianism.*

(११) संस्कृत उपयोगितावाद की समीक्षा
(Criticism of Refined Utilitarianism)

जे० एस० मिल के संस्कृत 'उपयोगितावाद' के विरुद्ध निम्नलिखित आपत्तियाँ की जा सकती हैं—

सुखवाद (Hedonism)— मिल का सिद्धान्त सुखवादी है। अत: सुखवाद की विरोधी सभी युक्तियाँ इस पर लागू होती हैं। "जीवन की सुखवादी परिकल्पना का आधार मानव-स्वभाव-विषयक एकांगी परिकल्पना है। मनुष्य को मौलिक रूप में केवल एक अनुभूतिशील प्राणी माना गया है; अत: उसके जीवन के लक्ष्य को भी अनुभूति की तृप्ति कल्पित किया गया है।"[15] किन्तु, जीवन का लक्ष्य पूर्ण आत्मा की तृप्ति अर्थात् बुद्धि और अनुभूति दोनों की तृप्ति होना चाहिये।

इसके अतिरिक्त आनन्द व सुख एक ही वस्तु नहीं हैं। म्यूरहेड के अनुसार, 'सुख वह भाव है जो इच्छाओं की तृप्ति के साथ पाया जाता है; आनन्द सम्पूर्ण आत्मा की तृप्ति से होता है, चाहे क्षणिक इच्छाओं की तृप्ति हो या न हो।' बेन्थम और मिल सुख और आनन्द के इस अन्तर को नहीं समझ सके। ऐन्द्रिय सुखों को तन्त्रबद्ध तथा बुद्धि द्वारा संयत करने से आनन्द उत्पन्न होता है। विभिन्न इच्छाओं की तृप्ति से क्षणिक सुख उत्पन्न होता है; परन्तु इच्छाओं के नियन्त्रण से स्थायी आनन्द उत्पन्न होता है। सुख आनन्द से सर्वथा भिन्न है।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद (Psychological Hedonism)—मिल अपने उपयोगितावाद का आधार मनोवैज्ञानिक सुखवाद को बताता है। अत: उसके सिद्धान्त में मनोवैज्ञानिक सुखवाद के दोष पाये जाते हैं। इच्छा का सीधा लक्ष्य सुख नहीं हैं, बल्कि इच्छाओं की पूर्ति का परिणाम है। जितना ही अधिक सुखान्वेषण किया जाता है उतना ही कम सुख मिलता है। यह मनोवैज्ञानिक सुखवाद का विरोधाभास है। मिल का मत है कि सर्वप्रथम चरित्र-गुण, सम्पत्ति इत्यादि सुख-प्राप्ति के साधनों के रूप में माने जाते हैं। इसके उपरान्त रुचि के साध्य से साधनों में स्थानान्तरित हो जाने के कारण उनकी स्वत: साध्यों के रूप में इच्छा होने लगती है। यह मत मनोवैज्ञानिक सुखवाद के लिये घातक है। इस प्रकार, मिल इच्छा के लक्ष्य सुख से भिन्न वस्तुओं का अस्तित्व भी स्वीकार करता है। किन्तु मनोवैज्ञानिक सुखवाद तो इस बात पर दृढ़ है कि इच्छा का नियम सदैव सुख होता है। पुन: यदि यह भी मान लिया जाये कि हम सुख की इच्छा करते हैं तो भी इससे यह सिद्ध नहीं होता कि सुख वांछनीय है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद से नैतिक सुखवाद का प्रतिपादन आवश्यक रूप से नहीं हो सकता।

नैतिक सुखवाद (Ethical Hedonism)—मिल नैतिक सुखवाद को सिद्ध करने के लिये निम्न युक्ति देता है—कोई वस्तु दृश्य है यदि लोग सचमुच उसे देखते हैं, कोई वस्तु श्रव्य है यदि लोग सचमुच उसे सुनते है, इसी प्रकार कोई वस्तु काम्य

15. *Ethical principles,*

है यदि लोग सचमुच उसकी कामना करते हैं। वास्तव में लोग सुख की कामना करते हैं। अतः सुख काम्य है। यह युक्ति अलंकारिक-भाषा-दोष से दूषित है। यह युक्ति 'काम्य' और 'जिसकी कामना की जा सके' दोनों को अभिन्न समझने की भूल करती है। 'काम्य' से अभिप्राय है जिसकी कामना करनी चाहिये, वह नहीं जिसकी कामना की जा सकती है। 'काम्य' इच्छा का स्वाभाविक विषय नहीं है, बल्कि इच्छा का उपयुक्त अथवा युक्ति संगत विषय है। इस सम्बन्ध में मैकेन्जी के विचार उपयुक्त हैं कि, "संसार में ऐसी वस्तु शायद ही कोई हो जिसकी इच्छा न की जा सके; इच्छनीय का अर्थ वह नहीं जिसकी इच्छा की जा सके बल्कि वह, जिसकी इच्छा की जानी चाहिये।"[16]

सुख का गुण (Quality of Pleasure)—मिल सुख के परिमाण (Quantity) के अतिरिक्त गुण (Quality) के भेद को भी स्वीकार करता है। उच्च मानसिक शक्तियों के सुख इन्द्रिय-तृप्ति-जनित सुखों की तुलना में उच्चकोटि के हैं। अतः सुखों का गुण मानव-प्रकृति की उत्कृष्टता पर आश्रित है। सुख का गुण नैतिक गुण से भिन्न नहीं है। वही सुख उत्कृष्ट है जो हमारी उच्चतर प्रकृति अथवा नैतिक प्रकृति को मान्य है। किन्तु इस तथ्य को स्वीकार कर लेना सुखवादी सिद्धान्त को तिलांजली दे देना है। मिल सुखों के गुणात्मक-भेद को स्वीकार करने से अपने सिद्धान्त में बुद्धि-परकतावाद के एक अंश का समावेश कर देता है। उसके शब्दों में, 'पाशविक-सुख की पूर्ण प्राप्ति की आशा में कुछ ही मनुष्य निम्न-कोटि के पशु बनना पसन्द करेंगे।"[17] इस लिये वह यह स्वीकार करता है कि कभी-कभी मनुष्य सुख से भिन्न कोई अन्य वस्तु भी चाहता है। मिल के बुद्धि के सुखों को पाशविक सुखों से उच्चतर कोटि के मानने के सिद्धान्त का आधार सुखों को तीव्रता न होकर उनकी नैतिक उत्कृष्टता ही है। यदि कुछ सुखों को अन्य सुखों की अपेक्षा अधिक वांछनीय मानने का आधार उनकी तीव्रता से भिन्न उनकी उत्कृष्टता है, तो सुखवादी परिकल्पना को त्याग देना पड़ेगा। इस प्रकार, चूंकि गुण की कसौटी सुखवाद से बाहर की कसौटी है इसलिये सुखवाद निर्बल हो जाता है और उसमें बुद्धि-परकतावाद का समावेश हो जाता है। पुनः सुखों के गुण अथवा प्रकार को मान लेने से मिल के मनोवैज्ञानिक सुखवाद का आधार भी निर्बल पड़ जाता है। यदि हम सुख के उत्कष्ट गुण चाहते हैं, तो हम सुख नहीं चाहते। रैशडैल की उक्ति ठीक ही है कि, "सुख के उत्कृष्टतर गुण की इच्छा सुख की इच्छा नहीं।"[18] अतः सुख का गुणात्मक भेद मनोवैज्ञानिक सुखवाद का विरोधी है।

गुण की परीक्षा (Test of Quality)—गुण की कसौटी क्या है ? जब मिल गुण की पहचान के लिये योग्य निर्णायकों का मुखापेक्षी है तो इससे यह एक स्वच्छन्द व्यापार हो जाता है। यदि योग्य निर्णायकों का निर्णय स्वच्छन्द नहीं है, तो उसे

---

16. *Manual of Ethics*, p. 166.
17. *Utilitarianism*.
18. *Theory of Good and Evil*.

युक्ति-संगत होना पड़ेगा। इस प्रकार् बाह्य निर्णायकों का फैसला अन्त:करण की आवाज बन जाता है।

गौरव की भावना (Sense of Dignity)—जब मिल गुण की उत्कृष्टता की वास्तविक कसौटी को ढूँढ़ने के लिये अधिक गहराई में उतरता है, तो वह गौरव की भावना की ओर संकेत करता है। मिल यह स्पष्ट नहीं कर सका कि यह इन्द्रिय-अनुभव-शक्ति का गौरव है अथवा बुद्धि का ? इसको सुखेच्छा में हल नहीं किया जा सकता। मनुष्य की स्वाभाविक गौरव की भावना बुद्धि का गौरव है, इन्द्रियानुभव का नहीं। पुन: यहाँ भी मिल के सिद्धान्त में बुद्धि-परकतावाद प्रवेश कर जाता है।

परार्थवाद (Altruism)—मिल का सुखवाद परोपकारमूलक है। इसके समर्थन में उसकी युक्ति इस प्रकार है—"प्रत्येक व्यक्ति का सुख उसका हित है; अत: सबका सुख (सामान्य सुख) सबका हित है।" इसके अतिरिक्त सबका सुख सबका हित होने के नाते सबका सुख प्रत्येक का हित है। यहाँ पर दो दोष हैं: संग्रह दोष और विग्रह-दोष। उसकी प्रथम युक्ति है—

प्रत्येक व्यक्ति का सुख उसका हित है।

∴ सामान्य सुख सब व्यक्तियों के समूह का हित है।

इस युक्ति में संग्रह दोष (Fallacy of composition) है, क्योंकि हम आधार वाक्य में सुखों व हितों का व्यष्टि अर्थ में प्रयोग करते हैं और निगमन से समष्टि-अर्थ में। सुखों का समूह कदापि सुख नहीं है। व्यक्तियों का समूह कोई व्यक्ति नहीं होता। सुखों को जोड़ा नहीं जा सकता। व्यक्तियों के मनों का भी एक समूह नहीं बनाया जा सकता। मिल की दूसरी युक्ति है—

सामान्य सुख सब व्यक्तियों के समूह का हित है।

∴ सामान्य सुख प्रत्येक व्यक्ति का हित है।

इस युक्ति में विग्रह-दोष (Fallacy of division) है क्योंकि हम आधार वाक्य में सुख व हित का समष्टि-अर्थ में प्रयोग करते हैं और निगमन में व्यष्टि-अर्थ में। मिल ने इसकी स्पष्टोक्ति नहीं।

सुखवाद परोपकारमूलक नहीं हो सकता—युक्तिपूर्वक आत्म-सुखवाद से पर-सुखवाद का प्रतिपादन नहीं हो सकता। सुखवाद के दृष्टिकोण से ऐसा कोई भी कारण नहीं है जिसके लिये व्यक्ति परसुख के हेतु आत्म-सुख को छोड़ दे। यदि दूसरों लिये सुख अनुसंधान करने में हम अपना सुख-लाभ न करें तो हम सुखवादी नहीं हैं। तर्क-सम्मत् सुखवाद सदा स्वार्थी होगा। मार्टिन्यू का यह कथन कि, "प्रत्येक अपने लिये से 'प्रत्येक सबके लिये' को कोई मार्ग नहीं है", यथार्थ है। मिल मनोवैज्ञानिक सुखवाद का अनुयायी है। उसके अनुसार हम सदैव सुख की कामना करते हैं। ऐसा होने पर हम अपने ही सुख की कामना करते हैं। दूसरों के सुख की कामना असम्भव है क्योंकि वह हमारे सुख से एकाकार नहीं है। अत: मनोवैज्ञानिक सुखवाद का पर-सुखवाद से विरोध है।

सहानुभूति (Sympathy)—सहानुभूति एक विशुद्ध परोपकारमूलक अनुभूति है। उसका उद्भव विशुद्ध स्वार्थ या आत्म-प्रेम से नहीं हो सकता। रुचि-परिवर्तन और विचार-साहचर्य के नियमानुसार केवल स्वार्थ का स्वामी पदार्थ में ही परिवर्तन सम्भव है विशुद्ध पदार्थ में नहीं। मानव-स्वभाव में स्वार्थी और परार्थी दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण है। यहाँ तक कि, निम्न श्रेणी के पशुओं में भी आत्म-रक्षण और जाति रक्षण की मूल प्रवृत्तियाँ हैं। माता अपने शिशु के हित के लिये अपना अहित और मृत्यु तक को वरण कर लेती है। "मनुष्य और पशु को सदैव आत्म-रक्षण और जाति-रक्षण सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ रहीं हैं।"[19] अतः यह कथन कि व्यक्ति के जीवन-काल में ही मनोवैज्ञानिक नियमों के अनुसार परार्थ-भावना का विकास स्वार्थ-भावना से होता है, असंगत है।

नैतिक आदेश (बाह्य या आन्तरिक)—मिल नैतिक बाध्यता या कर्त्तव्य बुद्धि की युक्ति-संगत व्याख्या नहीं कर सकता। बाह्य आदेश (External Sanction) कर्त्तव्य-बुद्धि की समुचित व्याख्या नहीं कर सकते। बाह्य आदेश 'करना होगा' की सृष्टि तो कर सकते हैं किन्तु 'करना चाहिये' की कदापि नहीं। बाह्य आदेश बलप्रयोग हैं, यह भौतिक बाध्यता को उत्पन्न कर सकते हैं, नैतिक बाध्यता को उत्पन्न नहीं कर सकते।

मिल बाह्य आदेशों के साथ आन्तरिक, अन्तःकरण के आदेश (Internal Sanction) कर देता है। किन्तु, जब वह अन्तःकरण के आन्तरिक आदेश का आह्वान करता है तो उसके सुखवाद की नींव हिल जाती है और उसमें बुद्धिपरकतावाद का समावेश हो जाता है। मिल के अनुसार आन्तरिक आदेश सहानुभूति अथवा मनुष्य-जाति से एकता की आत्मगत भावना है। किन्तु केवल आत्मगत-भावना ही नैतिक बाध्यता का उद्गम नहीं हो सकती, और न ही नैतिक प्रमाण का। कहीं-कहीं मिल आन्तरिक आदेश को "कर्त्तव्य के उल्लंघन से जनित दुःख कहता है। यह दुःख अथवा आत्म-ग्लानि का भाव कर्त्तव्य से च्युत होने का फल है। कर्त्तव्य का अतिक्रमण बुद्धि के नैतिक नियम का अतिक्रमण है। अतः मिल नैतिक प्रमाण के रूप में बुद्धि और आह्वान करता है, और अपने सिद्धान्त में बुद्धि परकतावाद का समावेश कर देता है। आन्तरिक आदेश बुद्धि का प्रमाण है, सुख या दुःख का अभाव नहीं है।

सुखवादी परिगणना (Hedonistic Calculus)—मिल सुखवादी परिगणना को अत्यधिक अव्यवहार्य बना देता है। आत्मगत सुख-दुखों का जो कि नितान्त चंचल और आकस्मिक होते हैं भलीभाँति हिसाब नहीं लगाया जा सकता। सुखवादी परि-गणना के सिद्धान्त को "बहुसंख्यक का अधिकतम-सुख" में लागू करना तो और भी कठिन है। बेंथम की मान्यता है कि "प्रत्येक मनुष्य दूसरों की अपेक्षा अपने निकटतर है, और अन्य कोई भी उनके सुख-दुख को नहीं तौल सकता।" यदि यह सत्य है तो बहुसंख्यक का अधिकतम सुख कैसे नाप सकते हैं? पुनः जो मुझे रुचिकर लगता

19. रैशडैल : शुभाशुभ के सिद्धान्त जि० २०; पृष्ठ ३२।

है, दूसरे के लिये अरुचिकर हो सकता है, और जो मुझे अभी आनन्ददायक है वही कालान्तर में कष्टदायक लग सकता है। फलतः यह कैसे कहा जा सकता है कि सुखवादी परिगणना व्यवहार्य है ? इसमें मिल के द्वारा सुख में गुणभेद को स्वीकार कर लेने पर और भी कठिनाई पैदा हो जाती है। हम गुण अथवा परिमाण की वृद्धि को परिमाण अथवा गुण की न्यूनता से संयुक्त नहीं कर सकते। "यदि हम सुखों के गुणात्मक भेदों को स्वीकार करते हैं, तो सुख और उनके योगों का वाँछनीयता के निश्चित क्रम में विन्यास असम्भव है। गुणों की परिमाणों से तुलना नहीं हो सकती, जब तक कि उनको परिमाणों में किसी तरह परिणत न कर दिया जाये—और यह मिल के अनुसार असम्भव है।"[20] इस प्रकार मिल सुख के गुणों को मान्यता देकर सुखवादी परिगणना को अत्यधिक अव्यवहार्य कर देता है। मिल ने सुख और दुःख को भावात्मक सिक्कों के रूप में समझा, जिनका योग, अन्तर और गणना की जा सकती है। किन्तु, यह यथार्थ नहीं है। आन्तरिक भावों की परिगणना नहीं हो सकती।

(१०) उपयोगितावाद के गुण (Merits of Utilitarianism)—

बेंथम, जे० एस० मिल और अन्य विद्वानों ने "अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख" पर जोर देकर इस शताब्दी में कानूनी और राजनैतिक सुधारों की बहुत सेवा की। किन्तु इसका ठीक-ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि इन सुधारों को किसने प्रेरित किया— उपयोगितावाद के सुखवादी तत्व ने अथवा प्रजातन्त्रवादी तत्व ने; और किस सीमा तक ?

बेंथम तथा उसके अनुयायियों ने सामाजिक न्याय के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण सुधारों को प्रभावित किया। "अधिकतम संख्या का अधिकतम सुख" और प्रत्येक की गिनती एक है, एक से अधिक किसी की नहीं", इन पुकारों ने रूढ़ सामाजिक प्रगति को अनुचित रूप से शारीरिक आरामतलबी के साथ एकाकार कर दिया। आनन्द को उन्होंने दैहिक सुख समझा। उन्होंने बौद्धिक सौन्दर्य-विषयक तथा धार्मिक मूल्यों पर, और चरित्र, प्रेम, मैत्री तथा अन्य शुभों के स्वकीय मूल्य पर अत्यल्प बल दिया। उन्होंने उच्चतर सांस्कृतिक प्रश्नों की अवहेलना की। आर्थिक शुभ से उनके ध्यान और विचार को अपेक्षाकृत अधिक आकर्षित किया।

उपयोगितावाद परसुखवाद है। यह परोपकार पर बल देता है। इसके अनुसार सामान्य सुख लक्ष्य है। यह मत स्वार्थ पर आधारित सुखवाद की अपेक्षा उत्कृष्टतर है। सुखों का गुण भेद यथार्थ है। बौद्धिक सुख इन्द्रिय-जन्य सुख से उत्कृष्टतर है। इसमें गुणगत श्रेष्ठता है। बौद्धिक जीवन इन्द्रियपरक जीवन से श्रेयस्कर है।

मनुष्य का भौतिक आराम, क्षुधा-तृष्णा की निवृत्ति, रोक की चिकित्सा, स्वास्थ्य, गृह, सम्पत्ति आदि नैतिक जीवन में अत्यावश्यक उपादान हैं। यह स्वीकार्य है।

20. मैकेंजी : नीति-शास्त्र, पृष्ठ १७६।

६ सुखवाद में उदविकासवाद

(१) उद्विकासात्मक सुखवाद (हर्बर्ट स्पेन्सर)
(Evolutionary Hedonism)

नीति में विकासवाद—बेन्थम और मिल का सुखवाद अनुभव मूलक सुखवाद कहलाता है। हर्बर्ट स्पेन्सर, लेस्ली स्टीफैन तथा सैमुएल अलैक्जेण्डर का सुखवाद विकासात्मक-सुखवाद कहलाता है। विकासवाद के सिद्धान्त को सर्वप्रथम नीति में लागू करने का श्रेय हर्बर्ट स्पेन्सर को है। नैतिकता का क्रमविकास पशुओं के नैतिकताहीन व्यवहार से हुआ है। यह अभिवृद्धि और क्रमविकास के नियमों से आबद्ध है। विकास का 'अन्त' और 'आदि' हमसे छिपे हुये हैं। हम केवल पशु-जीवन के वर्तमान रूपों को देखते हैं। पशु-जीवन के निम्नतम रूप हमारी दृष्टि से ओझल हैं। दूर भविष्य में उसका क्या रूप होगा यह भी हमें ज्ञात नहीं है। जाति के क्रमविकास के आदि और अन्त दोनों हमारी दृष्टि से छिपे हैं, इसलिये, नैतिक चेतना का आरम्भ अतीत के गर्भ में है, और पूर्णतया विकसित नैतिक जीवन की भी स्पष्ट कल्पना हम नहीं कर सकते। हम केवल नैतिक विकास की वर्तमान स्थिति जानते हैं। इसका आरम्भ जाने बिना इसे समझना हमारे लिये दुष्कर है।

उद्विकासवादी इसकी व्याख्या इसके प्रारम्भ से करते हैं, और इसलिये वे ऐतिहासिक पद्धति का आश्रय लेते हैं। आदर्शवादी (हेगल, ग्रीन तथा अन्य) इसकी व्याख्या चरम उद्देश्य अथवा आदर्श से करते हैं। वे उद्देश्य पद्धति का अनुसरण करते हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर नैतिकता के प्रारम्भ को पशुओं के व्यवहार में ढूंढता है।

हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) (1820–1903) अपनी पुस्तक 'डेटा ऑफ ईथिक्स' *(Data of Ethics)* में नैतिक नियमों को जैविक नियमों से अनुमित करता है। बेन्थम और मिल सुख-दुःख के अनुभव से प्राप्त आगमन या सामान्यीकरण से नैतिक नियमों को व्युत्पन्न करते हैं। वे अनुभवमूलक सुखवाद के प्रवर्त्तक हैं। किन्तु, स्पेन्सर सुखवाद को जैविक क्रमविकास के नियमों से व्युत्पन्न करता है। उसका सुखवाद विकासात्मक अथवा निगमनात्मक कहलाता है। स्पेन्सर के मतानुसार, नीति-विज्ञान का कार्य जीवन के नियमों से यह अनुमित करने का है कि कौन-से कर्म सुख का उत्पादन करते हैं और कौन से दुःख का उत्पादन करते हैं। यही निगमन व्यवहार के पथ-प्रदर्शन के लिये नियम माने जाने चाहियें। स्पेन्सर का सुखवाद वैज्ञानिक कहलाता है। नैतिकता क्रमविकास का परिणाम है। इसे केवल विकास के ही प्रकाश में समझा जा सकता है। ग्रीन विकासात्मक सुखवाद को 'नीति का प्राकृतिक विज्ञान' (Natural Science of Morals) कहता है। यह नैतिक व्यापार को सृष्टि के व्यापार से संयुक्त कर देता है। यह नैतिकता को जगत व्यापार के विकास का अन्तिम रूप समझता है।

व्यवहार (Conduct) : **सत् या असत्**—हर्बर्ट स्पेन्सर नैतिकता का प्रारम्भिक रूप पशुओं के व्यवहार में देखता है। उसके मत से व्यवहार कर्मों से उद्देश्यों से समायोजन का नाम है। व्यवहार से अभिप्राय उन प्रक्रियाओं से है, जो जीव को वातावरण से समायोजित करती हैं। जीवन का तत्व "आन्तरिक सम्बन्धों का बाह्य सम्बन्धों से निरन्तर समायोजन" में अर्थात् जीव के अपने को वातावरण से समायोजित करने के सतत् प्रयत्न में है। सभी व्यवहार इसी प्रकार के समायोजन की अभिवृद्धि और अवरोध करने की क्षमता रखते हैं। यदि उनसे वृद्धि होती है तो व्यवहार सत् है, यदि अवरोध होता है तो वह असत् है। इस प्रकार शरीर का परिस्थिति में सम्यक् समायोजन सत् कर्म कहलाता है तथा शरीर का परिस्थिति से समायोजन का अभाव असत् कर्म कहलाता है।

सद्व्यवहार से सुख की उत्पत्ति होती है, क्योंकि उससे जीव का वातावरण से सामंजस्य स्थापित हो जाता है। असत्-व्यवहार दु:ख इसीलिये पैदा करता है कि वह जीव को वातावरण से समायोजित करने में असफल सिद्ध होता है। प्राय: सभी व्यवहार अंशत: सत् और अंशत: असत् होता है। पूर्ण-रूपेण सत् व्यवहार वही होता है जो दु:ख से रहित सुखमात्र को जन्म देता है। व्यवहार को अपेक्षाकृत सत् उस समय कहा जाता है जब वह दु:ख से अधिक सुख देता है अथवा जीव का वातावरण से अधिक पूर्ण समायोजन करता है। इसी प्रकार व्यवहार को अपेक्षाकृत असत् उस समय कहा जाता है जब वह सुख से अधिक दु:ख देता है, अथवा जीव का वातावरण से अधिक अपूर्ण समायोजन करता है। इस प्रकार, सत व्यवहार जीवन का उत्कर्ष करता है और असत् व्यवहार उसका अपकर्ष करता है। अत: जीवन की प्रगति अथवा अवगति व्यवहार के सदसत् होने के कारण हैं।

सुख-दु:ख का जैविक महत्व हर्बर्ट स्पेन्सर ने सुखवाद जीवन विज्ञान की नींव पर किया। उनके मत से सुख जीवन शक्ति-वृद्धि का सूचक हैं, और दु:ख जीवन शक्ति-क्षय का सूचक। स्पेन्सर के अनुसार, "उद्विकासवाद की परिकल्पना से यह अनिवार्य अनुमान निकलता है कि दु:ख जीवन के लिये हानिकारक कर्मों से सम्बन्धित है, और सुख उसके मंगल-साधन कर्मों से। चेतनायुक्त प्राणियों का उद्भव किसी भी अन्य स्थिति में सम्भव न होता। केवल वह जातियाँ जीवित रह पाई हैं जिनसे साधारणत: वांछनीय भाव जीवन की रक्षणात्मक प्रक्रियाओं के साथ रहे और अवाँछनीय भाव ध्वंसात्मक प्रक्रियाओं के साथ रहे।" सुखप्रद कर्म जीवन की रक्षा करते हैं, दु:खप्रद कर्म उसका विनाश करते हैं। यही नियम चेतनायुक्त-प्राणी सृष्टि का आधार है। पशु स्वाभाव: सुखान्वेषण और दु:ख-त्याग करते हैं। यदि सुख जीवन शक्ति का क्षय और दु:ख उसकी वृद्धि करता तो प्राणी स्वयं अपने विनाश के कारण होते। किन्तु प्राणी आज तक जीवित हैं। अत: स्पेन्सर ने यह अनुमान निकाला है कि सुख जीवन-साधक है, और दु:ख जीवन-बाधक है। सुख-जीवन-वर्धक है, दु:ख जीवन-नाशक है।

उच्चतम लक्ष्य : सुख सन्निकट लक्ष्य : जीवन का विस्तार—कर्मों का अच्छा या बुरा होना उनके निश्चित लक्ष्यों से सुसमायोजित अथवा कुसमायोजित होने पर निर्भर करता है। अन्ततः उनकी अच्छाई-बुराई का निर्णय छोटे लक्ष्यों का आत्म-रक्षण और जातिरक्षण के महान् लक्ष्य में विलय कर लेने से होता है। हर्बर्ट स्पेन्सर एक सुखवादी है। जीवन का अन्तिम लक्ष्य सुख है; किन्तु सन्निकट लक्ष्य जीवन की लम्बाई-चौड़ाई (Length and breadth of Life) है। लम्बाई जीवन का स्थित-काल है; चौड़ाई उसकी जटिलता (Complexity) है। स्पेन्सर कहता है कि आत्म-रक्षण की दिशा में जो क्रमविकास होता है उसकी सीमा व्यक्ति के जीवन का अधिकतम विस्तार है। इसका साधन कर्म शुभ होता है और बाधक कर्म अशुभ होता है। पूर्ण विकास तभी होता है जब अपना और अन्यों का जीवन विस्तार अधिकतम हो जाता है। जैविक उत्क्रान्ति के चरम लक्ष्य आत्म-रक्षण और जाति-रक्षण हैं। ये ही नैतिकता के सन्निकट लक्ष्य हैं। व्यक्ति और जाति के जीवन की लम्बाई-चौड़ाई में अभिवृद्धि नैतिकता का निकटस्थ लक्ष्य है। चरम लक्ष्य सुख है, किन्तु उसका पूर्ण लाभ उसी समय प्राप्त किया जा सकता है जबकि उसे पृष्ठभूमि में रखा जाये और ध्यान उसके हेतुओं के ऊपर केन्द्रित हो। स्पेन्सर और उपयोगितावादी सुख को जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानने के विषय में एक मत हैं। अनुभूति की वाँछनीयता के लिये सुख अनिवार्य तत्व है अतः सुख ही सम्पूर्ण सुख है।[1] स्पेन्सर के अनुसार "शुभ का सब के लिये सुखप्रद होना स्वीकार्य है," इस प्रकार चरम लक्ष्य सुख है, निकटस्थ लक्ष्य जीवन का संरक्षण और विकास है।

नैतिकता-चेतना का जन्म (Genesis of Moral Consciousness)—'नैतिक चेतना के जन्म' का उद्देश्य जानने में स्पेन्सर का ज्ञान होता है कि नैतिक चेतना का विशिष्ट लक्षण कुछ भावनाओं द्वारा कुछ अन्य भावनाओं का नियन्त्रण है। स्पेन्सर की धारणा है कि जीवन से सुसंरक्षण के लिये मानव-प्रकृति के ऊपर किसी प्रकार से बाहरी दबाव का प्रभाव होना चाहिये। बाहरी दबावों का वह राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक नियन्त्रण कहता है बेन्थम ने इसे बाह्य आदेश की संज्ञा दी है। वह एक आन्तरिक नियन्त्रण का भी जिक्र करता है; जिसे वह नैतिक नियन्त्रण कहता है। वास्तविक नैतिक प्रवर्तक तो नैतिक बाध्यता अथवा कर्त्तव्य-भावना है (मिल का आन्तरिक आदेश)। यह सत् कर्म का प्रवर्त्तक है तथा असत् कर्म का निवर्तक है।

कर्त्तव्य-भावना (Sense of Duty) अथवा नैतिक (Moral Obligation) की अनुभूति—कर्त्तव्य-बुद्धि अथवा नैतिक बाध्यता की अनुभूति में दो तत्वों का समावेश होता है—(१) प्रभुत्व (Authoritativeness) और (२) बाध्यता (Coercion)।

कर्त्तव्य की अमूर्त चेतना में बाध्यता का तत्व सन्निहित है। इसका उद्भव

1. *Theory of Good and Evil*, Vol II, p 379.

प्राक्-नैतिक नियन्त्रणों (Premoral Control) तथा राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक नियन्त्रणों के अनुभव से होता है। कर्त्तव्य-बुद्धि अथवा नैतिक बाध्यता का कारण विशेषतया व्यक्ति का समाज से अपूर्ण समायोजन है। स्पेन्सर का विचार है कि नैतिक चेतना का ज्ञान उसका स्थायी लक्षण नहीं है। वह कहता है, "कर्त्तव्य-बुद्धि अथवा नैतिक बाध्यता अल्पस्थायी है। जितनी शीघ्रता से नैतिकीकरण की वृद्धि होती है उतनी ही शीघ्रता से उसकी भी कमी होगी। आरम्भ में उद्देश्य में नैनिक बाध्यता निहित होती है, अन्त में यह तत्व तिरोहित हो जाता है, कर्म का सम्पादन उसे करने की बाध्यता के ज्ञान के बिना ही होने लगता है। इस प्रकार, शुरू में जो कर्म 'इसे करना चाहिये' की भावना से किया जाता है, कालान्तर में वह कर्म नैतिक बाध्यता की भावना से विछिन्न हो सकता है।"[1] चूंकि बाध्यता के ज्ञान की उत्पत्ति व्यक्ति के अपने जीवन के सामाजिक वातावरण से अपर्याप्त समायोजन से होती है, उससे पूर्ण समायोजन हो जाने पर बाध्यता का तत्व पूर्णतया तिरोहित हो जायेगा और सत्कर्म संतोष की साधारण भावना के साथ अभ्यासजन्य कर्म के तुल्य सम्पन्न होगा। नैतिक बाध्यता नैतिक चेतना का आवश्यक तत्व नहीं है। नैतिक उद्-विकास की अन्तिम दशा में नैतिक बाध्यता बिल्कुल लुप्त हो जायेगी। नैतिक बाध्यता नैतिक चेतना का परिवर्तनशील अनावश्यक तत्व है।

स्वार्थ और परमार्थ (Egoism and Altruism)—समाज और व्यक्ति के हितों का संघर्ष, जो नैतिक बाध्यता की भावना को जन्म देती है निरपेक्ष और स्थायी नहीं है। स्वार्थ परार्थ दोनों के अपने अधिकार हैं। आत्म-रक्षण और आत्मोत्सर्ग मानव-स्वभाव में समान रूप से विद्यमान हैं। जाति के क्रमविकास में परार्थ का विकास स्वार्थ के साथ ही होता है। स्पेन्सर के अनुसार स्वार्थ और परार्थ विकास के आरम्भ मे ही परस्परालम्बी रहे हैं। यदि 'जीवन अपने लिये, का सिद्धान्त असत् है तो जीवन दूसरों के लिये' का सिद्धान्त भी असत् है। दोनों का समन्वय ही एकमात्र शुभ है। "परार्थ और स्वार्थ का समन्वय क्रमिक रूप से अपना स्थापन करता आया है।" लोग प्रायः समझने लगे हैं कि सामान्य सुख की प्राप्ति मुख्यतया व्यक्तियों के द्वारा अपने सुख के पर्याप्त अनुकरण से हो सकता है और व्यक्तिगत सुख की प्राप्ति आंशिक रूप से उनके द्वारा सामान्य सुख के अनुकरण से। नितान्त स्वार्थ और नितान्त-स्वार्थ-त्याग समान रूप से आत्मघातक हैं। यदि व्यक्ति सम्पूर्ण स्वार्थ-परक हो तो उसका विनाश अवश्यम्भावी होगा। यदि यह पूर्णतया परार्थपरक हो तो भी उसका विनाश अवश्यम्भावी होगा। स्वार्थपरकता और परार्थपरकता का समन्वय मनुष्य जीवन का आधार है।

निरपेक्ष नीति-शास्त्र (Absolute Ethics)—हर्बर्ट स्पेन्सर निरपेक्ष नीति शास्त्र और आपेक्षिक नीति-शास्त्र में अन्तर बतलाता है। निरपेक्ष नीति-शास्त्र उस स्थिति में होने वाले व्यवहार को निश्चित करता है जबकि व्यक्ति का वातावरण से

1, *Data of Ethics.*

पूर्ण समायोजन हो जाता है। आपेक्षिक नीति-शास्त्र एक विशेष समाज में स्थित व्यक्ति-विशेष के अपूर्ण समायोजन की स्थिति-विशेष में किये जाने वाले व्यवहार को निर्धारित करता है। केवल वही निरपेक्ष रूप से सत् है जो विशुद्ध सुख जिसमें दुःख का मिश्रण न हो की अभिवृद्धि करता है। आपेक्षिक नीति-शास्त्र प्रायः दो अशुभ को स्वीकार करता है। निरपेक्ष नीति-शास्त्र के आदेश केवल पूर्णतया विकसित समाज में ही मान्य हैं।[1]

हर्बर्ट स्पेन्सर का विश्वास है कि एक समय ऐसा आयेगा जबकि व्यक्तियों का समाज से पूर्ण समायोजन हो जायेगा और व्यक्तियों और समाज के हितों के मध्य कोई भेद नहीं रहेगा। उस समय सहानुभूति में कोई दुःख का लेश नहीं रहेगा, नैतिक बाध्यता की भावना पूर्णतया लुप्त हो जायेगी, और सभी धर्म अनायास हो जायेंगे। उस समय स्वर्गराज्य का स्वप्न सत्य हो जायेगा, तथा शाश्वत शान्ति और सामंजस्य का युग अवतरित हो जायेगा, पूर्ण समाज के स्वार्थ और परार्थ के मध्य कोई अन्तर नहीं रहेगा, प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक हित का अन्वेषण करेगा।

सर्वप्रथम विकास के सिद्धान्त को नीति में लागू करने का श्रेय स्पेन्सर को है। वह नैतिकता के बीज को पशुओं के व्यवहार में खोजता है। उसके अनुसार जीवन-जीवन शक्ति के वातावरण से अवरित समायोजन में निहित है। व्यवहार जीव के वातावरण से समायोजन का अथवा जीवन-क्रिया का नाम है। वही व्यवहार शुभ होता है जो जीवन और वातावरण के सामञ्जस्य का उत्कर्ष करता है और सुख की वृद्धि करता है। सामंजस्य का पालक और दुःख देने वाला व्यवहार असत् है। सुख जीवन वृद्धि का लक्षण है और दुःख उसके क्षय का लक्ष्य है। वही व्यवहार पूर्णतया शुभ है जो दुःख से रहित सुख की उत्पत्ति करता है। जो व्यवहार दुःख से अधिक सुख का उत्पादन करता है वह अपेक्षाकृत शुभ है। जीवन का सन्निकट लक्ष्य उसके धैर्य तथा विस्तार की वृद्धि है। चरम लक्ष्य सुख की उपलब्धि है। क्योंकि सुख को सीधा लक्ष्य बनाने से सुख की प्राप्ति सम्भव नहीं है अतः इसे चरम लक्ष्य को पृष्ठभूमि में रखना होगा और सन्निकट लक्ष्य को ही सीधा लक्ष्य बनाना होगा। नैतिक चेतना एक बड़ी सीमा तक राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक और नैतिक नियन्त्रणों का फल है। नैतिक बाध्यता अल्पस्थायी है। नैतिक बाध्यता के अल्पस्थायी होने का कारण व्यक्ति का समाज में अपूर्ण समायोजन है। जब व्यक्ति का समाज में समायोजन पूर्ण हो जायेगा तो नैतिक बाध्यता नहीं रहेगी। धर्म या चरित्रगुण अनायास होंगे। इस प्रकार स्पेन्सर स्वर्गराज्य में आस्था रखता है। उसका विश्वास है कि पृथ्वी पर स्वर्ग का अवतरण हो जायेगा और परार्थ का विरोध-भाव समाप्त हो जायेगा।[2]

(२) हर्बर्ट स्पेन्सर के उद्विकासात्मक सुखवाद की समीक्षा
(Criticism of Herbert Spencer's Evolutionary Hedonism)—

उद्विकास का सिद्धान्त नैतिकता की प्रगति का स्पष्टीकरण तो कर सकता

1. T. E. Hill, *Ethics in Theory and Practice*, 1956, p. 107.
2. Rogers, *History of Morals*, pp. 261—69.

है परन्तु उसके प्रारम्भ का नहीं। क्रम-विकास के विचार को नैतिकता पर लागू करके हर्बर्ट स्पेन्सर वास्तविक से आदर्श को अर्थात् 'होता है' से 'होना चाहिये' की प्राप्ति का प्रयास करता है। किन्तु यह असम्भव है। उद्विकास द्वारा एक सर्वथा नवीन वस्तु की सृष्टि नहीं की जा सकती। वह तो केवल अव्यक्त को व्यक्त कर सकता है। नैतिकता का उद्विकास नैतिकताहीन तत्वों से, विवेक का नैतिकताहीन-मूल-प्रवृत्तियों से कदापि नहीं हो सकता। नैतिक मूल्य का जैविक तत्वों से उद्विकास होना असम्भव है। नीति-शास्त्र में उद्विकासात्मक अथवा ऐतिहासिक पद्धति काम नहीं दे सकती; उसके स्थान पर उद्देश्य-मूलक पद्धति का प्रयोग होना चाहिये। नैतिक जीवन आदर्श के द्वारा शासित है और इसीलिये वास्तविक तथ्य उसका स्पष्टीकरण नहीं कर सकता। नीति-शास्त्र एक नियामक विज्ञान है : यह मनुष्य जीवन की नैतिक आदर्श से व्याख्या करता है। तथ्यों से आदर्श का उद्विकास नहीं हो सकता।

मैकेन्जी के अनुसार स्पेन्सर के सिद्धान्त में हेतुसाध्य-विवर्त है। यह कहने से तात्पर्य यह है कि विकास का अर्थ वातावरण से अवतरित समायोजन है; हम व्यक्ति के वातावरण से समायोजन का स्पष्टीकरण कैसे कर सकते हैं? समायोजन का अर्थ क्या है? क्या इसका अर्थ यह नहीं है कि हमारे सामने कुछ लक्ष्य हैं? दो वस्तुओं के परस्पर समायोजन होने का अर्थ है कि यह हमें उस सम्बन्ध का ज्ञान है जिसमें वे नहीं हैं; किन्तु जिसमें उनको होना चाहिये।[1] इस प्रकार समायोजन में आदर्श निहित है। व्यक्ति स्वयं को तथा अपने वातावरण को एक आदर्श से समायोजित करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार, स्पेन्सर के अनुसार समायोजन की प्रक्रिया जो नैतिकता की नींव में समहित है, उसकी व्याख्या आदर्श के द्वारा ही हो सकता है—आदर्श की जैविक समायोजन की प्रक्रिया से नहीं। नैतिक जीवन में भौतिक और सामाजिक वातावरण को मनुष्य अपने नैतिक आदर्श के अनुरूप बनाता है। नैतिकता में वाह्य परिस्थिति का आन्तरिक आदर्श से समायोजन किया जाता है, आन्तरिक जीवन का बाह्य परिस्थिति से नहीं। नीति की समस्या आत्मा को प्रकृति के अनुकूल रूपान्तरित करने की नहीं है, बल्कि प्रकृति को नैतिक आदर्शों के अनुसार है।[2] नैतिक जीवन में भौतिक सामाजिक वातावरण को तथा सहज प्रवृत्तियों और वासनाओं को बुद्धि द्वारा नैतिक आदर्श के अनुरूप बनाया जाता है।

जैविक उद्विकास का सिद्धान्त, अर्थात्, प्राकृतिक चुनाव अथवा योग्यतम की जीत नैतिकता पर लागू नहीं हो सकता। नीति में बल सत् नहीं है, सत् ही बल है। पशुयोनि में 'योग्यतम की विजय' से अभिप्राय 'बलवान की विजय' है। नीति में इसका अर्थ नैतिक-उत्कर्ष-सम्पन्न व्यक्ति का गुरुत्व है, जिसमें निर्बल का संरक्षण भी समाविष्ट है। नीति में क्रूर स्वार्थ-साधन का स्थान विवेकपूर्ण आत्म-संयम लेता है,

1. *Elements of Ethics* pp 199 –200.
2. *Manual of Ethics*,. p. 161,

दूसरे का गला काटने वाली प्रतियोगिता का स्थान स्नेहपूर्ण सहयोग लेता है। इस को अलेक्जैण्डर, एक अन्य उद्विकासात्मक सुखवादी मानता है। उसके मतानुसार प्राकृतिक चुनाव नीति के क्षेत्र में निर्बलों के विरुद्ध नहीं होता बल्कि जीवन के असमुन्नत आदर्शों के विरुद्ध होता है।

उदनैतिक उद्विकास जैविक उद्विकास का अंग नहीं हो सकता। जैविक उद्विकास भौतिक कार्य-करण-शृङ्खला से आबद्ध होता है। पिण्ड वंश परम्परा और वातावरण के अभाव से ही बनता बिगड़ता है। जैविक उद्विकास में संकल्प-स्वातन्त्र्य के लिये कोई स्थान नहीं है। किन्तु नैतिक उद्विकास का तो मूल सिद्धान्त ही कृति-स्वातन्त्र्य है। नैतिक प्रगति अंशतः सामाजिक वातावरण पर आश्रित है, किन्तु मुख्यतया व्यक्तियों की अन्तर्दृष्टि और स्वतन्त्र कर्मों पर ही आश्रित है। अतः नैतिक उद्विकास को जैविक उद्विकास का आवश्यक अंश मानना निराधार है। जैविक उद्विकास में संकल्प-स्वातन्त्र्य का स्थान नहीं है। परन्तु नैतिक उद्विकास का मूलभूत आधार कृति-स्वातन्त्र्य है। पशुयोनि में सबल की जय होती है, परन्तु नैतिक जीवन में दुर्बल की रक्षा होती है।

हर्बर्ट स्पेन्सर की सुख-दुःख की जीव-वैज्ञानिक (Biological) व्याख्या अमान्य है : सुख जीवन की वृद्धि नहीं, बल्कि जीवन शक्ति का व्यय है। अरस्तु (Aristotle) की धारणा है कि सुख की उत्पत्ति जीवन शक्ति के संयत व्यापार से, और दुःख की उसके अति व्यवहार या अन्य-व्यवहार से होती है। सुख कार्य की प्रवर्त्तक-शक्ति नहीं, बल्कि कार्य का परिणाम है। अभाव की दुःखद वेदना कर्म का उद्गम है। पुनः सुखदायी वस्तु अनिवार्य-रूप से स्वास्थ्य-वर्धक नहीं होती, क्योंकि स्वास्थ्य आवश्यकता और पूर्ति के बीच की साम्यावस्था है। बहुत सी उपादेश क्रियाओं (यथा-पाचन, श्वासोच्छ्वावास प्रभृति) से सुख की अनुभूति नहीं होती, उनमें से कुछ (परिश्रम, पीड़ा इत्यादि) तो दुःखदायी होती हैं। शल्यक्रिया जीवन की रक्षा करती है, परन्तु यह दुःखप्रद है। प्रसव क्रिया जीव का उत्पादक हैं, परन्तु यह अतीव कष्टप्रद है। अतः सुख को जीवन वृद्धि का, और दुःख को जीवन-क्षय का सूचक नहीं कहा जा सकता। यह सिद्धान्त कि सुख जीवन वर्धक है और दुःख जीवन घातक, वह वैज्ञानिक सत्य नहीं है।[1] नीति में प्राकृतिक चुनाव का स्थान बौद्धिक चुनाव लेता है।

इसके अतिरिक्त जीवन का सन्निकट लक्ष्य जीवन की लम्बाई-चौड़ाई में वृद्धि नहीं हो सकता। आयु की दीर्घता-मात्र नैतिक आदर्श नहीं मानी जा सकती। जीवन की चौड़ाई अर्थात् जटिलता स्वतः वाँछनीय नहीं हो सकती। जीवन की जटिलता कष्ट और व्याधि के खतरे को और बढ़ा देती है। वैचित्र्य से सम्पन्न जीवन अनिवार्यतः संघर्ष और कष्ट से पूर्ण होता है। जैसे कि नैपोलियन का जीवन था। इसीलिये जीवन की चौड़ाई में वृद्धि का उसकी लम्बाई में वृद्धि से विरोध हो

---

1. *Theory of good and Evil*, Vol. III Bk. Ch. IV.

सकता है। पुन: जीवन की लम्बाई चौड़ाई जैविक आदर्श हो सकता है; तथापि उसे उच्चतम नैतिक आदर्श नहीं कहा जा सकता। रोमेनिश के अनुसार "जो कुछ नैतिक दृष्टि से सर्वोत्तम है, वह प्राकृतिक चुनाव के विपरीत है।"[1]

हर्बर्ट स्पेन्सर के तथा-कथित, राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक नियन्त्रण नैतिक चेतना की सृष्टि नहीं कर सकते। उनके द्वारा 'करना पड़ेगा' या भौतिक बाध्यता की सृष्टि तो हो सकती है, पर 'करना चाहिये' की नहीं; वे भौतिक बाध्यता का स्पष्टीकरण कर सकते हैं, पर नैतिक बाध्यता का नहीं। तथाकथित नैतिक नियन्त्रण भी नैतिक चेतना की अपेक्षा रखता है। इन तत्वों के द्वारा उत्पन्न आत्म-गत-भाव मात्र नैतिक चेतना के प्रभाव का संतोषजनक स्पष्टीकरण नहीं कर सकते।

हर्बर्ट स्पेन्सर कर्त्तव्य-बुद्धि अथवा नैतिक बाध्यता का कारण बतलाने में असमर्थ है। उसके अनुसार यह नैतिक चेतना का अल्पस्थायी तत्व है। लेकिन यह मत नितान्त भ्रामक है। नैतिक बाध्यता, नैतिक चेतना का एक आवश्यक और चिर-स्थायी अंश है। इसका अतिक्रमण कभी भी नहीं हो सकता। नैतिक प्रगति के साथ ही नैतिक आदर्श भी ऊँचा उठता चला जाता है। नैतिक प्रगति, नैतिक बाध्यता की भावना को और भी अधिक तीव्र कर देती है। उससे कभी भी उसकी तीव्रता में कमी नहीं हो सकती। पुन: नैतिक बाध्यता के कारण व्यक्ति का समाज के कुसंयोजन नहीं हो सकता। वह बाह्य दबाव का कारण हो सकता है, नैतिक बाध्यता का नहीं। व्यक्ति अवयव है; जबकि समाज शरीर है अंगी अपने अंग को बाध्यता कर सकता है। नैतिक बाध्यता का स्पष्टीकरण केवल नैतिक आदर्श के द्वारा ही हो सकता है। नैतिक आदर्श असीम है। पार्थिव जीवन में उसकी पूर्ण सिद्धि नहीं हो सकती। अत: नैतिक बाध्यता चेतना का स्थायी अंश है।

हर्बर्ट स्पेन्सर की नीति-शास्त्र नैतिकता की नींव पर आघात करता है। हम देख चुके हैं कि नैतिक बाध्यता का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार नैतिकता का उद्‌भव प्रकृति से नहीं हो सकता, उसी प्रकार वह प्रकृति की अंश कभी भी नहीं हो सकती। नैतिकता, प्राग्-नैतिक तत्वों की अबौद्धिक पशु-प्रवृत्तियों से नहीं हो सकती। वास्तविक जीवन में नैतिक आदर्श का विरोध नैतिक उद्‌विकास से समाप्त नहीं हो सकता। पशु जीवन में नैतिकता के मूल तत्व नहीं पाये जाते। ये बौद्धिक मनुष्य-चेतना की अव्यक्त अवस्था को प्राप्त होते हैं।

अत: स्पेन्सर का निरपेक्ष नीति-शास्त्र एक स्वप्न-मात्र (Utopia) है जो इस लोक में सत्य नहीं हो सकता। म्यूरहेड का यह कथन सत्य है कि विकास का आदर्श साम्यावस्था नहीं हो सकता। जब भी समाज की अपेक्षाकृत साम्यावस्था आ जायेगी, पुन: अभिनव-शक्तियाँ उसमें विघ्न उपस्थित कर देंगी। स्पेन्सर की चरम साम्यावस्था—व्यक्ति और समाज का पूर्ण सामंजस्य जिसमें संघर्ष और दु:ख का पूर्ण अभाव हो—का विचार मृत्यु के तुल्य है। जहाँ भी जीवन है, वहाँ द्वन्द्व, संघर्ष और परिवर्तन

1. *Romanes, Evolution and Ethics. Urban, Funda ment of Ethics*, p. 102

अवश्यम्भावी है । जब सामंजस्य स्थापित हो जाता है, तो नई शक्तियाँ उसमें बाधा उत्पन्न करेंगी, और पुनः सामंजस्य का स्थापन होगा । यही प्रक्रिया अनन्त काल तक चलती रहेगी । मनुष्य अपने बुद्धिजात नैसर्गिक असन्तोष के कारण कभी भी वास्तविक सामाजिक व्यवस्था से सन्तुष्ट नहीं रह सकता । उसका आदर्श सदैव एक सुदूरस्थ लक्ष्य रहेगा । स्पेन्सर का स्वर्गराज्य न तो व्यावहारिक है और न ही प्राप्य है । जिस मार्ग से उसकी प्राप्ति सम्भव है उसके ऊपर स्पेन्सर का निरपेक्ष नीति-शास्त्र प्रकाश की एक भी रश्मि नहीं डालता । व्यक्ति का समाज से पूर्ण समायोजन असम्भव है । परार्थपरता स्वार्थसिद्धि का स्थान नहीं ले सकता । नैतिक बाध्यता कभी लुप्त नहीं हो सकती । यह नैतिक चेतना का मौलिक तत्व है । नैतिक जीवन स्वतः प्रवृत्तः प्राकृतिक जीवन नहीं हो सकता । अचेतना तथा अनियन्त्रित होने से नैतिकता समाप्त हो सकती है ।[1]

(३) लेसली स्टीफेन (1832-1904) का उद्विकासात्मक सुखवाद (Leslie Stephen's Evolutionary Hedonism)—

समाज शरीर (Social organism)—उपयोगितावादी (बेन्थम, मिल, प्रभृति) समाज को स्वतन्त्र व्यक्तियों का एक समुदाय-मात्र मानते हैं जो निर्जीव पदार्थ में परमाणुओं की भाँति याँत्रिक-रूप से परस्पर संयुक्त हैं । यद्यपि वे अधिकतम संख्या का अधिकतम सुख' के अनुयायी हैं, तथापि वे व्यक्तिवादी हैं । हर्बर्ट स्पेन्सर भी व्यक्ति को समाज की इकाई मानता है । उसके लिये व्यक्ति फिर भी स्वतन्त्र इकाइयाँ हैं और इस प्रकार जीवन का चरम लक्ष्य प्रत्यक्षतः आत्म-रक्षण और केवल परोक्षतः जाति-रक्षण है । सर्वप्रथम लेसली स्टीफेन ने ही समाज-शरीर की कल्पना की, जिसके व्यक्ति सदस्य हैं जो परस्पर आश्रित हैं । व्यक्ति समाज से अलग नहीं रह सकता । समाज शरीर अपने वातावरण के ऊपर प्रतिक्रिया करने से बढ़ता और विकसित होता है । व्यक्ति और समाज के मध्य समायोजन की प्रक्रिया निरन्तर चल रही है । व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध एक बाह्य और आकस्मिक वस्तु नहीं है, बल्कि आन्तरिक और आवश्यक है ।

जिस प्रकार शारीरिक द्रव्य से विभिन्न प्रयोजनों के लिये विभिन्न अंगों की रचना होती है, उसी प्रकार समाज को भी एक शरीर माना जा सकता है । सामाजिक द्रव्य से समाज के उद्देश्य की सिद्धि के लिए विभिन्न अंगों की सृष्टि होती है । विभिन्न अंगों के अपने अलग-अलग कार्य हैं । समाज का क्रमिक विकास हो रहा है, और उसके साथ उसके उद्देश्य को सम्पादित करने के साधन-स्वरूप अंगों का भी विकास हो रहा है । इस विकास का उद्देश्य विभिन्न अवयवों की कार्यक्षमता को बढ़ाना है, जिससे समाज के जीवन का लक्ष्य अधिकतम सुचारू रूप से सम्पन्न हो सके ।

समाज-शरीर का स्वास्थ्य (Social Health) ही चरम-लक्ष्य है—लेसली स्टीफेन के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य न बहुसंख्यक का अधिकतम सुख है, जैसा कि

1. *Elements. of Ethics, Theory of Good and Evil.*

बेन्थम और मिल का मत है, और न जीवन की लम्बाई-चौड़ाई में वृद्धि, जैसा स्पेंसर का मत है। जीवन का चरम लक्ष्य समाज-रूपी शरीर का स्वास्थ्य अथवा कार्य-क्षमता है। नैतिक जीवन का लक्ष्य सुख नहीं बल्कि समाज का स्वास्थ्य है। वही कर्म शुभ है जो समाज के स्वास्थ्य का साधन है। जो कर्म समाज के स्वास्थ्य के लिये घातक है वह अशुभ है। समाज के स्वास्थ्य और व्यक्ति के सुख में वास्तविक विरोध नहीं है। उनकी प्रवृत्ति सहयोग की दिशा में होती है। हानिकारक कर्म सामान्यतया कष्टप्रद होते हैं, लाभदायक कर्म सामान्यतया सुखदायक होते हैं। नैतिक नियम सामाजिक जीवन की शर्तें हैं। नैतिक नियम समाज-शरीर के लिये स्वास्थ्य-वर्धक हैं। अन्तःकरण व्यक्ति के अन्दर जनता की आवाज की प्रतिध्वनि है। सहानुभूति एक सहज सामाजिक प्रवृत्ति है। मनुष्य को व्यक्तिगत रूप में न होकर वरन् समाज के सदस्य के रूप में, सहानुभूतिशील होना पड़ता है। समाज के उदविकास के साथ उसके सदस्यों में सहानुभूति की सामाजिक भावना का भी उद्विकास होता है। यह समाज शरीर के लिए नितान्त लाभप्रद है। उद्विकास के क्रम में न केवल बाह्य व्यवहार के उत्कृष्ट रूप का उदय होता है, बल्कि आन्तरिक चरित्र के उत्कृष्ट रूप का भी। हम नैतिकता के बाह्य रूप से आन्तरिक रूप की ओर 'ऐसा करो' के नियम से 'ऐसा बनो' के नियम की ओर अग्रसर होते हैं। नैतिक प्रगति बाह्य व्यवहार के उत्कर्ष से आन्तरिक चरित्र के उत्कर्ष की ओर गति है।

लेसली स्टीफेन, हर्बर्ट स्पेन्सर के निरपेक्ष नीति-शास्त्र (Absolute Ethics) का खण्डन करता है। वह किसी ऐसे चरम लक्ष्य को नहीं मानता, जिसकी ओर समाज की प्रगति हो रही है। वह समाज को उसके वर्तमान रूप से स्वीकार करता है और उसके स्वास्थ्य, साम्यावस्था अथवा कार्यक्षमता को ही साध्य लक्ष्य मानता है। वह सदगुण को समाज की साम्यावस्था को बनाये रखने के लिये व्यक्ति की कार्य-क्षमता मानता है।

हर्बर्ट स्पेन्सर एक व्यक्तिवादी है, यद्यपि वह परहित को स्वार्थपरता के समान प्रकृत और सहज मानता है। उसके शब्दों में, "क्रम-विकास की गति सदैव आत्म-रक्षण की दिशा में होती है और वह सीमा को उस समय प्राप्त होता है जब व्यक्ति-गत जीवन लम्बाई और चौड़ाई दोनों में अधिकतम हो जाता है।" किन्तु लेसली स्टीफेन समाज में, जिनकी कल्पना वह शरीर के रूप में करता है, व्यक्तियों के पर-स्पर आश्रित होने के भाव को मान्यता देता है। उसके अनुसार "नैतिक नियम सामा-जिक हित की शर्त के विषय में एक उक्ति है।" "नैतिक नियम समाज-शरीर के किसी गुण की परिभाषा है।"[1]

(४) लेसली स्टीफेन के उद्विकासात्मक सुखवाद की समीक्षा
(Criticism of Leslie Stephen's Evolutionary Hedonism)—

समाज अपने कर्मों का स्वाधीनतापूर्वक नियन्त्रण करने वाले आत्मचेतनायुक्त

1. The Science of Ethics.

आत्माओं का एक संघ है। समाज विच्छिन्न व्यक्तियों का एक यान्त्रिक समूह नहीं है। यह अन्योन्याश्रित अवयवों से निर्मित शरीर के समान है। किन्तु इस तुलना को अत्यधिक आगे नहीं बढ़ाना चाहिये। शरीर के अवयव स्वतन्त्र जीवन-यापन नहीं कर सकते, शरीर के जीवन में ही उनका भी जीवन है। समाज को शरीर कहना एक आलंकारिक उक्ति-मात्र है। समाज-रूपी शरीर को सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती। अनुभूति केवल व्यक्ति को ही होती है। व्यक्ति चेतना के केन्द्र हैं। समाज का अपना स्वतन्त्र चेतना केन्द्र नहीं होता। समाज का कोई समष्टिमन नहीं है जो व्यक्ति मन से पृथक् हो। समाज-मन की पृथक् सत्ता नहीं है। समाज की सत्ता व्यक्ति में, उसकी सामाजिक अथवा वृद्धिमय आत्मा के रूप में होती है। सामाजिक प्रवृत्तियाँ व्यक्तिमन में होती हैं।

जिस प्रकार 'समाज शरीर एक आलंकारित उक्ति मात्र है; वैसे ही 'समाज शरीर का स्वास्थ्य' भी एक आलंकारित उक्ति मात्र है। सुख के दृष्टिकोण से समाज एक शरीर नहीं है, बल्कि व्यक्तियों का एक समूह है, क्योंकि समाज ही नहीं बल्कि व्यक्ति सुख का अनुभव करते हैं। अनुभूति के पृथक्-पृथक् केन्द्रों को केन्द्र में विलीन नहीं किया जा सकता। सच्चे परार्थ की प्राप्ति स्वार्थ के उन्मूलन से नहीं हो सकती। निम्न कोटि के स्वार्थ के अतिरिक्त एक उच्च कोटि का स्वार्थ भी होता है, जिसमें परार्थ का भी समावेश होता है। उच्च-स्वार्थ की प्राप्ति के अनन्तर स्वकीय और परकीय उद्देश्यों का भेद समाप्त हो जाता है और यही सच्चा स्वार्थ है। स्वार्थ के अपनयन की चेष्टा के साथ ही नैतिकता का भी उन्मूलन हो जायेगा। अतः नैतिक जीवन का केन्द्र व्यक्तिगत जीवन में ही पाया जा सकता है, उससे बाहर नहीं। इस प्रकार नैतिक जीवन सदैव वैयक्तिक जीवन है, अवैयक्तिक जीवन नहीं।

लेसली स्टीफेन समाज-शरीर के स्वास्थ्य को नैतिक मानदण्ड मानकर अपने सुखवाद का मूलोच्छेदन कर देता है। यद्यपि सामाजिक स्वास्थ्य व्यक्तिगत सुख का आवश्यक हेतु है, तथापि उसका अर्थ अनिवार्यतः व्यक्तिगत सुख नहीं है। समाज के स्वास्थ्य को नैतिक आदर्श मानना आत्मपूर्णतावाद की ओर लौट जाना है। आत्म-पूर्णतावाद के अनुसार आत्म विकास केवल समाज के ही द्वारा सम्भव है। व्यक्ति और समाज के विरोध का परिहार सुखवादी दृष्टिकोण से नहीं हो सकता बल्कि पूर्ण-तया आत्म-विकास के दृष्टिकोण से ही सम्भव है। आत्म-पूर्णता से अभिप्राय आदर्श की प्राप्ति से है। आदर्श आत्मा सामाजिक आशा अथवा विवेकमय आत्मा है, जिस का विकास समाज द्वारा ही हो सकता है। व्यक्तिगत शुभ समाज का शुभ भी है। उच्चतम शुभ वैयक्तिक भी है और सामान्य भी। व्यक्तिगत परम मंगल का सामा-जिक परमहित से कोई विरोध नहीं है।[1]

1. *Elements of Ethics, Theory of Good and Evil, Vol. II Moral Order and Progress*. p, 399,

(५) स्याममूल अलेक्जैन्डर का उद्विकासात्मक सुखवाद
(Samuel Alexander's Evolutionary Hedonism)—

सामाजिक व्यवस्था की साम्यावस्था (Social Equilibrium)—**परम शुभ** है—परम शुभ व्यवहार की पूर्णतया समायोजित अवस्था अथवा समाज शरीर की साम्यावस्था है। किसी कर्म को नैतिक आदर्श के द्वारा मापा जाता है। अलेक्जैन्डर के अनुसार "यह नैतिक आदर्श प्रतियोगी प्रवृत्तियों के ऊपर आधारित व्यवहार की समायोजित अवस्था है, और उनमें साम्य स्थापित करता है। अच्छाई साम्यावस्था समायोजन के अतिरिक्त कुछ नहीं है।" व्यक्ति के आचार का समाज से पूर्ण समायोजन सतकर्म है, उसके आचार का समाज से कुसमायोजन या अपूर्ण समायोजन असत् कर्म है। स्पेन्सर का भी यही मत है।

नीति में प्राकृतिक चुनाव (Natural Selection in Morals)—पशु जगत में प्राकृतिक चुनाव का अर्थ सर्वाधिक योग्य या सर्वाधिक बलवान की जीत है। लेकिन नीति के संदर्भ में अधिक पूर्ण आदर्शों के द्वारा निर्बल आदर्शों के निराकरण से अभिप्राय पशुबल के द्वारा नहीं, बल्कि नैतिक प्रोत्साहन के द्वारा होता है। अलेक्जैन्डर के अनुसार मानव जाति के नैतिक जीवन में प्राकृतिक चुनाव का व्यापार चलता है। जिससे अधिकतम कार्यक्षम अथवा अधिकतम पूर्णता के साथ सामंजस्य-प्राप्त व्यवहार सुरक्षित रहता है। वह उसे नीति में प्राकृतिक चुनाव की संज्ञा देता है। इसमें बलवानों द्वारा निर्बलों का ध्वंस नहीं होता। इसमें पशुबल से न होकर, नैतिक प्रोत्साहन से अपूर्ण समायोजन प्राप्त व्यवहार के निम्न आदर्शों का स्थान अधिक पूर्ण-समायोजन-प्राप्त-व्यवहार के उच्च आदर्श ग्रहण कर लेते हैं। अलैक्जैन्डर के अनुसार "मानव-व्यापारों में निर्बल अथवा बैरभाव वाले व्यक्तियों के विरुद्ध नहीं, वरन् उनके आदर्शों अथवा उनके जीवन की रीतियों के विरुद्ध प्राकृतिक चुनाव का संग्राम चलता है। सामाजिक हित की अधिरोधी जीवन-विधि को ही केवल विजित अथवा स्थिर रखने का प्रयास करता है।"[1] जैविक उद्विकास के बलप्रयोग द्वारा निर्बल प्राणियों का संहार होता है जबकि नैतिक उद्विकास में उच्च आदर्श, प्रोत्साहन और शिक्षा के द्वारा निम्न आदर्शों का स्थान लेते हैं। "नैतिक प्रोत्साहन प्रतियोगिता की पराजय के तुल्य है", क्योंकि "बुद्धि की बुद्धि के ऊपर विजय प्रोत्साहन से ही होती है।"[2] इस प्रकार अलेक्जैन्डर नैतिक आदर्श की व्याख्या प्राकृतिक चुनाव की सहायता से करता है।

(६) अलेक्जैंडर के उद्विकासात्मक सुखवाद की समीक्षा
(General Criticism of Evolutionary Hedonism)—

अलेक्जैंडर का मत सार-रूप में वही है जो लेसली स्टीफेन का है। उसके अनुसार विभिन्न प्रश्नों जैसे—सामाजिक व्यवस्था की साम्यावस्था को सर्वोच्च शुभ क्यों समझना चाहिये? हमें समाज में साम्य स्थापित करने का प्रयत्न क्यों करना चाहिये? इसका हमारे लिये क्या मूल्य है? हमें सामाजिक सामंजस्य की प्रगति क्यों करनी

1. *Moral Order and Progress*, p. 428.
2. Ibid, p. 42.

चाहिये ? उसमें बाधा क्यों न दी जाये ? का उत्तर यह है कि सामाजिक सामंजस्य शुभ है ।

उद्विकास का प्राकृतिक व्यापार नैतिकता की व्याख्या नहीं कर सकता । वास्तव में, विकास की प्रक्रिया की व्याख्या अक्ष्य अथवा आदर्श के द्वारा ही सम्भव है। आदर्श की व्याख्या उससे नहीं हो सकती । सामाजिक प्रगति की व्याख्या आदि से नहीं, बल्कि अन्त से होगी । आदर्श प्रक्रिया को स्पष्ट करता है; प्रक्रिया आदर्श को नहीं । प्रारम्भ नहीं, बल्कि अन्त ही व्याख्या का सिद्धान्त है । नैतिकता की व्याख्या नैतिक आदर्श—परम मगल—से हो सकती है, प्रारम्भिक जैव प्रक्रिया से नहीं ।

अलेक्जैंडर के द्वारा प्राकृतिक चुनाव के सिद्धान्त का नीति में लागू किया जाना युक्ति पूर्ण नहीं है । वह स्वयं मानता है कि नीति में इसका अर्थ योग्यतम या बलवत्तम की विजय अथवा निर्बलता की पराजय नहीं है । इसका अर्थ प्रोत्साहनपूर्वक उच्च आदर्शों की निम्न आदर्शों के ऊपर विजय है । किन्तु इसको प्राकृतिक चुनाव कहना असंगत है । यह नैतिक मूल्यों की व्याख्या के लिये जीवविज्ञान के प्रत्ययों का प्रयोग अनुपयुक्त है । नैतिकता की उत्पत्ति अनैतिक जैव व्यापार से नहीं हो सकती । नैतिक चेतना मनुष्य की बौद्धिक प्रकृति में ही गुप्त है; पशु-प्रकृति में नहीं । बुद्धि असत् कर्म तथा सत् कर्म अर्थ का भेद कर सकती है ।

(७) उद्विकासात्मक सुखवाद की साधारण समीक्षा
(General Criticism of Evolutionary Hedonism)—

जैव उद्विकास से नैतिकता का उद्भव नहीं हो सकता । पशुओं की अबौद्धिक तथा अनैतिक मूल प्रवृत्तियों से मनुष्य के अन्तःकरण अथवा नैतिक शक्ति का उद्भव नहीं हो सकता । सत्-असत्-भाव का जन्म जैव तथ्यों से नहीं हो सकता । 'है' से 'होना चाहिये' का जन्म नहीं हो सकता ।

उद्विकास किसी चीज की सृष्टि नहीं कर सकता । यह केवल किसी चीज को अव्यक्त दशा की ओर ले जा सकता है। यह नीति की सृष्टि भी नहीं कर सकता। यह नीति की प्रगति की व्याख्या तो कर सकता है, परन्तु इसकी सृष्टि की नहीं ।

उद्विकास एक अन्तिम लक्ष्य की ओर प्रगति है । अन्तिम लक्ष्य के अभाव में उद्विकास अर्थशून्य हो जाता है । विकास क्रमिक उत्क्रान्ति है। उत्क्रान्ति का स्पष्टीकरण अन्तिम लक्ष्य अथवा आदर्श से ही हो सकता है; आदि से नहीं । आदि से जड़ पदार्थ या भौतिक व्यापारों का स्पष्टीकरण हो सकता है, लेकिन जैव तथा मानसिक व्यापारों का नहीं । बिना आदर्श का विचार किये नैतिकता की व्याख्या किसी प्रकार नहीं हो सकती ।

जैव उद्विकास नैतिक बाध्यता अथवा कर्त्तव्य-बुद्धि का स्पष्टीकरण नहीं कर सकता । चेतनाहीन, उद्देश्यहीन तथा आदर्श-रहित जैव व्यापार नैतिक बाध्यता की व्याख्या कदापि नहीं कर सकता । नैतिक बाध्यता में आदर्श परम-मंगल का अस्पष्ट विचार गर्भित है ।

पशुयोनी में बलिष्ठ की विजय और दुर्बल की पराजय होती है। मनुष्ययोनि में न्याय की विजय तथा अन्याय की पराजय होनी चाहिये। नैतिक जगत में दुर्बल की रक्षा होनी चाहिये। पशुयोनि में स्वार्थसिद्धि प्रायः एकमात्र प्रेरणा है, मनुष्ययोनि में नैतिक जीवन का आदर्श परार्थपरता है। अतः जैव विकास से नीति की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

मनुष्य शरीर का प्रकृति से सम्यक् समायोजन नैतिकता की व्याख्या नहीं कर सकता। जीवनशक्ति देह का प्रकृति से समायोजन है। बुद्धि द्वारा वासनाओं का आदर्श के अनुसार नियन्त्रण नैतिकता है। यह जैव व्यापार नहीं है। अतः उद्विकास वाद युक्ति पूर्ण नहीं है।

(८) सुखवाद की अच्छाइयाँ (Merits of Hedonism)—

सुखवाद द्वारा मनुष्य की ऐन्द्रिय प्रकृति पर बल देना उचित प्रतीत होता है। किन्तु इसकी बौद्धिक प्रकृति को ऐन्द्रिय प्रकृति में गौण ठहराना अनुचित है। ऐन्द्रिक प्रकृति मानव-स्वभाव का आवश्यक भाग है। वही नैतिकता का उपादान है। नैतिकता मूल-प्रवृत्तियों, वासनाओं और अनुभूतियों को नियंन्त्रित करने में निहित है। सुख-वाद ने उसका महत्व-प्रदर्शन करके अच्छा किया। नैतिक जीवन एकान्त-रूप से वासना रहित बुद्धिमय जीवन नहीं है। नैतिक जीवन बुद्धि द्वारा नियन्त्रित वासनामय जीवन है। मनुष्य के पूर्ण बौद्धिक हित में सुख का भी समावेश होना चाहिये। यही सुखवाद में स्थायी तत्व है। वासनाओं तथा मूल प्रवृत्तियों का पूर्ण दमन नैतिक जीवन के आदर्श के लिये अपर्याप्त है। वासना नैतिक जीवन का उपादान है।

सुख स्वतः शुभ नहीं है। यह शुभ की अभिव्यक्ति का साधारण सूचक है। इसी प्रकार दुःख स्वतः अशुभ नहीं, बल्कि अशुभ का सूचक है। सुख धनात्मक या भावात्मक मूल्य की भावना है, और दुःख ऋणात्मक या अभावात्मक मूल्य की भावना है। सुख स्वयं मूल्य नहीं है। इच्छित वस्तुयें मूल्य हैं। सुख तो इष्ट मूल्य-प्राप्ति की अनुभूति है।

आत्म-सुखवाद व्यक्तिगत सुख को परम मंगल मानता है। इसमें भी सत्य का अंश है। परम हित को व्यक्तिगत शुभ का कोई रूप होना चाहिये। शुभ की सिद्धि व्यक्ति के जीवन में ही होनी चाहिये। शुभ सदा किसी व्यक्ति का होता है। नैतिक जीवन व्यक्तिगत जीवन है। यह अवैयक्तिक जीवन नहीं।

पर सुखवाद के सिद्धान्त कि 'अधिकतम का अधिकतम सुख' ही श्रेष्ठ हित है' में भी आंशिक सत्य है। शुभ व्यक्तिगत ही नहीं, बल्कि सामाजिक भी है। परम शुभ वैयक्तिक भी है और सामाजिक भी है। व्यक्ति को अपने परम शुभ की प्राप्ति के लिये अन्यों के शुभ को लक्ष्य बनाना पड़ता है। आत्म-सुख और अन्य व्यक्तियों के सुख में समन्वय करना चाहिये।

विकासात्मक सुखवाद समाज को शरीर मानता है। इस सिद्धान्त में भी आंशिक सत्य है। यह व्यक्तिगत शुभ और सामाजिक शुभ की पारस्परिकता के ऊपर बल देता है।

सुखवाद की बुराई यह है कि वह भावनाओं को सुव्यवस्थित करने वाले सिद्धांत के रूप में बुद्धि के अधिकार की अवहेलना करता है । वासनायें नैतिक जीवन का उपादान हैं । बुद्धि उन्हें रूप प्रदान करती है । नैतिकता नैतिक आदर्श के अनुरूप वासनाओं तथा मूलप्रवृत्तियों के बुद्धि के द्वारा नियमन होने में निहित है । बुद्धि ही नैतिक जीवन में प्रधान तत्व है । बुद्धि के अस्वीकार नैतिक जीवन को असम्भव बना देता है । बुद्धि को वासनाओं की दासी मानना भी नैतिक जीवन को असम्भव बना देता है । वासना नैतिक जीवन का उपादान (Matter) है, बुद्धि इसे नैतिक आकार (Form) देती है।

(९) उद्विकास के आधुनिक सिद्धान्त (Modern Theories of Evolution)—

वार्गसो सृजनात्मक उद्विकास (Creative Evolution) का समर्थक है । उद्विकास पूर्व घटनाओं द्वारा निर्धारित नहीं है और भविष्य उद्देश्य द्वारा भी निर्धारित नहीं है । यह सृजनात्मक है । नयी वस्तुयें, नयी जातियां का सृजन करता है । सृजनात्मक उद्विकास की गति की भविष्यवाणी नहीं हो सकती । इस मत की व्याख्या 'पश्चिमी दर्शन' में विस्तृत रूप में वर्णित है । वार्गसो के मतानुसार मुख्य नीति (Open Morality) सभी मनुष्यों के लिये है । इस नीति में प्रेम नैतिक कर्म को प्रेरित करेगा, नियम नहीं, जो कि अपरिवर्तनीय है, जो कर्म को बाहर से निर्धारित करता है ।[11] समाज नीतिबद्ध नीति (Closed Morality) है । अन्तःकरण का नियम समाज आत्मा का नियम है । सृजनात्मक नीति का स्रोत प्रेम है, जिसका उद्भव से नहीं बल्कि सहजात मूल प्रवृत्ति (Instinct) में है ।

लायड मारगेन (Loyd Morgan) उद्विकासवाद का समर्थक है । उद्विकास की गति में नयी परिस्थितियों में नयी वस्तुओं का उद्भव होता है, जैसे जड़ पदार्थ से प्राण का उद्भव, प्राण से मन का उद्भव । प्राण में पाये जाने वाले गुण जड़ पदार्थ में नहीं पाये जाते हैं । मन के गुण प्राण में नहीं हैं । इसी तरह नयी-नयी वस्तुओं का उद्भव होता है ।

अलेक्जेन्डर (Alexander) के मतानुसार देशकाल से जड़ पदार्थ का उद्भव जड़ पदार्थ से प्राण का उद्भव, प्राण से व्यक्ति मन का उद्भव, मन से समाज का उद्भव हुआ । इसके बाद ईश्वर (Deity) का उद्भव होगा । द्वन्द्वात्मक जड़वाद भौतिकवाद उन्मज्जी उद्विकास (Emergent Evolution) को अपनायेगा ।

उन्मज्जी उद्विकास (Emergent Evolution) मतवाद नीति-क्षेत्र में सृजनात्मक नीति को अपनायेगा ।

सृजनात्मक नीति (Creative Morality)—

विलियम लिलि (William Lillie) इस नीति का समर्थक है । वह नीतिशास्त्रियों के मत का वर्णन करता है । एल० ए० रीड (L. A. Reid) व्यक्ति के सतकर्म को कला-कृति के सदृश सृजनात्मक मानता है । सत् कर्म एक अपूर्व सृष्टि है,

1. *Morality and Religion*. pp. 27-28.

जैसा कि एक चित्रकार का चित्र है। प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य एक सामान्य नैतिक नियम को मानना नहीं परन्तु एक अपूर्व कर्म करना है जो व्यक्ति की अन्तर्दृष्टि की अभिव्यक्ति हो।'[1]

एम० बर्डीव (M. Berdyaev) के मतानुसार, मनुष्य नैतिक नियम का दास नहीं है, अपितु नैतिक नियम मनुष्य के लिये है। मनुष्य श्रेष्ठ ध्येय है। प्रत्येक मनुष्य को सृजनात्मक नीति का अनुसरण करना चाहिये। मनुष्य नैतिक नियम तथा नैतिक शुभ का अनुसरण करने से नियम अथवा शुभ का दास बन जाता है। इससे धर्म असहनीय रूप से अनाकर्षक होता है। नीति सृजनात्मक होनी चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति के सत् कर्म में उसके अपूर्व व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होनी चाहिये।

यह उसका अपने अन्तःकरण का गम्भीरता से उद्भव होना चाहिये। कोई अन्य ध्येय या शुभ का अन्वेषण, अथवा नियम का अन्ध अनुसरण नहीं होना चाहिये। प्रत्येक नैतिक कर्म एक अपूर्व सृष्टि होनी चाहिये। सृजनात्मक नैतिक कर्म कर्ता को आनन्द दे सकता है, परन्तु आनन्द उसका ध्येय नहीं होना चाहिये। सृजन हो इस कर्म का प्रधान तत्व है, कर्म का ध्येय प्रधान तत्व नहीं है। नीति का विकास स्वतन्त्रता, सृजन और दया की दिशा में है।[2]

इस मत में आकर्यता तो अवश्य है, परन्तु इसके साथ ही अस्पष्टता है, जो कि अवैज्ञानिक तथा अदार्शनिक है। यह अव्यवहार्य भी है। समाज की नयी परिस्थिति में नयी नीति की सृष्टि अवश्य होगी। साम्यवादी समाज में भीख माँगने को दान करना आवश्यक है। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति के लिये सृजनात्मक कार्य करना असम्भव है। यह दृढ़-चरित्र मौलिक शक्तिशाली व्यक्ति के लिये सम्भव है।

श्री अरविन्द का समाज-नीति की अपेक्षिक नीति से परे एक अतिमानविक नीति में विश्वास है। यह विश्वास का विषय है—दार्शनिक विचार का विषय नहीं। इसका उद्विकास की गति में आध्यामिक शक्ति विशिष्ट अतिमानव (Superman) की सृष्टि में विश्वास रखता है जो कि अतिमानव से परिचालित होगा। यदि अतिमानव का उद्भव न हो, तो मानव जाति का विनाश हो जायेगा। बुद्धि का युग नष्ट होने वाला है, धार्मिक विश्वास का युग भविष्य में आने वाला है। हमें मानव-जाति के विनाश में विश्वास नहीं रखना है वरन् बुद्धि-प्रेरित होकर हमें मानव जाति को विनाश से बचाना होगा।

1. *Creative Morality*, Chapter 6.
2. *An Introduction to Ethics*, 1955. pp. 214-17. Berdyaevy, *The Destiny of Men.*

(१) सिजविक (1838–1900) का बुद्धिमूलक उपयोगितावाद
(Sidgwick's Rational Utilitarianism)

सुखवाद (Hedonism)— सिजविक का मत है कि सुख ही एक मात्र प्राकृत मूल्य है, सुख स्वतः शुभ है। सुख ही अन्तिम वांछनीय वस्तु है। केवल सुख ही इच्छा का बुद्धि-सिद्ध विषय है। यही बुद्धि का निर्णय है। बुद्धि इसका निर्देश करती है कि सुख वास्तविक लक्ष्य है। यह वह लक्ष्य है जिसका अनुसरण करना चाहिये। ज्ञान सौन्दर्य या चरित्रोत्कर्ष प्रभृति सभी वस्तुयें सुख के साधन हैं। उनका मूल्य सुख के उपकरण होने में है। सिजविक सुख और आनन्द का भेद निर्देश नहीं करता। चरम शुभ सुख है। सिजविक के अनुसार, 'सुख या आनन्द अन्तिम शुभ है। ज्ञान, सौन्दर्य प्रभृति वस्तुयें जिनका कुछ पण्डितों की दृष्टि में साध्य या प्राकृत मूल्य है, सुख के साधन-मात्र हैं।"[1] उनका सुख उत्पन्न करने के अतिरिक्त कोई अन्य मूल्य नहीं है। यहाँ तक सिजविक का मत मिल के मत के समान है। ज्ञान, सौन्दर्य, नैतिकता तथा धर्म सुख के साधन हैं। सुख परम मंगल है। यह अन्तिम लक्ष्य है।

नैतिक सुखवाद (Ethical Hedonism)—बेन्थम और मिल मनोवैज्ञानिक सुखबाद के समर्थक हैं उनका मत है कि मनुष्य सदैव सुख लाभ और दुःख निवृत्ति का प्रयत्न करते हैं। सुख उनकी इच्छा का साधारण विषय है, किन्तु सिजविक का आग्रह है कि इस सिद्धान्त में अर्थात् सुखवाद में, विरोधाभास है "सुखोन्मुखी वासना की अत्यधिक प्रबलता अपने ही लक्ष्य के लिये घातक है।" सिजविक के अनुसार सुख प्राप्ति की सर्वोतम विधि सुख को विस्मृत कर देना है। यह अनुसरण किये जाने वाले सुखों के विषय में विशेष रूप से सत्य है। अतः सिजविक मनोवैज्ञानिक सुखवाद को स्वीकार करता है और नैतिक सुखवाद का समर्थन करता है। सुख इच्छा का स्वाभाविक विषय नहीं है। किन्तु वह इच्छा का उचित या नीति-सम्मत विषय है। सुख ही परम मंगल है। केवल सुख का प्राकृत मूल्य है। सभी अन्य वस्तुयें इससे गौण हैं। सिजविक, मिल के समान यह युक्ति नहीं देता कि सुख वांछनीय है, क्योंकि लोग उस की इच्छा करते हैं। उसकी युक्ति यह है कि बुद्धि हमें बताती है कि सुख ही स्वतः वांछनीय, परम शुभ है। यह बुद्धि का सहज अनुभव है।

बुद्धिमूलक उपयोगितावाद (Rational Utilitarianism)—**सिजविक** का मत है कि सुख परम मंगल है। यह अन्तःकरण अभाव व्यावहारिक बुद्धि की सहज उपलब्धि है। यह व्यावहारिक बुद्धि का निर्णय है। सिजविक की परिकल्पना में यह अपरोक्ष ज्ञानवाद अथवा बुद्धिवाद का तत्व है। अन्तःकरण से हम केवल सर्वोच्च

1. *Methods of Ethics*, BK III, Ch. XIV.

शुभ का अपरोक्ष अनुभव ही नहीं वरन् उसके विभाजन-सम्बन्धी सिद्धान्तों, यथा, दूर-दर्शिता परोपकारशीलता और न्याय का भी ज्ञान होता है। सिजविक के मत से परम मंगल स्वभावत: सवेद्य है। परम मंगल में चेतना की वांछनीय-स्थिति, जिसे सुख कहते हैं, होना अनिवार्य है। परन्तु इसका ज्ञान कराने वाला, बुद्धि का सहज अनुभव है, इन्द्रियज अनुभव नहीं। बुद्धि ही उसकी व्यवस्था के नियमों का भी बोध कराती है। इस प्रकार सिजविक, बेन्थम और जे० एस० मिल के अनुभव मूलक उपयोगितावाद से भिन्न बुद्धिमूलक उपयोगितावाद का प्रवर्त्तक है।

सिजविक अनुमान की प्रक्रिया के द्वारा कर्म के चरम लक्ष्य को मालूम करने के प्रयत्न को सर्वथा त्याग देता है उसका मत है कि चाहे घटनाओं के पूर्वापर सम्बन्धों के ज्ञान का कितना ही संचय क्यों न हो, वर्तमान और भावी घटनाओं का कुछ भी अनुभव क्यों न हो, उससे 'होना क्या चाहिये' इसका ज्ञान होना असम्भव है। अत: नैतिकता का आधार बुद्धि का इन्द्रिय-प्रत्यक्ष-निरपेक्ष अपरोक्ष ज्ञान है।

हमारे वैयक्तिक और सामाजिक-जीवन में सुख के विभाजन के तीन सिद्धान्त हैं। वे सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं—दूरदर्शिता, परोपकारशीलता और नियम।

दूरदर्शिता अथवा विचारात्मक आत्म-प्रेम (Prudence and Rational Self-Love)—आत्म-प्रेम मात्र क्षणिक-सुखों के अनूसरण के लिये प्रवृत्त करता है। किन्तु बुद्धि सहज आत्मप्रेम को शिक्षित और प्रबद्ध करती है, और सुखी-जीवन के अनुसरण का आदेश करती है। हमें अपने जीवन के सभी क्षणों के प्रति निष्पक्ष होना चाहिए, और अपने सुखों का चुनाव करते समय वर्तमान और भविष्यत को समान विचारना चाहिये। हमें अधिक भावी-शुभ को छोड़कर अल्प वर्तमान शुभ को नहीं अपनाना चाहिये। हमें अधिक भावी-शुभ के लिये वर्तमान अल्प शुभ का उत्सर्ग कर देना चाहिये। हमारा लक्ष्य अपना सम्पूर्ण आनन्द होना चाहिये क्षणिक सुख नहीं। युक्तियुक्त आत्म-प्रेम अपने जाग्रत-जीवन के सभी अंगों के प्रति 'निष्पक्ष' होने का आदेश करता है। हमारा कल्याण क्षणिक सुख से नहीं है, बल्कि सुखी जीवन में है (एपिक्यूरस)। यही विचारात्मक आत्म-प्रेम अथवा दूरदर्शिता का सिद्धान्त है जो सुख का अपने व्यक्तिगत जीवन में विभाजन करने में सहायक है।

विचारात्मक परोपकारशीलता (Rational Benevolence)—परोपकार-शीलता बतलाती है कि परसुख आत्म-सुख के समान ही महत्वपूर्ण है। अनुभव स्वार्थ और परार्थ—व्यक्तिगत सुख और सामान्य सुख के मध्य की खाई को नहीं पाट सकता। बुद्धि ही उनको संयुक्त करने वाली कड़ी का आविष्कार कर सकती है। सुख या आनन्द ही वह वस्तु है जिसका प्राकृत मूल्य है। वही अन्तिम तर्कसम्मत मंगल है, अत: दूसरों के सुख का उतना ही मूल्य है, जितना अपने सुख का। सबके सुख के विषय में निष्पक्ष होना चाहिये। हमें दूसरों के अधिक सुख की तुलना में अपने अल्प सुख को नहीं अपनाना चाहिये। बुद्धि की दृष्टि में वैयक्तिक जीवन के प्रत्येक क्षण को सन्तोष प्राप्त करने का समान अधिकार है, एवमेव "प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक

संवेदनशील प्राणी की भी तृप्ति का समान अधिकार है।" "प्रत्येक मनुष्य किसी भी अन्य व्यक्ति के शुभ का अपने ही शुभ में समान आदर करने के लिये नैतिक दृष्टि से बाध्य है। मुझे अपने ही अल्पतर सुख का दूसरे से अधिक सुख की अपेक्षा वरण नहीं करना चाहिये।"[1] बुद्धि की यह आज्ञा है कि प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य सब मिलाकर अधिकतम सुख होना चाहिये और उसे सबसे अधिक सुख के लाभ के हेतु अपने व्यक्तिगत सुख का बलिदान करना चाहिये। बुद्धि यह आज्ञा नहीं दे सकती कि प्रत्येक व्यक्ति को सबके सुख की हानि होते हुए देखकर भी अपने वैयक्तिक सुख का अनुसरण करे। यही परोपकारशीलता का सिद्धान्त है जो अपने और दूसरों में सुख को विभक्त करने में सहायता देता है।

न्याय (Justice)—न्याय या समानता का सिद्धान्त व्यक्ति जीवन के प्रतियोगी क्षणों तथा प्रतियोगी व्यक्तियों के मध्य सुख का उचित और समान वितरण करने के हेतु विचारात्मक आत्म-प्रेम या दूरदर्शिता तथा परोपकारशीलता के सिद्धान्तों की सहायता करता है। हम अपने जीवन के सभी क्षणों में सुखोपभोग के लिए समान रूप से क्षम नहीं होते। इसके अतिरिक्त सभी व्यक्ति सुखोपभोग के लिए समान रूप में समर्थ नहीं होते। अतः हमें अपने जीवन के विविध क्षणों के विषय में भेद-ग्राही विवेकयुक्त होना चाहिये। अन्य व्यक्तियों के विषय में भी ऐसा ही विवेक इष्ट है। न्याय अथवा समानता में असमानता का भी समावेश होता है, दोनों में अनिवार्य विरोध नहीं है। न्याय प्रतियोगी व्यक्तियों की सामर्थ्य और पात्रता का भी विचार करता है। वे व्यक्ति जो उपभोग की अधिक क्षमता रखते हैं, यथा, बुद्धिजीवी कलाकार, शिल्पकार प्रभृति उनको सुख लाभ करने का अधिक अवसर मिलना चाहिए। 'हममें से कोई-कोई भी जिस किसी कर्म को अपने लिए सत् समझता है, उसे सभी तुल्य व्यक्तियों के लिए तुल्य परिस्थितियों में गुप्त रूप से सत् निर्णीत करता है।' समान समस्याओं का हल भी समान होना चाहिये।'[2] हमारे व्यक्तिगत जीवन के कुछ क्षण दूसरे क्षणों की अपेक्षा अधिक महत्व के होते हैं, क्योंकि उनकी उपभोग क्षमता अधिक होती है। कुछ व्यक्ति दूसरों से अपेक्षाकृत अधिक उपभोग क्षम होते हैं। सभी व्यक्ति पूर्णतया समान नहीं होते। अतः न्याय हमें व्यक्ति अथवा जाति के जीवन में सब मिलकर अधिकतम सुख को लक्ष्य बनाने के लिये प्रेरित करता है। हमें व्यक्तिगत जीवन में प्राथमिकता उन क्षणों को देनी चाहिये जो अधिक उपभोग-क्षम हैं। एवमेव उन व्यक्तियों को अधिकतम सुख लाभ के हेतु प्राधान्य देना चाहिए जो व्यक्ति अधिक उपभोग-क्षम हैं। सभी मनुष्यों की उपभोग-क्षमता समान नहीं है।

इस प्रकार, दूरदर्शिता चंचल क्षणों के लिए नहीं बल्कि अपने सम्पूर्ण जीवन के सुख लाभ का आदेश देती है। परोपकारशीलता व्यक्तियों के ही नहीं बल्कि मानव

---

1. सिजविक।
2. सिजविक।

जाति के सुख लाभ का आदेश देती है। न्याय मानव-समाज के अधिकतम सुख के लिये अधिक-योग्य के अधिक सुख का आदेश देता है।

व्यावहारिक बुद्धि का द्वैत (Dualism of Practical Reason)--सिजविक स्वार्थ और परार्थ का सम्बन्ध कराने में असमर्थ है। दूरदर्शिता अपने ही अधिकतम सुख के अनुसरण के लिए प्रवृत्त करती है। परोपकारशीलता सम्पूर्ण मानव-जाति के अधिकतम सुख के अनुसरण का आदेश देती है। इस प्रकार दोनों बुद्धिमूलक सिद्धान्त परस्पर-विरोधी सिफारिशें करते हैं। स्वयं सिजविक मानता है कि बुद्धि के दो विभिन्न आदेशों में परस्पर विरोध है। वह इसे "व्यावहारिक बुद्धि का द्वैत" की संज्ञा देता है। अपना हित प्रधानतः अपना ही सुख होता है। केवल गौण-रूप में ही इस बात का बोध होता है कि दूसरों का सुख-साधन भी करना चाहिए। दोनों के विरोध से व्यक्ति कदापि निराश नहीं हो सकता। हम अपने अधिकतम सुख के अनुसन्धान के लिए प्रयास करते हैं, फिर भी हमें संवेदनशील प्राणियों के सम्पूर्ण समुदाय के अधिकतम सुख के लिये यत्नशील होना चाहिए। सिजविक बुद्धि के इन दो आदेशों के विरोध का परिहार करने में असमर्थ है।

इस प्रकार, सिजविक उपयोगितावाद को बुद्धिवाद अथवा परोक्ष ज्ञानवाद से संयुक्त कर देता है, अतः उसका सिद्धान्त बुद्धिमूलक उपयोगितावाद कहलाता है।

(२) बुद्धिमूलक उपयोगितावाद की समीक्षा
(Criticism of Rational Utilitarianism)

सिजविक की यह भ्रान्त धारणा है कि सुख अथवा आनन्द परम है तथा "एकान्त रूप से सुख का ही प्रकृत मूल्य है, प्रत्येक अन्य वस्तु गौण है। परम शुभ, सुख अथवा सवेद्य शुभ नहीं हो सकता। वह आत्मा को, संवेदनशील तथा विचार-शील, ऐन्द्रिय तथा बौद्धिक दोनों हैं, तृप्त नहीं कर सकता। सिजविक द्वारा अनुभूति को मानव स्वभाव का प्रधान तत्व माना जाना उपयुक्त नहीं है। बुद्धि और संकल्प प्रधान तत्व हैं। मनुष्य बुद्धि, अनुभूति और संकल्प का संयोग है; और मनुष्य की आदर्श स्थिति मानव-स्वभावगत तत्वत्रय की वह आदर्श अवस्था है जिसमें तीनों में आदर्श सम्बन्ध स्थापित हो चुका हो।"[4] सिजविक सुख को "वांछनीय चेतना" के अर्थ में ग्रहण करता है। जबकि व्यवहार में एक विचारशील प्राणी सुख को ही वांछनीय नहीं मान सकता, क्योंकि उससे बुद्धि को संतोष नहीं हो सकता। यह कथन आत्म-विरोधी है कि बुद्धि अपने ही लिये ऐसे शुभ को निर्धारित करती है जो स्व-भावतः अबौद्धिक है। चरम हित सुख नहीं, बल्कि पूर्णता है जो संवेदनशील को तथा इसके साथ ही बुद्धि को भी तृप्त करती है। सुख स्वयं मूल्य नहीं है; वह मूल्य का सूचक है; वस्तु मूल्य होती हैं, वस्तु का मूल्याँकन किया जाता है और उसके साथ सुख पाया जाता है। सुख भावात्मक मूल्यों का सूचक है और दुःख अभावात्मक मूल्यों का सूचक।

सुख की प्राप्ति के लिए सुख को लक्ष्य नहीं बनाना चाहिये। हमें ज्ञान,

4. *Theory of Good and Evil*, Vol. 1, p. 78.

संस्कृत, सौन्दर्य, शील अथवा नैतिक उत्कर्ष का अनुसरण करना चाहिये, जो प्रकृत्या मूल्यवान् हैं और आत्मा की आध्यात्मिक आकाँक्षाओं की तृप्ति करते हैं। आनन्द आत्मपूर्णता का निर्देश करता है। प्रकृत मूल्यों की उपलब्धि का लक्षण है। सिजविक ज्ञान और संकल्प का बलिदान करके अनुभूति के महत्व पर बल देता है। किन्तु, वास्तव में, ज्ञान और संकल्प, अनुभूति के तुल्य ही महत्व रखते हैं। वे सुख-प्राप्ति के साधनमात्र नहीं है। मानव-प्रकृति में बुद्धि का प्राधान्य है। बुद्धि वासनाओं की दास नहीं है वरन् वासनायें बुद्धि की दास हैं।

सिजविक ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि वह स्वार्थ और परार्थ का समझौता नहीं करा सकता। उसका विचार है कि दूरदर्शिता और परोपकारशीलता के सिद्धान्तों में विरोध है। यह उसके शब्दों में 'व्यावहारिक बुद्धि का द्वैत' है। स्वार्थ और परार्थ का सहयोग न करा पाने का कारण उसका सुख को सर्वोच्च शुभ मानना है। सुखवादी दृष्टिकोण से मार्टिन्यू के शब्दों में "स्वार्थ से परार्थ के लिए कोई मार्ग नहीं है।"[5] आत्म-पूर्णतावाद स्वार्थ और परार्थ में सहयोग कराने में समर्थ है। व्यक्ति जितना ही अधिक अपने व्यक्तिगत, संकुचित आत्मा की उपेक्षा करता है और अपने को समुदाय, जाति और मानवता व्यापक जीवन के साथ एकाकार करता है, उतना ही अधिक वह अपने वास्तविक, उच्चतर, सामाजिक अथवा बौद्धिकस्वरूप की तृप्ति करता है। उच्चतर आत्मा के दृष्टिकोण से प्रत्येक जीव दूसरे जीवन में अपना ही प्रतिबिम्ब देखता है।

सिजविक के तीनों सिद्धान्त मुख्यता नीति के परिमाणात्मक पक्ष का विचार करते हैं। अर्थात् वे यही बतलाते हैं कि शुभ की अधिक मात्रा ही वरणीय है। वे यह नहीं बतलाते कि विशेष-स्थिति में शुभ क्या है, वे यही बतलाते हैं कि व्यक्ति, स्थान और काल का विचार न करते हुए, शुभ की अधिक मात्रा ही वरणीय हैं।

सिजविक का "बुद्धिमूलक-उपयोगितावाद" में सुखवाद और बुद्धिपरतावाद का, उपयोगितावाद और सहज-ज्ञानवाद का असंगत मेल है। अन्तःकरण अथवा व्यावहारिक बुद्धि हमें अन्तिम शुभ देती है, फिर भी सुख वह है जो बुद्धि को अनिवार्यतः सन्तोष नहीं देती। बुद्धि परम शुभ देती है, जो अबौद्धिक है। परम मंगल ऐन्द्रिय सुख है। यह बौद्धिक आनन्द नहीं है। वासनाओं की तृप्ति सुख है। यह मत स्वविरोधी है कि बुद्धि परम शुभ देती है जो अबौद्धिक ऐन्द्रिक है। सिजविक् की यह भ्रान्त धारणा है कि ज्ञान और शील का साधन रूप में मान, सुख-मात्र प्रकृत-शुभ है और ये उसके साधन हैं। परन्तु वस्तुतः ज्ञान और शील प्रकृत-मूल्य हैं। सिजविक् इसके पहिचानने में सफल होता है, क्योंकि उसकी भ्रान्त कल्पना की चेतना में अनुभूति के अतिरिक्त अन्य तत्व नहीं हैं, अथवा ज्ञान और संकल्प अन्ततः मूल्यवान नहीं हैं। शील स्वतः साध्य है। बुद्धि के द्वारा जीवन के बौद्धिक आदर्श के अनुसार इच्छाओं को नियन्त्रित करना ही शील है। चरित्र-गुण स्वतः साध्य है। इसका आधार

---

5. *Types of Ethical Theory.*

सत्-संकल्प का अभ्यास है । इसमें ज्ञान और अनुभूति का भी समावेश होता है, किन्तु संकल्प चरित्र का सर्वप्रधान तत्व है । चरित्र बार-बार किये जाने वाले स्वतन्त्र संकल्पों का फल है । सच्चरित्र स्वतः शुभ है । शब्दान्तर में, शील या धर्म स्वतः साध्य या शुभ है । यह चरित्र की उत्कृष्टता है ।

सिजविक परम मंगल की सुखवादी कल्पना और फलस्वरूप नैतिकता के सुखवादी लक्षण तथा नैतिकता के सहज-ज्ञानवादी, बुद्धिवादी अथवा अन्तिम आधार के मध्य सामंजस्य-स्थापना नहीं कर सकता । शील या चरित्र को परम-शुभ के एक अथवा सर्वोच्च तत्व के रूप में स्वीकार किये बिना व्यावहारिक बुद्धि का द्वैत समाप्त नहीं हो सकता ।

निजविक ने सुख को ही एकमात्र शुभ माना है, फिर भी उसका मत है कि कर्म के सुख के अतिरिक्त अन्य लक्ष्य भी होते हैं । वह कभी वस्तुओं की सुखप्रदता के विषय में कहता है, कभी उनकी युक्तियुक्तता के विषय में । तथापि उसने स्वयं यह स्वीकार किया है कि ये दोनों पृथक्-पृथक् मानदण्ड हैं । वस्तुतः सिजविक बुद्धि की नींव पर सुखवाद का स्थापना करके उसके आधार को निर्बल बना देता है । "बुद्धिमूलक उपयोगितावाद" स्वविरोधी है । सुखवाद उपयोगितावाद के दोषों का निवारण पूर्णवाद के दृष्टिकोण से हो सकता है, जो संवेदनशीलता तथा बुद्धि दोनों के अधिकारों के साथ न्याय रखता है । अनुभवमूलक सुखवाद अथवा उपयोगितावाद के दोषों का निवारण सिजविक के बुद्धिमूलक उपयोगितावाद के द्वारा नहीं हो सकता, जो स्वयं आत्म-विरोधों से पूर्ण है ।[6]

6, Broad, *Five Types of Ethical Theory* Rashdall, *Theory of Good and Evil*, Vol. I, Mortineas, *Types of Ethical Theory*, Seth, *Ethical Principles*,

(१) सिजविक का बुद्धिमूलक उपयोगितावाद तथा रैशडैल का आदर्श उपयोगितावाद (Sidgwick's Rational Utilitarianism and Rashdall's Ideal Utilitarianism)—

सिजविक ने अपने उपयोगितावाद के सिद्धान्त को बुद्धि पर आधारित किया है। बुद्धि नैतिक शक्ति है। सुख सर्वोच्च हित है। इसकी सहज बुद्धि प्रेरणा द्वारा होती है। आत्म-प्रेम, परोपकारशीलता और न्याय सुख के वितरण के युक्ति-युक्त सिद्धान्त हैं। इन सिद्धान्तों का उद्देश्य मानव-समाज का अधिकतम सुख है। सिजविक ने इन तीन सिद्धान्तों को बटलर से लिया है। रैशडैल भी अपने उपयोगितावाद को बुद्धि पर आधारित करता है। उसकी दृष्टि में नैतिक शक्ति ही बुद्धि है। **कान्ट** की भाँति वह इसे नैतिक बुद्धि (Moral Reason) अथवा व्यावहारिक बुद्धि (Practical Reason) कहता है। इस सहज ज्ञान द्वारा, सर्वोच्च हित का ज्ञान हो जाता है। धर्म अथवा सच्चरित्रता, ज्ञान, संस्कृति, सुन्दरता तथा सुख ही सर्वोच्च हित का निर्माण करते हैं।

नैतिक निर्णय मूल्य (Value) के निर्णय होते हैं। वे श्रेष्ठ हित का निर्णय करते हैं। वे तुरन्त तथा प्रत्यक्ष रूप से यह निर्णय नहीं करते कि सत् क्या है। सत् परम हित की प्राप्ति का एक साधन है। यह परम हित की प्राप्ति में सहायक होता है। यदि कोई कार्य सार्वभौमिक कल्याण अथवा पूर्णता की प्राप्ति में सहायक होता है तो वह सत है। इसमें धर्म अथवा चरित्र की श्रेष्ठता, ज्ञान, संस्कृति सौन्दर्य तथा सुख का समावेश होता है, जो कि नैतिक बुद्धि की दृष्टि में मूल्यवान हैं। धर्म (Virtue) सर्वोच्च मूल्य है। ज्ञान, सौंदर्य तथा सुख धर्म से निम्नकोटि के मूल्य हैं। कुछ सुख अच्छे तथा कुछ बुरे होते हैं। नैतिक बुद्धि द्वारा समर्थन प्राप्त अच्छे सुख ही आनन्द हैं। किसी कार्य की सत् प्रकृति उसके परिणाम पर अवलम्बित होती है। यदि वह कार्य सार्वभौमिक कल्याण में सहायक है तो वह सत् है और यदि वह उसके विरुद्ध है तो वह असत् है। इसी प्रकार रैशडैल के सिद्धान्त को उपयोगितावाद कहा जाता है। परन्तु वह सुख को मानवता के कल्याण का एक अंग तथा धर्म से निम्नकोटि का मानता है। इस कारण उसके सिद्धान्त को आदर्श (Ideal Utilitarianism) कहा जाता है। यह सुखवादी नहीं है। यह सुख को ही अन्तिम ध्येय नहीं मानता। धर्म अथवा श्रेष्ठ चरित्र ही सर्वोच्च मूल्य है। "वह मूल्य सब मूल्यों से श्रेष्ठ है।"[1]

सुख एक हित है। अपने में और दूसरों के भीतर सुख की वृद्धि करना उचित है। परन्तु यह सर्वोच्च हित नहीं है। धर्म का बलिदान करके सुख का अनुसरण

1. *Theory of Good and Evil*, Vol. I, p. 138.

करना नैतिक दृष्टि से उचित नहीं हैं। सुख का अनुसरण धर्म की समुचित आधीनता में किया जाना चाहिए।

ज्ञान तथा सुन्दरता ऐन्द्रिय सुख की अपेक्षा अत्यधिक ऊँची वस्तुएँ हैं। वे हमारी बौद्धिक, सौन्दर्य सम्बन्धी, यथा भावात्मक इच्छाओं की पूर्ति करती हैं। ऐन्द्रिय सुख हमारी प्रकृति के ऐन्द्रिय अंग की ही सन्तुष्टि करता है। रैशडैल के अनुसार, "हम ज्ञान, संस्कृति, सौन्दर्य के उपभोग तथा प्रत्येक प्रकार की बौद्धिक क्रिया को खाने पीने शारीरिक व्यायाम या अन्य पशु-प्रवृत्तियों के तुष्टिकरण से समुत्पन्न सुखों की अपेक्षा अधिक उच्चकोटि का महत्व देते हैं।"[2] नैतिकता सच्चे मानवीय सुखों की अपेक्षा सन्निहित है, परन्तु वह हित ऐसा है जिसमें सुख केवल एक तत्व मात्र है।"[3] एक अच्छे जीवन में सच्चे हित के विविध तथ्यों के मध्य परस्पर सामंजस्य होता है। वास्तविक हित की विविध हितों के मध्य एक व्यावहारिक एकता की स्थिति है।

बुद्धिसंगत आत्म-प्रेम (Self Love), बुद्धि संगत परार्थ-परायणता (Benevolence), तथा न्याय (Justice) सब हित के वितरण के सिद्धान्त हैं। आत्म-प्रेम स्वयं व्यक्ति के भीतर हित अथवा सुख के वितरण का सिद्धान्त हैं। सुख के विभिन्न क्षणों की ओर ध्यान न देकर इसका उद्देश्य व्यक्तिगत जीवन में अधिकतम सुख की प्राप्ति है। परार्थ-परायणता मानव-समाज के भीतर हितों के विवरण का सिद्धान्त है। इसका उद्देश्य मनुष्य-समाज के अधिकतम हित की प्राप्ति है। यह दूसरों के हितों को अपने हित के समान मूल्यवान समझता है। यह हमारे छोटे हितों के सामने दूसरे व्यक्तियों के बड़े हितों को प्रधानता देने का सिद्धान्त है। न्याय, समाज और व्यक्ति के मध्य हित के वितरण का सिद्धान्त है। प्रत्येक व्यक्ति का यह अधिकार है कि उसके हित पर समान रूप से विचार किया जाये। तथापि हित के उपभोग की उसकी क्षमता को दृष्टिगत रखना चाहिये। इस प्रकार कुछ व्यक्ति जिनके पास ज्ञान व संस्कृति (Culture) प्राप्त करने, सौन्दर्य तथा सुख का उपभोग करने व चरित्र की महत्ता प्राप्त की शक्ति अधिक मात्रा में है, उनके हितों पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिये। अतः न्याय की यह माँग है कि मनुष्यों में हित का वितरण समानता के आधार पर किया जाए। इसका यह अर्थ नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी क्षमता अथवा योग्यता पर ध्यान दिये बिना ही हित की समान मात्रा प्राप्त हो जानी चाहिये। वितरण के सिद्धान्त का उद्देश्य मानवीय हित, कल्याण अथवा पूर्णता की अधिकतम वृद्धि है। रैशडैल ने अपने सिद्धान्त को आदर्श उपयोगितावाद की संज्ञा दी है सुखवाद को नहीं। कभी-कभी वह उसे आत्म-तृप्तिवाद (Eudaemonism) कह कर भी पुकारता है।

रैशडैल ने मूल्यों की समपरिमाणता (Commonsurability of Values)

---

2. पूर्व पुस्तक पृ० १६१।
3. पूर्व पुस्तक पृ० २१७।

का एक विशेष अर्थ में विचार किया है। धर्म या चरित्र का उत्कर्ष सर्वोच्च मूल्य है। ज्ञान इसकी अपेक्षाकृत निम्न है। तत्पश्चात् सौन्दर्य है। सुख सौन्दर्य से भी निम्नतर है। अतः मूल्यों का नैतिक मूल्यांकन सम्भव है। यह निर्धारण किया जा सकता है कि कौन मूल्य अन्य मूल्यों में उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट है। यह कार्य नैतिक बुद्धि द्वारा सहज ही किया जा सकता है। परन्तु मूल्यों के समपरिमाणता का यह अर्थ नहीं है कि एक मूल्य का कुछ निर्दिष्ट परिणाम अन्य मूल्य के कुछ निर्दिष्ट परिमाण के तुल्य है। शारीरिक व्यायाम का निर्दिष्ट-परिमाण ज्ञान-अनुशीलन के निर्दिष्ट परिमाण के सदृश नहीं हो सकता अथवा ज्ञान-चर्चा का निर्दिष्ट परिमाण चरित्रोत्कर्ष के निर्दिष्ट परिमाण के समान नहीं हो सकता। अथवा इन्द्रिय-सुख का पर्याप्त परिमाण धर्म अथवा संस्कृति (Culture) का सन्तोषजनक स्थानापन्न मूल्य नहीं हो सकता। वस्तुतः उत्कृष्ट मूल्य निकृष्ट मूल्य से सदैव अधिक वरणीय है। मूल्यों की समपरिमाणता का अर्थ यह है कि जब विभिन्न प्रकार के मूल्यों में संघर्ष होता है, हम उनका उचित रूप के मूल्यांकन कर सकते हैं। रैशडैल के अनुसार, "जब हम उत्कृष्ट मूल्य और निकृष्ट मूल्य दोनों को नहीं पा सकते, और हमें उनमें से एक को चुनना पड़ता है तब हम उनकी तुलना करके एक को दूसरे से उत्कृष्ट निर्धारित कर सकते हैं।"[4] उनमें से एक को चुनने के लिये वे समपरिणाम (Commonsurable) हैं।" यह नैतिक-चेतना का स्पष्ट प्रत्यक्ष है कि कोई कर्म कदापि सत् नहीं हो सकता, यदि यह शुभ को उत्पन्न न करे, और जब हमें शुभों में से किसी एक शुभ को चुनना पड़ता है, तब अधिकतर शुभ को चुनना सदा सत् है। यह मत सूचित करता है कि सर्व प्रकार मूल्यों की तुलना की जा सकती है, प्रत्येक मूल्य के मूल्यों की नैतिक तालिका में विशेष स्थान पर हम स्थापित कर सकते हैं।"[5]

(२) आदर्श उपयोगितावाद की समीक्षा
(Criticism of Ideal Utilitarianism)—

रैशडैल के आदर्श उपयोगितावाद में सत्य के कुछ तत्व निहित हैं। नैतिक निर्णय मूल्यों के निर्णय होते हैं। वे नैतिक बुद्धि के निर्णय होते हैं। यह सहज ज्ञान द्वारा सर्वोच्च हित की कल्पना कर लेता है। मूल्य एक तर्कसंगत अथवा बौद्धिक वस्तु है। धर्म, ज्ञान, सौन्दर्य तथा सुख सर्वोच्च हित के अंग हैं। धर्म या चरित्रोत्कर्ष सर्वोच्च मूल्य है। यह हमारी नैतिक प्रकृति को सन्तुष्ट करता है। ज्ञान हमारी बौद्धिक प्रकृति को सन्तुष्ट करता है। इसी प्रकार सौन्दर्य, हमारे-सौन्दर्य-प्रिय स्वभाव के सुख, ऐन्द्रिय प्रकृति को सन्तुष्ट करता है। ये तत्व पूर्णता अथवा मानव-समाज के कल्याण के अंग हैं। वे मानवीय प्रकृति के विभिन्न पहलुओं का समाधान करते हैं अतएव इसका अर्थ यह है कि आत्मप्राप्ति या आत्मपूर्णता ही सर्वोच्च हित है। आत्मप्राप्ति का अर्थ आत्मा के सर्वोच्च मूल्यों की सिद्धि है। परन्तु रैशडैल ने इसी स्वीकार नहीं किया है। यदि हम उपयोगितावाद में सन्निहित सम्भावनाओं को स्पष्ट

4. *Theory of Good and Evil*, Vol. I, p. 39.
5. वही पुस्तक, अध्याय ३।

कर दें तथा उन्हें एक सामंजस्यपूर्ण एकता के रूप में सिद्ध कर दें तो छद्मवेश में आत्मपूर्णतावाद ही ठहरेगा। वैसे, रैशडैल ने आत्मप्राप्ति के सिद्धान्त का व्यंग्य चित्र खींचा है। उसने उसे स्वार्थपरक सुखवाद कहा है।

(३) मूर का आदर्श उपयोगितावाद
(G. E. Moore's Ideal Utilitarianism)

मूर 'शुभ' की धारणा को सरल, अव्युत्पन्न, विलक्षण और परिभाषाहीन मानता है। इसका ज्ञान सहज व अपरोक्ष है। वह कहता है, "शुभ एक सरल तत्व है, जैसे पीला रंग सरल तत्व है। जिसको पीले रंग का ज्ञान नहीं है, उसे इस ज्ञान का स्वरूप नहीं समझा सकते।[6] इस प्रकार जिसको शुभ का ज्ञान नहीं है उसे इसका स्वरूप नहीं समझा सकते।" शुभ की संज्ञा करना असम्भव है। यह सुख, सौन्दर्य आदि में परिणित नहीं हो सकता। शुभ को अन्य तत्व में परिणत करने में प्रकृतिवादी दोष (Naturalistic Fallacy) होता है। शुभ एक सरल, अमिश्रित, तथा अविशेष तत्व है। इसका विश्लेषण व स्पष्टीकरण नहीं हो सकता।[7] एक जटिल तत्व की संज्ञा हो सकती है। एक अश्व की संज्ञा हो सकती है, क्योंकि इसके विभिन्न गुण और धर्म हैं।[8] परन्तु, शुभ एक सरल तत्व है। इसलिये इसकी संज्ञा नहीं हो सकती। तर्क विज्ञान में एक अपराजाति की संज्ञा हो सकती है, क्योंकि इसकी पराजाति है। परन्तु शुभ की कोई पराजाति नहीं है। अतः शुभ की संज्ञा नहीं हो सकती।[9]

सुखवादी शुभ का स्पष्टीकरण सुख की प्रतीति से करता है। बुद्धिपरकतावादी जैसे कान्ट (Kant) शुभ का स्पष्टीकरण इन्द्रियों के द्वारा अग्राह्य सदिच्छा अथवा सतकृति से करता है। देकार्ते (Descarte), लाक (Locke) आदि शुभ का स्पष्टीकरण ईश्वर का आदर्श से करते हैं। ये प्रकृतिवादी दोष करते हैं। यह शुभ को 'अशुभ' धर्म में, अथवा प्राकृतिक धर्म में परिणत करता है।[10]

मूर के मतानुसार, स्वयं शुभ एक जैव अवयवी (Organic Whole) है, जो कि इसके अंशों की समष्टि मात्र नहीं, परन्तु एक विशेष अर्थ में इनकी समष्टि से अधिक है। एक जैव शरीर में विभिन्न अंश एक साथ पारस्परिक निकट सम्बन्ध में रहकर कार्य करते हैं। इसमें अवयवी (Whole) अंशों की समष्टि से कुछ अधिक है। एक जैव एकता में अंश परस्पर कारण कार्य-सम्बन्ध में सम्बद्ध हैं। इसमें अंश की वर्तमान स्थिति नहीं होती यदि जैव अवयवी अथवा एकता न होती। परन्तु, मूर इस व्याख्या को सन्तोषजनक नहीं समझता, क्योंकि यह बोधगम्य नहीं है और यह वास्तविक एकता में प्रयोज्य नहीं है। यह व्याख्या अंशों के सम्बन्धों की निकटता को व्यक्त करता है। मूर एक जैव अवयवी (Organic Whole) अथवा एकता को एक मूल्य

6. *Principle Ethics*, 1959, p. 7.
7. वही पुस्तक, अध्याय २।
8. वही पुस्तक, पृष्ठ ७।
9. S Zink, The Concepts of Ethics, 1962. pp. 15–20, 53–56.
10. वही पुस्तक, पृष्ठ/२३।

मानता है। जैव अवयवी का मूल्य (Value) अंशों के मूल्यों से उत्कृष्ट मूल्य है, इसके अंशों की समष्टि का मूल्य उत्कृष्ट है। मूर सुन्दर वस्तुओं का उपयोग और मनुष्यों के सम्बन्ध को स्वयं शुभ मानता है, वह सुन्दर को शुभ मानता है, जो कि बौद्धिक चुनाव पर आश्रित नही हैं। वह मूल्यांकन (Valuation) में आत्मगत (Subjective) तत्व अथवा चेतन चुनाव का गुरुत्व नहीं मानता है।[1] उसके मतानुसार स्वयं शुभ, एक सरल, विलक्षण, अविशेष्य तत्व है। यह अपरोक्ष-ज्ञान से ज्ञात होता है। आत्मा की विशेष शक्ति नहीं होती, जिससे यह ज्ञात होता है। इसकी अपरोक्ष ज्ञान के लिये कोई विशेष शक्ति नहीं है। मूल्य निर्णयों में भ्रान्ति हो सकती है। परन्तु, स्वयं शुभ के अर्थ का स्पष्टीकरण युक्ति द्वारा नहीं हो सकता। स्वयं शुभ-सम्बन्धी वाक्य शक्ति द्वारा विचार योग्य नहीं है।

मूर-सद्-भाव को एक कर्म का विषय-गत (Objective) धर्म मानता है, जो कि एक व्यक्ति का आत्मगत झुकाव (Subjective Attitude) से भिन्न है। एक कर्म का सद्भाव अथवा औचित्य (Rightness) कर्म के विषयगत बाह्य औचित्य पर निर्भर है, उसके आत्मगत आन्तरिक औचित्य पर नहीं। इस लक्षण में मूर का मत रौस (Ross) के मत की भाँति है। मूर के अनुसार, "हमारे कर्त्तव्य की सत्ता इस प्रकार हो सकती है, जैसे एक कर्म जो कि विश्व में अधिकतर शुभ को उत्पन्न करेगा अन्य कर्म की अपेक्षा।"[12]

लेकिन, रौस के मतानुसार हमारा कर्त्तव्य एक विशेष परिस्थिति में, एक विशेष कर्त्तव्य को करने में निहित है। रौस परिणाम निरपेक्षवादी (Deontologist) है। वह सद्भाव (Rightness) को समग्र परिस्थिति में एक विलक्षण नैतिक योग्यता (Moral Suitability) मानता है। किन्तु, मूर सद्भाव अथवा औचित्य को एक विशेष परिस्थिति में अधिकतम सम्भव शुभ का जनक मानता है। वह परिणामवादी और मूल्यवादी (Axiologist) है। यहाँ यह स्मरणीय है कि मूर अधिकतम शुभ (Greatest Good) के जनक को सत् अथवा उचित मानता है, अधिकतम सुख के जनक को नहीं। यह सिजविक के मत के विपरीत हैं, और रैशडैल का मत के सदृश है।[13]

मूर औचित्य के निर्धारण के लिये प्रयोजन (Motion) तथा अभिप्राय (Intention) को गुरुत्व नहीं देता है। यदि एक कर्म के परिणाम, जो कि पहले से विचारपूर्वक परिगणित हुए हैं, बुरे हैं, तब उस कर्म का प्रयोजन अथवा अभिप्राय अच्छा होने पर भी उस कर्म को सत् अथवा उचित नहीं ठहराया जा सकता। औचित्य नियम के अनुसार कर्म करने में निहित नहीं है। यदि कोई कर्म एक नियम के अनुयायी हो, किन्तु बुरे परिणामों को उत्पन्न करे, तो वह उचित या सत् नहीं हो सकता।

---

11. वही पुस्तक, pp. 27–30, 187–88.
12. वही पुस्तक, पृष्ठ 248।
13. G. E. Moore, Ethics, p. 25. ff

औचित्य अधिकतम शुभ परिणामों की अनुकूलता है। परिणाम व्यापक अर्थ में ग्रहण योग्य है।[14]

मूर अपरोक्ष-ज्ञानवादी (Intuitionist) है। वह औचित्य को अपरोक्षज्ञान-बोध्य मानता है। परन्तु, वह रौस के समान, परिणाम-निरपेक्षवादी (Deontologist) नहीं है।[15] यह सुखवाद का समर्थक नहीं है। वह 'शुभ' को 'सुख', 'सामाजिक एकता अथवा स्वास्थ्य' या 'अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख' में परिणत नहीं करता है। वह सुखवादी उपयोगितावादी (Hedonistic Utilitarian) नहीं है, क्योंकि इस मत में अधिकतम सुख में ज्ञान, प्रेम, सौन्दर्य का उपभोग, और चरित्रोत्कर्ष का कोई स्थान नहीं है।[16] मूर आदर्श उपयोगितावाद का समर्थक है, जो कि सुखवादी उपयोगिता से उत्कृष्ट है।[17] वह एक कर्म को सत् मानता है, जो कि अधिकतम सम्भाव्य 'शुभ' का जनक है।[18]

अतः वह, रैशडैल के तुल्य, असुखवादी आदर्श उपयोगितावादी का समर्थक है।[19] शुभ सुख से अभिन्न नहीं है। किन्तु, इसमें सुख, ज्ञान, सौन्दर्य, धर्म और सामाजिक सम्बन्ध भी समाविष्ट हैं। रैशडैल शुभों का एक श्रेणी क्रम देता है। लेकिन मूर श्रेणी-क्रम को नहीं मानता। मूर इसे सिद्ध नहीं करता है कि जो कर्म 'अधिकतम शुभ का जनक' है, वह सत् अथवा उचित है, क्योंकि वह इस सूत्र (Principle) को स्वयं-सिद्ध (Self-evident) मानता है।[20]

मूर के आदर्श उपयोगितावाद की समीक्षा
(Criticism of Moores's Ideal Utilitarianism)

(१) मूर 'शुभ' को एक सरल, अविश्लेष्य और अनभिधेय तत्व मानता है। परन्तु, 'शुभ' की व्याख्या 'मूल्य' की धारणा के सम्बन्ध में हो सकती है। यह अवधिधेय नहीं है। इसका स्पष्टीकरण हो सकता है। 'शुभ' अनेक मूल्यों की समष्टि है। मूल्य भावनात्मक और अभावनात्मक है। भावनात्मक मूल्य सुखप्रद है। अभावनात्मक मूल्य दुःखप्रद है। नैतिक दृष्टि से परम शुभ उत्कृष्टतम भावात्मक मूल्य है, जो कि मनुष्य द्वारा उपलब्ध हो सकता है। जो मूल्य आत्मा की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, और आत्मा को तृप्त करता है, वह शुभ है। मूर का यह कथन उचित है

---

14. वही पुस्तक पृष्ठ २०६–०७, २२२।
    Principia Ethics pp. 96 ff.
15. O. A. Johnson. Rightness and Goodness, pp. 46–47.
16. Moore, Ethics, p. 237.
17. O. A. Johnson, Rightness and Goodness, p. 5.
    Garvin, A Modern Introduction to Ethics, pp. 896 and 294.
18. Ross, Foundation of Ethics, pp. 42.
19. वही पुस्तक पृष्ठ ६७।
20. Moore, Ethics, p. 168–69.

कि शुभ का अपरोक्ष ज्ञान होता है। किन्तु सन्देहपूर्ण परिस्थिति में यह बौद्धिक विचार का विषय है। परम शुभ प्राय: बौद्धिक विचार का विषय है।

(२) मूर प्रकृतिवादी दोष पर अत्यधिक बल देता है। अर्थात् जिस प्रकार बिना विशेष सुन्दर वस्तुओं के जिक्र किये 'सुन्दर' बोधगम्य नहीं होता, उसी प्रकार बिना सत् कर्मों के जिक्र किये 'शुभ' ज्ञानगम्य नहीं होता। न्याय, परोपकार आदि कर्म सत् हैं। इनसे 'शुभ' की धारणा होती है। 'मूर 'साध्य शुभ' और 'साधन शुभ' में भेद नहीं करता है। वस्तुत: सुस्वादु भोज्य और उत्कृष्ट गीत में भेद है। पहिला साधन रूप से शुभ है; दूसरा साध्य रूप से शुभ है और शुभ के मूल्यांकन करने में आत्मगत तत्व-चेतन बौद्धिक चुनाव को गुरुत्व नहीं देता है। वह शुभ को बौद्धिक चुनाव पर आधारित नहीं मानता है। परन्तु सत्य, सुन्दर और नैतिक शुभ का मूल्यांकन होता है, जबकि वह चेतन बौद्धिक चुनाव का विषय होता है।[21] यह 'शुभ' को आत्मगत (Subjective) नहीं करता। शुभ विषयगत (Objective) है, तब भी यह चेतना चुनाव का विषय है।

(३) मूर 'स्वयं शुभ' को 'जैव एकता' (Organic Whole) मानता है और जैव एकता की व्याख्या मूल्य के रूप में करता है। जैव एकता मूल्य इसके अंशों की समष्टि के मूल्य से अधिक है। परन्तु यह जैव एकता के गुणों का वर्णन नहीं करता। जैव एकता में इसके अंश ऐक्य के लिये परस्पर सहयोग करते हैं। यह भी जैव एकता की परिभाषा हो सकती है। यह मूर के अभिप्राय को भी व्यक्त करता है कि एकता इसके अंशों की समष्टि से कहीं अधिक है। तब भी यह मूल्य के प्रत्यय को प्रयोग नहीं करता है। कुछ 'स्वय शुभ' वस्तुयें जटिल हैं और जैव एकतायें प्रतीत होती हैं। सौन्दर्य का उपभोग एक जैव एकता है जिसमें कई भिन्न तत्व ऐक्य रूप में परिणत होते हैं। मूर ने यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा कि चेतना और सुख की अनुभूति सौन्दर्य-बोध में आवश्यक तत्व है या नहीं। वह सुन्दर वस्तुओं का उपभोग और सामाजिक साहचर्य को स्वयं शुभ (Intrinsically Good Things) मानता है। सत्य का ज्ञान, सुन्दर वस्तुओं का सृजन और ईश्वर का भजन तथा उससे ऐक्य की अनुभूति भी स्वयं शुभ हैं।[22]

(४) मूर एक कर्म के सद्-भाव अथवा औचित्य (Rightness) को विषयगत गुण मानता है जो कि अपरोक्ष ज्ञान से ज्ञात होता है। यह 'अधिकतम शुभ' के अनुकूल है, अधिकतम सुख के नहीं। परन्तु एक कर्म का सद्भाव समष्टि परिणामों पर निर्भर है। इसलिए इसका अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। किन्तु विभिन्न सम्भाव्य कर्मों के परिणामों को तथा इनके प्रकृतिगत मूल्यों की बौद्धिक परिगणना (Rational Calculation) से ज्ञात हो सकता है।[23]

---

21. Manual of Ethics, pp. 219–24.
22. An Introduction to Ethics, pp. 234–38.
23. *Ethics in Theory and Practice*, p. 302.

(५) रैशडैल की भांति मूर भी शुभों की श्रेणी को नहीं मानता है। मूर का सत्-भाव तथा कर्त्तव्य के मध्य भेद कृत्रिम है। मूर न्याय और विशेष कर्त्तव्यों के दावों की अवहेलना करता है। वह सत् को अधिकतम शुभ के अनुकूल मानता है। यह सत्-कर्म अधिकतम शुभ को उत्पन्न कर सकता है, तब भी एक व्यक्ति के विरुद्ध हो सकता है जिसके प्रति कर्म कर्त्ता के विशेष कर्त्तव्य (Special Obligation) है। एक व्यक्ति निश्स्व होने से बचने के लिये वह महाजन को ऋण नहीं देता है, परन्तु उसका कर्म महाजन के प्रति अत्यन्त अन्यायपूर्ण और इसलिये अनैतिक एवं असत् है।

(६) रैशडैल की भांति मूर धर्म (Virtue) को पर्याप्त महत्व नहीं देता है। मूल्यों में धर्म और अन्त:करण के अनुयायी होने का स्थान उच्च है। यद्यपि न्याय और परोपकार का गुण सामाजिक धर्म हैं, तब भी धर्म परोपकार के गुण से उत्कृष्टतर है। एक व्यक्ति को परोपकारी होने को कोई अधिकार नहीं है जब तक वह न्याय के दावों को पूरा नहीं करता, या जब तक वह उसके विशेष कर्त्तव्य को नहीं करता। अधिकतम शुभ परिणामों का जनक कर्म की अपेक्षा धर्म और अन्त:करण-परता के अनुकूल कर्म अधिक प्रशंसनीय है। मूर स्वयं स्वीकार करता है कि एक सत् कर्म निन्दनीय हो सकता है, जबकि एक असत् कर्म प्रशंसनीय हो सकता है। वह इस विरोधाभास (Paradox) का त्याग कर सकता अगर वह धर्म और अन्त:करणपरता (Consciencíousness) को सर्वोच्च माध्यम मूल्य (Intrinsic Value) स्वीकार करे।[24] रैशडैल धर्म को ज्ञान तथा कृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण और ज्ञान तथा कृष्टि को सौन्दर्य में अधिक महत्वपूर्ण, और सौन्दर्य को सुख से अधिक महत्वपूर्ण मानता है।

(७) मूर का मत सद्भाव (Rightness) के मूल्यवादी मत के समर्थक होने के नाते ठीक है। वह उस कर्म को सत् मानता है जो कि जगत् में अधिकतम सम्भाव्य 'शुभ' का जनक है। यह स्वयं शुभ वस्तुओं को 'शुभ' में समाविष्ट करता है। लेकिन वह उन्हें आत्मा से सम्बन्धित नहीं करता और उन्हें आत्मपूर्णता के साधन नहीं मानता। आत्मपूर्णता से विविक्त होकर उनका कोई नैतिक मूल्य नहीं है। मूर के आदर्श उपयोगितावाद में आत्मपूर्णतावाद स्पष्ट रूप से निहित है। अगर इसके यथार्थ अर्थ को स्पष्ट किया जाये तो यह आत्मपूर्णतावाद से अभिन्न मालूम होगा। रैशडैल ने स्वयं उसका आदर्श उपयोगितावाद (Eudaemonism) कहा। मूर का आदर्श उपयोगितावाद (Eudaemonism) कहा। मूर का आदर्श उपयोगितावाद आत्मपूर्णतावाद के विरुद्ध नहीं है।

24. वही पुस्तक, पृ० ३२६–३०।

(१) अदार्शनिक सहज-ज्ञानवाद (Philosophical Intuitionism)—

अपरोक्ष ज्ञानवाद या सहज ज्ञानवाद इस मान्यता पर आधारित है कि बिना उद्देश्यों और परिणामों का विचार किये, अन्त:करण को विशेष कर्मों के सत् या असत् भाव की सहज उपलब्धि हो जाती है। यद्यपि सिजविक सहज-ज्ञानवाद के इस रूप को अदार्शनिक कहता है। कर्म स्वत: अपने स्वभाव के अनुसार सत् या असत् होते हैं, न कि जिन उद्देश्यों की प्राप्ति के हेतु वे किये जाते हैं। अन्त:करण को बिना लक्ष्यों से उनके सम्बन्धों का विचार किये ही उनके सत् या असत् होने का अपरोक्ष-ज्ञान हो जाता है। अन्त:करण नैतिक शक्ति है। कर्मों का नैतिक गुण अनुपम और अपूर्व होता है। उसको सत्य, सौन्दर्य, प्रेम, अथवा सामाजिक उपयोगिता में परिणत नहीं किया जा सकता। अन्त:करण को उसकी सहज उपलब्धि होती है।

सहज ज्ञानवाद नैतिक निर्णय के लिये कर्मों को अन्त:करण के न्यायालय में उपस्थित करता है, जो किसी विरोध या अपील को नहीं सुनता। अन्त:करण सब व्यक्तियों में एक सामान्य शक्ति है। यह अलग-अलग व्यक्तियों में स्थित व्यक्तिगत शक्ति नहीं है। अन्त:करण जो कि नैतिक निर्णय का मानदण्ड है, व्यक्ति में स्थित नहीं है। यह सार्वजनिक सामान्य नैतिक शक्ति है, जो विशेष परिस्थिति में प्रत्येक व्यक्ति को सत् कर्म तथा असत् कर्म बतलाती है। भिन्न-भिन्न अन्त:करणों के अनुभव परस्पर विरोधी नहीं होते।

म्यूरहेड के अनुसार, सहज-ज्ञानवाद परिकल्पनाओं में पाये जाने वाले सामान्य तत्व इस प्रकार हैं—

(१) अन्त:करण शुद्ध और मौलिक है, (२) उसके निर्णय अपरोक्ष हैं, (३) वह प्रभुत्वसम्पन्न है; और (४) सामान्य-रूप से सबके अन्दर पाया जाता है। तथापि उपरोक्त सामान्य तत्वों के आधार पर यह निर्णय नहीं लिया जा सकता कि वह सर्वत्र, सब व्यक्तियों में वह समान रूप से विकसित अवस्था में पाया जाता है। बुद्धि के विकास के साथ अन्त:करण की सहज उपलब्धि स्पष्ट हो जाती है।

(२) अदार्शनिक सहज-ज्ञानवाद की समालोचना
(Criticism of Unphilosophic Intuitionism)—

यदि अकारण कुछ कर्म सत् है, व कुछ असत्—यह नैतिक शक्ति के आदेश नितान्त स्वच्छन्द हैं और किसी सामान्य या विचारमूलक नियम के नि:सृत नहीं होते तो नैतिक निर्णय स्वच्छन्द मन की चपलता-मात्र रह जाते हैं, यह स्थिति किसी भी कर्त्तव्य के बाह्य मानदण्ड से विश्वास के विरुद्ध है।

यदि अन्त:करण को समस्या की परिस्थितियों के साथ अपना निर्णय परि-

वर्तित करने वाला माना जाये, और यदि सब व्यक्तियों के अन्त:करणों के तुल्य परिस्थितियों में अपने विकास के अनुपात के अनुसार एक ही निर्णय देने वाला माना जाये, तो कर्त्तव्य को बदलने वाली परिस्थितियों को न बदलने वाला भी परिस्थितियों से विकसित करने के लिये कोई नियम व सिद्धान्त मानना पड़ेगा, चाहे वह व्यक्ति की नैतिक चेतना में किसी अमूर्त्त-रूप में कितना ही कम विद्यमान क्यों न हो। इन निर्णयों के विश्लेषण के अन्तर, जिन सामान्य सिद्धान्त पर वे आधारित हैं उनका अनुसन्धान सम्भव होना चाहिये। अदार्शनिक सहज-ज्ञानवाद की प्रवृत्ति दार्शनिक बन जाने की ओर हो जाती है, क्योंकि वह नीति के सामान्य सिद्धान्तों का विचार करने को बाध्य होता है।

यदि यह मान भी लिया जाये कि अन्त:करण विशेष-कर्मों के सत् या असत् भाव को सहज-रूप से जान जाता है, तथापि यह प्रश्न किया जा सकता है कि हमें अन्धे, विवेकहीन मनोवेगों के ऊपर विश्वास ही क्यों करना चाहिये जो अपनी युक्ति-युक्तता का परिचय नहीं दे सकते। यदि इस प्रकार के नैतिक निर्णयों की सत्ता मान भी ली जाये तब भी उनकी प्रमाणिकता सिद्ध नहीं होती। यदि यह कहा जाये कि वे नैतिक बुद्धि के निर्णय हैं, तो भी क्या बिना उद्देश्यों और परिणामों का विचार किये कर्म में प्रवृत्त होना तर्क-संगत है? तर्क-संगत कर्म वही कहलाता है जो अन्तिम लक्ष्य अथवा उद्देश्यों के ज्ञान से युक्त हो और जिसमें उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये सर्वोत्तम उपायों के विचार निहित हों। नैतिक निर्णय, लक्ष्यों और परिणामों के विचार के बिना स्वेच्छाचारी, अयौक्तिक और अविश्वसनीय हैं।

जिन नैतिक प्रयत्नों को सहजात, स्वयं-सिद्ध और प्रामाणिक माना गया है उन्हें भी जाति, युग और व्यक्तियों के साथ बदलते हुऐ पाया गया है। हम माता-पिता का सम्मान करते हैं, किन्तु ऐसी भी जातियाँ हो चुकी हैं जिनमें उनका भक्षण एक पवित्र कर्त्तव्य माना जाता था। प्राचीन यूनान में पड़ौसी शहरों से जानवर चुराना अपराध नहीं समझा जाता था। सहजात-ज्ञानवाद समान कर्मों के ऊपर दिये गये नैतिक निर्णय के वैषम्य का कारण बतलाने में असमर्थ है। मद्यपान यूरोप में सत्कर्म माना जाता है, परन्तु भारत में यह असत् कर्म माना जाता है।

यदि कुछ नैतिक निर्णयों को किसी जाति या युग के सभी अथवा अधिकाँश लोगों में व्यापक भी पाया जाये, तो भी वे जिन नैतिक नियमों का विधान करते हैं वे यथार्थ परिभाषा के अयोग्य पाये गये हैं। "सभी अथवा प्राय: सभी पूर्णतया वर्णित नैतिक नियमों के अपवाद होते हैं।" उदाहरण के लिये यह आदेश कि 'तुम हिंसा नहीं करोगे' के कतिपय अपवाद हैं जैसे आत्म रक्षा, वैध युद्ध व न्यायाधीश के आदेशानुसार फाँसी आदि। देखने में स्पष्ट, अन्त:करण की सहज स्फूर्तियों को, स्पष्ट रूप से पूर्वज्ञात अशुभ परिणामों को देखते हुए त्याग देना पड़ेगा। यथा, कातिल को उसके शिकार के विषय में सब कुछ सच-सच बतला देना स्पष्टत: बुरा है, क्योंकि उसका परिणाम घातक होता है।

इस विचारणा से यह सि॰ होता है कि प्रत्येक नियम का परिणामों से कुछ सम्बन्ध अवश्य होना चाहिये। हम किसी कर्म को उसके वर्तमान या पूर्वज्ञेय परिणामों से अलग नहीं कर सकते। "परिणाम उस सीमा तक जहाँ तक उनका पूर्व-ज्ञान हो सकता है, वस्तुत कर्म के ही भाग हैं। आप बिना कुछ परिणामों का विचार किये किसी नियम का पालन नहीं कर सकते।"[1] आप परोपकार के नियम का पालन बिना यह पूछे नहीं कर सकते कि सड़क पर भिखमंगे को दान करने को उसका हित होगा या नहीं। परन्तु सहज ज्ञानवाद के अनुसार कर्मों के सद्भाव तथा असद् भाव परिणामों के विचार से शून्य हैं। जो कर्म सत् है वह स्वत: सत् है—सर्वत्र सत् है, सब अवस्था में सत् है, कभी असत् नहीं हो सकता। इसी प्रकार जो कर्म असत् है, वह स्वत: असत् है, कभी सत् नहीं हो सकता।

जहाँ नैतिक सहज-स्फूर्तियाँ परस्पर-विरोधी होती हैं, हमें वहाँ उद्देश्यों या परिणामों का विचार करने के लिये बाध्य होना पड़ता है। विरोधी नैतिक निर्णयों की उपस्थिति में हमें विरोध को दूर करने वाले बुद्धि-सिद्ध उद्देश्यों का विचार करना होगा, और मनुष्य जाति के हित के लिये साधक या बाधक परिणामों का भी। इस प्रकार उद्देश्यों और परिणामों पर विचार किये बिना विशेष-कर्मों को सत् व असत् नहीं जाना जा सकता।

अन्त में, "सहज-ज्ञानवादी कर्म के ऊपर अन्त:प्रज्ञात निर्णय देता है; हमें उद्देश्यों के विषय में अन्त:प्रज्ञा होती है; उसकी स्वत:प्रज्ञा 'यह सत् है' इस आकार की होती है; हमारी सदैव 'वह शुभ है' इस आकार की।"[2] अपरोक्ष-ज्ञानवाद के अनुसार 'सत्' सर्वोच्च नैतिक संज्ञा है। वह बिना किसी अन्य बात का विचार किये कर्म को स्वत: मानता है। किन्तु यह यथार्थ प्रतीत नहीं होता। 'सत्' 'शुभ' का साधन होता है। जो कुछ भी सत् है, शुभ को प्राप्ति के उपाय होने से सत् है। 'शुभ' ही सर्वोच्च नैतिक संज्ञा है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अदार्शनिक सहज-ज्ञानवाद अन्ध विश्वासी और विचारहीन है। वह नीति-विषयक प्रचलित लोकप्रिय विचारों की प्रामाणिकता का अन्ध-समर्थन है। शुभ का ज्ञान 'सत्' के ज्ञान का आधार है। परन्तु सहज-ज्ञानवाद बिना शुभ का विचार किये सत् कर्म का निर्धारण करता है। यह मत अयौक्तिक है।

युक्ति-निरपेक्ष अथवा अदार्शनिक सहज ज्ञानवाद अन्त:करण को ऐन्द्रिय और नैतिक निर्णय को सहज-ज्ञात और प्रत्यक्षमूलक मानता है।

सहज ज्ञान-वाद के दो रूप हैं–(१) नैतिक इन्द्रियवाद और (२) रसेन्द्रियवाद।

(३) नैतिक इन्द्रियवाद (Moral Sense Theory)

इस वाद के अनुसार किसी कर्म के नैतिक गुण को तत्काल अन्त:करण

---

1. रैशडैल।
2. रैशडैल।

अथवा नैतिक इन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष जाना जा सकता है। किसी कर्म के सत् होने का तुरन्त ही अन्त:करण में उत्पन्न अनुमोदन की सुखात्मक भावना के द्वारा प्रत्यक्ष-ज्ञान हो जाता है। एवमेव उसके असत् होने का भी ज्ञान व अनुमोदन की दु:खात्मक भावना के द्वारा तुरन्त हो जाता है। कर्मों के सत् और असत्-भाव का ज्ञान उनसे अन्त:करण में उद्भूत नैतिक भावनाओं के द्वारा तुरन्त प्रत्यक्ष हो जाता है। अन्त: करण आन्तरिक प्रत्यक्ष की शक्ति है, जो कर्मों के नैतिक गुण को तत्क्षण पहिचान जाती है। जिस प्रकार हमें वाह्य वस्तुओं के स्थूल गुणों का स्थूल इन्द्रियों द्वारा तुरन्त ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार आन्तरिक नैतिक इन्द्रिय द्वारा कर्मों के नैतिक गुणों का भी ज्ञान हो जाता है। हमें वाह्य वस्तुओं के स्थूल गुणों का प्रत्यक्ष-ज्ञान मन में उनके द्वारा उत्पन्न संवेदनों से प्राप्त होता है; नैतिक गुणों का ज्ञान भी मन में उत्पन्न नैतिक भावनाओं से होता है। नैतिक निर्णय से पूर्व नैतिक भावनाओं का उदय होता है। नैतिक निर्णय, नैतिक भावनाओं के ऊपर आश्रित हैं। अनुमोदन का सुखात्मक भाव कर्म के सत् होने का सूचक है; इसी प्रकार अनुमोदन का दु:खात्मक भाव उसके असत् होने का सूचक है। यही परिकल्पना नैतिक इन्द्रियवाद है।

(४) नैतिक इन्द्रियवाद की समीक्षा (Criticism of Moral Sense Theory)

नैतिक इन्द्रियवाद अन्त:करण को नितान्त अपूर्वक मानता है—उसे बौद्धिक और सौन्दर्य परीक्षात्मक निर्णयों से भिन्न समझता है। इस वाद की यह मान्यता है कि अन्त:करण कर्मों के 'सत्' 'असत्' होने के लिये एक विशेष इन्द्रिय है। वह नैतिकता को एक विशेष भावना पर आश्रित करता है—सुखात्मक नैतिक अनुमोदन सत् कर्मों के ज्ञान से उत्पन्न एक नितान्त अपूर्व भावना है; दुखात्मक नैतिक अनुमोदन असत-कर्मों के ज्ञान से उत्पन्न भावना है।

"यदि नैतिक अनुमोदन एक भावना-मात्र है, तो उसकी दूसरी भावनाओं से उत्कृष्टता कैसे सिद्ध हो सकती है?[3] यदि यह इन्द्रियजन्य भावनाओं से उच्चतर प्रकार की एक भावना होने के कारण मानने योग्य है, तो यह भावना से बड़ी कोई वस्तु है—इसमें मूल्य-निर्धारक निर्णय या बुद्धि का आदेश गुप्त-रूप से विद्यमान है। केवल "भावना-मात्र ही मान्य नहीं होती, बल्कि उसका मूल्य-निर्देश करने वाला निर्णय मान्य है।"[4]

यह नैतिकता का आधार भावना को माना जाये तो नैतिक प्रत्यक्ष कीं सामान्य प्रामाणिकता सिद्ध नहीं हो सकती। "असंगत अथवा विरोधी भाव, केवल भाव-रूप में उनके किये जिन्हें उनकी अनुभूति होती है, समान-रूप से यथार्थ और प्रामाणिक है।"[5] भावनायें स्वयं में न तो सत्य हैं, न मिथ्या, किन्तु उनके ऊपर आश्रित

३. रैशडैल।
४. रैशडैल।
५. रैशडैल।

निर्णय सत्य या मिथ्या होते हैं। अब यदि सत्कर्म का अर्थ केवल वह कर्म है जो नैतिक अनुमोदन नामक भावना का उद्रेक करता है, तब इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न और विरोधी प्रकार के भी कर्म अनुमोदन की भावना को जन्म देते हैं। "वृषभ-युद्ध अधिकांश स्पेन निवासियों में उत्साहवर्धक अनुमोदन की भावना को जन्म देता है जबकि अंग्रेजों के हृदय में तीव्र अनुमोदन की।"[6] विभिन्न व्यक्ति एक ही कर्म के ऊपर विभिन्न नैतिक निर्णय देते हैं। यदि व्यक्ति का अन्त:करण भ्रान्ति पूर्ण नहीं है, तो नैतिक निर्णयों की विविधता कैसे संभव है? और यदि एक ही कर्म के ऊपर विविध निर्णय दिये जा सकते हैं, तो नैतिक निर्णयों की प्रामाणिकता किस प्रकार सम्भव हो सकती है? यह नैतिक निर्णयों की प्रामाणिकता होती है, तो उनका आधार अनुमोदन या अनुमोदन की भावना नहीं हो सकती। उनका आधार बुद्धि के द्वारा नैतिक मूल्यांकन है। नैतिक ज्ञान में नैतिक निर्णय निहित होता है। नैतिक निर्णय आत्मा के उद्देश्य अथवा कल्याण की तुलना में अन्त:करण अथवा नैतिक बुद्धि द्वारा दिये जाते हैं। अत: नैतिकता भावना-मात्र पर आश्रित नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त 'सत्' 'शुभ' का साधन है। बुद्धि हमें उस 'शुभ के विचार को जन्म देती है जो आत्मा के सभी तत्वों की तृप्ति करता है।

नैतिक निर्णय कदापि भी नैतिक भावनाओं पर आश्रित नहीं हो सकते। नैतिक भावनायें आत्मगत और परिवर्तनशील अनुभूति-मात्र हैं। वे सभी मानसिक प्रक्रियाओं में सबसे अधिक अविश्वसनीय होते हैं। अत: उनको नैतिक निर्णयों का आधार नहीं बनाया जा सकता, जो अपेक्षाकृत समरूप होते हैं। नैतिक निर्णय बुद्धि का निर्णय है। अभ्रान्त नैतिक भावना बौद्धिक नैतिक निर्णय पर आश्रित है।

फिर नैतिक भावनायें नैतिक निर्णयों के द्वारा परिमार्जित की जा सकती हैं। अत: नैतिक निर्णय नैतिक भावनाओं के आधार नहीं बन सकते। नैतिक इन्द्रियवाद नैतिक निर्णयों में दोष-दर्शन के विरुद्ध हैं। अन्त:करण का नैतिक निर्णय सदैव अभ्रान्त है। यह कभी दोषयुक्त नहीं हो सकता। तब प्रश्न यह उठता है कि दोष-दर्शन कैसे होगा?

नैतिक इन्द्रियवाद कर्त्तव्य-बुद्धि अथवा नैतिक बाध्यता की भावना की पूर्ण व्याख्या नहीं कर सकता। यह तथ्य मात्र, कि कोई कर्म हमारे मन में अनुमोदन भावना को जन्म देता है, यह कारण बतलाने में असमर्थ है कि हमें उसे करने के लिये क्यों बाध्य होना चाहिये। वस्तुत: भावना-मात्र सदा विचारहीन तथा अन्धी होती है, वह किसी को कुछ करने को बाध्य नहीं करती। अनुभूति से नैतिक बाध्यता कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकती।

यह वाद पश्चाताप और चरित्र-परिवर्तन की व्याख्या नहीं कर सकता, जो विचार-जन्म विश्वास के द्वारा आत्मा में उत्पन्न परिवर्तन को अभिव्यक्त करते हैं।

---

६. रैशडैल।

इस प्रकार नैतिक इन्द्रियवाद युक्ति-पूर्ण नहीं है। पूर्वकृत असत् कर्म के तीव्र ज्ञान से पश्चाताप होता है। उच्चतर आदर्श के तीव्र ज्ञान तथा महत्तर-जीवन-यापन की प्रबल आकांक्षा से चरित्र का परिवर्तन होता है।

(५) रसेन्द्रियवाद (Aesthetic Sense Theory)—

रसेन्द्रियवाद के अनुसार सौन्दर्य नैतिकता का अन्तिम मानदण्ड है। सौन्दर्य 'सत्' को सुन्दर में, और 'असत्' को असुन्दर में परिणत् कर देता है। इन नैतिक गुणों का अपरोक्ष-ज्ञान, सौन्दर्य-परीक्षक रसेन्द्रिय से प्राप्त होता है। शैफ्टसबरी, हचीसन, हर्बर्ट, रस्किन और कई अन्य विद्वान इस मत के समर्थक हैं। 'जो सुन्दर है, वही समरस और सानुपात है, जो समरस और सानुपात है, वही सत्य है, और जो सुन्दर और सत्य है, वही प्रिय और शुभ है।' 'सुन्दर और शिव तुल्य और अभिन्न है।"[7] हचीसन ने भी "कर्मों के सौन्दर्य-असौन्दर्य" के विषय में कहा है। इसी प्रकार रस्किन ने कहा है कि, "रस नैतिकता का सूचक-मात्र नहीं है; रस की एकमात्र नैतिकता है। मुझे बतला दीजिये कि आपकी रुचि क्या है, और मैं बतला दूँगा कि आप क्या हैं।" हर्बर्ट ने भी शुभ और सुन्दर की अभिन्नता के ऊपर अत्यधिक बल दिया है। नैतिक शक्ति या अन्तःकरण रसेन्द्रिय है जो कर्मों की सुन्दरता और कुरूपता की सहजोपलब्धि करता है। नैतिक मूल्यांकन सौन्दर्यानुभूति है। अन्तःकरण रसेन्द्रिय है। यह सौन्दर्य तथा कुरूपता की सहज उपलब्धि करता है। सौन्दर्य सत्-भाव है। जबकि कुरूपता, असत्भाव। अन्तःकरण रसबोध शक्ति है। अन्तःकरण को सुन्दर-असुन्दर की सहज अनुभूति होती है।

सौन्दर्य-रस अनुभूति की वस्तु है। कुछ लोगों की सौन्दर्य-रुचि अच्छी होती है, कुछ लोगों की दोषयुक्त। विभिन्न लोगों की विभिन्न सौन्दर्य-रुचि होती है। अतः शैफ्टसबरी और हचीसन रसेन्द्रिय को नीति का पर्याप्त आधार नहीं मानते। ये दोनों विद्वान मनुष्य की सामाजिकता को नैतिकता का आधार बताते हैं। उनका विचार है कि जिसकी परिमार्जित नैतिक रुचि अनुमोदन करती है वह सम्पूर्ण मानव-समाज का हित है, वह बहुसंख्यक को अधिकतम-सुख देने वाला है।

(६) रसेन्द्रियवाद की समालोचना
(Criticism of Aesthetic Sense Theory)—

रसात्मक और नैतिक भावनायें निरपेक्ष और प्रिय होती हैं। यद्यपि हम सुन्दर और शुभ से प्रेम उन्हीं के लिये करते हैं, तथापि सत् और शुभ, सुन्दर से अभिन्न नहीं हो सकते। "सौन्दर्य हमें मुग्ध कर सकता है किन्तु हमें आज्ञा नहीं दे सकता।" यह हमें उसकी प्रशंसा के लिये बाध्य नहीं कर सकता। नैतिक चेतना का आवश्यक तत्व नैतिक बाध्यता है। उसी का सौन्दर्य की रसात्मक भावना में अभाव है। पुनः कर्त्तव्य-पालन में विद्रोही इच्छा का दमन और प्रलोभन के ऊपर विजय पाने के लिये

---

७. शैफ्टसबरी।

दु:ख का समावेश होता है। किन्तु, सौन्दर्य की प्रशंसा प्रिय होती है और उसमें दु:ख का समावेश नहीं होता।

सौन्दर्य का मूल्यांकन मौलिक रूप से आत्मगत और परिवर्तनशील भावना पर आश्रित होता है। अत: वह समरूप नहीं होता। किन्तु, नैतिक मानदण्ड अपेक्षाकृत समरूप और अपरिवर्तनीय होता है। अत: सौन्दर्य का शुभ से अभेद नहीं है।

यह आवश्यक नहीं है कि जो रसात्मक भावना का उद्रेक कर सकता है वह नैतिक भावना का उद्रेक भी कर सकता है। समरसता और अनुपात रसात्मक भावना को उद्भूत कर सकते हैं। अत: सौन्दर्य और शील एक ही नहीं हो सकते।

सौन्दर्य का मंगल से अभेद नहीं है। यह आवश्यक नहीं कि सुन्दर अनिवार्य रूप से सत् हो। अश्लील गाने, अशिष्ट नृत्य, भद्दी तस्वीरें और अनैतिक नाटक सुन्दर हो सकते हैं, किन्तु उनका नैतिक औचित्य नहीं है। जो कुछ सुन्दर है वह सत् नहीं। इसी प्रकार जो कुछ असुन्दर है वह असत् नहीं।

नैतिक अनुभव में कुछ विशिष्टतायें होती हैं जिनका सौन्दर्य के अनुभव में अभाव होता है, यथा, अनुमोदन-अननुमोदन के भाव, पाप-पुण्य का ज्ञान, प्रभृति आदि। वस्तुओं के सौन्दर्य को समझने अथवा न समझने के लिये हम किसी व्यक्ति को पुण्य अथवा पाप का भागी नहीं मान सकते। किसी सुन्दर वस्तु की सुन्दरता की प्रशंसा करने में असफल होने के कारण हमको अनुताप नहीं होता। उस अवस्था में हमें अननुमोदन की अनुभूति भी नहीं होती। कोई व्यक्ति जिसमें सौन्दर्य-बुद्धि नहीं है या अत्यल्प है, समाज का सम्माननीय सदस्य या सज्जन हो सकता है। किन्तु नैतिक बुद्धिहीन व्यक्ति की सभी नैतिक बुद्धि-सम्पन्न व्यक्ति निन्दा करते हैं। अत: सौन्दर्य और शुभ एक ही वस्तु नहीं है। रसबोध मानव-प्रकृति का आवश्यक तत्व नहीं है। नैतिक निर्णय मानव प्रकृति का आवश्यक तत्व है।

नैतिक बुद्धि को सौन्दर्य-बुद्धि में परिवर्तित नहीं किया जा सकता, क्योंकि उस दशा में एक को प्रभुत्वसम्पन्नता का दूसरे में अनुभव मिलेगा। कर्त्तव्य स्वाद की वस्तु नहीं हो सकता। शैफ्टसबरी और हचीसन सौन्दर्य-बुद्धि के इस दोष से अनभिज्ञ थे। इसलिये, उन्होंने 'सामान्य-हित' अथवा 'अधिकांश का अधिकतम-सुख' का आश्रय लिया। उन्होंने 'सौन्दर्यवाद का परसुखवाद से योग किया। अत: उनका सिद्धान्त परसुखवाद के सब दोषों से युक्त है।

सौन्दर्य-परीक्षक निर्णय और नैतिक निर्णय मूल्य-सूचक निर्णय हैं। दोनों का सम्बन्ध वस्तुओं से है। सौन्दर्य-असौन्दर्य वाह्य-वस्तुओं और व्यक्ति के कर्मों में होते हैं, सत्-असत् की सत्ता व्यक्ति के ऐच्छिक कर्मों में होती है, किन्तु सौन्दर्य-परीक्षक निर्णय, नैतिक-निर्णयों की अपेक्षा अधिक आत्मगत् होते हैं। इसका कारण यह है कि उनका व्यक्तियों के शारीरिक सगठन की परिवर्तनशीलता के साथ अपेक्षाकृत अधिक सम्बन्ध है। उदाहरणार्थ, मनुष्य के लिये हरे-रंग की शीतलता का कारण मनुष्य की आँखों और नाड़ियों पर उसका विशिष्ट प्रभाव तथा प्रकृति में उसका बाहुल्य है, जब कि लाल रंग की अरुचिकरता का कारण उसका कम पाया जाना है। सौन्दर्य-परीक्षक

निर्णयों का संवेदना से घनिष्ट सम्बन्ध है। ये अधिकतर आत्मगत तथा परिवर्तनशील हैं। नैतिक निर्णय अधिकतर विषयगत तथा परिवर्तनहीन हैं।

नैतिक निर्णय मानव-व्यवहार के सभी पक्षों पर दिये जाते हैं। उनका क्षेत्र सबको समाविष्ट करता है। "मानव जीवन का कोई भी क्षेत्र, तथा मानव-अनुभव का कोई भी रूप, ऐसा नहीं है जिसके ऊपर नैतिक बुद्धि अपना निर्णय न दे।"[8] किन्तु सौन्दर्य-विषय निर्णय मानव-व्यापारों के केवल एक अंश से ही सम्बन्धित हैं। वे प्राकृतिक वस्तुओं और मनुष्यों के कार्यों की सुन्दरता या कुरूपता के मूल्यांकन तक ही सीमित हैं। नैतिक निर्णयों का स्थान उनकी अपेक्षा उच्च है। नैतिक निर्णय कलाकृति के ऊपर भी दिये जाते हैं। कला को नैतिकता की साधक होना चाहिये। सामाजिक कर्त्तव्य के लिये कला के हित को भी त्यागना पड़ता है। कुछ नाटक ऐसे होते हैं जिनका सौन्दर्य की दृष्टि में मूल्य होता है। किन्तु, वे अनैतिक होते हैं और लोकनीति के कारण सरकार उन पर प्रतिबन्ध लगा देती है। किस प्रकार की कला का सृजन शुभ है? स्वस्थ नैतिक भावनाओं की वृद्धि के लिये किस सीमा तक सौन्दर्य-बुद्धि की तृप्ति से ऊपर संयम होना चाहिये? ये समस्त प्रश्न नैतिक समस्यायें हैं। अतः नीति कला से उच्चतर है, वह अन्तिम लक्ष्यों से सम्बन्ध रखती है। सच्चे अन्तिम ध्येय की विरोधी कला-प्रियता कभी भी उचित नहीं हो सकती।

प्रश्न है कि नैतिक-निर्णय और सौन्दर्य-विषयक निर्णय में क्या सम्बन्ध है? सौन्दर्य-विषय निर्णय निर्देश करता है कि 'यह सुन्दर है।' नैतिक निर्णय हमें बताता है कि "यह विशेष प्रकार का सौन्दर्य प्रकृत्या मूल्यवान है। अतः उसका अनुसरण होना चाहिये।" सौन्दर्य-विषयक निर्णय सौन्दर्य के विशेष प्रकार से सम्बन्धित है। नैतिक निर्णय आत्मा के हित के लिये उसके प्रकृत मूल्य से सम्बन्धित है। उसका सम्बन्ध सुन्दरता के विशेष प्रकार के नैतिक मूल्यांकन से है।

जब सौन्दर्य और नीति-विषयक निर्णयों में विरोध होता है तो सौन्दर्य-विषयक निर्णयों को अप्रामाणिक हो जाना चाहिये। सौन्दर्य में मानव-स्वभाव के केवल एक अंश को ही तृप्त करने की सामर्थ्य है, जबकि नैतिकता सम्पूर्ण मानव स्वभाव को तृप्त करती है। जो सौन्दर्य-परीक्षा के उपरान्त अच्छा ठहराया गया है लेकिन नैतिक दृष्टि से बुरा है, यह मानव-प्रकृति के अंश-मात्र को सन्तोष देता है, जिसे सम्पूर्ण मानव स्वभाव के आदर्श से विविक्त करके हम अच्छा समझते हैं। किन्तु, जब हम उसकी अपने सम्पूर्ण हित से तुलना करते हैं, तो हम उसका अनुमोदन करने में असमर्थ होते हैं और उसे अशुभ घोषित करते हैं। अनैतिक सौन्दर्य का उपभोग उचित नहीं है, क्योंकि वह आत्मा के हित की दृष्टि से घातक हैं। अतः नैतिक बुद्धि सौन्दर्य-बुद्धि नहीं, तथा नीति कला नहीं है। सौन्दर्यवाद नीति को रस की वस्तु बना देता है और उसकी वस्तुगत व्यापकता को छीन लेता है।

---

8. रैशडैल।

(७) मार्टिन्यू का सहज ज्ञानवाद तथा कर्म की प्रेरणाओं का मनोवैज्ञानिक वर्गीकरण (Psychological Classification of Spring of Action in Martineau's Intuitionism)—

मार्टिन्यू का सिद्धान्त पर्याप्त सीमा तक नैतिक इन्द्रियवाद के समान है। सर्व-प्रथम वह कर्म की प्रेरणाओं का एक मनोवैज्ञानिक वर्गीकरण देता है। तत्पश्चात् वह कर्म की प्रेरणाओं का एक नैतिक वर्गीकरण प्रस्तुत करता है, जिससे किसी की सत्-असत् प्रकृति का निर्णय किया जा सकता है।

मार्टिन्यू ने कर्म की प्रेरणाओं को प्रयोजन की संज्ञा दी है। वह उन्हें कर्म की प्रेरणायें मानता है। पहले यह प्राथमिक एवं गौण प्रेरणाओं के मध्य अन्तर का स्पष्टीकरण करता है। प्राथमिक कर्म प्रेरणायें वे प्रवृत्तियाँ हैं जिनका जन्म स्वाभाविक सहज-प्रवृत्तियों में से होता है तथा जो विचार के बिना ही उनके लक्ष्य की प्राप्ति में जुट जाने की प्रेरणा देती हैं। गौण कर्म-प्रेरणायें, वे प्रवृत्तियाँ हैं जिनकी उत्पत्ति स्वाभाविक वृत्तियों से होती है परन्तु उनमें विचार तथा अनुभव के आधार पर परिष्कार हो जाता है। वे अपने उद्देश्यों द्वारा प्राप्त होने वाले सुख के हेतु उनकी प्राप्ति के लिये हमें प्रेरित करती हैं। प्रारम्भिक कर्म प्रेरणाओं में उद्देश्य का विचार अथवा उसका पूर्व चिन्तन नहीं होता। गौण कर्म की प्रेरणाओं में किसी की भावना का तुष्टिकरण करने वाले किसी उद्देश्य का पूर्व चिन्तन तथा विचार निहित रहता है। जब कोई व्यक्ति बल की प्राप्ति के लिये भूख की सहज प्रवृत्ति से भोजन करने की प्रेरणा पाता है तो उसे प्राथमिक कर्म-प्रेरणा हुई मानी जायेगी। परन्तु भूख की तृप्ति के उपरान्त जब वह जिह्वा के सुख के लिये किसी विशेष प्रकार का भोजन खाता है तो उसकी कर्म-प्रेरणा गौण मानी जायेगी, अर्थात् उसकी सहज-भूख कृत्रिम भूख में परिवर्तित हो गई।

(१) प्राथमिक कर्म प्रेरणायें निम्न प्रकार की होती हैं—

(१) **प्राथमिक प्रवृत्तियाँ**—प्राथमिक प्रवृत्तियाँ आत्म-संरक्षण व प्रजाति की अभिवृद्धि के निमित्त स्वाभाविक प्रवृत्तियों द्वारा समुत्पन्न प्रेरणायें होती हैं। इनमें (अ) जैविक पशुवृत्तियों, जैसे भूख, प्यास व यौवन प्रवृत्तियाँ तथा (ब) पाशविक सक्रियता अर्थात् परिश्रम के उपरान्त शारीरिक व्यायाम की सहज प्रवृत्ति का समावेश होता है। आकर्षक तथा प्रिय पदार्थ इन प्रवृत्तियों को मनुष्य के भीतर जाग्रत करते हैं।

(२) **प्राथमिक प्रवृत्तियाँ**—प्राथमिक प्रवृत्तियों का जन्म दुःखद एवं अरुचि-कर पदार्थों द्वारा होता है। ये घृणाओं के समान होते हैं। ये हानिप्रद वस्तुओं को दूर हटाते हैं अथवा हमें उनसे पीछे हटा लेते हैं। इनके भीतर (क) किसी वर्तमान हानिकारक पदार्थों के प्रति स्वाभाविक विकर्षण अथवा घृणा की भावना, (ख) जिन वस्तुओं ने हमें हानि पहुँचाई है उनकी ओर क्रोध अथवा प्राकृतिक विरोध की भावना तथा (ग) भविष्य में हमारे सम्मुख संकट उपस्थित करने की सम्भावना वाले पदार्थों के प्रति भ्रम अथवा स्वाभाविक विरक्ति की भावना का समावेश होता है।

(३) **प्राथमिक आकर्षण**—हमें हमारी प्रजाति की स्मृति दिलाने अन्य व्यक्तियों अथवा पशुओं के प्रति स्वाभाविक आकर्षणों को प्राथमिक आकर्षण कहा जाता है। ये हमारे जैसे व्यक्तियों के लिये स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हो जाते हैं। वे कभी-कभी ऐसे पशुओं के प्रति भी जाग्रत हो जाते हैं जो अर्द्ध-वैयक्तिक अथवा हमारी प्रजाति के सन्निकट माने जाते हैं। इनमें भावनाओं का आदान-प्रदान पाया जाता है। इनमें प्रमुखतया: (क) माता-पिता के हृदय में सन्तान के प्रति होने वाला सहज वात्सल्य, (ख) अपने निकट से सम्बन्धित अन्य व्यक्तियों के सामाजिक स्नेह अथवा सहानुभूति, तथा (ग) दुखियों के प्रति स्नेह अथवा सहानुभूति के भावों का समावेश होता है।

(४) **प्राथमिक भावनायें**—ये 'सत्य' 'शिव' 'सुन्दर' के प्रति उत्पन्न होने वाली सहज उत्कंठायें हैं। इनमें (क) घटनाओं के कारण तथा उनकी प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करने की सहजवृत्ति अथवा बौद्धिक भावना अर्थात् आश्चर्य, (ख) सौन्दर्य की प्रशंसा तथा उसके उपभोग की सहजवृत्ति अथवा सौन्दर्य-विषयक भावना अर्थात् प्रशंसा तथा (ग) बुद्धियुक्त प्राणियों के चरित्र श्रेष्ठताओं अथवा नैतिक आदर्श के मान की प्रवृत्ति अथवा नैतिक भावना अर्थात् श्रद्धा का समावेश होता है। हमारे पूर्णता प्राप्त करने के प्रयास के मूल में ये ही प्राथमिक भावनायें सन्निहित हैं।

(२) इनकी गौण कर्म-प्रेरणायें इस प्रकार होती हैं—

(१) **गौण प्रवृत्तियाँ**—ये अनुभव और सम्पर्क के द्वारा प्राथमिक प्रवृत्तियों के परिवर्तन से उत्पन्न होती हैं। इनमें मुख्यतया: (क) स्वादप्रियता अर्थात् भूख के अभाव में भी जिह्वा के सुख के लिये सुस्वाद भोजन की प्रवृत्ति, (ख) कामुकता, अर्थात् यौन प्रवृत्तियों से प्रेरित न होने पर भी ऐन्द्रिक सुख के लिये प्रयत्नशील होना, (ग) विनोदप्रियता अर्थात् पाशविक सक्रियता से प्रेरित न होने पर भी क्रीड़ा अथवा व्यायाम में संलग्न होना, (घ) विश्राम की इच्छा, (च) सत्ता का मोह, (ण) धन का लोभ आदि का समावेश होता है। धन और सत्ता की प्राप्ति का उद्देश्य आरम्भ में सुख होता है। परन्तु धीरे-धीरे हितों की परिवर्तनशीलता के नियम के अनुसार वे स्वयं ध्येय बन जाते हैं। स्वादप्रियता भोजन प्राप्ति की प्रवृत्ति का, कामुकता यौन प्रवृत्ति का तथा विनोदप्रियता पाशविक सक्रियता का परिवर्तित रूप है।

(२) **गौण विकर्षण**—ये स्वाभाविक न होकर ज्ञान तथा अनुभव के द्वारा विकसित अरुचियाँ होती हैं। ये अनुभव तथा ज्ञान के द्वारा प्रवृत्तिमूलक विकर्षणों के परिवर्तित स्वरूप हैं। इनमें (क) दुर्भावना अथवा दोषदृष्टि अर्थात् दूसरों के दोष खोजने की प्रवृत्ति, (ख) विशेष अथवा परिशोधात्मक प्रवृत्ति अर्थात् हानि पहुँचाने वाले व्यक्तियों के प्रति क्रोध का पोषण तथा उन्हें हानि पहुँचाना, (ग) शंकाशीलता अथवा अविश्वास अर्थात् दूसरों पर शंका करना तथा उनकी ओर के संकट की अपेक्षा करना, आदि का समावेश होता है। दुर्भावना करना घृणा का परिवर्तित स्वरूप है। विद्वेष क्रोध का तथा शंकाशीलता भय का परिवर्तित स्वरूप है।

(३) **गौण आकर्षण अथवा भावुकता**—वह स्वाभाविक अथवा प्राथमिक

आकर्षणों के विकृत स्वरूप हैं। जब हम सन्तान, सतकर्मियों, मित्रों, तथा दुखियों के प्रति उनके हित की दृष्टि से नहीं वरन् उससे मिलने वाले सुख के कारण स्नेह करने लगते हैं तो हमारे गौण आकर्षण बन जाते हैं। इनमें (क) बच्चों के साथ आत्म-विषयक क्रीड़ाशीलता; (ख) सामाजिक सम्मेलन के सुख का मोह, (ग) दया का उभारना और दर्शाना का समावेश होता है। ये वात्सल्य, सामाजिक स्नेह, तथा दया के प्राथमिक आकर्षणों के विकृत स्वरूप हैं। प्राथमिक आकर्षण भावुकता के रूप में विकृत हो जाते हैं।

(४) **गौण भावनायें**—जब हम 'सत्य', 'शिव', 'सुन्दर' के आदर्शों की साधना उनके निमित्त न करके वरन् उनसे प्राप्त होने वाले सुख के निमित्त करते हैं तो उस अवस्था में हम गौण भावनाओं से प्रेरित होते हैं। इनमें (क) आत्मशिक्षण का लोभ अर्थात् बौद्धिक साधना से प्राप्त होने वाले सुख के निमित्त ज्ञान अथवा सत्य की आराधना; (ख) कलाप्रियता अथवा सौन्दर्यपरायणता अथवा अपने ऐन्द्रिक सुख की प्राप्ति के लिये सुन्दर पदार्थों की प्राप्ति का प्रयास; तथा (ग) नैतिकता व धर्म में अभिरुचि अथवा नैतिक तथा धार्मिक चर्चाओं में उनसे प्राप्त होने वाले सुख के कारण रुचि का समावेश होता है। आत्मशिक्षण का लोभ प्राथमिक बौद्धिक भावना अर्थात् आश्चर्य अथवा जिज्ञासा का परिवर्तित रूप है, कलाप्रियता, प्रशंसा अथवा सौन्दर्य-प्रियता का तथा धर्म और नैतिकता में अभिरुचि प्राथमिक नैतिक भावना अर्थात् श्रद्धा का परिवर्द्धित स्वरूप है। संयुक्त कर्म-प्रेरणायें सम्पर्क के नियमों के अनुसार प्राथमिक व गौण कर्म प्रेरणाओं के संयोग से उत्पन्न होती हैं।

(८) मार्टिन्यु के कर्म-प्रेरणाओं के मनोवैज्ञानिक वर्गीकरण की आलोचना—

यद्यपि मार्टिन्यु विविध कर्म-प्रेरणाओं की व्याख्या में अत्यधिक मनोवैज्ञानिक कुशलता का प्रदर्शन करता है, तथापि उसकी योजना विस्तृत तथा विशद् नहीं है। उसने प्राथमिक आकर्षणों की सूची में माता-पिता के प्रति सन्तति के प्रेम, भ्रातृप्रेम तथा दाम्पत्य-प्रेम का उल्लेख नहीं किया है। उसने दूरदर्शी तथा बुद्धियुक्त अथवा नैतिक प्रवृत्तियों का उल्लेख भी नहीं किया है। दूरदर्शिता का उद्देश्य उपभोग तथा आत्मवृद्धि होता है। विवेक अथवा अन्तःकरण आत्म-नियन्त्रण अथवा आत्म-बलिदान की माँग करता है। दूरदर्शिता की वृत्ति नैतिक मूल्यों की अवगणना करके सुखप्रद अथवा लाभदायक की खोज किया करती है। बौद्धिक अथवा नैतिक प्रवृत्ति हानि-लाभ की चिन्ता किये बिना सत् का अन्वेषण करती है। मार्टिन्यु ने क्रोध तथा भय को प्राथमिक प्रवृत्तियाँ माना है। परन्तु अब उन्हें प्राथमिक संवेग माना जाता है। क्रोध का उदय युद्धकारी प्रवृत्ति से होता है तथा भय का जन्म पलायन-प्रवृत्ति से होता है। मार्टिन्यु भावनाओं को सक्रिय प्रेरणायें मानता है, परन्तु आधुनिक काल में उन्हें शान्त-प्रकृति माना जाने लगा है। वे 'सत्यं', 'शिवं', 'सुन्दरं' के चिन्तन से उत्पन्न होती हैं। भावनायें प्रेरणाओं को जन्म देती हैं, परन्तु स्वयं सक्रिय प्रेरणायें नहीं है। आवश्यकता की भावना में से उदय होने वाली कार्य करने की प्रवृत्ति को

प्रेरणा कहते हैं। प्रेरणा का जन्म संवेग तथा भावना के संयोग से होता है। मार्टिन्यू कर्म-प्रेरणाओं को प्रयोजन कहता है। परन्तु प्रयोजन कोई संवेदना संवेग भावना नहीं होता; यह वह लक्ष्य-पदार्थ है जो कार्य करने की प्रेरणा देता है। भय तथा क्रोध जैसी अंधी संवेदनायें कार्य की प्रेरणा नहीं दे सकती। कर्म प्रेरणा हमें लक्ष्य के चिन्तन से प्राप्त होती है। मार्टिन्यू की कर्म प्रेरणा सूची का आधार शक्ति मनोविज्ञान है। अब इस सिद्धान्त की मान्यता नहीं रही। आधुनिक मनोविज्ञान मानवीय मस्तिष्क को परस्पर निर्भर कृतियों की एक जैविक एकता मानता है। मस्तिष्क के भीतर पृथक् तथा स्वतन्त्र शक्तियाँ नहीं होतीं जैसा कि मार्टिन्यू की सूची में प्रतीत होता है। यद्यपि मार्टिन्यू के वर्गीकरण में पर्याप्त गुण हैं तथापि यह मनोविज्ञान की प्राचीन गलत धारणा पर आधारित है, यही इसका दोष है।

(६) मार्टिन्यू : कर्म प्रेरणाओं का नैतिक वर्गीकरण

(Moral Classification of Springs of Action in Martineau's Intuitionism)

मार्टिन्यू ने नैतिक मूल्य की दृष्टि से निम्नतम से उच्चतम कर्म-प्रेरणाओं की निम्न सूची प्रस्तुत की है।

निम्नतम

१. गौण विकर्षण—अविश्वास, द्वेष, सशंकित होना।
२. गौण जैविक प्रवृत्तियाँ—आराम का प्रेम और ऐन्द्रिक सुख।
३. प्राथमिक जैविक प्रवृत्तियाँ—भोजन तथा यौन उपभोग की पशु प्रवृत्तियाँ।
४. प्राथमिक पाशविक वृत्तियाँ—अनियन्त्रित सक्रियता।
५. लाभ का लोभ—(पशु प्रवृति की उपज)।
६. गौण आकर्षण—(सहानुभूतिमूलक-संवेदनाओं की भावनात्मक वृत्ति)।
७. प्राथमिक विकर्षण—घृणा, भय, क्रोध।
८. गौण पाशविक प्रवृत्तियाँ—सत्ता का मोह अथवा महत्वकाँक्षा, स्वतन्त्रता का प्रेम।
९. गौण भावनायें—संस्कृति प्रेम।
१०. प्राथमिक भावनायें—आश्चर्य तथा प्रशंसा।
११. प्राथमिक आकर्षण—वात्सल्य, सामाजिक मैत्री, उदारता, कृतज्ञता।
१२. दया का प्राथमिक आकर्षण।
१३. श्रद्धा की प्राथमिक भावना।

उच्चतम

"कर्म-प्रेरणाओं के नैतिक मूल्य की एक निश्चित तथा अपरिवर्तनीय व्यवस्था होती है तथा उनमें मूल्य की दृष्टि से एक उत्तरोत्तर क्रम होता है, जिसमें एक कर्म प्रेरणा नैतिक मूल्य के माप में दूसरे से उच्च होती है। क्रम में सबसे नीचे गौण विकर्षण अथवा अर्जित विकर्षण तथा शीर्ष पर नैतिक भावना अथवा श्रद्धा है।" (मार्टिन्यू)। गौण विकर्षण अथवा द्वेषयुक्त प्रेरणायें इस मानदण्ड में निम्नतम मानी

गई है। वस्तुत: वे दुर्गणों से अकारण ही प्रेम करने की वृत्तियाँ हैं। गौण जैविक प्रवृत्तियाँ अथवा अर्जित प्रवृत्तियाँ प्राप्त होने वाले सुख के निमित्त जैसे खाना, पीना, विश्रामप्रियता आदि, गौण विकर्षणों की अपेक्षा उच्च हैं। प्राथमिक जैविक प्रवृत्तियाँ जैसे भोजन, तथा पेय व यौन तृप्ति की स्वाभाविक पशु-प्रवृत्तियाँ गौण जैविक प्रवृत्तियाँ की अपेक्षा उच्च हैं क्योंकि प्राथमिक जैविक प्रवृत्तियाँ आत्म-संरक्षण तथा प्रजाति-संरक्षण के लिये आवश्यक हैं। पाशविक सक्रियता अथवा शारीरिक व्यामाम (श्रम) की प्राथमिक जैविक प्रवृत्ति स्वाभाविक जैविक पशु-प्रवृत्तियों की अपेक्षा उच्च है। गौण आकर्षण अथवा भावनात्मक सहानुभूतिपूर्ण संवेदनायें इनसे उच्च होती हैं क्योंकि उनमें नि:स्वार्थ भाव होता है। प्राथमिक विकर्षण इनकी अपेक्षा उच्च होते हैं। क्योंकि वे वर्तमान, भूत अथवा भविष्य की बुराइयों के प्रति स्वाभाविक विकर्षण होते हैं। इनसे भी उच्च सत्ता का प्रेम अथवा महत्वाकांक्षा तथा स्वतन्त्रता प्रेम होता है, क्योंकि उनमें आत्मनियन्त्रण, दूरदर्शिता, बुद्धिमत्ता और आत्मत्याग निहित होता है। गौण भावनायें, यथा—संस्कृति, प्रेम अथवा बौद्धिक व्यायाम के प्रति आकर्षण इनसे भी उच्च होता है क्योंकि उनमें बुद्धि की उच्च शक्ति का प्रयोग निहित रहता है। आश्चर्य एवं प्रशंसा की प्राथमिक भावनायें इनसे उच्च होती हैं, क्योंकि उनका उद्देश्य सत्य एवं सौन्दर्य की आधारना होती है। इनसे उच्च प्राथमिक आकर्षण होते हैं; यथा—वात्सल्य तथा सामाजिक मैत्री। इनसे भी उच्च दुखियों के प्रति दया का प्राथमिक आकर्षण होता है। दीन-दया से भी उच्च शुभ के प्रति श्रद्धा की प्राथमिक भावना होती है। श्रद्धा शीर्ष पर है : गौण विकर्षण तली में है।

मार्टिन्यू का मत है कि "संयुक्त प्रेरणाओं, नैतिक मूल्य एवं पद के आधार के निर्माण के तत्व ही होते है तथा वह मूल्य उन तत्वों के सम्मिलित मूल्यों के अनुपात में होता है।"[9]

मार्टिन्यू के मतानुसार नैतिक गुण केवल ऐच्छिक कार्यों में ही होता है। प्रत्येक ऐच्छिक कर्म में 'प्रयोजनों' अथवा प्रेरणाओं का संघर्ष सन्निहित होता है। संघर्ष की अवस्था में अन्त:करण सहज-ज्ञान द्वारा एक प्रेरणा को उच्च और दूसरी प्रेरणा को निम्न मान लेता है हमारा कर्त्तव्य यह है। कि हम उच्चतर को स्वीकार करलें तथा निम्नतर को अस्वीकार कर दें। 'वह प्रत्येक कर्म 'सत्' है जो किसी निम्नतर प्रेरणा के रहते हुए भी उच्चतर का अनुसरण करता है। वह प्रत्येक कर्म 'असत्, है जो किसी उच्चतर प्रेरणा की उपस्थिति में भी निम्नतर का अनुसरण करता है।"[10] प्रेरणाओं में संघर्ष के अभाव में अन्त:करण उनके नैतिक मूल्य का अंकन नहीं कर सकता। उनका नैतिक मूल्यांकन उनके एक साथ उपस्थित होने का सहज परिणाम होता है। मार्टिन्यू का विचार है कि प्रेरणाओं के नैतिक मूल्य विविध श्रेणियों के होते हैं। यदि हम नैतिक मानदण्ड की दृष्टि से उच्च प्रेरणा की अपेक्षा निम्न प्रेरणा को अपनाते हैं तो हमारे कर्म 'असत्' हैं। परन्तु यदि हम उसी प्रेरणा को किसी

9. टाइम्स ऑफ एथिकल थ्यौरी, पृ० २३५।
10. पूर्व पुस्तक पृष्ठ २७०।

अन्य निम्नतर प्रेरणा की अपेक्षा चुन लेते हैं तो हमारा कर्म 'सत्' होता है। कर्म के स्रोत अथवा प्रेरणायें नैतिक पद के एक उत्तरोत्तर क्रम में व्यवस्थित होती हैं। "उनमें से प्रत्येक अपने से निम्न व उच्च के मध्य होती है। निम्न की तुलना में वह सत् तथा उच्च की तुलना में असत् होती है तथा अपने विकल्प से प्रसंग के अभाव में उस पर कोई निर्णय नहीं दिया जा सकता।" (मार्टिन्यू)। इस प्रकार किसी कर्म का सत्-असत् का निर्णय नैतिक मानदण्ड में उस प्रेरणा की स्थिति पर निर्भर है जिससे कि यह विकल्प प्रेरणा की तुलना में चुन लेता है। उदाहरण के लिये क्या क्रुद्ध होना सत् है ? इस प्रश्न के उत्तर के लिये यह देखना पड़ेगा कि क्रोध का संघर्ष किस प्रेरणा से हुआ है ? मान लीजिये कि उसका संघर्ष गौण सामाजिक आकर्षण अर्थात् एक दूषित चरित्र वाले व्यक्ति के साथ सामाजिक सुख प्राप्त करने की प्रेरणा के साथ हुआ है, तो क्रुद्ध होना सत् है। निम्नकोटि के संसर्गों से प्राप्त होने वाले सुख के निमित्त क्रोध का दमन करना असत् कर्म है। मान लीजिये क्रोध का संघर्ष उस दयालुता के साथ होता है जो पश्चाताप करने वाले अपराधी को देखकर जाग्रत होती है तो ऐसी स्थिति में युद्ध होना असत् है।

मार्टिन्यू का अन्तःकरण सम्बन्धी सिद्धान्त नैतिक इन्द्रियवाद का परिवर्तित स्वरूप है। अन्तःकरण नैतिक मापदण्ड में प्रेरणाओं की विविध श्रेणियों के प्रति एक सहज अथवा आन्तरिक संवेदनशीलता है। जब कोई कर्म किसी अन्य प्रेरणाओं की अपेक्षा एक विशेष प्रेरणा से प्रेरित होता है उस अवस्था में यह अन्तःकरण उसे विशेष प्रेरणा के नैतिक मूल्य का अनुमान सहज-ज्ञान द्वारा कर लेता है। जब हमें यह चेतना होती है कि एक कर्म प्रेरणा दूसरी से उच्चतर है : तब हमारे भीतर एक नैतिक उत्तरदायित्व की संवेदना जाग्रत होती है कि हमें निम्न की अपेक्षा उच्च प्रेरणा का अनुसरण करना चाहिये। इस प्रकार अन्तःकरण कर्मों के सत् के प्रत्यक्ष अथवा सहज-ज्ञान की शक्ति है। नैतिक निर्णय सहज होता है। अन्तःकरण नैतिक उत्तरदायित्व के ज्ञान की शक्ति भी है। अन्तःकरण कर्म-प्रेरणाओं के नैतिक मूल्य की श्रेणियों को हमारे सम्मुख खोल देता है। हमें इसे स्वीकार कर लेना चाहिये क्योंकि वह हमारे लिये ईश्वरीय इच्छा का रहस्योद्घाटन होता है। अन्तःकरण मनुष्य के भीतर दैवी ध्वनि है। ईश्वर नैतिक उत्तरदायित्व का स्रोत है।

(१०) मार्टिन्यू के सहज-ज्ञान की आलोचना
(Criticism of Martineau's Intuitionism)—

मार्टिन्यू के सहज ज्ञान की निम्न आलोचनायें की जा सकती हैं—

मार्टिन्यू का नैतिक सिद्धान्त एक प्रकार का नैतिक इन्द्रियवाद है। अतः इसके भीतर नैतिक इन्द्रियवाद के समस्त दोष पाये जाते हैं। मार्टिन्यू कर्म-प्रेरणाओं को प्रयोजन कहता है जो कि अशुद्ध है। प्रेरणायें प्रयोजन नहीं हैं। प्रयोजन का उद्देश्य विचार है जो कि हमें कार्य करने के लिए प्रेरित करता है। इस अर्थ में प्रयोजन नैतिक मूल्य होता है। परन्तु उद्देश्य के विचार से शून्य सहज प्रेरणाओं का कोई नैतिक मूल्य नहीं होता।

प्रेरणाओं का अपने नैतिक मूल्य के अनुसार निम्न तथा उच्च श्रेणियों में वर्गीकरण अन्त:करण को सहज-ज्ञान शक्ति द्वारा ज्ञात हो जाता है। यह सिद्धान्त कदापि भी सत्य नहीं है। कर्म-प्रेरणाओं का नैतिक वर्गीकरण अपरोक्ष ज्ञान का विषय नहीं है। यह मार्टिन्यू के दार्शनिक विचार की सूझ है। नीति-शास्त्र एक विज्ञान के रूप में कभी भी सहज-ज्ञान की वृत्तियों की एक सूची से संतुष्ट नहीं हो सकता। इन सामान्य सिद्धान्तों की सहायता से उनकी व्याख्या करनी होगी तथा उनकी उपज नैतिक आदर्श में से सिद्ध करनी होगी। नीति-शास्त्र केवल इस साधारण वक्तव्य से संतुष्ट नहीं हो सकता कि एक कर्म-प्रेरणा दूसरी से उच्च है। नीति-शास्त्र की सतुष्टि के लिये वह कारण बताना होगा कि एक कर्म प्रेरणा दूसरी कर्म प्रेरणा से उच्च क्यों है व दूसरी प्रेरणा अपेक्षाकृत क्यों निम्न है। इस नैतिक भेद का आधार निश्चित करना होगा।

कर्म-प्रेरणाओं के नैतिक मूल्य का एक निश्चित मानदण्ड नियत करना अव्यावहारिक है। किन्हीं भी दो प्रेरणाओं के मध्य उच्चता व निम्नता का सार्वभौमिक सम्बन्ध नहीं होता। दोनों कभी सत् और कभी असत् होती हैं। कर्म-प्रेरणाओं के मध्य नैतिक पद का कोई निश्चित माप नहीं होता। यदि दयालुता तथा प्रतिरोध के मध्य संघर्ष उत्पन्न हो जाये तो दयालुता सभी स्थितियों में प्रतिरोध से उत्तम नहीं हो सकती। असत् के प्रति प्रतिरोध की भावना दयालुता अथवा आर्द्रता की अपेक्षा श्रेष्ठ होती है। आर्द्रता के मोह में असत् का समर्थन अथवा प्रोत्साहन उचित नहीं है।

मार्टिन्यू श्रेणियों अथवा नैतिक मूल्य का उल्लेख करता है। उसकी नैतिक योजना हमें नैतिक मूल्य की श्रेणियाँ बताती है। एक प्रेरणा अपने से निम्न प्रेरणा की तुलना में उच्च है और वही प्रेरणा एक अपने से उच्च-प्रेरणा की अपेक्षा निम्न है। वह और भी अधिक निम्न-प्रेरणा की अपेक्षा और भी अधिक श्रेष्ठ है तथा उच्चतर प्रेरणा की अपेक्षा निम्नतर है। यह कथन उपयुक्त नहीं है। पूर्ण सत् और पूर्ण असत् के मध्य अन्तर करना आवश्यक है। नैतिक मूल्य की श्रेणियों का वर्णन करना गलत है। "हम कभी भी अपने नैतिक कर्मों को कम या अधिक श्रेष्ठ अथवा छोटा या बड़ा दोष कहकर नहीं पुकारते। किसी भी विशिष्ट मामले में हमारे सम्मुख दो मार्ग खुले होते हैं, जो कि उस समय सर्वश्रेष्ठ अथवा निकृष्टतम होते हैं।"[11] यदि किसी कर्म का उद्देश्य नैतिक आदर्श के अनुकूल है तो वह सत् है अन्यथा असत्।

परिस्थितियों से पृथक् किये जाने पर प्रेरणायें नैतिक दृष्टि से महत्वहीन होती हैं। उनका नैतिक मूल्य उन परिस्थितियों पर निर्भर रहता है जो उन्हें जन्म देती हैं। किसी गम्भीर उत्तेजना से उत्पन्न क्रोध का नैतिक मूल्य अनुत्तेजनाजनित क्रोध की अपेक्षा कम होता है। प्रतिरोध सत्य पर आधारित विरोध अथवा द्वेषपूर्ण शत्रुभाव दोनों में से कोई भी स्वरूप ग्रहण कर सकता है। दयालुता विचारपूर्ण तथा भावुक दोनों प्रकार की हो सकती है। किसी कर्म-प्रेरणा को उसकी परिस्थितियाँ ही नैतिक मूल्य प्रदान करती हैं।

---

11. ए० सी० मित्रा : एलीमेंट्स ऑफ मारेल्स, पृष्ठ २५३।

प्रेरणाओं की उनके नैतिक मूल्यांकन सहित एक पूर्ण सूची तैयार करना असम्भव है। मार्टिन्यू ने भ्रातृ-प्रेम, पितृ-प्रेम, मातृ-प्रेम तथा दाम्पत्य-प्रेम का उल्लेख नहीं किया है। वह बुद्धियुक्त तथा दूरदर्शितापूर्ण प्रेरणाओं का वर्णन भी नहीं करता। उसने स्वयं यह स्वीकार किया है कि उसकी तालिका केवल अनुमान पर आधारित है। "संयोगों की अत्यन्त जटिलता किसी ऐसी तालिका के निर्माण में कठिनाई उत्पन्न करती है।"[12] यदि सूची पूर्ण भी हो तो वह एक नैतिक मानदण्ड जुटाने में असफल रहेगी। नीति-शास्त्र का उद्देश्य नैतिक आदर्श की प्राप्ति है जो कि नैतिक भेद का आधार है। वास्तव में मार्टिन्यू ने कर्म-प्रेरणाओं का कुछ सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर वर्गीकरण किया है। उदाहरण के लिये, उसने अनेक प्राथमिक प्रवृत्तियों को गौण प्रवृत्तियों की अपेक्षा उच्चता प्रदान की है। यदि उसने सामान्य सिद्धान्तों का स्पष्ट उल्लेख किया होता तथा उनका उद्भव नैतिक आदर्श से सिद्ध किया होता तो उसका कार्य सरल हो जाता।

(११) दार्शनिक सहज-ज्ञानवाद (Philosophical Intuitionism)—

युक्ति-निरपेक्ष अथवा अदार्शनिक सहज-ज्ञानवाद के अनुसार अन्तःकरण की प्रकृति संवेदनग्राही है जो विशेष कर्मों के नैतिक गुण की उपलब्धि सहज ही कर लेता है। दार्शनिक सहज-ज्ञानवाद के अनुसार अन्तःकरण का स्वरूप बुद्धिमूलक है, जो नैतिक नियमों को सहज रूप में ग्रहण करता है, विशेष कर्मों में उनको लागू करता है, और इस प्रकार उनके सत्-असत् भाव का निर्णय करता है। पहिला नैतिक निर्णयों को अन्तःप्रज्ञात मानता है, दूसरा उन्हें अनुमेय मानता है।

(१) तर्कवाद अथवा तार्किक सहज-ज्ञानवाद (Dianoetic Theory or Rational Intuitionism)

तर्कवाद दार्शनिक सहज-ज्ञानवाद का एक रूप है। इसके अनुसार नैतिक शक्ति तार्किक शक्ति से अभिन्न है, जो शाश्वत नैतिक नियमों को तत्काल जानकर, विशेष कर्मों में उनका उपनय करती हुई सद्सत् का निर्णय करती है। नैतिक निर्णय अनुमान ज्ञेय होता है। उसका ज्ञान कर्म-विशेषों में सामान्य नैतिक इन्द्रियवाद और रसेन्द्रियवाद दोनों से भिन्न है, जिनके अनुसार नैतिक निर्णय सहज-अनुभव-ज्ञेय होता है। पहिले के अनुसार नैतिक शक्ति बौद्धिक है, जबकि दूसरे के अनुसार वह एक बोधेन्द्रिय है।

कड्वर्थ (Cudworth)—कड्वर्थ का विचार है कि नैतिक विभेद मानवीय अथवा ईश्वरीय दोनों प्रकार की स्वच्छ इच्छाओं से स्वतन्त्र है। मानवीय बुद्धि शाश्वत, अपरिवर्तनीय, सामान्य नैतिक नियमों का सहज-ज्ञान रखती है जो सामान्य, आवश्यक, और स्वतः सिद्ध है। नैतिक शक्ति एक सूक्ष्म इन्द्रिय नहीं है, बल्कि बौद्धिक है। नैतिक निर्णय नैतिक नियमों के विशेष कर्मों में उपनय के परिणाम हैं। इस

12. टाइम्स ऑफ इथिकल थ्योरी, खंड २, पृष्ठ ७२९।

प्रकार के अन्तःकरण की सहज उपलब्धि नहीं, बल्कि अनुमान की उत्पत्ति हैं। सद्-व्यवहार सही नैतिक निर्णयों से होता है, जिसमें नैतिक नियमों का पर्याप्त ज्ञान निहित होता है। इस प्रकार बुद्धिमत्ता नैतिक जीवन का आवश्यक तत्व है।

क्लार्क (Clarke)—क्लार्क का विचार भी यही है कि वस्तुओं और व्यक्तियों में कुछ सामान्य, चिरंतन और अपरिवर्तनीय सम्बन्ध हैं और यही सत्य और नीति के आधार हैं। मानवीय सम्बन्ध भी गणितशास्त्रीय-सम्बन्धों के समान नियत, शाश्वत और अपरिवर्तनीय हैं, जो कर्त्तव्य के निर्धारक हैं—और बुद्धि को उनका सहज-ज्ञान होता है। नीति का आधार उन सम्बन्धों का औचित्य अथवा अनौचित्य है जो हमारे आपस में और हमारे तथा शेष-सृष्टि के मध्य विद्यमान हैं। कर्त्तव्यों का प्रादुर्भाव निश्चित और अपरिवर्तनीय मानव-सम्बन्धों से होता है। जब सम्बन्ध परिवर्तित हो जाते हैं तो कर्त्तव्य भी परिवर्तित हो जाते हैं। यथा, गुरु शिष्य का सम्बन्ध शिष्य-गुरु के सम्बन्ध से भिन्न होता है; अतः गुरु के शिष्य के प्रति कर्त्तव्य हैं, वे शिष्य के गुरु के प्रति जो कर्त्तव्य हैं, उनसे भिन्न होते हैं।

इस प्रकार कुछ कर्म अनिवार्यतः स्वयं सत् या असत् होते हैं। यहां तक कि ईश्वर की इच्छा भी सत् को असत् और असत् को सत् नहीं बना सकती। सच्चरित्र बनने के लिये वस्तुओं के यथार्थ चिरन्तन सम्बन्धों में हमारी अन्तःदृष्टि होनी आवश्यक है। अतः ज्ञान-संचय का नैतिक जीवन में बड़ा महत्व है।

वूलास्टन (Wollaston)—वह क्लार्क का शिष्य है। उसका विचार है कि सत्य ही सत् है, और मिथ्या ही असत् है। सत्कर्म सत्य का विधान है; असत् कर्म उसका निषेध है। चोरी करना असत् इसलिये है कि उससे इस सिद्धान्त का 'कि चुराई हुई वस्तु दूसरे की सम्पत्ति है' का निषेध होना है। समस्त मिथ्या भाषण व बौद्धिक भ्रांति पाप है। इन सब दार्शनिकों के मतानुसार नैतिक शक्ति बौद्धिक तार्किक या विचारमूलक है, नैतिक गुण सत्य के तुल्य है और ज्ञान ही परम मंगल है।

(१३) दार्शनिक सहज-ज्ञानवाद की समीक्षा
(Criticism of Philosophical Intuitionism)—

दार्शनिक सहज-ज्ञानवाद नैतिक नियमों की व्याख्या और उनके बौद्धिक आधार का अन्वेषण कर सकने में असमर्थ है। वह केवल इतना बतलाता है कि अमुक कर्म अच्छा है, किन्तु उस कर्म के अच्छे होने का कारण नहीं बतलाता। वह नियमों को स्पष्ट नहीं करता वस्तुतः नियमों की परीक्षा, व्याख्या और औचित्य बतलाना आवश्यक है। नैतिक सिद्धान्तों को स्पष्ट करने वाला आदर्श क्या है? इसका अनुसन्धान होना चाहिये। दार्शनिक सहज-ज्ञान नैतिक सिद्धान्तों अथवा नियमों की अनिवार्यता का विधान करता है, किन्तु उसकी व्याख्या नहीं करता। वह नैतिक सिद्धान्तों के आधार का अन्वेषण नहीं करता। नीति-शास्त्र का वास्तविक प्रश्न, जैसा कि सहज-ज्ञानवादी सोचते हैं, यह नहीं है कि 'हमें नैतिक विभेदों का ज्ञान कैसे होता है?' बल्कि यह है कि 'ये विभेद क्या हैं?' 'नैतिक आदर्श क्या है जिससे इन सब विभेदों का

उद्भाव होता है ?' सहज ज्ञानवाद कानूनवादी है, उद्देश्यवादी नहीं। अतः वह परम शुभ से नैतिक नियमों की जो उसके साधन हैं, प्रामाणिकता का अनुमान करने को अस्वीकार कर देता है। अतः सहज-ज्ञानवाद नैतिक नियमों की यौक्तिक व्याख्या देने में असमर्थ है।

"नैतिक सिद्धान्त का सहज-ज्ञेयत्व स्वयं अपनी तर्कसम्मतता या पूर्ण प्रामाणिकता को सिद्ध नहीं कर सकता। इस सहज-ज्ञेयत्व का स्पष्टीकरण नीति-विषयक अनुभववाद कर सकता है। यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि कोई सिद्धान्त-सहज-ज्ञेय गौण-अर्थ में और केवल व्यक्ति के लिये हो सकता है। व्यवहार का कोई नियम जो कि व्यक्ति को सहज-ज्ञात और स्वतः सिद्ध मालूम पड़ता है, जाति के अनुभव से प्राप्त सामान्यीकरण हो सकता है, जो अनुभव साधनों को साध्यों से समायोजित करने में अथवा व्यवहार को जीवन की शर्तों से समायोजित करने में हुआ हो।[13] जो व्यक्ति को स्वयं-सिद्ध दिखाई देता है जाति की दृष्टि में वैसा नहीं है। जो व्यक्ति के लिये अन्तःप्रज्ञात है, वह नैतिक विचार के लिये वैसा नहीं है। जो नियम सामान्य बुद्धि के अन्तःकरण में सहज-ज्ञान-गम्य मालूम पड़ता है, वह मानव-जाति के वंश-परम्परागत अनुभव से प्राप्त हो सकता है। अतः सहज-ज्ञान-गम्यता नैतिक नियम की यथार्थता को सिद्ध नहीं कर सकती।

तथा-कथित नैतिक नियम-विशेष इतने सैद्धान्तिक और अमूर्त्त हैं कि उनसे मूर्त्त परिस्थितियों में व्यवहार का पथ-प्रदर्शन नहीं हो सकता। उनके अनेक अपवाद होते हैं। परिस्थितियों के अनुसार, उसमें स्थायी या अस्थायी परिवर्तन करने पड़ते हैं। वे सामान्य परिस्थितियों में सामान्य लोगों के लिये उपादेय हो सकते हैं, किन्तु विशेष परिस्थितियों में वे पथ-प्रदर्शन करने में अक्षम हैं।

सहज-ज्ञानवाद नैतिक नियमों के विरोध को समाप्त नहीं कर सकता। यह सर्वविदित है कि नैतिक नियमों में यदा-कदा संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। सहज-ज्ञानवाद उस पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता; वह सभी नैतिक नियमों को समान रूप में प्रामाणिक और प्रभुत्वसम्पन्न मानता है।

अलग-अलग युगों और देशों में नैतिक नियमों में अत्यधिक वैषम्य आ जाता है। यहाँ तक कि एक ही काल और स्थान पर भी निश्चित नियम अनिश्चित स्वभाव के पाये जाते हैं। सहज-ज्ञानवाद नियमों की परिवर्तनशीलता का विरोधी है। नैतिक नियमों का विरोध परम शुभ ही दूर कर सकता है, जिनसे उनकी प्रामाणिकता का उद्भव होता है। तथा-कथित कर्त्तव्यों का संघर्ष अन्तःकरण के बौद्धिक और भावात्मक तत्वों के संघर्ष का परिणाम हो सकता है। हमारी बुद्धि किसी कर्म-विधि का चुनाव कर सकती है जो आत्मग्लानि को जन्म दे सकती है। कोई धार्मिक ईसाई सोच सकता है कि उस परिवार को चर्च जाने के स्थान पर किसी संगीत पार्टी में जाना

13. सेथ् : नीति के सिद्धान्त, पृष्ठ १७५।

चाहिये, किन्तु इससे पश्चाताप की भावना पैदा हो सकती है। यहाँ पर उसकी बुद्धि एक कार्य-विधि को चुनती है जो उसकी भावना को उत्तेजित करती है। इस विरोध का कारण साधारण है। बुद्धि अथवा विचार उदार हैं, किन्तु भाव अथवा संवेग अनुदार हैं। यहाँ पर भी बुद्धि नैतिक आदर्श की सहायता से समस्या का हल निकाल देती है।

यदि नैतिक नियमों का अन्तःकरण के द्वारा निर्धारित होना मान भी लिया जाये, तब भी वे बाह्य नियम हैं। "अन्तःकरण को, जैसे कि कोई भी सच्ची परिकल्पना कर सकती है, अपने ही कर्मों का निर्णय करने वाला सम्पूर्ण आत्मा नहीं माना जाता, बल्कि एक विशेष शक्ति माना जाता है। यह नैतिक निर्णय की शक्ति है। सदसत् विवेक की एक सहजात और अनिर्वचनीय शक्ति जो मानवीय चेतन से अलग स्थित हो मानवीय संकल्प के ऊपर अपने निर्णय लादती है।"[14] यदि अन्तःकरण को सम्पूर्ण आत्मा मान लिया जाये तो नैतिक नियम को अन्तःनिःसृत माना जा सकता है। यदि उसे एक शक्ति-विशेष-मात्र माना जाता है अर्थात् आत्मा का एक अंश मात्र माना जाता है तो एक अंश के द्वारा लादा हुआ नैतिक नियम सम्पूर्ण आत्मा के लिये बाहरी है। नैतिक नियम को आन्तरिक मानने के लिये उसे सम्पूर्ण आत्मा का नियम मानना पड़ेगा। यदि नैतिक नियम अन्तःकरण का आन्तरिक नियम है, तो अन्तःकरण आत्मा के अंश होने से इसका नियम सम्पूर्ण आत्मा का बाह्य नियम हो जाता है।

बिना नैतिक आदर्श के नैतिक नियम निरर्थक है। वह किसी साध्य अथवा आत्मा के हित का साधन है। अन्तःकरण के रूप में सम्पूर्ण आत्मा अपने अंशों के लिए विधान निर्माण करता है। अन्तःकरण की आवाज अपने सच्चे और पूर्ण स्वरूप की आवाज है, जो कि अयथार्थ और अपूर्ण वासनामय आत्मा को सम्बोधित करती है। नैतिक नियम अवश्य ही प्रभुत्वसम्पन्न और सर्वोच्च है, किन्तु उसका ऐसा होना उसके अधिक व्यापक आत्मा से, एक उद्देश्य से जिसे मनुष्य एक विचारशील प्राणी के रूप में प्राप्त करने के लिये सतत् प्रयत्नशीत रहता है, सम्बन्ध के कारण है।

(१४) तर्कवाद की समीक्षा (**Criticism of Dianoetic Theory**)—

क्लार्क के अनुसार नैतिकता सम्बन्धों के औचित्य पर निर्भर करती है। यह हेतुसाध्य-विवर्त के दोष से युक्त है। नैतिकता औचित्य का आधार है, औचित्य नैतिकता का नहीं। किसी सम्बन्ध अथवा कर्म का नैतिक औचित्य उसके द्वारा सिद्ध होने वाले नैतिक उद्देश्य के द्वारा ही जाना जा सकता है। इससे अलग होकर वह सम्बन्ध नैनिक दृष्टि से मूल्यहीन है। नैतिक विभेदों को जन्म देने वाले जो औचित्य उसे किसी वस्तु के लिये औचित्य होना चाहिये—उसमें किसी लक्ष्य या आदर्श को गर्भित होना चाहिये, 'है' के विश्लेपण से 'चाहिए' को प्राप्त नहीं हो सकती।

मार्टिन्यू का भी विचार है कि औचित्य कर्म को नैतिक नहीं बनाता, बल्कि नैतिकता उसे उचित बनाती है। वूलास्टन् के इस कथन का कि असत् कार्य असंगत होता है, का अभिप्राय उसके तथ्यों से असंगत होने का—वस्तुगत विसंवाद का, नहीं

14. नीति-शास्त्र, पृष्ठ ८७-८८।

है। "असत्कर्म का आदर्श से विसंवाद होना—वह आदर्श जिसके अनुरूप एक मनुष्य का दूसरे से सम्बन्ध होना चाहिये।[15]

नैतिकता को ज्ञान-मात्र समझना, नैतिक गुण के व्यावर्तक धर्म को भूल जाना है। ज्ञान का सम्बन्ध तथ्य से है, तथा नैतिकता का सम्बन्ध आदर्श से। ज्ञान के द्वारा हम कर्म पर विचार करते हैं, नैतिकता के द्वारा हम आदर्श की ओर बढ़ते हैं। सत्य के साथ विश्वास न तो होता है, किन्तु उसमें प्रभुत्व नहीं होता जो कर्त्तव्य में गर्भित होता है। सत्य यद्यपि निरपेक्ष होता है, तथापि यह आदेश अथवा कुछ करने को बाध्य करने वाला नहीं होता। नैतिकता में कर्त्तव्य बोध या नैतिक बाध्यता गर्भित होती है।

ज्ञान की विषय-वस्तुयें अवश्यम्भावी हैं। नीति का आधार संकल्प-स्वातन्त्र्य है। ज्ञान का अवश्यम्भाविकता विरोध नहीं है। नीति का इससे विरोध है। नैतिक कर्म स्वतन्त्र हैं। ज्ञान का विषय अस्वतन्त्र है। अतः नैतिक ज्ञान नहीं है। ज्ञानशील नहीं है। जानना और करना एक ही वस्तु नहीं है। प्रायः हम जानते हैं कि सत् क्या है, तब भी करते हम असत् हैं।

बौद्धिक सहज-ज्ञानवाद के सभी प्रकार के अनुसार, नैतिक नियमों का ज्ञान नैतिकता के लिये अनिवार्य है। इस प्रकार ज्ञान नैतिक जीवन का आवश्यक तत्व है। कुछ नीतिशास्त्री शील और ज्ञान को एक कर देते हैं, किन्तु यह आपत्तिजनक है।

ज्ञान के साथ कर्त्तव्य-बुद्धि या नैतिक बाध्यता नहीं पाई जाती जबकि नैतिक बाध्यता नैतिक निर्णय का आवश्यक अंग है। ज्ञान निरपेक्ष होता है, किन्तु आदेश नहीं। किन्तु नियम निरपेक्ष व विधिमूलक दोनों ही होता है। प्रभुत्वसम्पन्नता या बाध्यता उसके लक्षण हैं। जो कर्म हमारे कर्त्तव्य हैं, हमें उन्हें करना चाहिये। उन्हें न करना असत् कर्म है।

ज्ञान के साथ नैतिक भावनायें नहीं पाई जातीं, जो नैतिक निर्णयों के अनिवार्य लक्षण हैं। नैतिक निर्णयों के साथ सदैव नैतिक भावनायें पाई जाती हैं। मिथ्या-भाषण असत् कर्म है। इस नैतिक निर्णय में अनुमोदन की दुःखप्रद भावना समाविष्ट है। परन्तु ज्ञान में नैतिक भावना नहीं है। पदार्थ-ज्ञान में अनुमोदन व अननुमोदन की भावना नहीं है।

ज्ञान में अवश्यम्भाविता होती है, जबकि नीति में चुनाव की स्वतन्त्रता होती है। ज्ञान स्वीकृति के लिए बाध्य करता है, नीति में संकल्प की स्वतन्त्रता निहित होती है। हम प्राकृतिक घटनाओं के ऊपर शासन करने वाले भौतिक नियमों को जानते हैं। प्रकृति की सृष्टि में ही उनकी सत्ता है। ज्ञान में अवश्यम्भाविकता गर्भित है, किन्तु हम सत्-असत् कर्मों में स्वेच्छापूर्वक प्रवृत्त होते हैं। नैतिक आदर्श की प्राप्ति हम स्वतन्त्रतापूर्वक करते हैं। इस प्रकार नैतिकता में स्वतन्त्र गर्भित है। ज्ञान में स्वतन्त्रता गर्भित नहीं है।

---

15. नीति-शास्त्र, पृष्ठ १५३।

गणित के सिद्धान्त और सम्बन्धों का प्रामाण्य मन की अपेक्षा नहीं रखता। उनका आधार वस्तुओं का अवश्यम्भावी संगठन है। किन्तु, बिना मन की कल्पना किये, नैतिक सिद्धान्त अबोध्य हैं। गणित-शास्त्रीय सिद्धान्त 'वस्तुगत हेतुओं' के ऊपर निर्भर है, जबकि नैतिक सिद्धान्त 'आत्मगत हेतुओं' के ऊपर निर्भर है। अतः वस्तुओं और व्यक्तियों का शाश्वत और परिवर्तनीय औचित्य, शाश्वत और अपरिवर्तनीय नैतिक सिद्धान्त नहीं माना जा सकता। नैतिक नियम ईश्वरीय इच्छा में मूर्तिमान है, और परिच्छिन्न आत्मायें उसका पालन करती हैं। सहज-ज्ञानवाद परीक्षामूलक बौद्धिक तथा तर्कसंगत नहीं है। यह नैतिक नियमों की युक्तिपूर्ण व्याख्या नहीं कर सकता। यह प्रचलित नैतिक नियमों को मान लेता है।

(१५) बटलर का सहज ज्ञानवाद (Butler's Intuitionism)—

(१) बटलर— बटलर सहज-ज्ञानवाद का समर्थक है। उसका मत है कि अन्तः-करण अन्तिम नैतिक मानदण्ड है। अन्तःकरण मनुष्य-प्रकृति में सर्वोच्च तत्व होता है। यह नैतिक विवेक अथवा बुद्धि है। यह विचारात्मक तथा प्रभुत्वपूर्ण है। यह नैतिक इन्द्रिय नहीं है। 'जैसे इसमें बौद्धिकता है, वैसे ही यदि इसमें शक्ति होती तथा जैसे प्रभुत्व है वैसे ही बौद्धिकता भी होती तो यह पूर्णतया विश्व पर शासन करता।"

बटलर के अनुसार, मानवीय प्रकृति एक जैविक सम्पूर्णता है जिसमें कुछ प्रेरणायें होती हैं जो आत्म-प्रेम और उदारता के आधीन होती हैं। आत्म-प्रेम और उदारतायें दोनों अन्तःकरण के आधीन हैं। ये विशेष प्रेरणायें अथवा प्रवृत्तियाँ अपने उद्देश्य की प्राप्ति करने का प्रयास करती हैं। ये विशेष प्रेरणायें या तो स्वार्थपरायण होती हैं अथवा पदार्थ प्रवृत्त। स्वार्थपरायण प्रेरणायें प्रधानतः कर्त्ता को लाभ पहुँचाती हैं तथा परार्थ-प्रवृत्त प्रेरणांयें प्रधानतः अन्य व्यक्तियों को। मन के दो सामान्य सिद्धान्त हैं। (१) आत्म-प्रेम (Self Love) तथा (२) उदारता (Benevolence) या परोपकार-प्रवृत्ति। आत्म-प्रेम स्वार्थ-परायण प्रेरणाओं को नियमित करता है तथा उन्हें परस्पर एक दूसरे से संयोजित करके हमारे व्यक्तिगत सुख को अधिकतम करने का प्रयास करता है। उदारता अथवा परार्थवादिता परार्थ-प्रवृत्त प्रेरणाओं को नियमित करती एवं अन्य-व्यक्तियों के सुख को अधिकतम करने का प्रयास करती है। आत्म-प्रेम और उदारता दोनों बुद्धिमुक्त निष्कर्षात्मक सिद्धान्त हैं। अन्तःकरण (Conscience) आत्म-प्रेम उदारता से उच्च होता है।

आत्म-प्रेम तथा उदारता कुछ प्रेरणाओं से उच्च होते हैं। आत्म-प्रेम व उदारता स्वयं ही यह निर्णय करते हैं कि दोनों की सन्तुष्टि कब और किस सीमा तक होनी चाहिये। इन दोनों का नियमन अन्तःकरण द्वारा होना चाहिये। आदर्श मानवीय प्रकृति में कुछ प्रेरणायें आत्म-प्रेम तथा उदारता के आधीन होती हैं तथा ये दोनों तत्व अन्तःकरण के आधीन होते हैं। कोई विशिष्ट प्रेरणा स्वाभाविक रूप से दोष-पूर्ण नहीं होती। असत् कर्म व सत् कर्म में मूलभूत अन्तर इस प्रकार है। असत्

कर्म सदा कर्म के किसी तत्व की अति अथवा अव्यवस्थित कार्य के कारण होता है। वही तत्व जब उचित मात्रा और उपयुक्त स्थान पर प्रयोग में आता है तो कर्म सत् होता है। मनुष्य की आदर्श-प्रकृति के अनुसार कार्य करने में धर्म का समावेश होता है, यथा उसके विपरीत कार्य करने में अधर्म का समावेश होता है। किसी भी मनुष्य की वर्तमान प्रकृति आदर्श-प्रकृति नहीं मानी जा सकती। गुण में आत्म-प्रेम तथा उदारता-पूर्ण आचरण भी आता है। इसका स्वाभाविक परिणाम समाज तथा व्यक्ति दोनों का सुख है। बटलर के नीति-शास्त्र में यह आत्मपूर्णतावाद का तत्व है।

(१५) बटलर के सहज-ज्ञानवाद की समीक्षा

(Criticism of Butler's Intutionism)—

(१) बटलर के अनुसार, अन्त:करण मानव-प्रकृति में श्रेष्ठ तत्व है। अन्त:करण बौद्धिक है जो कि सत्-भाव के नियम के बारे में विचार करता है। बौद्धिक अन्त:करण नैतिक नियम को प्रत्यक्ष करता है। बटलर अन्त:करण नैतिक नियम को प्रत्यक्ष करता है। वह अन्त:करण को आत्म-प्रेम और परोपकारशीलता में प्रधान मानता है, जो उन्हें नियन्त्रित करता है। यह मत तर्कसंगत व उपयुक्त है।

(२) परन्तु बटलर के मतानुसार नैतिक नियम की व्याख्या नहीं दी जा सकती। यह मत भ्रान्त है। नैतिक नियम आदर्श अथवा बौद्रिक आत्मा की लब्धि के लिये साधन है। यह नियम, नियम के लिए नहीं। यह स्वयं-सिद्ध नहीं। यह श्रेष्ठ ध्येय अथवा शुभ का साधन है। बटलर आत्म-प्रेम और परोपकार प्रवृत्ति के विरोध, तथा आत्म-प्रेम और अन्त:करण के विरोध का समन्वय नहीं कर सकता।

---

(१) सुखवाद और बुद्धिपरतावाद—

सुखवाद व बुद्धिपरतावाद के मध्य मुख्य अन्तर इस प्रकार हैं—सुखवाद इन्द्रियपरता के ऊपर बल देता है और सुख को परम शुभ मानता है। बुद्धिपरतावाद, सुखवाद का विपक्षी है। यह बुदि के अधिकार के ऊपर बल देता है और धर्म अथवा सच्चरित्र को परम शुभ मानता है। वह इन्द्रियपरता के विनाश पूर्वक बुद्धि पर जीवन को ही धर्म मानता है। सुखवाद के अनुसार आत्म-तृप्ति ही परम कल्याण है; बुद्धिपरता के अनुसार आत्म-विजय परम कल्याण है। आत्मतृप्ति इच्छाओं की तृप्ति को कहते हैं, और आत्म-विजय इच्छाओं के दमन अथवा नियन्त्रण या इच्छानाश को। सुखवाद बुद्धि के अधिकार की अवहेलना करता है और उसे वासना की परिचारिकामात्र समझता है। बुद्धिपरतावाद वासनाओं को ठुकराता है और उसे आत्मा को शरीर से जकड़ने के लिये जाल के तुल्य मानता है। वह शुद्ध बुद्धिमय जीवन का पक्षपाती है, जिसमें इन्द्रियपरता का लेशमात्र भी न हो। बुद्धिपरतावाद के दर्शन प्राचीन यूनान में सिनिसिज्म (कठोर तपश्चर्यावाद) और स्टोइसिज्म (विरक्तिवाद) के रूप में, मध्ययुगी ईसाई धर्म में सन्यासवाद के रूप में, और कान्ट के नीति-शास्त्र में बुद्धिपरतावाद अथवा कठोरतावाद के रूप में होते हैं।

(२) विरक्तिवाद (Cynicism)—

प्राचीन ग्रीस में जीनो (Zeno) विरक्तिवाद का प्रवर्तक था। यह साइरेनिक (Cyrenaicism) स्थूल आत्म सुखवाद (Gross Egoistic Hedonism) के विरुद्ध प्रतिक्रिया है। विरक्तिवाद मानता है—धर्म (Virtue) धर्म के लिये है। यह सुख (Pleasure) अथवा आनन्द (Happiness) का साधन नहीं। कर्त्तव्य के लिये कर्त्तव्य करो, क्योंकि यह तुम्हारा कर्त्तव्य है। स्वास्थ्य, धन, सम्मान, और सुख नैतिक दृष्टि से उदासीन अथवा असत् है; जब तुम उनके लिये प्रयत्न करते हो। धर्ममात्र हमें सुखी करता है, जब हम धर्म का अनुसरण निःस्वार्थ भाव से करते हैं। सुख-दुःख के प्रति उदासीनता, भाग्य की अवहेलता, लोकमत के प्रति उपेक्षा, आवश्यकताओं को अल्पतम करना, प्रकृति का सरलता की दिशा में लौट आना और आत्म-निर्भर धार्मिक जीवन व्यतीत करना, हमारे कर्त्तव्य हैं। यह बुद्धिपरतावादी सिद्धान्त की प्रथम अभिव्यक्ति है। यह सन्यासवादी, निराशावादी और व्यक्तिवादी है। यह सन्यासवाद के सब दोषों से दूषित है।

(३) बुद्धिवादी विरक्तिवाद (Stoicism)—

जीनो (Zeno) (340–265 B. C.) इस मत का प्रवर्त्तक था। विरक्तिवाद

की भाँति बुद्धिवादी विरक्तिवाद धर्म अथवा बुद्धिमय जीवन को श्रेष्ठ हित मानता है। परन्तु यह कई महत्वपूर्ण बातों में विरक्तिवाद से भिन्न है।

इस मत में "प्रकृति के अनुसार जीवन" का अर्थ "बुद्धि के अनुसार जीवन" लिया गया है। बुद्धि अथवा विवेक मानव प्रकृति तथा बाह्य प्रकृति दोनों में होती है। प्रकृति और मनुष्य में बुद्धि अथवा विवेक मानव तत्व हैं। यह मानव-समाज के प्रचलित नियमों में अभिव्यक्त होता है। अत: समाज के नियमों का पालन करना मनुष्य का कर्त्तव्य है। इस प्रकार बुद्धिवादी विरक्तिवाद नैसर्गिक जीवन अथवा समाज के स्वार्थ सामंजस्यपूर्ण अथवा बौद्धिक जीवन का समर्थन करता है। यह उग्र व्यक्तिवादी नहीं है।

यूनान (Greece) के नगर— राज्यों का संकीर्ण जीवन से असन्तुष्ट होकर बुद्धिवादी विरक्तिवादी-विश्व नागरिकता (World Citizenship) के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। यह विश्व-राष्ट्र विचार की प्रथम अभिव्यक्ति है। कान्ट का 'साध्यों के राज्य' इसके सदस्य हैं। बुद्धिवादी-विरक्तिवादी भी व्यक्तिवादी जीवन व्यतीत करता था, परन्तु समाज के नियमों से सामंजस्यपूर्ण वैयक्तिक जीवन, समाज से विच्छिन्न नहीं है। बुद्धिवादी विरक्तिवादी-आशावादी था। इस मत में वे सभी दोष पाये जाते हैं, जो कि बुद्धिपरतावाद में होते हैं।

(४) ईसाई सन्यासवाद—

सन्यासवाद मध्ययुगीन ईसाई धर्म में पुन: प्रतिष्ठित हुआ। यह ईश्वर की धर्मपरायणता पर आश्रित है। इस बात का सिद्धान्त है कि हमें स्वर्गस्थ पिता ईश्वर के समान पूर्ण होना चाहिये। ईसाई धर्म बाह्य कर्मों पर नहीं वरन् हृदय तथा संकल्प की शुद्धता पर बल देता है। यशु मसीह ने जीवन के नैसर्गिक सुखों के उपभोग की सहमति दी है। तथापि उनके पीड़ा सहने आत्म-नियन्त्रण करने, तथा आत्म-बलिदान के आदर्श ने ईसाई चिन्तन पर एक स्थायी प्रभाव डाला है। ईसाई सन्यासी दैहिक जैव वृत्तियों के बलिदान को श्रेष्ठ शुभ मानता है।

इस बात के अन्य सिद्धान्त इस प्रकार हैं—"जीवित होने के लिये मर जाओ" (Die to live), आत्मा के जीवन के लिये देह का बलिदान कर दो, देह आत्म के मार्ग में रोड़ा है; अत: आत्मा के पुनरुद्धार के हेतु देह का उत्पीड़न एवं बलिदान किया जाना चाहिये; देह के बलिदान का परिणाम आत्मा का पुनर्जीवन होगा।

सन्यासवाद के विचारों को ईसाई धर्म ने भव्यपेटावाद (Neoplatonism) से लिया है, जो इस बात पर बल देता है कि आत्मा संसार के बन्धन में पड़ गई है, तथा वह अपने अमर गृह-स्वर्ग में जाने के लिये तड़प रही है। आधुनिक ईसाई धर्म सन्यासवादी नहीं है। तथापि परलोकवादी है, यह इहलोक को केवल एक यात्रा मानता है, जो कि स्वर्ग के दैवी जीवन में जाने की तैयारी है। सन्यासवाद कठोरतावाद के सब दोषों से दूषित है।

(५) कान्ट का बुद्धिपरतावाद, कठोरतावाद, कृच्छावाद, नैतिक विशुद्धतावाद अथवा नियमानुवत्तितावाद
(Kant's Rationalism, Rigorism, Purism of Tormalism)—

प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक इकानुयेल कान्ट (Immanual Kant) का बुद्धिपरतावाद सुखवाद का विरोधी है। सुखवाद वासनाओं के अधिकार पर बल देता है जबकि बुद्धिपरतावाद बुद्धि के अधिकार पर बल देता है। ब्रैडले सुखवाद को 'सुख-सुख के लिये' और बुद्धिपरतावाद को 'कर्त्तव्य कर्त्तव्य के लिये' का सिद्धान्त कहता है। सुखवाद आत्मतुष्टि या इन्द्रिय तृप्ति का प्रचारक है, और बुद्धिपरतावाद आत्म-निषेध, आत्म-विजय अथवा इन्द्रिय दमन का प्रचारक है। सुखवाद नैतिक मानव को प्राकृतिक मानव बनाने का प्रयत्न करता है; बुद्धिपरतावाद प्राकृतिक मानव को आदर्श अथवा नैतिक मानव बनाने का प्रयत्न करता है। निम्नतर संवेदनशील आत्मा इन्द्रियपरता की तृप्ति सुखवाद का आदर्श है; उच्चतर आत्मा की तृप्ति अथवा विशुद्ध बुद्धिमय जीवन बुद्धिपरतावाद का आदर्श है। बुद्धि मनुष्य को समस्त निम्न-श्रेणी के पशुओं से अलग करती है। यह मानव-स्वभाव का विशिष्ट धर्म है। इन्द्रिय-परता मानव-स्वभाव में पाशविक प्रकृति का अवशिष्ट अंश हैं, अतः उसका उन्मूलन होना चाहिये। शुद्ध बुद्धि पर जीवन को प्रोत्साहित करना चाहिये। बुद्धिपरतावाद उद्देश्य अथवा आदर्श की स्पष्टोक्ति नहीं करता। वह नैतिक नियम का निरपेक्षता अथवा व्यवहारिक बुद्धि के निरपेक्ष आदेश की परिपुष्टि करता है। वह सर्वोच्च नैतिक संज्ञा के रूप में कर्त्तव्य को प्रधानता देता है। उसके अनुसार 'सत्' 'शुभ' से उच्चतर है। कान्ट नैतिक आदर्श परम मंगल की अवहेलना करता है। वह सार्वजनिक निरपेक्ष नैतिक नियम पर जोर देता है।

कान्ट का बुद्धिपरतावाद दार्शनिक सहज-ज्ञानवाद के समान है। कान्ट अन्तः-करण को व्यावहारिक बुद्धि मानता है, जो नैतिक नियम को अपने ही ऊपर व्यवहृत करती है। नैतिक नियम का सहज-ज्ञान होता है। वह अनुभव निरपेक्ष है, ऐन्द्रिय अनुभवज्ञेय नहीं। वह स्वतः सिद्ध है। कान्ट ने नैतिक नियम से नैतिक सूत्रों को अनुमित किया है वे सूत्र भी स्वयं सिद्ध हैं। विशेष कर्मों के सदसत्-भाव का अनुमान उनके नैतिक नियम से साम्य या वैषम्य से होता है। किसी कर्म का नैतिक गुण उसके परिणामों से निर्धारित नहीं होता, वरन् प्रेरणा की विशुद्धता से होता है। सहज-ज्ञानवाद नैतिक नियमों के पक्ष में कोई दार्शनिक युक्ति नहीं देता। कान्ट नैतिक कानून को दार्शनिक आधार देने का प्रयास करता है। कान्ट का बुद्धिपरतावाद सहज-ज्ञानवाद का एक रूप है। वह नैतिक नियम अथवा अन्तःकरण के अन्तरस्थ नियम को नैतिक मानदण्ड मानता है। कान्ट ने उद्देश्यवादी नीति-शास्त्र से भिन्न वैधानिक नीति-शास्त्र का समर्थन किया है।

कान्ट के मतानुसार बुद्धि मानव-स्वभाव का आवश्यक तत्व है तथा इन्द्रिय-परता मनुष्य के अन्दर पाशविकता का अवशेष है। वह उसकी वास्तविक प्रकृति के

लिए विजातीय है। अतः विशुद्ध बुद्धिमय जीवन व्यतीत किया जाना चाहिये; वासनाओं का निग्रह होना चाहिये। सच्चरित्र ही परम मंगल है। सच्चरित्रता सदिच्छा में सन्निहित है। सदिच्छा बौद्धिक इच्छा है। बौद्धिक इच्छा नैतिक नियम का पालन करने की इच्छा है, जिसे वह अपने ऊपर लागू करती है। इच्छा व्यावहारिक बुद्धि अथवा सक्रिय बुद्धि है। व्यावहारिक बुद्धि अपने लिये विधान-निर्माण करती है। वह अपने ही ऊपर नैतिक नियम लागू करती है। व्यावहारिक बुद्धि मानव स्वभाव में अवस्थित सार्वजनीन सामान्य तत्व है। उसके द्वारा लागू किया हुआ नैतिक नियम भी सार्वभौम है। वह स्वयं सिद्ध है। बुद्धि को उसकी सहज उपलब्धि होती है। नैतिक नियम निरपेक्ष आदेश है। वह एक शर्तहीन आज्ञा है। वह किसी उद्देश्य का साधन नहीं है। वह सुख या सामाजिक हित का भी साधन नहीं। उसका पालन उसी की खातिर होना चाहिये। अर्थात् वह स्वयं साध्य है। बिना शर्त उसका पालन होना चाहिए। नैतिक नियम निरपेक्ष विधि है, जिसका पालन करना चाहिये। यह कोई शुभ साधन नहीं है।

सदिच्छा (Good Will) स्वतन्त्र है। निरपेक्ष आदेश का अनुसरणकारी संकल्प स्वतन्त्र अथवा स्वयं शासित है। सदिच्छा नैतिक नियम के प्रति विशुद्ध-सम्मान प्रदर्शन-पूर्वक कर्म में प्रवृत्त होती है। जो इच्छा किसी बाह्य लक्ष्य की कामना से प्रेरित होती है वह परतन्त्र होती है। वह इच्छा स्वतन्त्र नहीं, बल्कि किसी बाह्य वस्तु के आधीन होती है। भाव कामना बुद्धि के बाहर की वस्तु है; बुद्धि आत्मा का आवश्यक तत्व है। अतः संकल्प का प्रेरक भाव अथवा कामना को नहीं होना चाहिए। प्रेम अथवा सहानुभूतिपूर्वक किया हुआ कर्म अनैतिक है।

सदिच्छा बौद्धिक (Rational) है। यह निरपेक्ष नैतिक विधि या नियम का पालन करती है। नैतिक नियम कोई उद्देश्य की साधन नहीं। सदिच्छा, स्वयंशासित इच्छा, लक्ष्यहीन इच्छा है। यह कानूनहीन, उद्देश्यहीन तथा परिणाम-विचारहीन इच्छा है। यदि इच्छा, कामना, सहज, प्रवृत्ति, अनुभूति, संवेग या स्थायी भाव से प्रेरित हो, तो यह परतन्त्र होती है। परतन्त्र इच्छा अनैतिक है। उदार तथा अनुदार सब भावों से इच्छा को वर्जित होना चाहिये। इसका कोई उद्देश्य नहीं होना चाहिये, चाहे यह स्वार्थसिद्धि के लिये हो या परहित के लिये। इसमें उद्देश्य का विचारमात्र भी नहीं होना चाहिये। कान्ट, अनुभूति, भाव तथा स्थायी भाव को नैतिक जीवन में स्थान नहीं देता। केवल निरपेक्ष नैतिक नियम के प्रति विशुद्ध सम्मान को स्थान देता है। सदिच्छा वासनाहीन, उद्देश्यहीन, परिणाम-विचारहीन तथा नैतिक नियम के प्रति विशुद्ध सम्मान से प्रेरित इच्छा है। यह अनुभूति या भाव से युक्त हो सकती है, परन्तु इसके द्वारा प्रेरित नहीं होती। सदिच्छा पूर्णतया बौद्धिक है। इसमें इन्द्रिय-परता का लेशमात्र नहीं है। इनमें कर्मों के परिणामों का विचार नहीं है। कान्ट की नियमवादी नीति उपयोगिता की पूर्णतया विरोधी है। कर्मों के परिणामों की सामाजिक उपयोगिता तथा अनुपयोगिता का विचार नहीं होना चाहिये।

हमें कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य करगा चाहिये। उसके परिणाम और उद्देश्य कुछ भी क्यों न हों। कर्त्तव्य का पालन नैतिक निथम के प्रति विशुद्ध सम्मान-पूर्वक होना चाहिये। किसी भी कर्म का प्रवृत्ति द्वारा निर्धारण नहीं होना चाहिये। किसी कर्म का सम्पादन किसी प्रवृत्ति की तृप्ति के लिये नहीं होना चाहिये। निरपेक्ष आदेश का एक विषयरहित विशुद्ध आकार है। कान्ट इस आकार की पूर्ति निम्नलिखित नैतिक सूत्रों से करता है :

(१) केवल उसी सूत्र के अनुसार कार्य करो जिसे तुम उसी काल में सामान्य नियम बन जाने की इच्छा कर सकते हो।

(२) "इस प्रकार कार्य करो कि मानवता सदैव साध्य बनी रहे, चाहे वह (मानवता) तुम्हारे अन्दर हो चाहे किसी अन्य के।"

(३) 'साध्यों के, राज्य के सदस्य होकर कर्म के प्रवृत्त हो।'

कान्ट के अनुनार, यद्यपि सदिच्छा, सच्चरित्र अथवा धर्म परम मंगल हैं तथापि धर्म सुख के योग से पूर्ण मंगल का निर्माण होता है। धर्म हमारी इच्छा के ऊपर निर्भर है। सुख बाह्य अनुकूल परिस्थितियों पर अवलम्बित है, जिनके ऊपर हमारा कोई नियन्त्रण नहीं है। धर्म और सुख में सम्बन्ध आवश्यक न होकर संयोगात्मक है। इस जीवन में धर्म का पुरस्कार सुख के रूप में मिलना अनिवार्य नहीं। ईश्वर परलोक में धर्म को सुख से संयुक्त करेगा। ईश्वर धर्म और सुख के सामञ्जस्य का स्थापन परलोक में करता है।

नीति का एक मूलभूत सिद्धान्त संकल्प-स्वातन्त्र्य (Freedom of Will) है। कान्ट कहता है—"तुम्हें करना चाहिये, अतः तुम कर सकते हो।" (Thou Oughtst; therefore thou canst) कर्त्तव्य-बुद्धि अथवा नैतिक बाध्यता में कृति-स्वातन्त्र्य निहित है। आत्मा की अमरता नीति का दूसरा सिद्धान्त है। नैतिकता इच्छा और कर्त्तव्य के विरोध के निवारण में निहित है। इस सीमित जीवन में उस विरोध की समाप्ति असम्भव है। अतः आत्मा मरणोत्तर जीवन के अनन्त-स्थिति-काल में ही इस विरोध के ऊपर विजय प्राप्त करेगा। ईश्वर की सत्ता नीति का एक तीसरा सिद्धान्त हैं। वही पूर्ण मंगल की प्राप्ति का अर्थात् धर्म और सुख के सामञ्जस्य के लिये उत्तरदायी है। व्यावहारिक बुद्धि का नैतिक जीवन हमें परम तत्व की सन्निधि में ले जाता है, जहाँ तक शुद्ध बुद्धि या विचारात्मक बुद्धि हमारी पहुँच नहीं करा पाती। शुद्ध बुद्धि विचारात्मक या सैद्धान्तिक है। यह व्यावहारिक क्रियात्मक नहीं है। शुद्ध बुद्धि कृति-स्वातन्त्र्य आत्मा की अमरता तथा ईश्वर की सत्ता का प्रतिपादन नहीं कर सकती। व्यावहारिक बुद्धि नीति का आधार है। यह इन तीन सिद्धान्तों को मान लेती है। नीति इनकी यथार्थता का सूचक है।

निरपेक्ष आदेश (Categorical Imperative)—कान्ट के अनुसार, व्यावहारिक बुद्धि अथवा अन्तःकरण का आन्तरिक नियम अन्तिम नैतिक मानदण्ड है। अन्तःकरण के द्वारा अपने ही ऊपर लागू किया जाने वाला नैतिक नियम निरपेक्ष

विधि हैं। यह तथ्य के विधान से भिन्न विधि अथवा आदेश है। यह निरपेक्ष अथवा शर्तहीन है। यह सापेक्ष विधि नहीं है। वे नियम जो अन्य उद्देश्यों के साधन हैं सापेक्ष विधि हैं। उदाहरण के लिये स्वास्थ्य-विज्ञान के नियम स्वास्थ्य के साधन हैं। अतः वे भी सापेक्ष आदेश हैं। आर्थिक नियम अर्थ के साधक हैं। अतः वे भी सापेक्ष आदेश हैं। किन्तु नैतिक नियम जो कि व्यावहारिक बुद्धि (Practical Reason) के द्वारा अपने ही ऊपर लागू किया जाता है निरपेक्ष आदेश है। हमें उसका पालन किसी अन्य उद्देश्य की सिद्धि के हेतु नहीं करना चाहिये तथा बिना शर्त उसका पालन करना चाहिये। वह एक उच्च साध्य का साधन नहीं है; वरन् स्वयं साध्य है। वह एक नितान्त निरपेक्ष आज्ञा है जिसके विरुद्ध आपत्ति नहीं की जा सकती। हमें कर्त्तव्य कर्म करना ही चाहिये। कोई भी उच्चतर नियम हमें इससे विमुख नहीं कर सकता। प्रत्येक बाह्य उद्देश्य अनुभवमूलक होता है। वह सापेक्ष विधि (Hypothetical Imperative) मात्र को ही जन्म दे सकता है। इस विधि का आकार इस प्रकार होता है—यदि हमें एक विशिष्ट उद्देश्य की प्राप्ति करनी है, तो उसके लिए एक निर्दिष्ट कार्यविधि को अपनाना होगा। जैसे यदि हम जीवन में सफलता की कामना करते हैं, तो हमें परिश्रम करना होगा और अवसरों से अधिकतम लाभ उठाना होगा। यदि हमें अच्छे स्वास्थ्य का आनन्द लेना है, तो हमें स्वास्थ्य के नियमों का पालन करना होगा। ये सब विधियाँ सापेक्ष विधियाँ हैं। निरपेक्ष विधि अथवा नैतिक नियम किसी बाह्य उद्देश्य की अपेक्षा नहीं रखता, बल्कि केवल उचित दिशा में संकल्प को प्रवृत्त करने की अपेक्षा रखता है। निरपेक्ष विधि एक सार्वभौम नैतिक नियम है। यह सब व्यक्तियों पर लागू हो सकता है; यह सम्पूर्ण मानव जाति के लिये सामान्य है।

संकल्प स्वातन्त्र्य—कान्ट का मत है कि सदिच्छा ही एकमात्र शुभ है "सृष्टि के अन्दर या बाहर कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसे बिना किसी शर्त के शुभ कहा जा सके; ऐसी एकमात्र वस्तु सदिच्छा ही है।" सदिच्छा बिना शर्त के शुभ है। कान्ट के शब्दों में, सदिच्छा ही ऐसा रत्न है जो अपने ही प्रकाश से चमकता है। सदिच्छा स्वयं शुभ है, किसी बाह्य तथ्य के कारण नहीं। इसका नियम पूर्णतया इसी के अन्तरस्थ है। सदिच्छा ही एकमात्र शुभ है। वह विवेक-युक्त अथवा बौद्धिक संकल्प है। यह बुद्धि के नियम का अर्थात् निरपेक्ष आदेश का पालन करने वाला है। बुद्धि मानव-स्वभाव में अवस्थित सार्वभौम तत्व है। वह निरपेक्ष विधि को अपने ऊपर लागू करती है। वह अपने ही लिये नियम का निर्माण करती है। यह विचारवान् प्राणी का विशेष अधिकार है। इच्छा का पथ-प्रदर्शन नैतिक नियम अथवा निरपेक्ष आदेश द्वारा ही होना चाहिये। अनुभूति तथा भावना के द्वारा उसका पथ-निर्देश नहीं होना चाहिये। यदि ऐसा होता है तो वह स्वयं-शासित नहीं, बल्कि पर-शासित है। अतः कान्ट हमारे अन्दर भावना-तत्व के पूर्ण विलुप्त होने का पक्षपाती है। उसके मतानुसार संकल्प तभी स्वतन्त्र है, जब उसके ऊपर अपना ही कानून चलता हो—

जब वह केवल कर्त्तव्य-बुद्धि के द्वारा ही संचलित होता हो। संकल्प परतन्त्र तब है जब कोई लक्ष्य या इच्छा उसको मार्ग बताती हो। जीवन का सच्चा नियम 'कर्त्तव्य के लिये कर्त्तव्य है।

नैतिक जीवन में अनुभूति के लिये कोई स्थान नहीं है—नैतिक जीवन शुद्ध बुद्धिमय जीवन है। भाव और संवेगों के लिये नैतिक जीवन में कोई स्थान नहीं है। उनका पूर्णतया निग्रह होना चाहिये। प्रेम या सहानुभूति के वशीभूत होना भी अनैतिक है। प्रेम या सहानुभूति संवेग हैं और इस रूप में आत्मा के यथार्थ रूप के लिये विजातीय हैं। नैतिक जीवन का आदर्श शुभ बुद्धिमय जीवन है, जिसमें भाव और संवेगों के द्वारा कोई विघ्न उत्पन्न न हो। कान्ट नैतिक जीवन में केवल एक ही भाव को स्थान देता है; और वह भाव नैतिक नियम के प्रति विशुद्ध सम्मान का भाव है। किन्तु इसे मुश्किल से ही कोई रियायत या छूट कहा जा सकता है। नैतिक नियम के प्रति आदर का भाव अन्य संवेगों और भावनाओं से नितान्त भिन्न है। कान्ट उस व्यक्ति के कार्य को निन्दित समझेगा जो प्रेम अथवा सहानुभूति के वंश में होकर किसी रोगी की परिचर्या करता है अथवा किसी निर्धन की सहायता करता है। ऐसे कर्म को अनैतिक कहा जायेगा। कान्ट के विचार से सत्कर्म को दो शर्तें पूरी करनी चाहियें—(१) उसे बुद्धि द्वारा प्रकाशित नैतिक नियम के अनुरूप होना चाहिये, तथा (२) कर्त्ता को उसका सम्पादन नैतिक नियम के प्रति विशुद्ध सम्मान के भाव से प्रेरित होकर करना चाहिये।

नीति के सूत्र (Maxims of Morality)—नैतिक नियम निर्विषय विशुद्ध आकार है। उसका कोई विशेष विषय नहीं है। वह यह नहीं बतला सकता कि हमारा क्या कर्त्तव्य है और क्या अकर्त्तव्य है क्योंकि प्रत्येक विषय वस्तु में एक अनुभवमूलक, औपाधिक तत्व अवस्थित होता है; और नैतिक नियम का उससे कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। नैतिक नियम यह नहीं बतला सकता कि हमारे कर्मों की वस्तु अथवा विषय क्या है। वह केवल वही निर्देश करता है कि कर्मों को एक आकार के अनुरूप होना चाहिये। नैतिक नियम सामान्य नियम का एक आकार हैं। वह केवल यही बतलाता है कि हमारे कर्मों में स्वतः संवाद होना चाहिये। निरपेक्ष विधि एक विषय-शून्य विशुद्ध आकार अथवा विधि है।

कान्ट निम्नलिखित सूत्रों को निर्धारण करके नैतिक नियम को अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट कर देता है—

(१) "केवल उस नैतिक नियम के अनुसार काम करो जिसे तुम एक सार्वभौम नियम बन जाने की इच्छा कर सकते हो।"

कान्ट इस सूत्र को वचन-भंग का दृष्टान्त देकर स्पष्ट करता है। वचन-भंग करना बुरा है क्योंकि इसका सामान्यीकरण नहीं हो सकता। यदि इसे एक सामान्य नियम बना दिया जाये, तो प्रत्येक व्यक्ति वचन-भंग करेगा और वचन देना ही वस्तुतः रुक जायेगा। जब कोई वचन देगा ही नहीं, तो उसको भंग करने का प्रश्न ही नहीं

उठता है । अत: प्रत्येक के लिये वचन भंग करना असम्भव हो जायेगा । किसी हताश व्यक्ति को आत्म-घात करने की इच्छा हो सकती है । उपर्युक्त सूत्र इनके अनौचित्य को स्पष्ट कर देता है; क्योंकि वह एक सार्वभौम नियम नहीं बन सकता । यदि सब व्यक्ति आत्म-हत्या कर डालें, तो शीघ्र ही कोई भी आत्म-हत्या करने के लिये शेष नहीं रहेगा । चोरी करने को सार्वभौमिक नियम बनाना असम्भव है । यदि सब मनुष्य चोरी करने लगें तो चोरी करने के लिये कोई सम्पत्ति अवशिष्ट नहीं रहेगी । अत: चोरी करना असत् कर्म है । परन्तु सत्य-भाषण को सामान्य नियम बना सकते हैं । सब मनुष्य सत्य भाषण कर सकते हैं । अत: सत्य-भाषण सत् कर्म है । इस प्रकार "उस विधि से कार्य करो, जिससे, तुम चाह सकते हो कि, तुल्य परिस्थितियों में सभी अन्य व्यक्ति भी कर सकें ।" यह नैतिकता का प्रथम सूत्र है ।

(२) "इस प्रकार काम करो कि मानवता, चाहे तुम्हारे अन्दर हो चाहे किसी अन्य के अन्दर हो, सदैव साध्य बनी रहे, साधन कभी नहीं ।"

मनुष्य तत्वत: विचारवान् है । बुद्धिपरता जो मानवता का धर्म है, सदा आदरणीय है । किसी को भी स्वयं को दूसरे के स्वार्थ का साधन, अथवा दूसरे को अपने स्वार्थ का साधन नहीं बनाना चाहिये । व्यक्ति स्वयं साध्य है साधन नहीं । उसका साधन के रूप में प्रयोग नहीं होना चाहिये । किसी को भी स्वयं अथवा अन्य को दास नहीं बनाना चाहिये । आत्म-हत्या पाप है, क्योंकि यह मानवता के स्वयं साध्य-तत्व के आदर्श में असंगत है । किसी महाजन से झूठा वायदा करना उसे अपने लाभ का साधन बना देना है, व्यक्ति समझकर उसका सम्मान करना नहीं । हमें स्वयं को दूसरे से लाभ अथवा उन्नति का साधन नहीं बनने देना चाहिये । हमें स्वयं अपने तथा दूसरे के व्यक्तित्व का सामना करना चाहिये । यह नीति का दूसरा सूत्र है । इसमे यह उपसूत्र निकलता है—

"सदैव अपने को पूर्ण बनाने का प्रयत्न करो और अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करके दूसरे का सुख-साधन करो, क्योंकि तुम दूसरों को पूर्ण नहीं बना सकते ।"

एक व्यक्ति अपने को पूर्ण बनाने में समर्थ होता है, क्योंकि वह अपने संकल्प को सुनियन्त्रित कर सकता है और उसे नैतिक नियम के अनुरूप बना सकता है । किन्तु यह दूसरे को पूर्ण बनाने में असमर्थ है, क्योंकि वह दूसरे के संकल्प को नियन्त्रित नहीं कर सकता । व्यक्ति को स्वमेव नैतिक संकल्प का विकास करना होगा—दूसरा व्यक्ति उसके लिये ऐसा कर सकने में अक्षम है । नैतिक पूर्णता प्रयत्न-साध्य है, दूसरा उनका दान नहीं कर सकता । अत: एक व्यक्ति दूसरे के सुख के हेतु अनुकूल परिस्थितियाँ मात्र उत्पन्न कर सकता है । धर्म या सच्चरित्र स्वप्न सदिच्छा प्रेरित कर्मों का फल है । कोई मनुष्य अपने को धार्मिक बना सकता है, परन्तु किसी अन्य को धार्मिक नहीं बना सकता, क्योंकि धर्म स्वतन्त्र इच्छा से बनता है । तथापि वह अन्य को सुखी कर सकता है, क्योंकि सुख अनुकूल वाह्य परिस्थिति पर निर्भर है ।

(३) "साध्यों के राज्य (Kingdom of Ends) के सदस्य बनकर काम करो ।"

यह नीति का तृतीय सूत्र है। इसका अर्थ है : सब मनुष्यों को समान प्रकृति मूल्य वाले समझो; समाज में इस प्रकार व्यवहार करो कि दूसरों के हित-साधन में तुम्हारा अपना हित भी हो; ऐसे समाज की स्थापना हो कि जिसका प्रत्येक सदस्य साध्य भी रहे और साधन भी। 'साध्यों का साम्राज्य' नैतिक नियम का पालन करने वाले बुद्धि पर व्यक्तियों का एक आदर्श समाज है। प्रत्येक व्यक्ति सम्राट भी है और प्रजा भी। वह सम्राट है क्योंकि वह अपने ऊपर लागू होने वाले नैतिक नियम का विधाता है। वह प्रजा है, क्योंकि वह स्वयं उसका पालन करता है। नैतिक नियम सार्वभौम है। अतः उसका पालन करने वाले सभी व्यक्ति परस्पर पूर्ण सामञ्जस्य के साथ निवास करते हैं। 'साध्यों का राज्य' एक आदर्श समाज होगा, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति विचारपूर्ण रीति से काम करेगा और निरपेक्ष आदर्श का पालन करेगा। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अन्य व्यक्ति के साथ मैत्री-पूर्वक जीवन-यापन करेगा। उस मनुष्य जाति के आदर्श राष्ट्रसंघ में प्रत्येक और सबकी इच्छा कानून होगी और सभी उसका पालन करेंगे। हमें अपने व्यक्तिगत और सामाजिक सम्बन्धों में अपने और दूसरे व्यक्तियों के प्रति आदर का भाव रहना चाहिये। जितना ही अधिक हमारे अन्दर पारस्परिक सहयोग और सदिच्छा का उत्कर्ष होगा, उतना ही अधिक हमें अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और प्रभुता की प्राप्ति होगी। हमें आदर्श प्रजातन्त्र राज्य का नागरिक बनना चाहिये, यहाँ प्रत्येक व्यक्ति राजा तथा प्रजा है, स्वयं-शासित अथवा नैतिक नियम के द्वारा शासित है, जहाँ कोई परतन्त्र नहीं है। कान्ट आदर्श प्रजातन्त्र विश्व-मानव समाज में विश्वास करता था।

पूर्ण मंगल (Complete Good)—कान्ट के अनुसार परम मंगल धर्म या सच्चरित्रता है। धर्म का अभिप्राय है सदिच्छा अथवा कर्त्तव्य के लिये कर्त्तव्य करना। धर्म निरपेक्ष आदेश के पालन करने को अभ्यास कहते हैं। किन्तु, कान्ट के अनुसार पूर्ण मंगल में धर्म के अतिरिक्त, सुख का भी समावेश होता है। धार्मिक व्यक्ति को धर्म के ही लिये धर्म का अनुसरण करना चाहिये, सुख के लिये नहीं। फिर भी कान्ट कहता है कि मनुष्य के पूर्ण कल्याण में सुख और धर्म दोनों का समावेश है। नैतिक उद्देश्य अपनी पूर्णता का और दूसरों के सुख का उत्कर्ष, दोनों को कहा जा सकता है। कान्ट धर्म और सुख में सामञ्जस्य स्थापित करने के लिये ईश्वर की सत्ता को मान्यता प्रदान करता है। ईश्वर धर्म और सुख में सामञ्जस्य की स्थापना करता है। धर्म सच्चरित्रता का दूसरा रूप है।

नीति की मान्यतायें (Postulates of Morality)—प्रकृति स्वातंत्र्य नीति की मूल-भूत मान्यता है। 'तुमको करना चाहिये; अतः तुम कर सकते हो। नीति में संकल्प-स्वातंत्र्य गर्भित है। यदि संकल्प स्वातंत्र्य न हो, तो नैतिकता असम्भव हो जाती है। संकल्प-स्वातंत्र्य के निषेध से नैतिकता का आधार जाता रहता है। आत्मा की अमरता नीति की दूसरी मूल मान्यता है। नैतिकता इच्छा और कर्त्तव्य के शाश्वत संघर्ष पर विजय पाने में निहित है। इच्छा का नाश इस सीमित जीवन में नहीं हो

सकता। इसके हेतु असीम जीवन वाँछनीय है जिसमें इन्द्रिपरता अथवा इच्छा का क्रमिक अपनयन हो जायेगा। ईश्वर की सत्ता-नीति तीसरी मूल मान्यता है। धर्म अथवा सच्चरित्रता ही परम मंगल है, किन्तु उसके साथ सुख के संयोग से ही पूर्ण मंगल की प्राप्ति होती है। सच्चरित्रता होना हमारी सामर्थ्य के भीतर है। किन्तु, सुख अनुकूल परिस्थितियों पर निर्भर है जो हमारी शक्ति के लिये सुलभ नहीं है। धार्मिक लोग बिरले ही सुखी होते हैं। यदि वे इस संसार में सुखी नहीं हो सकते, तो परलोक में ईश्वर उनको सुख से पुरस्कृत करेगा। ईश्वर ही अचेतन प्रकृति और चेतनायुक्त आत्माओं के जगत का नियन्ता है। ईश्वर धर्म को सुख से संयुक्त करेगा, और पूर्ण मंगल का लाभ करायेगा। इस प्रकार, संकल्प-स्वातंत्र्य आत्मा का अमरत्व, और ईश्वर की सत्ता नीति के मूल सिद्धान्त हैं।

कान्ट का नैतिक सिद्धान्त बुद्धिपरतावाद, नैतिक विशुद्धतावाद, कठोरतावाद अथवा नियमानुवर्त्तितावाद कहलाता है। वह कृच्छ्वाद या सन्यासवाद के समान है। वह हमें नैतिकता का विशुद्ध आकार—निरपेक्ष आदेश देता है; किन्तु, नैतिकता की वस्तु या विषय की, जो भाव या इच्छा से प्राप्त होता है, महत्ता को नहीं मानता।

(६) कान्ट के कठोरतावाद अथवा बुद्धिपरतावाद की सभालोचना (Criticism of Kant's Rigorism of Rationalism)—

मनोवैज्ञानिक द्वैतवाद—कान्ट के मत का आधार बुद्धि और इन्द्रियपरता का मनोवैज्ञानिक द्वैतवाद है। यह बुद्धि और इन्द्रियपरता अथवा वासना के मध्य शत्रुभाव उत्पन्न कर देता है। इस प्रकार, वह इस मनोवैज्ञानिक सत्य की अवहेलना कर देता है कि वासना और बुद्धि आत्मा के आवश्यक तत्व हैं, जो वस्तुत: एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। मन दोनों तत्वों का अनोन्याश्रित ऐक्य है। वासना नैतिक जीवन की वस्तु है। उसे बुद्धि के आकार के अनुकूल बनाना चाहिये। वासना आवश्यक-रूप से नीति-विरुद्ध नहीं है। भाव या अनुभूति इच्छा को जन्म देती है? और इच्छा क्रिया को। कोई भी क्रिया वासना के अभाव में नहीं होती। अनुभूति और इच्छा ही कर्म की प्रवर्त्तक हैं। इस प्रकार नैतिक जीवन में वासना एक आवश्यक तत्व है। मनुष्य का विशुद्ध वासनाहीन, बौद्धिक जीवन कल्पना मात्र है। वास्तविक मानव-जीवन वासनामय बौद्धिक जीवन है। वासना और बुद्धि दोनों तत्व मानव-प्रकृति के आवश्यक तत्व हैं। वासनायें नैतिकता की सामग्री हैं।

सन्यासवाद (Asceticism)—कान्ट नैतिकता में त्यागवाद का समर्थक है। कान्ट वासना को नितान्त नीति विरुद्ध और नैतिकता को वासना का चरम विनाश मानकर बड़ी भूल करता है, क्योंकि वासना का आत्मा के स्वभाव में आवश्यक स्थान और कार्य है, और धर्म वस्तुतः बुद्धि के द्वारा वासना के नियन्त्रण में निहित है। भाव और इच्छायें नैतिक जीवन के विषय या उपादान हैं बुद्धि को उनका नियन्त्रण करना चाहिए। अत: हम सम्पूर्ण इन्द्रियपरता का उसे अविवेकपूर्ण समझ कर परित्याग नहीं कर सकते। बुद्धि का कार्य भाव और इच्छाओं को नियन्त्रित और परिष्कृत करना

है। यदि हम उन सबका विनाश कर डालते हैं, तो बुद्धि का कोई कार्य शेष नहीं रहेगा और उसका अवसान हो जायेगा।

नियमानुवर्तितावाद (Formalism)—यदि हम भावों और इच्छाओं को हटा देते हैं, तो नैतिकता के सम्पूर्ण विषय से भी हाथ धो बैठते हैं, और केवल विशुद्ध वस्तुहीन आकार या नियम अवशिष्ट रह जाता है। कान्ट का नैतिक सिद्धान्त नियमानुवर्तितावाद इस अर्थ में है कि वह नैतिकता के आकार को वस्तु से विच्छिन्न कर देता है। बुद्धि आकार प्रदान करती है (निरपेक्ष विधि)। किन्तु, हमें वस्तु कौन देता है? जिसे आकार दिया जाता है? अपना ही संकल्प करने वाली संकल्प-शक्ति असंगत है। उससे केवल शुष्क नियमानुवर्तितावाद की ही प्राप्ति हो सकती है। वासना ही वह वस्तु है जिसे आकार दिया जाता है। दूसरे शब्दों में बुद्धि के द्वारा नैतिक नियम के अनुसार वासनाओं का परिष्कार होना चाहिये। जैकोबी के अनुसार कान्ट का वस्तु-शून्य शुद्ध या वासनाहीन संकल्प ऐसा संकल्प है जो किसी वस्तु का संकल्प नहीं करता। सदिच्छा वह संकल्प नहीं है जो निरपेक्ष आदेश का पालन करता है, जो एक शून्य निर्विषय आकार है। बल्कि सदिच्छा वह संकल्प है जो शुभ का अन्वेषण करता है। धर्म संकल्प को सन्मार्ग में प्रयुक्त करने का नहीं कहते, बल्कि उसे सर्वोच्च शुभ अथवा परमहित की दशा में—सर्वोच्च शुभ के अनुसरण में प्रयुक्त करने को कहते हैं। परम शुभ मनुष्य की पूर्णता है, जिसमें ज्ञान, सौन्दर्य और धर्म का समावेश होता है। वहाँ सर्वोच्च वैयक्तिक और सामाजिक हित है।

कान्ट का प्रथम सूत्र, निःसन्देह, नैतिक नियम के सार्वभौम लक्षण को अभिव्यक्त करता है। यह सत्य है कि कोई भी ऐसा कर्म सत् नहीं हो सकता जिसके सिद्धान्त का सामान्यीकरण नहीं हो सकता है। किन्तु, यह एक विशुद्ध आकारगत सिद्धान्त है। इसका निषेधात्मक मूल्य है, विधानात्मक नहीं। यह एक निषेधात्मक उपदेश है। यह केवल उसी का निर्देश करता है। जिसको हमें परिस्थिति विशेष में करना नहीं चाहिए। यह व्यवहार का विधानात्मक नियम नहीं है। इससे हमें मूर्त्त कर्त्तव्यों का अनुमान नहीं हो सकता। यह स्वगत संवाद का आकार सम्बन्धी सिद्धान्त मात्र है जिससे व्यवहार की विशेष वस्तु नहीं निकाली जा सकती। पुनः कान्ट के नैतिक नियम को विशेष कर्मों में लागू करने के लिये समाज में प्रचलित कर्त्तव्यों और अधिकारों का पूर्ण-ज्ञान आवश्यक होता है। यह सिद्ध किया जा सकता है कि चोरी करने से स्वगत विरोध पैदा होता है, यदि हम व्यक्तिगत सम्पत्ति की वैधता को मानते हैं।

स्वगत-संवाद-मात्र (Self-consistency) सत् की पर्याप्त परीक्षा नहीं है। नीति के प्रथम सूत्र के आधार पर ब्रह्मचर्य एक अपराध सिद्ध हो जायेगा, क्योंकि सबके ब्रह्मचारी हो जाने से द्रुत-गति से मनुष्य-जाति का विनाश हो जायेगा और फलस्वरूप ब्रह्मचर्य की भी समाप्ति हो जायेगी। परोपकार भी असत् हो जावेगा, क्योंकि अन्त में परोपकार करते-करते कोई भी निर्धन नहीं रहेगा जिसका उपकार किया जा सके। इस प्रकार, प्रथम सूत्र एक निर्विषय आधार-सम्बन्धी सिद्धान्त मात्र

है। विशेष मूर्त्त अवस्थाओं में लागू करने के लिये परिणामों का विचार करना पड़ता है, जो कान्ट के सिद्धान्त के विरुद्ध है। दूसरे शब्दों में कान्ट की नीति में परिणामों के विचार का स्थान नहीं है।

कान्ट के दूसरे सूत्र में एक महत्वपूर्ण तथ्य है। हमें अपने और दूसरों के व्यक्तित्व के प्रति आदर का भाव रखना चाहिये। हमें स्वयं को अपने और दूसरों के भोग का साधन नहीं बनाना चाहिये। दूसरों को भी अपने उपभोग का साधन नहीं बनाना चाहिये। किन्तु इस सूत्र की व्यापकता को भी कुछ सीमित करने की आवश्यकता है। पहिला कुछ व्यक्तियों को अपने जीवन का बलिदान किसी उच्च आदर्श के लिये करना चाहिये, यथा, अपने देश की स्वतन्त्रता के लिये, ज्ञान के विकास के लिये इत्यादि। इस प्रकार किन्हीं परिस्थितियों में, हमें दूसरों को भी साधन बनाना चाहिये। हमें अन्य व्यक्तियों के कल्याण के लिये टाइफाइड के संक्रामक रोग से पीड़ित व्यक्ति को दूसरों से पृथक् कर देना चाहिये। लेकिन, मानवता को साध्य मानने के लिये आत्म-विकास या आत्म-पूर्णता को नैतिक मानदण्ड मानना पड़ेगा। इस सूत्र का अर्थ होना चाहिये कि प्रत्येक मनुष्य को साधन-मात्र नहीं, बल्कि साध्य भी मानना चाहिये। उदाहरणार्थ क्योंकि मैं चिकित्सक की चिकित्सा लेता हूँ, अतः उसे साधन बनाता हूँ। मैं अध्यापक हूँ। स्वयं को साधन बनाता हूँ। दूसरे सूत्र से जो उपनियम निकलता है, अर्थात् हमें अपनी पूर्णता और इसके सुख का लाभ करने के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये, उसका सीधा संकेत पूर्णतावाद और पर-सुखवाद की ओर है। हमारा लक्ष्य अपनी ही पूर्णता होना चाहिये। यह पूर्णतावाद है, हमें दूसरों के सुख को अपना लक्ष्य बनाना चाहिये। यह परसुखवाद है, परन्तु कान्ट की नीति उद्देश्यहीन नियमानुवर्तिता है।

तीसरा सूत्र भी पहिले दो सूत्रों के समान ही अपूर्ण हैं। वह भी एक आकार विषयक सिद्धान्त-मात्र है। उसके आधार पर हम विशेष मूर्त्त परिस्थितियों में अपने कर्त्तव्यों का अनुमान नहीं कर सकते। हमें सहयोग और सामंजस्य के साथ एक-दूसरे के साथ रहना चाहिये और ऐसे आदर्श समाज की दृष्टि करनी चाहिये जिसका प्रत्येक सदस्य राजा और प्रजा दोनों हों। इस आदर्श समाज में प्रत्येक मनुष्य साध्य और साधन दोनों होगा, जिसमें प्रत्येक पर-हित के उत्कर्ष करने में अपने हित की प्राप्ति करेगा। मानव समाज का यह आदर्श नैतिक चेतना को मान्य होना चाहिये, किन्तु व्यवहार के मार्ग-प्रदर्शन में यह भी पूर्व-सूत्रों के समान ही अस्पष्टता के दोष से मुक्त नहीं है। हमें परहित के जिस आदर्श की वृद्धि करनी है वह नितान्त अस्पष्ट है। इसमें भी हमें वस्तु-शून्य आकार-मात्र ही दृष्टिगोचर होता है।

कठोरता (Rigorism)—कान्ट का सिद्धान्त आवश्यकता से अधिक कठोर है। प्रथम कान्ट के मत से कोई भी ऐसा कर्म नीति-सम्मत नहीं हो सकता जो भाव या संवेग से प्रेरित होता हो। यहाँ तक कि प्रेम अथवा समवेदना से प्रेरित परोपकार या वीरता का कार्य भी नैतिक नहीं है। वही कर्म सत् है जिन्हें नैतिक नियम के प्रति विशुद्ध सम्मान की भावना से प्रेरित होकर किया जाता है। किन्तु प्रायः लोग उन

कर्मों की कर्त्तव्य-बुद्धि से किये जाने वाले कर्मों की अपेक्षा अधिक प्रशंसा करते हैं जिनका उद्भव प्रेम या संवेदना से होता है। जब कान्ट नैतिक जीवन से भावना को बिल्कुल हटा देता है, तो वह कर्त्तव्यपालन को बल-प्रयोग से किया हुआ और कृत्रिम बना देता है। वस्तुत: हम कर्त्तव्य के लिये कर्त्तव्य करने की अपेक्षा सहज रूप मे कर्त्तव्य-पालन करना अधिक पसन्द करते हैं। भावातिरेक से किये जाने वाले कर्म नैतिक नियम के प्रति सम्मानपूर्वक किये जाने वाले कर्मों से श्रेष्ठ हैं। परोपकारी मनुष्य संवेदना से प्रेरित होकर दूसरों के उपकार करते हैं, कर्त्तव्य-बुद्धि से प्रेरित होकर नहीं। तब भी उनके कर्मों का अधिक आदर किया जाता है। स्वदेश-प्रेम से प्रेरित होकर मनुष्य मृत्यु को भी वरण करते हैं। उनके कर्मों का कोई अनादर नहीं करता। अत: कान्ट का मत कठोरतावाद अथवा सन्यासवाद है।

द्वितीय कान्ट का सिद्धान्त एक अन्य कारण से भी कठोर है। अपने नैतिक नियमों का अपवाद उसे सह्य नहीं है। वस्तुत: ऐसे नैतिक नियमों का कोई अस्तित्व नहीं है जिनके विशेष परिस्थितियों में अपवाद न हों। कान्ट नैतिक नियमों के अपवादों का निषेध करने से अपने सिद्धान्त को आवश्यकता से अधिक कठोर बना देता है। कुछ कर्म तो अपवाद होने के ही कारण सत् होते हैं। उदाहरणार्थ, कुछ व्यक्ति विवाह नहीं करते और किसी उत्कृष्ट उद्देश्य के साधन में अपना जीवन अर्पित कर देते हैं। कुछ लोग प्रसन्नतापूर्वक किसी उच्च-ध्येय के लिये मृत्यु का आलिंगन कर लेते हैं और शहीद हो जाते हैं। शहीद होना और आजीवन ब्रह्मचर्य अपवाद होने से ही नीति-ससस्त हैं।

त्यागवाद का विरोधाभास (Paradox of aceticism)—कान्ट के अनुसार इच्छाओं के प्रलोभन के प्रतिरोध और कर्म की नैतिक उत्कृष्टता में अनुलोम अनुपात है। जितना अधिक इच्छा और कर्त्तव्य के मध्य विरोध तीव्र होता है, उतनी ही उसको पराजित करने वाले कर्म की भी अधिक उत्कृष्टता होती है। इस प्रकार नैतिक जीवन की निरन्तरता के लिये कान्ट की नीति इस विरोध की निरन्तरता को आवश्यक समझती है। पुन: किसी कर्म को सत् होने के लिये नैतिक नियम के प्रति विशुद्ध सम्मान से प्रेरित होना चाहिये। जिस स्तर में लोगों का पथ-प्रदर्शन कर्त्तव्य-बुद्धि और नैतिक नियम का सम्मान करते हैं, वह नैतिक जीवन का निम्न स्तर है। जब उनके नैतिक जीवन की प्रगति हो जाती है, तो वे सहज ही कर्त्तव्य-कर्म करने लगते हैं और कर्त्तव्य की चेतना कम हो जाती है। नैतिक जीवन में संघर्ष तो किसी न किसी रूप में रहता ही है, किन्तु इच्छा और कर्त्तव्य का संघर्ष कुछ कम तीव्र अवश्य हो जाता है, यद्यपि उसका पूर्ण अभाव आवश्यक नहीं। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि मनुष्य का नैतिक जीवन कदापि नैतिकता-शून्य और जैसा कि हर्बर्ट स्पेन्सर का भ्रांत मत है, एक स्वाभाविक व्यापार नहीं हो सकता। इस प्रकार कान्ट के मत में यह विरोधाभास है। धर्म और पुण्य के लिये इच्छा और कर्त्तव्य, वासना की बुद्धि का विरोध आवश्यक है। अत: यदि यह विरोध समाप्त हो जाता है, तो धर्म की भी सत्ता समाप्त हो

जायेगी । "वस्तुत:, धर्म की सत्ता उसके विरोधी (अर्थात् इच्छा) के जीवित रहने में है । उसकी अन्तिम और पूर्ण विजय का अर्थ इच्छा के विलोप के साथ धर्म का भी विलोप हो जाता है ।"[1] इसे त्यागवाद का विरोधाभास कहा जाता है ।

व्यक्तिवाद (Individualism) —कान्ट का सिद्धान्त व्यक्तिवाद है । कान्ट भाव या अनुभूति को, जिसके द्वारा अन्य लोगों के साथ हमारा सम्बन्ध स्थापित होता है, हटा देने से अपने नैतिक सिद्धान्त को व्यक्तिवादी बना देता है । "अनुभूतिहीन बुद्धि एक पर्याप्त बन्धन नहीं है; हमें अपने साथियों से अपनी एकता की अनुभूति होनी चाहिये । यद्यपि बुद्धि सामान्य तत्व है, तथापि विशुद्ध बुद्धि का नीति-शास्त्र अनिवार्यत: व्यक्तिवादी है । जो कड़ियाँ हमें अपने साथियों से सम्बन्धित रखती हैं, वे प्रेम की कड़ियाँ हैं । अनुभूति का हनन कर दो तो अपने साथियों से पृथक् हो जाओगे ।"[2] कान्ट के अनुसार नैतिक जीवन में प्रेम के लिये कोई स्थान नहीं है । अतः उसके सिद्धान्त का व्यक्तिवादी होना आवश्यक हो जाता है । कान्ट के 'साध्यों का राज्य' अथवा व्यक्तियों के सहयोग के आदर्श का स्थापन तर्क के आधार पर हो सकना असम्भव है । सहयोग का आधार प्रेम है । बुद्धि हमें सामान्य शुभ का विचार देती है, किन्तु वह हमारा अपने साथियों से ऐक्य नहीं करा सकती । मानव-बन्धन प्रेम का बन्धन है, बुद्धि-मात्र का नहीं । परन्तु कान्ट के मतानुसार नैतिक जीवन में प्रेम का स्थान नहीं है ।

चरम उद्देश्य की प्रच्छन्न स्वीकृति—कान्ट के अनुसार नैतिक नियम अबोध्य है । इसकी व्याख्या नहीं हो सकती । निरपेक्ष विधि एक नितान्त अपवादशून्य आदेश है । जिसकी कोई व्याख्या नहीं दी जा सकती । किन्तु जहाँ भी कोई नियम होता है, वहाँ उसका साध्य कोई उच्चतर लक्ष्य होना चाहिये; नियम किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए होता है । मनुष्य एक विवेकयुक्त प्राणी है । वह निरपेक्ष विधि का दासत्व स्वीकार करके उसके लिये उसका पालन नहीं कर सकता । वह स्वतन्त्र होकर नैतिक नियम का पालन आत्म-पूर्णता के लिये करता है ।

जैकोबी का यह कथन सत्य है कि "नियम मनुष्य के हेतु बनाया जाता है, मनुष्य नियम के हेतु नहीं ।" मनुष्य अपनी बुद्धि के कारण "नियम के प्रति अन्ध-श्रद्धापूर्वक" कर्म में प्रवृत्त नहीं हो सकता । 'सत्' और 'शुभ' नीति के आधारभूत प्रत्यय हैं । 'शुभ' का प्रत्यय तर्किक दृष्टि से अधिक मौलिक है । वह कर्म सत् है जो शुभ की प्राप्ति का साधन हो । 'शुभ' वह है जिसे होना चाहिये । दोनों पदों में अन्तर यह है कि : "सत्" कोई इच्छावृत कर्म ही हो सकता है; 'शुभ' कर्म के अतिरिक्त विविध अन्य वस्तुओं का विश्लेषण हो सकता है ।"[3] 'शुभ' साध्य है । 'सत्' उसका साधन है । "किन्तु कान्ट ने 'सत्' से प्रत्यय से विचार आरम्भ किया; और उसकी समस्त कठिनाइयों का जन्म इससे हुआ कि उसने बिना 'शुभ' की सहायता के 'सत्'

---

1. म्यूरहेड ।
2. सेथ ।
3. शुभाशुभ की मीमांसा; जिल्द १, पृष्ठ १३५—३६ ।

को सार्थक बनाने और उसे विषय प्रदान करने का प्रयास किया।"[4] नैतिक नियम आत्म-पूर्णता अथवा आत्म-विकास का साधन है। बिना उसके उसकी व्याख्या नहीं हो सकती।

कान्ट के प्रथम सूत्र का वास्तविक अर्थ यह नहीं है कि स्व-विरोधी कर्म असत् है। इसका वास्तविक अर्थ यह है कि आत्मा का विरोधी कर्म असत् है। आत्म-विकास का बाधक कर्म असत् है। आत्म-विकास का अनुकूल कर्म सत् है—स्वसंवादी कर्म सत नहीं है। 'स्वसंवादी कर्म' निरर्थक है। द्वितीय सूत्र मानवता अथवा व्यक्तित्व को प्रकृत उद्देश्य बनाता है। वह किसी साध्यान्तर का साधन नहीं है। वह आत्म-पूर्णता अथवा व्यक्तित्व के चरम विकास को अन्तिम लक्ष्य गुप्त-रूप वे स्वीकार करता है। कान्ट द्वितीय सूत्र से एक उपसूत्र अनुमित करता है कि हमारा लक्ष्य अपनी पूर्णता और दूसरों का सुख होना चाहिये। अतः यह पूर्णता और सुख को नैतिक लक्ष्य स्वीकार करने की स्पष्ट उक्ति है। वह अपने आकारवादी नीति-शास्त्र में आत्म-पूर्णतावाद और परसुखवाद का समावेश कर देता है। उसके तीसरे सूत्र में भी आत्म-पूर्णतावाद निहित है वह अपने और दूसरों के व्यक्तित्व के प्रति आदर का विधान करता है। कान्ट धर्म के साथ सुख के सामञ्जस्य-स्थापन को पूर्ण मंगल मानता है। इसमें भी उन्हें साध्य मानने की स्पष्ट स्वीकृति निहित है। इस प्रकार निरपेक्ष विधि का कट्टर समर्थन होने पर भी कान्ट नैतिक उद्देश्यों को स्वीकार करता है। उसके नियमानुवर्तितवाद में उद्देश्यवादी नीति-शास्त्र के तत्व विद्यमान हैं।

पूर्ण मंगल—कान्ट का धर्म और सुख के संयोग को पूर्ण मंगल मानना उचित प्रतीत होता है किन्तु, "कान्ट पूर्ण मंगल को धर्म और सुख तक ही सीमित करके उसे संकीर्ण बना देता है। मनुष्य के पूर्ण मंगल में बौद्धिक, सौन्दर्य-सम्बन्धी और धार्मिक मूल्यों का भी समावेश होता है। नीति-शास्त्र को उन सभी मूल्यों का विचार करना चाहिये जो प्रत्येक के लिये साध्यस्वरूप साँगोपाँग जीवन के अंश हैं।"[5] पूर्ण मंगल में धर्म की उचित आधीनता में अवस्थित सुख, ज्ञान, संस्कृति और सौन्दर्य का समावेश होता है।

यह हास्यास्पद प्रतीत होता है कि नैतिकता इच्छा को दबाने और सुख को हटाने की माँग करती है; और फिर भी कान्ट के मत से ईश्वर पुण्य करने वाले को परलोक में सुख देना चाहता है। धर्म इच्छा को नष्ट कर देने पर निर्भर है। सुख बुद्धि की अधीनता में इच्छा की पूर्ति पर निर्भर है। कान्ट सुख को सुखवादी अर्थ में ग्रहण करता है। यह समझ से परे है कि ईश्वर धार्मिकों को कैसे सुख दे सकता है, जो सब इच्छाओं का नाश कर चुके हैं। अतः कान्ट का धर्म सुख-समन्वयकारी 'ईश्वर' का विचार स्व-विरोधी है।

कान्ट की मौलिक भ्रान्ति यह है कि उसने वासनाओं को अबौद्धिक और नष्ट करने के योग्य कल्पित किया है। वस्तुतः वासनायें नैतिक जीवन में गति का संचार करती हैं। वह नैतिक जीवन का उपादान हैं। बुद्धि द्वारा नियन्त्रित वासना से ही

4. वही, पृष्ठ १३५।
5. Wright. *Introduction to Ethics*, pp. 311—11.

आत्म-विकास होता है। यही धर्म है और इसी से सुख का लाभ होता है। कान्ट के नीति-शास्त्र की कमियों को आत्मपूर्णतावाद के द्वारा दूर किया जा सकता है।

कान्ट की नीति के मूल-सिद्धान्तों की परीक्षा आगे की जायेगी।

सन्यासवादी या त्यागवादी आदर्श भ्रान्त और अपर्याप्त है। परम शुभ आत्म-विकास है। बुद्धि द्वारा वासनाओं का नियन्त्रण, बौद्धिक आत्मा के द्वारा ऐन्द्रिय या वासनामय आत्मा का परिष्कार, यही आत्म-विकास है; अनुभूति और इच्छाओं का पूर्ण विनाश नहीं। मनुष्य का परम मंगल पूर्ण आत्मा का अर्थात इन्द्रिय-पर और बुद्धि-पर दोनों का बुद्धिसंगत पूर्ण विकास है। त्यागवादी आदर्श भी उतना ही भ्रामक और अपूर्ण है जितना भोगवादी। वासनामय जीवन स्वभावतः अशुभ नहीं है; उसका बौद्धिक आत्मा के साथ सामंजस्य होना चाहिये। बुद्धि के द्वारा वासनाओं का सम्यक् नियन्त्रण होना चाहिये। भोग और त्याग का समन्वय होना चाहिये। वासनाहीन, निष्क्रिय, शुद्ध बौद्धिक जीवन संसार-विरक्त सन्यासियों का लक्ष्य है, सामाजिक संसारी का लक्ष्य कदापि नहीं है। यह पूर्ण मानव-जीवन नहीं है। वासनाओं का ह्रास बुद्धि द्वारा नियन्त्रण अवश्य होना चाहिये। इनको सर्वभूत के हित के लिए नियन्त्रित करना चाहिये। आत्म-प्रेम को मानव-प्रेम में परिणत करना चाहिये। त्यागी जीवन अपूर्ण है।

(७) बुद्धिपरतावाद की अच्छाइयाँ (Merits of Rationalism)—

बुद्धिपरतावाद एक महत्वपूर्ण तथ्य के ऊपर बल देता है कि बुद्धि युक्ति के जीवन का नियामक तत्व है। किन्तु यह मनुष्य-जीवन को वासना-शून्य विशुद्ध-बुद्धि पर जीवन समझने की भूल करता है। वासना नैतिक जीवन का उपादान है। बुद्धि उसे आकार या नैतिक नियम देती है। वह नैतिक नियम के अनुसार उसको नियन्त्रित और परिमार्जित करती है।

बुद्धिपरतावाद कर्त्तव्य अथवा नैतिक बाध्यता के प्रत्यय के ऊपर बल देता है। वह 'है' और 'होना चाहिए' के मध्य भेद का निर्देश करता है। वह मानता है कि नैतिक उद्देश्य निसर्गतः एक आदर्श है जिसकी सिद्धि होनी चाहिये। किन्तु वह हमें नैतिक आदर्श का आकार-मात्र देता है। उपादान वासना से मिलना चाहिये। कान्ट नैतिक जीवन में वासना को स्थान नहीं देता।

बुद्धिपरतावाद विवेकयुक्त होने के कारण मनुष्य के गौरव और स्वातन्त्र्य पर बल देता है, क्योंकि मनुष्य की प्रकृति से अपनी अनन्त बौद्धिक उच्चता को जताना है। उसका अच्छा जीवन बुद्धि पर जीवन है; पशु-जीवन अर्थात् इन्द्रियसुख भोग का जीवन नहीं। मनुष्य की अच्छाई बुद्धि अथवा आत्मा के द्वारा वासनाओं का आधीनस्थ रखने में ही निहित है।

निस्संदेह यह सत्य है कि आत्म-त्याग आत्म-लाभ के हेतुओं में से एक है। व्यक्ति और जाति के नैतिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में नैतिक जीवन के निषेधामक तत्व अथवा त्याग को प्रधानता मिलनी चाहिये। नैतिक जीवन का प्रारम्भ

आत्म-नियन्त्रण और आत्म-निषेध से होता है, और इस निषेधात्मक-तत्व का पूर्ण विलोप कदापि नहीं होगा। किन्तु यह आत्म-लाभ का साधन-मात्र है, जो कि वासनामय जीवन का उच्च जीवन में परिष्कार कर देने से होता है।

कान्ट 'सत्' को उपयोगिता से भिन्न समझता है। कान्ट के मत से सत् दूरदर्शी-स्वार्थ की छाया से भी दूर है। दूरदर्शी-स्वार्थ का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। 'मनुष्य के अधिकारों' का अनुमान कान्ट के "प्रत्येक व्यक्ति में अवस्थित मानवता" के सिद्धान्त से हुआ है, बेंथम के "प्रत्येक की गिनती एक है और एक से अधिक किसी की नहीं" के सिद्धान्त से नहीं हुआ। मनुष्य स्वयं-साध्य है, अपने का या दूसरों का साधन नहीं। मनुष्य के अधिकारों का इससे निगमन होता है।

(८) पेटौन का संगतिवाद (Paton's Theory of Coherence)—

एच० जे० पेटौन के मतानुसार एक व्यक्ति की कृतियों अथवा ऐच्छिक क्रियाओं में संगति सत्-असत् कर्म को निर्धारित करती है। निम्न कोटि का मंगल में व्यक्ति की ऐच्छिक क्रियाओं में संगति होनी चाहिए। उच्च कोटि का मंगल में एक व्यक्ति की क्रियाओं की समाज की अन्य व्यक्तियों की क्रियाओं से संगति होनी चाहिये। उच्चतम कोटि का मंगल में, एक व्यक्ति की क्रियाओं की विश्व की अन्य व्यक्तियों की क्रियाओं से संगति होनी चाहिये। ऐच्छिक क्रियाओं के विषय का विचार नहीं करना चाहिये। यह मत "सदिच्छा" ("The Good Will") नामक ग्रन्थ में वर्णित है।

यह निर्विषय नैतिक आकारवाद (Formalism) है। परन्तु, कृति का विषय कर्म का सदसत् भाव को निर्धारित करता है, कृतियों की संगति नहीं। एक दस्यु की ऐच्छिक चोरी करने की क्रियाओं में संगति है, परन्तु यह संगति चोरी के कर्म को सत् दलबद्ध नहीं बनाती है। एक दस्यु की ऐच्छिक चौर्य-क्रियाओं में संगति है, परन्तु यह संवाद अधिक असत् है। पेटौन दार्शनिक दृष्टिकोण में कान्ट का अनुयायी है। अतः उसने कान्ट के नैतिक नियमानुवर्तितावाद को अपने नैतिक सिद्धान्त संगतिवाद में अपनाया है। निर्विषय आकारवाद उभय मत में ही है। उभय मत ही भ्रान्त है। सत् कृतियों (Will) में संगति अथवा सत् क्रियाओं में संगति अथवा सत् क्रियाओं में संगति सत् है, परन्तु असत कृतियों में अथवा असत् क्रियाओं में संगति सत नहीं हो सकती। सत् (Right) कृति, अथवा सत् क्रिया शुभ (Good) की सिद्धि करती है। सत शुभ का साधन है। कान्ट और पेटौन शुभ को नहीं मानते हैं। सत् कृति का निर्धारण करने के लिये यह असम्भव है। शुभहीन सत निरर्थक है।

१ आत्म-विकास का नीति-शास्त्र

आत्मपूर्णतावाद के अनुसार पूर्णता अथवा आत्म-विकास ही परम मंगल है। इसे आत्म-कल्याणवाद भी कहा जा सकता है। आत्मा का कल्याण वासनाओं और इच्छाओं की बुद्धि के अधीनस्थ करने में है। आत्म-प्रसाद की प्राप्ति इच्छाओं के सामंजस्य से होती है जिसका कारण बुद्धि है। इस मत को व्यक्तित्व का नीति-शास्त्र भी कहते हैं। आत्म-पूर्णता व्यक्तित्व के बहुमुखी विकास से होता है। आत्म-विकास समाज के अन्य व्यक्तियों से घनिष्ट सहयोग में आदर्श, बुद्धिमय अथवा सामाजिक अहं का विकास है। बुद्धिमय आत्मा ही आदर्श-अहं है। सब अनुभूतियों, वासनाओं मूल-प्रवृत्तियों और इच्छाओं की बुद्धि द्वारा नियन्त्रित करने में बुद्धिमय आत्मा का लाभ हो सकता है। आदर्श-आत्मा सामाजिक आत्मा भी है। वह संकीर्ण व्यक्तिगत अथवा निम्न-अहं नहीं है। सामाजिक अहं का लाभ अधिक से अधिक व्यापक सामाजिक समुदायों के साथ अपने को एकाकार कर देने से होता है। कोई व्यक्ति अपने संकीर्ण व्यक्तित्व से स्वयं को ऊपर उठा सकता है, यदि वह अपने को कुटुम्ब, सम्प्रदाय, जाति व मानवता, तथा उसके हितों से एकाकार कर सके। प्रेम, सहयोग और समाज-सेवा से सामाजिक आत्मा की सिद्धि होती है। केवल समाज से ही आत्मा-लाभ सम्भव है। समाज से पृथक रहते हुये उसकी सिद्धि सम्भव नहीं। अपने व्यापक, सामान्य और सामाजिक स्वरूप को पाने के लिये अपने संकीर्ण व्यक्तिगत और दूसरों से छिपे हुये स्वरूप का त्याग करना पड़ेगा। प्रेम आदर्श आत्मा का आवश्यक लक्षण है। प्रेम की अभिव्यक्ति दूसरों के लिये जीवन व्यतीत करने में होती है। प्राणी-मात्र से प्रेम और समाज-सेवा से आत्म-सिद्धि मिलती है।

आत्म-सिद्धि का अर्थ है व्यक्तित्व का विकास। ऐसा आत्मा की अनन्त सुप्त शक्तियों को जाग्रत करने से होता है। आत्मा के अन्दर भौतिक, बौद्धिक, सौन्दर्य सम्बन्धी और नैतिक अव्यक्त शक्तियाँ हैं। आत्म-विकास किसी सीमा तक इन सब शक्तियों के समान विकास से होता है, जो पूर्णतया विकसित व्यक्तित्व के लिए अनिवार्य हैं। किन्तु, आत्म-विकास का प्रेम इन सब बहुसंख्यक शक्तियों का चरम उत्कर्ष नहीं है। मनुष्य की शक्ति परिमित है, और एक शक्ति का अधिकतम उत्कर्ष दूसरी के अधिकतम उत्कर्ष के लिए बाधक है। एक ही व्यक्ति एक बड़ा योद्धा, एक बड़ा विद्वान, एक बड़ा कवि, एक बड़ा चित्रकार, एक बड़ा राजनीतिज्ञ, एक बड़ा समाज-सुधारक इत्यादि नहीं हो सकता। अतः उसे अपनी प्रतिभा को पहिचानना चाहिये और उसी दिशा में अपनी शक्तियों का उत्कर्ष करना चाहिये। कार्लाइल के अनुसार "तुम क्या कर सकते हो उसे पहिचानो और हरक्यूलीस की तरह उस पर डट जाओ।"

"तुम अपने विशेष क्षेत्र में अपने तमाम दिल, दिमाग, आत्मा और शक्ति के साथ जुट जाओ।" "मानव-प्रगति में आस्था रखो और उसके लिए जितना तुम कर सकते हो, उतना करो।" मेकेंजी के अनुसार—प्रत्येक व्यक्ति को समाज में अपने स्थान के अनुसार कर्त्तव्य-कर्म करना चाहिए। ब्रेडल का "मेरा स्थान और तत्सम्बन्धी कर्त्तव्य' का विचार आत्म-लाभ के अर्थ को स्पष्ट कर देता है। मनुष्य एक विशेष सामाजिक वातावरण में विशेष योग्यताओं को लेकर उत्पन्न होता है, उसके कर्त्तव्य उन्हीं योग्यताओं के ऊपर निर्भर हैं। उसे अपनी ही विधि से उस नैतिक संसार का पोषण और वृद्धि करनी चाहिए जिसका कि वह एक सदस्य है। मनुष्यों के कर्त्तव्य उनकी विशेष योग्यताओं के ऊपर अवलम्बित हैं। आत्म-विकास का अभिप्राय स्वास्थ्य, ज्ञान, सौन्दर्य और सिद्धि से है जो कि मानव-जीवन के आदर्श की है और विशेष रूप से उस आदर्श सिद्धि जो किसी व्यक्ति की नैसर्गिक योग्यताओं से मेल खाता है, जो उसे अपने व्यक्तित्व की पराकाष्ठा पर पहुँचा देता है, और जिनके द्वारा वह मानवता के उत्कर्ष में यथासम्भव सहायता कर सकता है। अतः भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की आत्म-पूर्णता भिन्न-भिन्न योग्यताओं के विकास पर निर्भर है। किन्तु प्रत्येक दशा में उसका अर्थ समाज के सहयोग और घनिष्ट सन्निधि में आदर्श बुद्धि-मय, और सामाजिक अहं की प्राप्ति है। आत्म-लाभ केवल आत्म-त्याग से ही सम्भव है। आत्म-लाभ बुद्धिमय अहं के द्वारा इन्द्रियमय अहं के नियन्त्रण और परिष्कार में है। उसके साथ आनन्द-लाभ भी होता है जो पूर्णता का चिन्ह है। आनन्द आत्म-लाभ की अनुभूति है। वह इच्छाओं को व्यवस्थित करने में है।

आत्मा का प्रकृत ठोस स्वरूप—सुखवाद आत्मा को विशुद्ध इन्द्रियमय और उसकी तृप्ति को परम मंगल समझता है। बुद्धिपरतावाद आत्मा को विशुद्ध बुद्धिमय और उसकी सिद्धि को परम शुभ मानता है। आत्म-पूर्णतावाद आत्मा को इन्द्रियमय तथा बुद्धिमय दोनों, और पूर्ण आत्मा की सिद्धि को सर्वोच्च शुभ समझता है। सुख-वाद आत्मा को संवेदनों, अनुभूतियों और मनोवेगों की एक धारा समझता है। बुद्धि-परतावाद आत्मा को पूर्णतया बौद्धिक-स्वभाव का और वासनाओं को उसके स्वभाव के लिए विजातीय तत्व समझता है। अत्म-पूर्णतावाद के अनुसार आत्मा कामनाओं और बुद्धि का आवश्यक ऐक्य है। आत्मा एक अविनाशी आध्यात्मिक तत्व है जिसमें बुद्धि वासनाओं को व्यवस्थित और नियन्त्रित करती है—दोनों का आत्मा के अन्दर उचित स्थान और कार्य है। सुखवाद सुख को परम शुभ समझता है। बुद्धि-परतावाद के अनुसार वासनाओं का विलोप और शुद्ध बुद्धिमय-जीवन ही परम मंगल है। आत्म-पूर्णतावाद के अनुसार ठोस, पूर्ण आत्मा अर्थात् वासनामय और बुद्धिमय दोनों की पूर्णता ही सर्वोच्च शुभ है। उच्च इसका अर्थ है। उच्च अथवा बुद्धिमय-आत्मा के द्वारा निम्न अथवा इन्द्रिमय-आत्मा का नियन्त्रण और परिष्कार है। इस प्रकार आत्म-पूर्णतावाद का आधार आत्मा का ठोस स्वरूप है।

हीन व्यक्तित्व और उच्च व्यक्तित्व—मनुष्यों में दो प्रकृतियाँ अवस्थित होती

हैं—हीन प्रकृति व उच्च प्रकृति। हीन प्रकृति इन्द्रियमय है, और उच्च प्रकृति विवेकमय है। पहला वासनामय हीन व्यक्तित्व है, और दूसरा बुद्धिमय उच्च व्यक्तित्व। हीन व्यक्तित्व प्रत्येक का अपना अलग-अलग होता है, उच्च व्यक्तित्व एक सामान्य जीवन में होता है। जिस सीमा तक व्यक्ति वासना के क्रीत-दास होते हैं, वहाँ तक उनके हितों में विरोध रहता है। जब वे बुद्धि के अपने विशेषाधिकार का प्रयोग करते हैं तो उनके हित समान हो जाते हैं। मनुष्य का दूसरे मनुष्य के हितों से विरोध उस समय होता है, जब वह वासनाओं और प्रवृत्तियों का दास हो जाता है जो तृप्ति चाहती हैं और उसे दूसरे व्यक्तियों के साथ संघर्ष करने के लिये प्रेरित करती हैं। जब मनुष्य अपनी पाशविक प्रवृत्तियों को दबाने के लिये बुद्धि का प्रयोग करता है, और दूसरों में अपना ही प्रतिबिम्ब देखता है, तो उनके हितों व उनके हितों के मध्य का भेद विलुप्त हो जाता है।

सुखवाद और बुद्धिपरतावाद का समन्वय—जेम्स सेथ के अनुसार, "जिस प्रकार सुखवाद की पुकार आत्म-तुष्टि है, और बुद्धिपरतावाद की आत्मा-त्याग या आत्म-निषेध है, उसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि आत्मपूर्णवाद की पुकार आत्म-लाभ है।" आत्म-लाभ सभी प्रकार के नैतिक सिद्धान्तों के द्वारा मंगल माना जा सकता है। "प्रश्न यह है कि" आत्मा का स्वरूप क्या है? किस आत्मा का लाभ होना चाहिये? सुखवाद का उत्तर है: वासनामय आत्मा का, बुद्धिपरतावाद का उत्तर है: बुद्धिमय आत्मा का; आत्मापूर्णतावाद का उत्तर है: पूर्ण आत्मा का, वासनामय का और बुद्धिमय का भी।"[1]

सुखवाद इन्द्रियपरता के अधिकार को मान्यता देता है। बुद्धिपरतावाद बुद्धि के अधिकार को मान्यता देता है। आत्मपूर्णतावाद दोनों के अधिकारों को मान्यता देता है। दोनों मानव स्वभाव के आवश्यक अंग है। मानव स्वभाव में दोनों के उपयुक्त स्थान और कार्य हैं। अनुभूतियाँ और इच्छायें नैतिक जीवन के उपादान हैं। बुद्धि नैतिक-जीवन के आकार का, नैतिक नियम को देती है। नैतिक जीवन वासनाओं को नियन्त्रित करके उसे विवेकमय जीवन के वाहन के रूप में परिवर्तित कर देने का प्रयास करता है। वासनायें अनिवार्यतः अबौद्धिक नहीं हैं। वे नैतिक जीवन का उपादान हैं। बुद्धि का कार्य उन्हें परिष्कृत करना है। बुद्धि अनुभूतियों वासनाओं और इच्छाओं को नियन्त्रित करके उनमें सामंजस्य स्थापित कर देती है। जान केयार्ड के अनुसार, "नैतिकता और नैतिक जीवन उसे कहा जा सकता है जो मनुष्य की उच्च और हीन प्रकृतियों के विरोध को दूर कर सकता है। जिससे हीन प्रकृति उच्च प्रकृति को अभिव्यक्त करने वाले रूप में परिवर्तित हो जाती है।" वासनाओं के विनाश से नैतिक जीवन का ही अपहरण हो सकता है, क्योंकि उनके साथ नैतिकता के उपादान का भी विनाश हो जाता है। बुद्धि शून्य में कार्य नहीं कर सकती। वह अनुभूतियों और इच्छाओं के ऊपर कार्य करती है, उन पर नियन्त्रण व शासन करती है, और बुद्धिमय

1. सेथ।

जीवन के साथ उनका सामंजस्य स्थापित करती है। इच्छाओं और अनुभूतियों का ध्वंस आध्यात्मिक जीवन को अकिंचन बना देता है। आत्म लाभ का अर्थ यह है कि विविक्त इच्छाओं को स्वतन्त्र रूप से अपनी तुष्टि कर देने की अपेक्षा परस्पर संगठित और मैत्रीयुक्त बनाया जाये, ताकि वे बुद्धिमय जीवन के ग्राहक बन जायें। इस प्रकार आत्णपूर्णतावाद, सुखवाद और बुद्धिपरतावाद का समन्वय कर देता है। बुद्धि द्वारा वासनाओं का नियन्त्रण तथा परिवर्तन नैतिक जीवन के आवश्यक अंग हैं, इनका विनाश नहीं।

सुख और आनन्द—सुखवाद सुख को परम मंगल मानता है। आत्मपूर्णतावाद आत्म-लाभ को परम मंगल मानता है। आत्म-लाभ इन्द्रियपरता का बुद्धिपरता से योग करने में होता है। जब अनुभूतियाँ और इच्छायें बुद्धि के द्वारा एक व्यवस्था में बाँध दी जाती हैं तो उससे आनन्द उत्पन्न होता है। सुख की अनुभूति क्षणिक वासनाओं और विविक्त इच्छाओं की तृप्ति से होती है। आनन्द का उद्भव वासनाओं और इच्छाओं को नियन्त्रित और व्यवस्थित करने से होता है। सुख क्षणिक होता है? जबकि आनन्द स्थायी। सुख वासनाओं की तृप्ति से होता है, आनन्द वासनाओं के बुद्धिसंगत होने से। सुख अल्पस्थायी और इन्द्रियजन्य होता है, आनन्द चिरस्थायी और बुद्धिजन्य। आनन्द का लाभ अलग-अलग इच्छाओं की पूर्ति से अथवा इच्छाओं की अधिकतम संख्या की तृप्ति से नहीं होता, बल्कि इच्छाओं को नियन्त्रित और व्यवस्थित करने से होता है।

पूर्णता अथवा सम्पूर्ण आत्मा का विकास वासनामय और बुद्धिमय दोनों का लाभ आत्यन्तिक मंगल है। किन्तु आत्म-लाभ से आनन्द का भी लाभ होता है। आनन्द जो सुख से भिन्न है, चरम कल्याण नहीं है। आनन्द आत्म-लाभ का सूचक है। वह अनिवार्यत: उसके साथ पाया जाता है। इस प्रकार आत्मपूर्णतावाद नैतिक जीवन में आनन्द के महत्व को स्वीकार करता है। एक सच्चा सदाचारी जीवन आनन्दयुक्त जीवन है। सुसंगत जीवन आनन्दमय जीवन से होता है। जब मानव-स्वभाव के प्रतियोगी तत्वों का संघर्ष समाप्त हो जाता है और आत्मा के अन्दर शान्ति आ जाती है, तो वह आनन्दातिरेक से पूर्ण हो जाता है, किन्तु आनन्द स्वयंमेव परम-शुभ नहीं है। आत्मपूर्णतावाद, आत्म३प्रसादवाद भी कहलाता है।

नैतिक जीवन आनन्दहीन नहीं है। पूर्णता शान्तिमय और आनन्दमय है। परन्तु आनन्द नीति का चरम उद्देश्य नहीं है। पूर्णता ही चरम लक्ष्य है। अत: आत्मपूर्णतावाद को सुखवाद कहना भ्रान्त है, जैसे रैशडैल कहता है। आनन्द पूर्णता का चिन्ह है। यह परम मंगल नहीं है। सुखवाद तथा बुद्धिपरता वाद का समन्वय है।

स्वार्थ और परार्थ का समन्वय—आत्म-लाभ परम शुभ है इसका अर्थ हीन आत्मा के नियन्त्रण-पूर्वक उच्च अथवा आदर्श आत्म की सिद्धि है। उच्च आत्मा बुद्धिमत-आत्मा है। हीन आत्मा वासनामय अथवा पाशविक आत्मा है। हमें उच्च

आत्मा की प्राप्ति हीन आत्मा को परिष्कृत करके करनी चाहिये। बुद्धिमय आत्मा विश्वात्मा है : वही सभी परिच्छिन्न आत्माओं का समन्वय तत्व है। दो व्यक्तियों के मध्य संघर्ष वहीं तक होता है जहाँ तक उनमें इन्द्रियपरता पाई जाती है। उनके हितों में अवरोध वहीं तक होता है जहाँ तक उनमें बुद्धिपरता पाई जाती है। उच्च आत्मा बुद्धिमय आत्मा है; बुद्धिमय आत्मा सामाजिक आत्मा है। उसका लाभ समाज में ही होता है। जितना अधिक व्यक्ति अपने व्यक्तिगत, विशेष, संकीर्ण आत्मा का निषेध करता है और सम्प्रदाय, जाति अथवा मानवता के साथ स्वयं को एकाकार करता है, उतनी अधिक उसे अपने वास्तविक, उच्च आदर्श, बौद्धिक अथवा सामाजिक स्वरूप की उपलब्धि होती है। इस प्रकार उच्च आत्मा के दृष्टिकोण से प्रत्येक व्यक्ति अथवा जीवात्मा प्रत्येक दूसरे जीवात्मा में अपनी झलक, अपना पूरक देखता है।

आत्मपूर्णतावाद के दृष्टिकोण से स्वार्थ और परार्थ में कोई विरोध नहीं है। आत्मा का उच्चतम मंगल उच्चतम सामाजिक मंगल है। उच्चतम वैयक्तिक शुभ और उच्चतम सामाजिक शुभ में पूर्ण अभेद है। सुखवादी शुभ आत्मगत और वैयक्तिक है। सामान्य शुभ पूर्ण आत्मा का—वासनामय और बुद्धि पर दोनों का शुभ है। यह वासनाओं का बुद्धि से सामंजस्य है और उससे आनन्द का जन्म होता है।

आत्म-त्याग के द्वारा आत्म-लाभ—आत्म-लाभ केवल आत्मोत्सर्ग अथवा आत्मा-निषेध के द्वारा ही सम्भव है। हमें अपने बुद्धिमय आत्मा के लाभ के हेतु अपने पाशविक आत्मा का उत्सर्ग करना होगा। हमें अपने उच्चतर और व्यापक स्वरूप को प्राप्त करने के लिये अपने व्यक्तित्व और संकीर्ण स्वरूप का बलिदान करना होगा। मैकेंजी के अनुसार, "हमारे लिये सच्चे आत्म अथवा सम्पूर्ण शुभ की उपलब्धि केवल सामाजिक लक्ष्यों की सिद्धि के द्वारा ही सम्भव है। ऐसा करने के लिये हमें अपनी वैयक्तिक आत्मा का निषेध करना होगा, जो वैयक्तिक आत्मा की सच्ची आत्मा नहीं है। हमें आत्मोत्सर्ग के द्वारा आत्म-लाभ करना होगा। हम अपनी उच्चतर आत्मा का विकास अपने साथियों से विविक्त होकर नहीं कर सकते, बल्कि कुटुम्ब सम्प्रदाय, राज्य और मानवता में रहते हुए उनके साथ सजीव और सक्रिय सहयोग कर सकते हैं। सामाजिक संस्थायें वे माध्यम हैं जिनके द्वारा हम अपनी उच्च आत्मा या अस्तित्व को प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार आत्म-लाभ का अर्थ समाज के द्वारा मानव-व्यक्तित्व की पूर्णता प्राप्त करना है। आत्मा का परम कल्याण व्यक्तिगत कल्याण भी है और सामाजिक कल्याण भी। हमें न तो एकान्त रूप से अपने ही व्यक्तिगत शुभ का लाभ करना चाहिये, न केवल समाज के शुभ का, बल्कि एक समाज-रूपी इकाई के अंगभूत अपने तथा अन्यों के भी शुभ का लाभ करना चाहिये। मैकेंजी के अनुसार आत्यान्तिक मंगल एक बुद्धिमय विश्व का निर्माण करता है, न कि केवल आत्मा का। बुद्धिमय विश्व भौतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा राष्ट्रीय

अमंगल से वर्जित होना चाहिये, अशुभहीन विश्व का निर्माण चरम लक्ष्य है। इससे व्यक्ति की पूर्णता प्राप्ति हो सकती है।

जब व्यक्ति अपने संकीर्ण व्यक्तिगत और विशेष आत्मा से ऊपर उठकर स्वयं को कुटुम्ब, सम्प्रदाय, राज्य और मनुष्य जाति के अधिक विस्तीर्ण और सम्पन्न जीवन से एकाकार कर देता है, तो विश्वव्यापी जीवन की शक्ति अव्यक्त से व्यक्त हो जाती है।

अन्तःकरण का अर्थ—आत्मपूर्णतावाद के अनुसार, अन्तःकरण सम्पूर्ण अथवा सच्ची आत्मा है। अपने अंशों के लिये नियम निर्माण करना उसका अधिकार है। आत्म-ज्ञान और बुद्धि से सम्पन्न होने के कारण इच्छाकृत कर्मों में अपनी ही "अभि-व्यक्ति के सदसत् का निर्णय करना उसका अधिकार है। म्यूरहेड के अनुसार उसकी आवाज सच्ची आत्मा की आवाज है जो आंशिक आत्मा के लिये आदेश है।" इस प्रकार अन्तःकरण सम्पूर्ण आत्मा के साथ एकाकार है। नैतिक नियम को आत्मा अपने ही ऊपर लागू करती है। वह एक बाह्य नियम नहीं है, बल्कि अपना ही आन्तरिक नियम है। आन्तरिक नियम होने के लिये उसे सम्पूर्ण आत्मा का नियम होना है, उसके अंश विशेष का नहीं। यदि वह अंश-मात्र का नियम है, तो फिर भी वह आत्मा का बहिर्गत है और उस अवस्था में आत्मा को एक बाह्य नियम के सम्मुख नतमस्तक होना पड़ेगा।

नैतिक बाध्यता का अर्थ—नैतिक बाध्यता को आत्मा स्वयं अपने ऊपर लागू करता है। आदर्श अथवा बुद्धिमय अहं वास्तविकता अथवा वासनामय अहं को कर्त्तव्य करने के लिये बाध्य करता है। नैतिक बाध्यता का उद्गम आत्मा के बहिःस्थ कोई समाज, राज्य, अथवा ईश्वर भी नहीं है। उसका उद्गम स्वयं आत्मा—आदर्श अथवा बुद्धिमय-आत्मा है।

नैतिक चेतना में अव्यवस्थित नैतिक बाध्यता एक आवश्यक तत्व है। उसका अतिगमन कदापि नहीं हो सकता। नैतिक प्रगति में उसका लोप कभी नहीं हो सकता आत्म लाभ उच्चतम शुभ है। आदर्श आत्म शाश्वत और अनन्त है। उसकी पूर्ण प्राप्ति कभी भी सम्भव नहीं। अतः नैतिक बाध्यता नैतिक चेतना का चिरस्थायी तत्व है। आदर्श-स्वरूप का भी कभी पूर्ण विकास नहीं हो सकता। वह एक अनन्त आदर्श है जिसकी उपलब्धि होनी है। वास्तविक और आदर्श में निरन्तर संघर्ष है। नैतिक प्रगति के साथ-साथ नैतिक आदर्श दूरस्थ और उच्चतर होता जाता है। एक सीमित व्यक्तित्व के लिये नैतिक आदर्श की पूर्णरूप में असाध्यता और कर्त्तव्यमय जीवन की अध्यक्षता का कारण आदर्श-आत्मा की अनन्तता है। यह सत्य है कि आदर्श का नित्य अधिकाधिक लाभ हो रहा है। किन्तु उसको पूर्णरूप से उपलब्ध कर देने का अर्थ नैतिक जीवन की समाप्ति होगा।[1] इस प्रकार नैतिक नियम की निरपेक्षता और नित्यता को मानना पड़ता है।

1. सेथ : नीति के सिद्धान्त, पृष्ठ २११।

(२) आत्मपूर्णतावाद नीति-शास्त्रिगण—

(१) **प्लेटो**—प्लेटो (Plato) बुद्धिपरतावाद तथा आत्मपूर्णतावाद का समर्थक है। बुद्धि मानवीय आत्मा की सर्वोच्च तत्व है। आत्मा का सर्वोच्च जीवन बुद्धिमय जीवन है। प्लेटो इसे दार्शनिक चिन्तन का जीवन कहता है। यह अत्यधिक भावनापूर्ण जीवन है। यह भावना-रहित जीवन नहीं है। जो सत्य और शिव है वह सुन्दर भी है। संसार के प्रेम, पवित्र और श्रेष्ठ होकर दैवी प्रेम बन जाते हैं। प्लेटो के नीति-शास्त्र में यह बुद्धिपरतावादी तत्व है।

प्लेटो का नीति-शास्त्र उसके मनोविज्ञान पर आधारित है। आत्मा के तीन तत्व—बुद्धि, इच्छा और तेज हैं। इनमें बुद्धि सर्वोपरि तत्व है। इच्छायें अनन्त हैं। वे नियन्त्रित तथा आधीन रखी जाती हैं। तेज इच्छायें क्षेत्र में बुद्धि की आज्ञाओं को लागू करती हैं। यह बुद्धि के आदेशानुसार इच्छाओं पर नियन्त्रण करती हैं। श्रेष्ठ जीवन संगीतमय जीवन है, अर्थात् उसमें आत्मा के सभी तत्वों का पूर्ण समन्वय रहता है। न्याय आत्मा का स्वास्थ्य है। यह आत्मा के समस्त तत्वों से पूर्ण समन्वय में सन्निहित है। इसमें अंग पूर्ण (Whole) के आधीन रहते हैं। अन्याय आत्मा का "रोग और विकृत स्वरूप" है, इसमें अंग पूर्ण के विरुद्ध विद्रोह करते हैं तथा निम्न व उच्च के मध्य संघर्ष चलता है। धार्मिक जीवन सामञ्जस्यपूर्ण होता है, जिसमें आत्मा के निम्न तत्व बुद्धि के आधीन रहते हैं। प्लेटो के नीति-शास्त्र में यह आत्म-पूर्णतावाद का तत्व पाया जाता है।

(२) **अरस्तू**—अरस्तू (Aristotle) आत्मपूर्णतावाद तथा बुद्धिपरतावाद का समर्थक है। अरस्तू विचारमय जीवन को कर्ममय जीवन से श्रेष्ठ मानता है। चिन्तन कर्म की अपेक्षा श्रेष्ठ है। वास्तविक आत्मा बुद्धिप्रधान है। उनका प्रधान कर्म विचार अथवा चिन्तन है। चिन्तन की सक्रियता बुद्धिप्रधान आत्मा की वास्तविक अभिव्यक्ति करती है। अरस्तू के नीति-शास्त्र में यह बुद्धिपरतावादी तत्व है।

अरस्तू के मतानुसार व्यक्ति से सम्बन्धित मध्य-माग का चुनाव ही गुण है। बुद्धि के सामान्य मानदण्ड के अनुसार इच्छाओं के नियन्त्रण में ही धर्म का निवास है। इच्छाओं की अतितृप्ति व ततृप्ति में अथवा इच्छाओं के पूर्ण करने की अव्यवस्था में अधर्म का निवास है। धर्म का अर्थ है इच्छाओं को समुचित मात्रा में पूर्ण करना। यदि एक व्यक्ति के भीतर विचारात्मक उद्देश्य से प्रेरित होकर कर्म करने का सुनिश्चित अभ्यास पड़ गया है तो उसके भीतर नैतिक गुण माना जायेगा जिसके द्वारा उसकी प्रेरणायें तथा इच्छायें बुद्धि के आधीन रहती हैं। अरस्तू के नीति शास्त्र में यह आत्म-पूर्णतावाद का तत्व है।

(३) **हेगेल**—हेगेल (Hegel) के विचार से सृष्टि का व्यापार ईश्वर की अभिव्यक्ति है, जिसका चरम उत्कर्ष मानव जीवन में होता है; और मनुष्य उद्विकास का परम मंगल अपने आध्यात्मिक स्वरूप का पूर्ण विकास है। मनुष्य का इतिहास आत्मचेतना के सर्वोत्कृष्ट रूप की उपलब्धि की दिशा में क्रमिक प्रक्रिया है।

हेगेल वासनाओं के अधिकार को स्वीकार करके और उसका बुद्धि से सामंजस्य स्थापित करके कान्ट (Kant) के सिद्धान्त के नियमानुवर्तितावाद में परिशुद्ध करता है। कान्ट ने बुद्धि के अधिकार के ऊपर अनुचित बल दिया है और वासनाओं के अधिकारों की अवहेलना की है। हेगेल दोनों के अधिकारों को स्वीकार करता है और दोनों में मैत्री उत्पन्न करता है। बुद्धि के द्वारा वासनाओं का नियमन परम मंगल है।

हेगेल का मत है कि अनन्त चैतन्य अथवा आत्मा इतिहास, परम्परा, नियम, नीति और नैतिक संस्थाओं (यथा : कुटुम्ब, सम्प्रदाय, और राज्य) के क्रम विकास की विविध अवस्थाओं में से होकर गुजरता है। व्यक्ति स्वयं को अपनी समसामयिक संस्थाओं के जीवन से एकाकार करके अपनी स्वतन्त्रता की प्राप्ति करता है। प्रगति संस्थाओं में मूर्त्त स्वतन्त्रता का विकास हैं। सिद्धावस्था ही विकास का लक्ष्य है।

हेगेल आत्मपूर्णतावाद के नीति-शास्त्र का समर्थक है। वह नीति के निम्नलिखित सूत्रों का अपना व्यक्तिगत अर्थ देता है—

(अ) **जीने के लिये मरो** (Die to live)—मध्ययुगी ईसाई धर्म में इसका अर्थ यह था कि 'आत्मा की मुक्ति के लिये शरीर को सूली पर चढ़ा दो, शरीर का नाश आत्मा के बचाव के लिये आवश्यक है।' हेगेल मध्य युग का सन्यासवाद के अनुसार इस सूत्र का अर्थ नहीं करता। उसके दृष्टिकोण से इसका अर्थ यह है कि 'आत्मा के संकीर्ण और व्यक्तिगत रूप की मृत्यु होनी चाहिये और संकुचित क्षेत्र के बहिःस्थ आध्यात्मिक जगत का अधिक सम्पन्न और अधिक व्यापक जीवन बिताना चाहिये।' हेगेल आत्मा के उच्च जीवन के लिये वासनाओं का नाश नहीं चाहता—बल्कि बुद्धि के द्वारा उनका नियन्त्रण और उच्च बुद्धिमय-जीवन में उनका परिष्कार चाहता है। इस प्रकार आत्मपूर्णतावाद सन्यासवाद नहीं है।

(ब) **व्यक्ति बनो** (Be a person)—हेगेल का इससे यह तात्पर्य है कि हमें अपनी वासनाओं से उच्च आत्मा अथवा व्यक्तित्व का निर्माण करना चाहिये। वासनामय हीन आत्मा को नियन्त्रित करके बुद्धिमय उच्च आत्मा का लाभ होना चाहिये। पाशविक प्रवृत्तियों का परिष्कार करके बुद्धिमय स्वरूप को प्राप्त करना चाहिये। व्यक्तित्व स्वयं साध्य है, वह दूसरे का साधन नहीं। वह उच्चतम लक्ष्य है। अतः हमें अपना व्यक्तित्व निर्माण करने के लिये अधिकतम चेष्टा करनी चाहिये और दूसरों के व्यक्तित्व का सम्मान करना चाहिये। हीगल ने कहा है कि, "व्यक्ति बनो और दूसरों के व्यक्तित्व का सम्मान करो।"

(२) **टी० एच० ग्रीन** (T. H. Green)—हेगेल के मत का विस्तार ग्रीन (Green), ब्रेडले (Bradley) बोसान्के (Bosanquet) जैसे दार्शनिकों ने किया। ग्रीन का मत है कि प्रगति का अन्तस्थ एक आध्यात्मिक तत्व है। वह अनन्त चैतन्य का नित्य तत्व है। जीवात्मा उसी अनन्त आत्मा के परिच्छिन्न रूप हैं। उसका परम मंगल इसी में है वे मनुष्य-जाति के अधिक सम्पन्न और अधिक व्यापक जीवन

के साथ एकाकार होकर अपनी व्यापकता और ईश्वर से एकता लाभ करें नैतिक जीवन मनुष्य के अन्तरस्थ व्यक्त करने के प्रयत्न में और मनुष्य के बुद्धिमय, आत्म-चेतनायुक्त और आध्यात्मिक स्वरूप को वासनाओं और इच्छाओं के पाशविक जीवन के परिष्कार-पूर्वक अधिकतम पूर्णता के साथ प्राप्त करने के प्रयत्न में निहित है। अमंगल-वर्जित बुद्धिमय जगत का निर्माण सच्ची आत्मा का निर्माण है।

आत्म-लाभ सर्वोच्च व्यक्तिगत तथा सामाजिक हित अथवा शुभ है। शुभ वह है जो इच्छाओं की पूर्ति करे। इस प्रकार नैतिक शुभ वह है जो एक नैतिक माँग को सन्तुष्ट करे। व्यक्तिगत आत्मा बुद्धियुक्त है। अतः नैतिक शुभ बुद्धियुक्त शुभ है। इसके लिये मनुष्य की बौद्धिक-प्रकृति को सन्तुष्ट करना आवश्यक है। यह एक ऐसा सुख-मात्र नहीं हो सकता जो कि व्यक्ति के आत्मा की भौतिक प्रकृति को सन्तुष्ट कर देता है। यह केवल गुण सद्भावना, बुद्धियुक्त संकल्प तथा अन्य समस्त भावनाओं से शून्य विशुद्ध संकल्प भी नहीं हो सकता। नैतिक शुभ आत्मा के आदर्श स्वरूप की उपलब्धि अथवा आत्मा लाभ है। यह आत्मा का पूर्णत्व है। मनुष्य के भीतर एक दैवी-तत्व स्वयं को व्यक्त करता है, उसमें आत्मा का आदर्श स्वरूप यह दैवी-तत्व ही है। यह उच्च आत्मा, बुद्धियुक्त आत्मा अथवा सामाजिक आत्मा है। यह निम्नतर, ऐन्द्रिय तथा व्यक्तिगत आत्मा नहीं है। आदर्श आत्मा की प्राप्ति समाज के भीतर या उसके द्वारा ही हो सकती है। आत्मा-लाभ, समाज, राष्ट्र, तथा मानव जाति के भीतर ही सम्भव है। यह आत्मा का ज्ञान, स्नेह तथा मानवता के साथ हितसाम्य द्वारा सेवा की अनन्त शक्तियों के विकास में निहित है। मनुष्य द्वारा पूर्णत्व की प्राप्ति एक पूर्ण समाज रचना की ओर मानवता की प्रगति में भाग लेकर ही की जा सकती है। अपने राष्ट्रीय जीवन से पृथक् होकर कोई व्यक्ति आत्म-लाभ अथवा पूर्णत्व की प्राप्ति नहीं कर सकता। राष्ट्र से परे व्यक्ति का जीवन अवास्तविक बन जाता है। अपने व्यक्तियों से परे राष्ट्र अथवा राष्ट्रीय भावना का स्वरूप भी केवल भावात्मक अथवा अवास्तविक ही होता है। मानवता की प्रगति व्यक्तिगत चरित्र से व्यक्तिगत चरित्र की प्रगति में निहित है। नैतिक प्रगति व्यक्तियों के व्यक्तिगत चरित्र की प्रगति है। यह कभी भी व्यक्ति से परे नहीं हो सकती। मानवता समाज में नैतिक प्रगति का अर्थ है मानवता की एक पूर्णतर समाज की ओर प्रगति जिसमें व्यक्तियों का व्यक्तित्व नष्ट नहीं होगा, अथवा वैयक्तिक संकल्प शक्ति साधन स्व-रूप नहीं होगा। नैतिक प्रगति का अर्थ समाज के व्यक्तियों के व्यक्तित्व का पूर्णत्व है। जो शक्तियाँ व्यक्ति के भीतर दिक्-काल में पूर्णता प्राप्त करती हैं वे ईश्वर अथवा विश्व-आत्मा में पहले से ही पूर्ण रहती हैं। मनुष्य के भीतर दैवी-पूर्णत्व की क्रमिक अभिव्यक्ति ही नैतिक प्रगति है। समाज के भीतर विभिन्न सदस्यों की शक्तियाँ और उनके कृत्य विभिन्न होते हैं। उनके कृत्य उनकी शक्तियों के सदृश होते हैं। वे सब समाज की नैतिक प्रगति में योग देती हैं। वे दैवी पूर्णत्व को विभिन्न प्रकार के अभि-व्यक्त करती हैं। परन्तु मनुष्य के पूर्णत्व अथवा आत्मा-लाभ की वास्तविक प्रकृति

की परिभाषा तब तक सम्भव नहीं जब तक कि व्यक्ति उस अवस्था को वास्तव में प्राप्त न कर ले ।

(५) **ब्रैडले** (Bradley)—ब्रैडले की पुस्तक है, "मेरा स्थान और तत्सम्बन्धी-कर्त्तव्य" । ब्रैडले का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति का मानव-समाज में एक विशिष्ट स्थान और कार्य है । उसका समाज में एक नियत स्थान है, और उसे उस स्थान के उपयुक्त कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिये । वह एक सामाजिक इकाई का सदस्य है, उसमें उसका विशिष्ट स्थान है; उसके जीवन में अपने स्थान के अनुरूप विशेष कर्त्तव्य हैं । उसे उन्हीं का पालन करना चाहिये । इसी से उसका आत्म-लाभ रहेगा । प्रत्येक व्यक्ति कुछ विशेष योग्यताओं को साथ लेकर जन्म लेता है । समाज में उसका स्थान और कार्य निर्धारित होता है, उसके कर्त्तव्यों का उसी से सम्बन्ध है । वह एक व्यवस्थित समाज में अपने निर्धारित कार्य को पूरा करके ही सुख प्राप्त कर सकता है ।

विविध व्यक्ति नैतिक समाज के अंग हैं । वे परस्पर अन्योन्याश्रित हैं । जिस प्रकार एक जैविक शरीर (organism) के अंग के अपने नियत कृत्य होते हैं जिनकी पूर्ति करके ही वे उसके कल्याण में सक्रिय योग दे सकते हैं, इसी प्रकार सामाजिक अथवा नैतिक शरीर के विभिन्न सदस्य समाज में अपने स्थान से सम्बद्ध नियत कर्त्तव्यों की पूर्ति द्वारा उसके सामान्य हित में हाथ बंटाते हैं । नैतिक शरीर अर्थात् समाज के विविध सदस्यों के कर्त्तव्यों में विविध-रूपता होती है तथा उसमें सामान्य हित में समरूपता । इस प्रकार नैतिक शरीर के भीतर विविध-रूपता और समरूपता दोनों होती हैं । सर्वोच्च व्यक्तिगत हित और सर्वोच्च सामाजिक अथवा सामान्य हित के मध्य पूर्ण-साम्य है ।

नैतिक समाज की सामान्य इच्छा सामाजिक संस्थाओं में मूर्तिमान् होती है । नैतिक समाज के भिन्न-भिन्न सदस्यों को जनता के नैतिक स्तर के अन्तर्गत अथवा अनुकूल अपने नियत कर्म का पालन करना चाहिये । जनता के नैतिक स्तर की अभिव्यक्ति अंशतः सामाजिक संस्थाओं में होती है । इस प्रकार समाज के सदस्य अपनी व्यक्तिगत इच्छा तथा समाज की सामान्य इच्छा के मध्य सामञ्जस्य स्थापित कर सकते हैं । समाज से परे आत्म-लाभ कदापि सम्भव नहीं है । सामाजिक नैतिकता से पृथक् व्यक्तिगत नैतिकता का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता । जनता के नैतिक स्तर की महत्ता के सम्बन्ध में ब्रैडले का विचार अतिशयोक्तिपूर्ण है । उसका मत है कि जो व्यक्ति जनता के नैतिक स्तर की सीमा से आगे जाता है वह अनैतिकता की सीमा में प्रवेश करता है । सामाजिक नैतिकता से परे उच्च कोटि का दैवी जीवन मनुष्य व्यतीत कर सकते हैं । गीता में इसका संकेत है ।

ब्रैडले ने आत्म-लाभ का अर्थ अनन्त आत्मा (व्यापक आत्म-परमात्मा की प्राप्ति) किया है । यह मनुष्य द्वारा अपने परिवार, जाति, राष्ट्र, तथा अन्तोगत्वा मानवता के साथ अपने-हितों की तद्रूपता द्वारा बुद्धि-पूर्वक अपनी भौतिक अथवा

ऐन्द्रिय प्रकृति के पूर्ण परिवर्तन में निहित है। समाज से पृथक् होकर आत्म-लाभ सम्भव नहीं है। एक व्यक्ति जब हृदय और आत्मा से सामाजिक सेवा में व्यस्त हो जाता है तो वह अपने संकीर्ण व्यक्तित्व से ऊपर उठ जाता है। जितना ही वह सामाजिक शुभ में स्वयं को खोता जायेगा, उतना ही अधिक वह आदर्श स्वरूप की प्राप्ति करता जावेगा।

(६) **बोसान्के** (Bosanquet)—वह मूल्य के प्रत्यय पर बल देता है। उसके अनुसार आत्मलाभ का अर्थ है—सत्य, सौन्दर्य, और शुभ, इत्यादि, जीवन के उच्चतम मूल्यों की उपलब्धि। हमें स्वार्थपर आत्मा का त्याग करना चाहिये। हमें उस व्यापक आत्मा की प्राप्ति करनी चाहिये जिसमें सर्वोच्च मूल्य हों।

बोसान्के आत्मपूर्णतावाद को मूल्यों के अनुशीलन से जोड़ देता है। यह सत्य है कि सत्य, सौन्दर्य तथा मंगल के अनुशीलन में आत्म-विकास होता है। इन आदर्शों को छोड़कर आत्म-लाभ निरर्थक होता है।

(३) आत्मपूर्णतावाद और अन्य नैतिक मानदण्ड

आत्मपूर्णतावाद सुखवाद के समान वासनाओं को मानव-स्वभाव के आवश्यक तत्व के रूप में स्वीकार करता है। वासनायें नैतिक जीवन का अनिवार्य उपादान है। सुखवाद सुख को नैतिक मानदण्ड मानता है। आत्मपूर्णतावाद आनन्द को सदाचार का सूचक मानता है। सुख इन्द्रियजन्य वासनामय और अल्पस्थायी होता है। आनन्द बुद्धिजन्य और स्थायी होता है, और इच्छाओं के सामंजस्य से उद्भूत होता है। आत्म-सुखवाद व्यक्ति के सुख को सर्वोच्च शुभ मानता है। आत्म पूर्णतावाद के अनुसार, सर्वोच्च शुभ व्यक्ति का शुभ है, वह कभी भी व्यक्ति के अतिरिक्त किसी का शुभ नहीं हो सकता। परसुखवाद अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख को सर्वोच्च शुभ मानता है। आत्मपूर्णतावाद मानता है कि सर्वोच्च शुभ केवल व्यक्ति का ही शुभ नहीं है, बल्कि समाज का भी है। वह आत्म-विकास अथवा संकीर्ण वैयक्तिक, विशेष अह के बलिदानपूर्वक, आदर्श, बुद्धिमय, अथवा सामाजिक अहं का विकास है, जिससे व्यक्ति का आनन्द दूसरों के आनन्द के ऊपर निर्भर हो जाता है। विकासात्मक सुखवाद समाज को परस्पर आश्रित व्यक्तियों का एक एकता में बद्ध शरीर मानता है। आत्मपूर्णतावाद के अनुसार समाज आत्म-चेतना-युक्त व्यक्तियों का एक संगठन है, जो क्रमशः अपने संकीर्ण व्यक्तित्वों से ऊपर उठकर और समाज के अधिक समृद्ध, अधिक व्यापक जीवन में एकाकार होकर आत्म-लाभ करते हैं। हम एक-दूसरे से विविक्त नहीं हैं वरन् हम एक सामाजिक संघ के सदस्य हैं। हमें दूसरों से अलग अपने ही व्यक्तिगत कल्याण का अन्वेषण नहीं करना चाहिये। बल्कि हमें एक मंगलमय बौद्धिक जगत् का निर्माण करना चाहिये। हमें एक सर्वोत्कृष्ट मानव-जीवन की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये। आत्मपूर्णतावाद मानव-देह में बुद्धि की उत्कृष्टता दिखाने में बुद्धिपरतावाद के साथ एकमत है। पूर्णतावाद के नैतिक गुण का अनुपम और अविश्लेष्य अर्थात् जिसे सत्य या सौन्दर्य में विघटित नहीं किया जा सकता, मानव में अपरोक्ष

ज्ञानवाद से मतैक्य है। किन्तु, वह नैतिक नियम को स्वयं-सिद्ध नहीं मानता। पूर्णतावाद नैतिक नियम को आत्म-विकास का साधन-मात्र स्वीकार करता है, जो परम मंगल है। इस प्रकार, आत्म-पूर्णतावाद नैतिक-मानदण्ड-विषयक सभी सिद्धान्तों के सत्य के अंशों को आत्मसात कर देता है। आत्मपूर्णतावाद के गर्भित तत्वों को मूल्यों का विचार सुस्पष्ट कर देता है।

(४) आत्मपूर्णतावाद की समीक्षा

सुखवादी, उपयोगितावादी तथा सहजज्ञानवादी ने आत्मपूर्णतावाद की तीव्र विरुद्ध समालोचना की है। उनके मत के अनुसार आत्मपूर्णतावाद सुखवाद है, क्योंकि वासनाओं को बुद्धि द्वारा नियन्त्रण से आनन्द की प्राप्ति होती है। आनन्द सुख से पृथक् नहीं है। आत्मपूर्णतावाद का चरम लक्ष्य सुख है, आत्म-विकास नहीं। आत्म-विकास तो गौण उद्देश्य है।

यह आपत्ति युक्तिपूर्ण नहीं है। आत्म-विकास ही मुख्य उद्देश्य है, आनन्द उसका सहगामी तत्व है। पूर्णतावादी आत्म-लाभ-जनित आनन्द को मुख्य लक्ष्य नहीं मानता। आनन्द आत्म-पूर्णता का सूचक-मात्र है। आनन्द मनुष्य का ध्येय नहीं है।

रैशडैल के अनुसार आत्मपूर्णतावाद, मनोवैज्ञानिक सुखवाद की भाँति है। मनुष्य स्वभावतः प्रत्येक कर्म में आत्म-सन्तोष का अन्वेषण करते हैं। यह आत्म-पूर्णतावाद है। मनुष्य स्वभावतः आत्म-सुख खोजते हैं। यह मनोवैज्ञानिक सुखवाद हैं। ये दोनों उक्तियाँ एक समान ही हैं।

यह आपत्ति भी युक्तिपूर्ण नहीं है। आत्म-सन्तोष सुख नहीं है। सुख, इन्द्रिय-जन्य है। आत्म-सन्तोष उच्च बौद्धिक आत्मा की तृप्ति या आनन्द है। आनन्द सुख से पृथक् उच्च-कोटि का है। सुख विविक्त वासना की तृप्ति से उत्पन्न होता है। परन्तु आनन्द वासनाओं का बुद्धि द्वारा नियमन या परिष्कार से उत्पन्न होता है। सुख क्षणस्थायी है, परन्तु आनन्द स्थायी है।

रैशडैल के अनुसार ग्रीन, ब्रैडेल आदि विद्वानों का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में दूसरों की आत्मायें-समाविष्ट हैं। इसलिये वैयक्तिक परम मंगल का सामाजिक परम मंगल से विरोध नहीं है। दोनों अभिन्न हैं, परन्तु आत्मायें चैतन्य हैं। अतः एक आत्मा अन्य आत्मा में समाविष्ट नहीं हो सकता। एक जलबिन्दु अन्य जलबिन्दु में समाविष्ट हो सकता है। परन्तु एक स्वतन्त्र आत्म-चेतनायुक्त आत्मा अन्य आत्मा से युक्त नहीं हो सकता। आत्माओं का ऐक्य अथवा अभेद नहीं हो सकता।

यही आपत्ति युक्तिपूर्ण है। आत्मा-चेतनामय स्वतन्त्र आत्मा कदापि अन्य आत्मा में मग्न नहीं हो सकता। यह आत्मा का अन्य आत्माओं से सम्मिश्रण नहीं हो सकता। परन्तु आत्मपूर्णतावादी यह नहीं कहता कि आत्माओं का सम्मिश्रण होता है। यह प्रमादपूर्ण उक्ति है। एक जीवात्मा अन्य जीवात्माओं से सामंजस्य की उपलब्धि कर सकती है।

सहज-ज्ञानवादी कहता है कि आत्मपूर्णतावाद अस्पष्ट है। वह परम हित की स्पष्ट व्याख्या नहीं देता है। यह ज्ञान, सौन्दर्य, शुभ, सुख या समाजहित नहीं हैं। इस चरम मूल्यों को छोडकर आत्मपूर्णता निरर्थक होती है।

यह आपत्ति युक्ति युक्त है। आत्मपूर्णतावाद अस्पष्ट है। चरम मूल्यों के अनुशीलन से पूर्णता की प्राप्ति होती है। इनसे वर्जित पूर्णता बिल्कुल अर्थ शून्य है। बोसांकें ने इस आपत्ति का निर्धारण किया है। सत्य, धर्म, सुन्दर अधिक मूल्यों की प्राप्ति आत्मलाभ में निहित है।

सहज-ज्ञानवादी पुनः कहता है कि आत्मपूर्णतावाद विशेष कर्त्तव्यों कर्मों का निर्धारक मान नहीं देता। विशेष परिस्थितियों में मूर्त कर्त्तव्यों, का निर्धारण आत्म-पूर्णता-रूप-मंगल से नहीं हो सकता। आत्मपूर्णतावाद इस विषय पर प्रकाश नहीं डालता कि कौन कर्म आत्मा-विकास का साधक है और कौन कर्म आत्म-विकास का बाधक है अतः पूर्णतावाद भी आकारमूलक तथा वस्तुशून्य सा हो जाता है, जैसे कांट का मत।

आत्मपूर्णतावाद अस्पष्टता से मुक्त नहीं है यह सत्य है। सत्य, सौन्दर्य, शुभ, बौद्धिक आनन्द, समाज कल्याण के अनुशीलन से आत्म-विकास होता है। इन मुख्य मूल्यों का अनुसरण आत्म-विकास का आवश्यक साधन है। इससे कर्त्तव्य-निर्धारक मान अनुमित किया जा सकता है। मूल्यों का मानदण्ड आत्म-विकासवाद को स्पष्ट तथा युक्तियुक्त सिद्ध करता है।

आत्मपूर्णतावाद का ब्रैडले का 'समाज में मेरा स्थान और मेरा कर्त्तव्य' अर्थ में समर्थक हैं। इसमें मूल्यों की प्राप्ति भी समाविष्ट है। इसमें गीतों के वर्णाश्रम अथवा लोकसंग्रह के लिये निष्काम कर्म भी समाविष्ट हैं। हम ईश्वर को 'सत्य', 'शिव', 'सुन्दर' की शाश्वत मूर्ति मानते हैं। ईश्वर ही हमारे आदर्शों का स्रोत है। दैनिक प्रार्थना, भगवत-साधर्म्य-लाभ, भूमानन्द की उपलब्धि श्रेष्ठ साध्य मूल्य हैं। धर्म में नीति की की पूर्ण सिद्धि होती है। धार्मिक जीवन सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन से विच्छिन्न नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति का आवश्यक कर्त्तव्य मानव समाज-चेतना की विश्व-हित की दिशा में उन्नति करना, मानव-चेतना का दैवीकरण करना है। प्रत्येक व्यक्ति की चिन्ता तथा प्रयत्न विश्वहित की ओर होने चाहिये। ईश्वरीय शक्ति से प्रेरित होकर यथासाध्य मानव-जाति का नैतिक हित-साधन प्रत्येक-व्यक्ति का कर्त्तव्य है। पूर्ण आत्मसमर्पण, इनका साधन है। प्रत्येक मनुष्य में अनन्त शक्ति है। इसकी अभि-व्यक्ति का साधन आत्म-समर्पण है। स्वीय वर्णाश्रम धर्म, नियत कर्म विश्व-हित के लिये करना चाहिये।

हम कृच्छ्तावाद अथवा सन्यासवाद के विरोधी हैं। यह मत मनोविज्ञान-संगत मत नहीं हैं। संघ-बद्ध सन्यासियों के हम अति विरोधी हैं क्योंकि वे समाज पर आश्रित, धनियों द्वारा पालित जीवन व्यतीत करते हैं। आत्मसमन्यता का पोषण करते हैं। भविष्य समाज में इन परोपजीवियों का स्थान नहीं होगा।

(१) मूल्य की परिभाषा—

साधारणतया मूल्य एक अर्थशास्त्रीय प्रत्यय माना जाता है। किसी वस्तु को उस समय मूल्यवान कहा जाता है, जब वह किसी मानवीय आवश्यकता की पूर्ति में सहायक होती है। जनसाधारण में प्रचलित मूल्य का सबसे सरल प्रत्यय यह है; अर्वन के अनुसार—"मूल्य वह है जो मनुष्य की इच्छा की तृप्ति-कारक सभी वस्तुयें मूल्यवान हैं अर्थात् शुभ है।" इस परिभाषा का विश्लेषण करने पर निम्न विशेषतायें स्पष्ट होती हैं—(१) यह मूल्यवान की प्रथम परिभाषा है। यह परिभाषा सरल, स्पष्ट और बोधगम्य हैं। उदाहरण के लिये, अन्न शुभ है; उसका मूल्य है क्योंकि वह बुभुक्षा की तृप्ति करता है। मकान शुभ है, क्योंकि वह खराब मौसम और हिंसक पशुओं से हमारी रक्षा करता है लेकिन यह परिभाषा अधिक गहराई में नहीं जाती। क्रमशः यह ज्ञान हो जाता है कि इच्छापूर्ति तथा जीवन सुरक्षा और बुद्धि में एक सम्बन्ध है। (२) इससे दूसरी परिभाषा प्राप्त होती है। कोई भी वस्तु जो जीवन की रक्षा और बुद्धि करती है। अन्न, मकान, इत्यादि वस्तुयें हमारे जीवन की सुरक्षा और बुद्धि करती है। अतः वे मूल्यवान हैं। दूसरी परिभाषा भी अपने क्षेत्र में, स्पष्ट और बोधगम्य है। किन्तु, पहली परिभाषा के तुल्य यह भी अधिक गहराई में नहीं जाती। इस अर्थ में, मूल्य तत्वतः जीवन मूल्य अथवा जैव है। उसका वर्णन प्रायः पूर्णता 'वातावरण से समायोजन' के शब्दों में किया जाता है। यह परिभाषा जीवन के आदिम रूपों के लिये पर्याप्त है, किन्तु आधुनिक, जटिल सभ्यता के लिये नितान्त अपर्याप्त है। आज मनुष्य की आवश्यकतायें अत्यधिक जटिल और विविध हैं, मनुष्य से जीवन-ध्येय अत्यधिक व्यापक हैं। कोई भी जीवन की रक्षा और वृद्धि करने वाली वस्तु शुभ है, किन्तु शीघ्र ही हमें केवल-मात्र जीवन और अच्छे जीवन में, अथवा रहने और अच्छी प्रकार से रहने में, भेद का ज्ञान हो जाता है। हम यह शीघ्र ही समझ जाते हैं कि जीवन आवश्यकता स्वयं शुभ नहीं नहीं है, बल्कि जीवित रहने से जिस उद्देश्य की सिद्धि होती है वह जीवन को मूल्य प्रदान करता है। (३) इस प्रकार हमें मूल्य की तीसरी परिभाषा देनी पड़ती है। अन्तिम रूप से वही प्रकृत्या मूल्यवान है जो आत्म-विकास अथवा आत्मोन्नति का सहायक है। मनुष्य एक आत्मा है। अतः जो आत्म-विकास में सहायता देता है वही प्रकृत्या मूल्यवान है। मनुष्य इच्छाओं की एक गठरी-मात्र नहीं है। वह पशु-मात्र भी नहीं है। अतः जो उसकी विविक्त इच्छाओं की तृप्ति करता है, अथवा उसके जीवन को दीर्घ बनाता है वह प्रकृत्या उसके लिये मूल्यवान नहीं हो सकता। किन्तु जो उसके व्यक्तित्व को सन्तुष्ट करता है अथवा उसके आत्म-लाभ का साधक है वही अन्ततोगत्वा

उसके लिये मूल्यवान है। आरम्भ में तो वह जो इच्छा की पूर्ति करता है वही शुभ अथवा मूल्यवान मालूम पड़ता है। किन्तु निकट से देखने पर हमें ज्ञात होता है कि आवश्यकतायें और इच्छाओं का भी अपना कोई मूल्य नहीं है, बल्कि जीवित रखने और जीवन वृद्धि से सम्बन्धित होने के कारण वे मूल्यवान हैं। पुनः जीवन भी प्रकृतया मूल्यवान नहीं है, बल्कि जिस प्रकार वह जीवन है उसी प्रकार उसे मूल्य प्रदान करता है। मनुष्य के लिए मूल्य का प्रत्यय इच्छा-तृप्ति और शारीरिक-हित के प्रत्ययों से उच्च होना चाहिए। मनुष्य कम से कम एक व्यक्ति अथवा आत्मा तो है ही और बिना आत्म-विकास के प्रत्यय का समावेश किये मानवीय मूल्य का सम्यक् प्रत्यय बन ही नहीं सकता।

(२) इच्छा, सुख और मूल्य—

इच्छा और मूल्य का क्या सम्बन्ध है, यह एक मनोवैज्ञानिक समस्या है। जेम्स वार्ड का यह मत है कि इच्छा का निवास मूल्य के विषय में है। यह मत उचित है। इच्छा की पूर्ति करने वाली वस्तु मूल्यवान होती है। इच्छा का अपना कोई मूल्य नहीं है। जब किसी वस्तु से इच्छा तृप्त हो जाती है तो सुख होता है। सुख की अनुभूति मूल्य की सूचक है। वह स्वयं मूल्य नहीं है।। **मैकेंजी** के अनुसार—''सुख को मूल्य की अनुभूति कहना उचित है। सुख की अनुभूति उन वस्तुओं से होती है जिनका चेतना के लिये कोई मूल्य होता है, जो चेतना के द्वारा ग्राह्य है।''[1]

(३) भावात्मक और अभावात्मक मूल्य : शुभ और अशुभ—

मूल्य विधायक या धनात्मक और विधातक या ऋणात्क हो सकते हैं। जिस वस्तु का विधायक मूल्य होता है वह शुभ कहलाती है। जिस वस्तु का विघातक मूल्य होता है अशुभ कहलाती है। इच्छा-तृप्ति, जीवन-वृद्धि, आत्म-विकास अथवा आत्मोत्कर्ष की साधक वस्तु शुभ होती है। इच्छा, जीवन अथवा आत्म-विकास की बाधक वस्तु अशुभ होती है।

जो किसी उद्देश्य के साधन-रूप में उपादेय होता है उसे शुभ कहते हैं। जो किसी उद्देश्य के लिए विनाशकारी होता है उसे अशुभ कहते हैं। इच्छा की तृप्ति उद्देश्य है। इच्छाओं की एक क्रमिक श्रेणी है। अतः उद्देश्यों अथवा शुभ की भी एक क्रमिक श्रेणी है।

(४) साधन-मूल्य और साध्य-मूल्य—

राइट (Wright) के अनुसार—''साध्य-मूल्य अपने ही कारण मूल्यवान होते हैं; साधन-मूल्य अपने परिणामों के कारण मूल्यवान होते हैं।'' कुछ वस्तुयें, यथा—अच्छा भोजन, सम्पत्ति, यश, इत्यादि अपने बहिःस्थ उद्देश्यों. तथा सुख के लिये साधन रूप में इष्ट होती है। उनकी कामना उन्हीं के लिए नहीं होती, बल्कि किसी अन्य वस्तु के लिए होती है। वे स्वयं शुभ नहीं हैं। अतः उनका गौण मूल्य होता है। किन्तु कुछ वस्तुयें ऐसी होती हैं, यथा—सत्य, सौन्दर्य, संस्कृति और शील, जिनकी स्वतः कामना की जाती है; वे अन्य बहिस्थ उद्देश्यों की सिद्धि के साधन-स्वरूप

1. नीति-शास्त्र, पृष्ठ १७७।

नहीं हैं। अतः उन्हें साध्य-मूल्य कहा जाता है। सर्वोच्च शुभ में प्रकृत्या मूल्यवान तत्वों का समावेश होना चाहिए। साध्य-मूल्य ही मुख्य मूल्य होता है। साधन-मूल्य गौण मूल्य होता है।

(५) मूल्य का श्रेणी-विभाग—

अर्बन ने मूल्यों का निम्नलिखित वर्गीकरण किया है: (१) शारीरिक मूल्य, (२) आर्थिक मूल्य, (३) मनोरंजन के मूल्य, (४) साहचर्य के मूल्य, (५) चरित्र मूल्य (६) सौन्दर्य मूल्य, (७) बौद्धिक मूल्य और (८) धार्मिक मूल्य।

इन मूल्यों में मनुष्यों के द्वारा सर्वत्र मान्य और प्रशंसित मूल्यों का समावेश हो जाता है। शारीरिक और आर्थिक मूल्य जीवन के लिये नितान्त आवश्यक हैं। वे अन्य मूल्यों के भी आधार हैं। किन्तु वे इतने महत्वपूर्ण नहीं हैं जितने कि अन्य। हम उन्हें हीन मूल्य कह सकते हैं। हम उन मूल्यों को उत्तरोत्तर उत्कृष्ट मूल्य कह सकते हैं, जो आत्मा अथवा व्यक्तित्व की उच्चतर आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। शारीरिक, आर्थिक और मनोरंजन के मूल्य शारीरिक अहं का आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। साहचर्य और चरित्र-मूल्य सामाजिक अहं की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। उनका उद्‌भव आत्मा के अन्यों से सम्बन्ध के कारण होता है। सौन्दर्य-सम्बन्धी, बौद्धिक और धार्मिक मूल्य; सौन्दर्य, सत्य और ईश्वर-रूपी अवैयक्तिक आदर्शों के लिये आध्यात्मिक अहं की आकांक्षाओं की तृप्ति करते हैं। यद्यपि वे शारीरिक और सामाजिक अहं से भी सम्बन्धित हैं और उनके ऊपर निर्भर हैं, तथापि उनका वास्तविक उद्‌भव आत्मा के, उत्कृष्टतर किसी व्यापार से होता है।

अर्बन ने मूल्यों को दो प्रकारों में विभाजित किया है: (१) जैविक मूल्य और (२) अति जैविक-मूल्य। पुनः अति-जैविक मूल्य भी दो प्रकार के होते हैं: (१) सामाजिक मूल्य और (२) आध्यात्मिक मूल्य। शारीरिक, आर्थिक और मनोरंजन के मूल्य जैविक मूल्य हैं। साहचर्य के और चरित्र-मूल्य सामाजिक मूल्य हैं। बौद्धिक, धार्मिक और सौन्दर्य के मूल्य आध्यात्मिक मूल्य हैं। सामाजिक मूल्य जैविक मूल्यों से उच्च कोटि के हैं और आध्यात्मिक मूल्य सामाजिक मूल्यों से भी उच्च-कोटि के हैं। शारीरिक और आर्थिक मूल्य मौलिक-रूप से साधन-मूल्य हैं, साध्य नहीं। आर्थिक शुभ स्वतः मूल्यवान नहीं हैं। उनका मूल्य केवल शारीरिक, सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों को अर्जित करने के साधन होने में हैं। सम्पत्ति स्वतः वाँछनीय नहीं हैं, बल्कि अन्य शुभों का साधन होने के कारण वाँछनीय है। सम्पत्ति एक साधन-मूल्य है, साध्य-मूल्य नहीं।

शारीरिक मूल्य भी वैयक्तिक मूल्यों के साधक हैं। स्वास्थ्य और शक्ति से युक्त परिपुष्ट शरीर को व्यक्ति अच्छे जीवन के अन्य मूल्यों के अनुसरण में प्रयुक्त कर सकता है। क्रीड़ा स्वयं मूल्य है; किन्तु वह भी मुख्यतः साधन-मूल्य है। वह शरीर और आध्यात्मिक व्यापारों के मनोरंजन का साधन है। वह उच्च मूल्य के अनुसरण के लिये हमें स्वस्थ्य रखता है। ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है जो क्रीड़ा की एक

सीमा तक साध्य-मूल्य होने से निषेध करे। किन्तु यह मुख्यतया उत्कृष्टतर मूल्यों का साधन है। इस प्रकार शारीरिक, आर्थिक और मनोरंजन के मूल्य मूलत: साधन मूल्य हैं, साध्य-मूल्य नहीं। साहचर्य के मूल्य साधन-मूल्य और साध्य-मूल्य दोनों हैं। दूसरों का साहचर्य जिसमें सहकारित्व, मैत्री और प्रेम के मूल्यों का समावेश होता है, साध्य भी हैं और आत्म-विकास का साधन भी। चरित्र-गुण चरित्र के मूल्य हैं। वे स्वयं शुभ हैं आत्मोपलब्धि के साधन भी। साहस, संयम, न्याय, प्रेम और ज्ञान शुभ हैं और आत्म-लाभ के साधन भी हैं। वे साधन मूल्य और साध्य-मूल्य स्वयं दोनों हैं।

सौन्दर्य के मूल्य, बौद्धिक मूल्य और धार्मिक मूल्य प्राय: साध्य-मूल्य माने जाते हैं। सौन्दर्य के मूल्य साध्य मूल्य हैं। वे पूर्णतया निरपेक्ष हैं और अपने ही के लिये उनका मूल्य होता है। वे आर्थिक और स्वार्थमूलक विचारों से स्वतन्त्र हैं। बौद्धिक मूल्य अथवा ज्ञान तथा संस्कृति भी साध्य-मूल्य हैं। सब प्रकार की विद्वत्ता स्वत: महत्वपूर्ण है। धार्मिक मूल्य भी साध्य-मूल्य हैं। अच्छे जीवन में उनका सर्वोत्कृष्ट महत्व है। प्रार्थना और ईश्वर-चिन्तन साध्य-मूल्य हैं। वे भक्ति और पवित्रता के सर्वोत्कृष्ट रूप हैं। सौन्दर्य-विषयक, बौद्धिक और धार्मिक मूल्य अति-वैयक्तिक मूल्य हैं। वे आध्यात्मिक अहं के अमूर्त और अवैयक्तिक आदर्शों की उच्चतर आकांक्षाओं को तृप्त करते हैं।

किन्तु ये अति-वैयक्तिक मूल्य अन्य उद्देश्यों के साधन भी हो सकते हैं और इसलिए उन्हें साधन मूल्य भी कहा जा सकता है। सौन्दर्य-विषयक मूल्य, यथा—भवन-निर्माण, मूर्ति-कला, चित्रकला, कविता, संगीत इत्यादि सौन्दर्य सुख के उत्पादन के अतिरिक्त कुछ और भी सम्पादित करने का प्रयत्न करते हैं। वे जीवन और प्रकृति का किसी रूप में अर्थ लगाते हैं, हमें स्वयं और दूसरों को अधिक अच्छी तरह समझने में सहायता देते हैं, और मानव जाति की किसी न किसी रूप में सेवा करते हैं। बौद्धिक-मूल्य अथवा ज्ञान भी साधन-मूल्य हो सकते हैं। ज्ञान से भौतिक विलासिता की वृद्धि, मानवीय संस्कृति और सभ्यता की समृद्धि और मानव-जीवन की परिथितियों के सुधार में सहायता मिली है। धार्मिक मूल्य भी साधन-मूल्य हो सकते हैं। धर्म का जीवन से विच्छेद नहीं हो सकता। वह जीवन को आदर्श और पवित्र बनाता है। धार्मिक व्यक्ति को मानव-प्रगति और ईश्वर में अटल-विश्वास के कारण जिन कार्यों में वह प्रवृत्त होता है उनमें अधिक योग्य और अच्छा मनुष्य होना चाहिये। ईश्वर-चिन्तन व्यक्ति को मानव-मात्र से प्रेम करने और पृथ्वी को ईश्वर का साम्राज्य बनाने के लिये प्रेरित करता है। पृथ्वी पर स्वर्ग का अवतरण करना उसके जीवन का ध्येय हो जाता है। ईश्वर-प्रेम की अभिव्यक्ति मानवता की प्रेमपूर्वक सेवा करने से होनी चाहिये। इस प्रकार धार्मिक मूल्य भी साधन-मूल्य हो सकते हैं। किन्तु इसका ध्यान रखना चाहिये कि सौन्दर्य-विषयक, बौद्धिक और धार्मिक मूल्य मूलत: साध्य मूल्य हैं, साधन-मूल्य नहीं। नैतिक मूल्य सर्वोत्कृष्ट मूल्य है। यह कहा जाता है कि उसमें सभी मूल्यों का समावेश हो जाता है। विशेषतया उसमें अतिवैयक्तिक मूल्यों का समा-

वेश होता है जो साध्य-मूल्य हैं। नैतिक अच्छाई में सौन्दर्य, सत्य और पवित्रता का समावेश होता है। कभी-कभी नैतिक उत्कृष्टता या सदाचार को भी नैतिक मूल्य कहा जाता है। नैतिक मूल्य आत्मा के संकल्प की तृप्ति करता है। इस अर्थ में वह अन्य अवैयक्तिक मूल्यों से सम्बन्धित होने पर भी उनसे भिन्न है।

(६) मूल्य के नियम अथवा आदर्श संगठन के सिद्धान्त—

अर्बन ने मूल्यों को संगठित करने के लिये तीन सिद्धान्तों को निर्धारित किया है। उन्हें मूल्यों का आदर्श माना जा सकता है। उसके शब्दों में, "तीन सिद्धान्त ऐसे हैं जिन्हें शुभों अथवा मूल्यों में से किसी को चुनने या प्राथमिकता देने में उपस्थित माना जाता है। सामान्यतया साध्य-मूल्यों को साधन मूल्यों से उत्कृष्ट निर्धारित किया जाता है, स्थायी मूल्यों को अल्पस्थायी मूल्यों से उत्कृष्ट और उत्पादक मूल्यों को अनुत्पादक मूल्यों से उत्कृष्ट गिना जाता है।"[1]

शारीरिक मूल्य, आर्थिक मूल्य और मनोरंजन के मूल्य, मूलतः साधन-मूल्य हैं। वे शारीरिक अहं की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। वे वैयक्तिक और अवैयक्तिक मूल्यों की प्राप्ति के साधन हैं। वे साहचर्य और चरित्र के मूल्यों से निकृष्ट हैं जो सामाजिक अहं की आवश्यकताओं की तृप्ति करते हैं और साधन-मूल्य तथा साध्य-मूल्य हैं। वे आध्यात्मिक और अवैयक्तिक मूल्यों से भी गौण कोटि के हैं जो तत्वतः साध्य-मूल्य हैं। इसके अतिरिक्त साहचर्य और चरित्र के सामाजिक मूल्य के साधन-मूल्य तथा साध्य-मूल्य हैं, आध्यात्मिक मूल्यों से जो प्रधानतया साध्य-मूल्य हैं, निम्न कोटि के हैं।

दूसरा सिद्धान्त भी शारीरिक, आर्थिक और मनोरंजन के मूल्यों के गौण धर्म को अधिक स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करता है। वे हमें अल्पस्थायी सुख देते हैं, जबकि आत्मा की बौद्धिक प्रक्रियायें चिरस्थायी आनन्द देती हैं। इन्द्रियजनित सुख अस्थायी होने के कारण शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। इन्द्रियाँ शीघ्र ही शान्त हो जाती हैं और सुख के साथ, बार-बार आने वाले उत्तेजनों की प्रतिक्रिया करना बन्द कर देती हैं। किन्तु आत्मा के बौद्धिक व्यापार अधिक काल तक स्थायी और शान्तिहीन अभ्यास में क्षम होते हैं। उनके अन्दर अधिक स्थायी आनन्द देने की क्षमता होती है। साहचर्य और चरित्र के मूल्य तथा ज्ञान, सदाचार और सौन्दर्य के आध्यात्मिक मूल्य अधिक स्थायी आनन्द देते हैं।

शारीरिक मूल्य और आर्थिक मूल्य जीवन के और अन्ततोगत्वा अच्छे जीवन के अनिवार्य हेतु हैं। किन्तु, उन्हें, स्वयं-साध्य अथवा मनुष्य के चेतना संकल्प के स्थायी विषय नहीं बनाया जा सकता।

तीसरा सिद्धान्त भी शारीरिक और आर्थिक मूल्यों के गौण धर्म को प्रदर्शित करता है। साधन मूल्य प्रयुक्त होते-होते समाप्त हो जाते हैं। यह बौद्धिक पदार्थों का नियम है। शारीरिक मूल्य का भी यही स्वभाव है। दूसरी ओर अति-जैविक मूल्य

1. नीतिशास्त्र के मूल तत्व, पृष्ठ १७०–७१।

व्यक्ति और समाज के लिये अधिकाधिक उत्पादक होते हैं। विशेषतया ज्ञान, कला, और धर्म के आध्यात्मिक मूल्य भौतिक पदार्थों में व्याप्त इस नियम के अधीन नहीं हैं, वितरण से उनकी अभिवृद्धि होती है और विभाजन से उनकी हानि होने की सम्भावना नहीं होती। दूसरों के साथ उनका उपभोग करने से आत्मा अकिंचन नहीं हो जाता, बल्कि समृद्ध और प्रसारित हो जाता है। जितने ही अधिक वे व्यापक होते हैं उतनी अधिक उनकी उत्पादकता भी बढ़ती है।

इस प्रकार, शारीरिक और आर्थिक मूल्य मानवीय साहचार्य और चरित्र के उच्च-मूल्यों की अपेक्षा तथा ज्ञान, सौन्दर्य और नैतिक उत्कृष्टता के अति-वैयक्तिक मूल्यों की अपेक्षा गौण कोटि के हैं। पुरुष-पुरुष और पुरुष-स्त्री का साहचर्य मैत्री, सहकारिता, प्रेम, भ्रातृत्व—ये सब शारीरिक और आर्थिक मूल्यों की अपेक्षा उत्कृष्ट-तर साध्य-मूल्य अधिक स्थायी, तथा नूतन मूल्यों से अधिक उत्पादक हैं। और ये सामाजिक मूल्य सामाजिक अहं की भी तृप्ति करते हैं। किन्तु ये असीमित नहीं, वरन् इनकी भी कोई सीमा होती है। मानवीय आत्मा की रुचियाँ अति-सामाजिक हैं और वह सत्य, सौन्दर्य, शुभ और ईश्वर के अवैयक्तिक आदर्शों की प्राप्ति में स्थायी सन्तोष पाने का प्रयत्न करता है। सामाजिक मूल्य इन आध्यात्मिक मूल्यों की अपेक्षा निम्न कोटि के हैं।

साध्य-मूल्य :

सामान्यतः सत्य, सौन्दर्य और शुभ अथवा सदाचार को साध्य-मूल्य कहा जाता है। वे स्वयं शुभ हैं; अतः वे दूसरों के साधन नहीं हैं। उनका उन्ही के लिये अनु-सरण किया जाता है। मूल्य अति-वैयक्तिक होते हैं; वे सदैव व्यक्तियों से स्वतन्त्र होते हैं, यद्यपि व्यक्ति ही उनकी प्राप्ति के लिये सचेष्ट होते हैं। वे सदैव व्यक्तियों की सीमा से परे हैं। उनकी उपलब्धि किसी प्रकार के आध्यात्मिक व्यापार से होती है। ये तीन आदर्श आत्मा की तीन आध्यात्मिक प्रक्रियाओं की तृप्ति करते हैं। वे तीन प्रक्रियायें बौद्धिक, भावात्मक और संकल्पात्मक हैं। सत्य, आत्मा के बौद्धिक स्वभाव की, सौन्दर्य उसके भावात्मक स्वभाव की और शुभ, सदाचार अथवा नैतिक उत्कृष्टता उसके संकल्पात्मक स्वभाव की तृप्ति करते हैं। जिस प्रकार बोध, संवेग और व्यवसाय आत्मा के अविच्छेद्य, परस्पर-व्याप्त तत्व हैं, उसी प्रकार सत्य, सौन्दर्य और शुभ भी एक अविच्छेद्य और पारस्परिक बन्धन में बँधे हुए हैं। किन्तु उनका पारस्परिक सम्बन्ध किस प्रकार का है, इसका उत्तर ज्ञानातीत है। वेल्टन का यह कथन ठीक है कि "क्योंकि वे प्रत्येक मानव-व्यक्तितत्व के लिए मूल्यवान हैं, इस-लिये यह मान लिया जा सकता है कि वे मूलतः एक ही हैं। किन्तु यह मौलिक ऐक्य बुद्धि के लिये दुर्गम है। जहाँ तक हमें उनका ज्ञान है, वे एक दूसरे से पृथक् हैं। यद्यपि यदा-कदा वे एक दूसरे की सन्निधि में आ जाते हैं।" अद्यावधि हमें मूल्य, सौन्दर्य और शुभ के सामंजस्य का तर्कसम्मत ज्ञान नहीं है। साध्य-मूल्य मुख्य हैं।

(१) **सत्य**—सत्य वह साध्य मूल्य है जो बुद्धि को तृप्त करता है। हमारी

प्रवृत्ति उसके ऊपर आस्था रखने की होती है। केवल सत्य को सत्ता का ही नहीं, बल्कि सत्य के ज्ञान का भी साध्य-मूल होता है। आरम्भ में ज्ञान का स धन-मूल्य ही केवल माना जाता था। तत्पश्चात उसे साध्य-मूल भी माना जाने लगा। अब मनुष्य ज्ञान के लिए ज्ञान की साधना करने लगा है। मनुष्य ज्ञान को एक विजातीय वस्तु न मानकर अपनी ही बौद्धिक प्रकृति का विकास करने वाला मानता है।

(२) **सौन्दर्य**—संवेग को सन्तुष्ट करने वाला साध्य मूल्य है। हम सौन्दर्य की प्रशंसा करते हैं। सौन्दर्य व्यक्ति निरपेक्ष है। वेल्टन के अनुसार, "लोगों में मत की विभिन्न ा के समान रुचि की विभिन्नता भी होती है। किन्तु रुचि सौन्दर्य नहीं है बल्कि सौन्दर्य के मूल्यांकन करने की चेष्टा है, जैसे मत सत्य नहीं है, बल्कि सत्य को निश्चित करने की चेष्टा है। प्रत्येक अवस्था में मूल्यांकन भ्रान्तिपूर्ण हो सकता है।"[1] सभी कलायें अन्तरस्थ विचारों को भौतिक रूप प्रदान करती हैं। हम विचारों की परीक्षा उन रूपों के ही द्वारा कर सकते हैं। विचारों का मूल्यांकन कलात्मक मात्र होता है। कलापूर्ग-मूल्यांकन तभी होता है जब विचार और उसकी अभिव्यक्ति दोनों हमें सौन्दर्य-सुख प्रदान करते हैं। प्रारम्भ में सौन्दर्य भी साधन मूल्य समझा जाता था। फिर उसे साध्य-मूल्य समझा जाने लगा। अब मनुष्य सौन्दर्य के लिए अनुसरण करता है।

(३) **शुभ**—नैतिक मूल्य वह साधन है जो मनुष्य की संकल्पात्मक प्रकृति को तृप्त करता है। इसका सत्य और सौन्दर्य से साम्य है, किन्तु इसे उनमें विघटित नहीं किया जा सकता। सत्-सत्य अथवा सुन्दर नहीं है। असत् मिथ्या अथवा असुन्दर नहीं। नैतिक मूल्य के ज्ञान के कर्त्तव्य-बुद्धि अथवा नैतिक बाध्यता की उत्पत्ति होती है, जिनका सत्य और सौन्दर्य की प्रशंसा में अभाव पाया जाता है। नैतिक मूल्य की चेतना के साथ नैतिक भावनायें पाई जाती हैं, जिनका सत्य और सौन्दर्य में अभाव होता है।

नैतिक मूल्य का सौन्दर्य मूल्य से अभेद करना अयौक्तिक है। हम भौतिक रूप में मूर्त विचार के सौन्दर्य की प्रशंसा करते हैं, यद्यपि विचार का अनुमोदन करना हमारे लिए आवश्यक नहीं। किन्तु किसी सत्कर्म के नैतिक मूल्य से हम उसको प्रेरित करने वाली प्रकृति का भी नैतिक मूल्य जान लेते हैं। सौन्दर्य की प्रशंसा का कलाकार की प्रवृत्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु व्यवहार का नैतिक मूल्यांकन कर्म-कर्त्ता की प्रवृत्ति पर निर्भर होता है। व्यक्तित्व के अभिव्यक्त व्यवहार का नैतिक अनुमोदन किया जाता है, किन्तु सौन्दर्य की प्रशंसा के लिये व्यक्तित्व का विचार नहीं करना होता। नैतिक मूल्य अनुपम और अपूर्व होता है।

(४) **ईश्वर का प्रेम**—कभी-कभी ईश्वर-प्रेम एक स्वतन्त्र साध्य मूल्य माना जाता है। प्रार्थना और चिन्तन पवित्रता के उत्कृष्टतम रूप हैं। वे अपनी उपयोगिता से भिन्न होकर भी स्वयं शुभ हैं। धार्मिक मूल्य ईश्वर-प्रेम पर बल देता है। नैतिक

---

3. *Groundwork of Ethics;*

मूल्य मानव-मात्र के प्रेम और सेवा पर बल देता है। इस प्रकार दोनों का घनिष्ट सम्बन्ध है। वेल्टन के अनुसार—"परोपकार का प्रधान उद्गम प्रेम है, क्योंकि केवल प्रेम के ही द्वारा एक व्यक्ति दूसरे के सकल्प को प्रभावित कर सकता है। इस प्रकार नैतिक उत्कृष्टता का तत्व ईश्वर-प्रेम और पड़ौसी के प्रेम में ही निहित है। ईश्वर-प्रेम में सभी अच्छी वस्तुओं का समावेश हो जाता है।" ईश्वर नैतिक पूर्णता की मूर्ति है। अतः एक प्रकार से नैतिक मूल्य में धार्मिक मूल्य का भी समावेश हो जाता है। शुभ के प्रेम में मनुष्य-जाति और ईश्वर का प्रेम भी निहित है।

साध्य-मूल्यों का सम्बन्ध—

सत्य, सौन्दर्य और मंगल साध्य-मूल्य हैं। सत्य बुद्धि को, सौन्दर्य संवेगों के और मंगल संकल्प को सन्तुष्ट करता है। संकल्प व्यक्तित्व का प्रकाशन है। वेल्टन के अनुसार—"सत्य और सौन्दर्य आध्यात्मिक प्रक्रिया के विशिष्ट प्रकारों को तृप्ति देते हैं। शुभ सम्पूर्ण व्यक्तित्व को तृप्ति देता है, क्योंकि इस मूल्य का सीधा सम्बन्ध संकल्प से है जो कि विशेष कर्म में प्रवृत्त व्यक्तित्व की ही दूसरी संज्ञा है।" इस प्रकार सम्पूर्ण आत्मा अथवा व्यक्ति की ऐच्छिक क्रिया विशेष-रूप में सत्य, सौन्दर्य अथवा उपयोगिता को निकटस्थ लक्ष्य बना सकती है। किन्तु चाहे वह किसी भी निकटस्थ लक्ष्य का अनुसरण करे, अनुसरण पुण्य-पाप में से एक ही दिशा में होगा। पुनः शुभ एक दूसरे रूप में भी सामान्य है। ज्ञान का अनुसरण बुद्धि की एक विशेष देन पर निर्भर है। सौन्दर्य की सृष्टि और प्रशंसा एक विशेष योग्यता और कौशल के ऊपर निर्भर है। सत्य का ज्ञान और सौन्दर्य की प्रशंसा एक बहुत छोटी सीमा तक जन-साधारण की पहुँच के अन्दर हैं। किन्तु नैतिक अच्छाई सदैव जन-साधारण की पहुंच के अन्दर होती है। उसके लिए विशेष प्रतिभा की आवश्यकता नहीं। सदाचरण संकल्प को उचित दिशा में लगाने से होता है। आत्म-विकास में सदाचरण है। "उच्चतम साध्य-मूल्य चरित्र की उत्कृष्टता है। वह कोई समकक्ष मूल्यों में से एक मूल्य नहीं हैं बल्कि उन सबको अपने में समाविष्ट करता है। मनुष्य अपनी सामर्थ्य और परिस्थितियों से अपने दैनिक जीवन में नैतिक अच्छाई का लाभ करता है।" वे सत्य, सौन्दर्य, आनन्द, भौतिक हित, इत्यादि का अनुसरण करते हैं; जो कि चरम ध्येय अर्थात् नैतिक मंगल के ही भाग हैं; उनकी प्राप्ति कर सकता है। पूर्ण जीवन में कई गौण लक्ष्यों के अनुसरण में की जाने वाली कई प्रकार की क्रियाओं के लिए स्थान है। इस प्रकार नैतिक मंगल को भी सर्वोच्च साध्य-मूल्य कहा जा सकता है।

सत्य, सौन्दर्य और शुभ का पारस्परिक सम्बन्ध है। मानव-स्वभाव की तात्विक एकता और ज्ञान, वेदना, और संकल्प की अविच्छेदता इसको उपलक्षित करते हैं। किन्तु अभी तक हम जीवन के इन आदर्शों के ऐक्य को समझ सकने में असमर्थ हैं। हमें विश्वास है कि किसी न किसी विधि से उनकी एकता निष्पक्ष होती है और इसी हेतु वे हमारी सम्पूर्ण आध्यात्मिक प्रकृति को तृप्त करते हैं। कोई

भाववादी दार्शनिकों के मतानुसार ईश्वर ही सत्य, शिव तथा सुन्दर है। उसमें तीन प्रकृत साध्य-मूल्यों का सामान्य है। वह सत्य, मंगल तथा सौन्दर्य की शाश्वत पूर्ति है। प्रिंग्ल प्यैटिसन का यह मत है।

अर्बन, साध्य-मूल्यों की पारमार्थिक सत्ता में विश्वास करता है। ये मानव-मन की सृष्टि नहीं हैं। ये सत्ता में निहित हैं। अर्बन साध्य-मूल्यों के विश्वात्मक अर्थ को मानता है। मनुष्यों को आत्मलाभ के लिये साध्य-मूल्यों को प्राप्त करना चाहिए निम्नकोटि से उच्चकोटि में उन्नत होना चाहिये।

हार्टमैन के मतानुसार साध्य-मूल्यों की सत्ता देशकालातीत तथा अपरिवर्तनीय है। दैशिक, कालिक, कार्यकारण-सम्बन्धित सीमित वस्तुयें इनका अनुकरण करती हैं। साध्य-मूल्य प्लेटो के विचार (Ideas) की तरह अतिप्राकृत तत्व हैं। इनका अस्तित्व अर्थात् दैशिक तथा कालिक सत्ता नहीं है। परन्तु साध्य-मूल्य यथार्थ हैं। ये अनुभूत सत् तथा गुण नहीं हैं। ये मानवचित्त पर आश्रित नहीं हैं। ये अनुभव-योग्य दैशिक, कालिक सत्ता तथा मनुष्य मन के परे हैं। ऐन्द्रिय सत्-वस्तुयें परिवर्तनशील होती हैं। परन्तु अनुभवातीत तत्व (Essences) अपरिवर्तनीय होते हैं। ये देश-कालावच्छिन्न सत् वस्तुओं को परिवर्तित नहीं कर सकते। परन्तु मनुष्य साध्य-मूल्यों को कार्य में परिणत करने में प्रयत्न करते हैं। हार्टमैन के अतिप्राकृत तत्व अर्थात् साध्य-मूल्य प्रभाकर के धर्म के तुल्य हैं। ये यथार्थ, देशातीत, कालातीत अपरिवर्तनीय तत्व हैं।

मूल्यों का आपेक्षिक स्थान-निर्णय—

पिछले पृष्ठों में साध्य और साधन मूल्यों पर तथा मूल्यों की क्रमिक श्रेणी में उनकी आपेक्षिक स्थिति पर विचार किया जा चुका है। साध्य-मूल्यों के पारस्परिक सम्बन्धों पर भी प्रकाश डाला जा चुका है। सर्वोच्च शुभ कई तत्वों के संश्लेषण से प्राप्त एक संगठित इकाई है। वह ज्ञान या संस्कृति, सौन्दर्य और सदाचार अथवा नैतिक उत्कृष्टता इत्यादि प्रकृत मूल्यों की एक-दूसरे के सम्बन्ध में उचित स्थिति से निर्मित होता है। आर्थिक, शारीरिक और मनोरंजन के साध्य-मूल्य भी जो कि साध्य-मूल्यों की प्राप्ति के मौलिक हेतु हैं; उसके घटक हैं। एवमेव साहचर्य और चरित्र के सामाजिक मूल्य भी उसके घटक हैं; जो सामाजिक अहं की आकांक्षाओं की पूर्ति करते हैं। सर्वोच्च शुभ एक-दूसरे से समुचित-रूप से सम्बन्धित मूल्यों की एक उत्तरोन्मुखी श्रेणी है—जिसमें शारीरिक मूल्यों का सामाजिक मूल्यों से गौण स्थान है, आध्यात्मिक मूल्यों से सामाजिक मूल्यों का निम्न स्थान है, और ज्ञान तथा सौन्दर्य का सदाचारिता से निम्न स्थान है। मूल्यों की तुलना और संगठन के सिद्धान्तों का विचार पहिले ही किया जा चुका है। साध्य-मूल्य साधन-मूल्यों से उच्च-कोटि के हैं। चिरस्थायी मूल्य अल्पस्थायी मूल्यों से उच्च-कोटि के हैं। उत्पादन मूल्य अनुतपादक मूल्यों से उच्च-कोटि के हैं।

इससे यह स्पष्ट हो गया है कि मूल्यों के परिमाण को नापा जा सकता है

और उनकी हीनता या उच्चता का निर्णय किया जा सकता है। मूल्यों की एक दूसरे से तुलना की जा सकती है और उसके अनुसार एक क्रमिक श्रेणी में उनको समुचित स्थान दिया जा सकता है। विभिन्न प्रकार के शुभ समपरिमाण होते हैं। इनका अर्थ यह नहीं कि किसी एक शुभ का निश्चित परिमाण किसी दूसरे का पर्याप्त और सन्तोषजनक स्थानापन्न हो सकता है, जैसे, यद्यपि धर्म अथवा चरित्र गुण संस्कृति से उच्च-कोटि के हैं, फिर भी संस्कृति की पर्याप्त-मात्रा धर्म के अभाव की पूर्णतया संतोषजनक पूर्ति कर सकती है, अथवा, यद्यपि, धर्म और संस्कृति इन्द्रिय-जन्य-सुख से उत्कृष्ट कोटि के हैं, फिर भी इन्द्रियजनित सुख का एक पर्याप्त परिणाम धर्म अथवा संस्कृति का अन्तोषजनक स्थानापन्न हो सकता है। वास्तव में, उच्चतर शुभों को निम्न कोटि के शुभों की अपेक्षा सदैव प्राथमिकता दी जानी चाहिये। मूल्यों की सपरिमाणता से हमारा अभिप्राय यह है कि जब विभातिय मूल्यों में विरोध उत्पन्न हो जाता है, तो उनकी परस्पर तुलना की जा सकती है, उनको नापा जा सकता है। उनका उचित मूल्य निर्धारण किया जा सकता है, और मूल्यों का श्रेणी में उन्हें उचित स्थान दिया जा सकता है। ज्ञान, सौन्दर्य, आनन्द और शुभ की अन्योंन्याश्रित सम्बन्ध है और उसी रूप में परम शुभ में भी उसका स्थान है। हम प्रत्येक मूल्य के ऊपर अपने विविक्त-रूप में मूल्यांकन-सम्बन्धी निर्णय नहीं देते, बल्कि उसे एक इकाई का घटक समझकर ऐसा करते हैं। हमें उनकी परस्पर सम्बन्धित रूप में प्राप्ति करनी चाहिए। जब उनका एक इकाई के रूप में अनुसरण नहीं हो सकता, निःसन्देह हम उन्हें एक-दूसरे से पृथक् कर सकते हैं, और मूल्यों की श्रेणी में उनको उचित स्थान दे सकते हैं। हमें विविध विजातीय शुभों में से कुछ को चुनने में उनके गुण तथा परिमाण दोनों का विचार करना चाहिए। इस अर्थ में कई प्रकार के शुभ अथवा मूल्य समपरिमाण हैं। यह मत रैशडैल का है।

परम-शुभ (The Highest Good)

परम-शुभ वह सर्वोच्च शुभ है जो एक बुद्धिसम्पन्न-प्राणी को सन्तोष दे सके। उसमें सब साध्य-मूल्यों का एक-दूसरे से समुचित सम्बन्ध में अवस्थित होकर समावेश होता है। साधन-मूल्यों का भी प्रकृत-मूल्य की उचित आधीनता में उसमें समावेश हो जाता है। प्राकृत-मूल्यों में, धर्म अथवा नैतिक उत्कर्ष सर्वोत्तम मूल्य है जिसमें ज्ञान और सौन्दर्य को उचित-रूप से आधीन होना चाहिये।

मैकेंजी ने उच्चतम शुभ की परिभाषा देते हुये कहा है कि "उच्चतम शुभ बौद्धिक पूर्णरूपेण व्यवस्थित अथवा विश्व है जिसका इस रूप में चुनाव किया गया है।" बुद्धि सम्पन्न व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि इस सर्वोत्कृष्ट-मूल्य-युक्त उद्देश्य की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करे। इससे आदर्श की प्राप्ति की जा सकती है। कोई भी व्यक्ति उत्तरोत्तर प्रगति करते हुए उसकी प्राप्ति कर सकता है। यदि सम्पूर्ण शुभ व्यक्ति के इस परिच्छिन्न और परिमित जीवन में असाध्य आदर्श भी हो, फिर भी उनको यथाशक्ति पूर्ण सिद्धि को लक्ष्य बनाना व्यक्ति का नैतिक कर्त्तव्य होना चाहिये।

पूर्ण शुभ पूर्णतया व्यवस्थित विश्व है। यह सर्वोच्च नैतिक शुभ है क्योंकि विवेकयुक्त मनुष्यों के द्वारा वह लक्ष्य के रूप में चुना जाता है और उसके स्वतन्त्र प्रयत्नों से क्रमशः उनकी प्राप्ति होती है। पूर्ण शुभ विवेकयुक्त चुनाव का विषय है और मानवीय चेष्टाओं के द्वारा अधिकाधिक साध्य है। यदि बुद्धिमान् कर्त्ताओं के चुनाव अपना स्वतन्त्र प्रयत्न के बिना ही एक पूर्णतया व्यवस्थित विश्व की कल्पना कर ली जाये तो उसे सर्वोच्च नैतिक शुभ नहीं माना जा सकता।

सर्वोच्च नैतिक शुभ व्यक्तिगत शुभ है। वह व्यक्ति के चरम श्रेय से अभिन्न है। वह उसकी सभी आध्यात्मिक आकांक्षाओं की पूर्ति करता है। उससे उसकी पूर्ण आत्म-तृप्ति, आत्मोपलब्धि और आत्म-विकास होता है।

उच्चतम नैतिक शुभ सामान्य शुभ, सामाजिक शुभ है। वह सम्पूर्ण मानव-जाति का भी शुभ है। वह व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार का शुभ है। वह उच्चतम वैयक्तिक और सामाजिक शुभ है।

परम-शुभ की विविध रूपों में कल्पना की गई है। सुखवादियों (जैसे सिजविक आदि) के अनुसार सुख ही केवल प्रकृत मूल्य है; वही परम शुभ है और उसका उसी के लिये अनुसरण होना चाहिये। सदाचार, ज्ञान अथवा सौन्दर्य का आनन्द-प्राप्ति के लिये अनुसरण होना चाहिये। इस प्रकार सदाचार, ज्ञान और सौन्दर्य साधन-मूल्य हुए। सुख अथवा आनन्द ही एकमात्र साध्य-मूल्य है। वह भ्रामक है। सुख मूल्य का सूचक है; वह स्वयं मूल्य नहीं है। मूल्य का निवास किसी वस्तु या विचार में होता है, यथा, भौतिक वस्तुयें, स्वास्थ्य, शक्ति, सम्पत्ति, मैत्री, प्रेम, साहस, ज्ञान, सौन्दर्य, अथवा नैतिक उत्कर्ष में। किन्तु उस वस्तु अथवा विचार के मूल्यांकन के साथ सुख भी संलग्न रहता है। साध्य-मूल्य प्रकृत मुख्य मूल्य है। साधन-मूल्य गौण मूल्य है।

बुद्धिपरतावादियों का (यथा, कान्ट का) मत है कि शुभ सकल्प ही एकमात्र प्रकृत मूल्य है; वही एक रत्न है जो अपने ही प्रकाश से चमकता है। सर्वोच्च शुभ का अभिप्राय संकल्प को सत्पथ पर लगाने से है। सभी अन्य शुभ, यथा, स्वास्थ्य, सम्पत्ति, ज्ञान, सौन्दर्य इत्यादि विकृत मूल्य हैं। लेकिन यह मत भी भ्रामक है। वह संकल्प के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु का संकल्प नहीं करता; यह निर्विषय है। यदि शुभ संकल्प के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु का प्रकृत मूल्य नहीं है, तो एक संकल्प को दूसरे से अच्छा समझने के लिये कोई कारण नहीं दिया जा सकता। किसी वस्तु का संकल्प न करने वाला एक कल्पना-मात्र है। सत् केवल 'शुभ' से ही संबन्धित होने के कारण सार्थक है। शुभ-संकल्प सत्पथ में प्रवृत्त संकल्प नहीं है बल्कि 'शुभ' का संकल्प करने वाला है। शुभेच्छा वह इच्छा है जो 'शुभ' की इच्छा करती है। 'शुभ' साध्य-मूल्य का साधन-मूल्य हो सकता है। किन्तु, संकल्प का सदैव साधन-मूल्य ही होगा क्योंकि वह शुभ की प्राप्ति का साधन है। इस सिद्धान्त में सत्य का अंश इतना ही है कि सर्वोच्च शुभ का विवेकयुक्त चुनाव अथवा इच्छा का विषय होना चाहिए;

वह विवेकयुक्त चुनाव और स्वतन्त्र प्रयत्न के अनपेक्ष नहीं हो सकता। सर्वोच्च नैतिक शुभ में विचारपूर्वक चुनाव और स्वतन्त्र चेष्टा महत्वपूर्ण तत्व हैं। किन्तु सर्वोच्च नैतिक शुभ केवल उन लक्ष्यों से पृथक् चुनाव और प्रयत्न मात्र नहीं हैं जो उनके विषय हैं।

तीसरा मत आत्म-पूर्णतावादियों (जैसे ग्रीन आदि) का है। उनका मत है कि सर्वोच्च शुभ आत्म-विकास अथवा समाज के साथ आदान-प्रदान में लगे हुए आत्मा की शक्तियों का सामंजस्यपूर्ण विकास है। वह समाज के साथ किसी व्यक्ति के उत्तरोत्तर अधिक एकात्मीकरण के द्वारा बौद्धिक, सामाजिक अथवा आदर्श आत्मा की उपलब्धि में निहित है। उसकी सत्ता आत्मोत्सर्ग के द्वारा आत्म-लाभ में—निम्न, संकीर्ण अथवा व्यक्तिगत अहं के परिष्कार-पूर्वक उच्च, बौद्धिक अथवा सामाजिक अहं की प्राप्ति में है।

मूल्य के दृष्टिकोण से उच्चतम शुभ एक दूसरे से उचित सम्बन्ध में अवस्थित सत्य, सौन्दर्य, और सच्चरित्रता इत्यादि प्रकृत अथवा आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति में सन्निहित है। उसकी प्राप्ति के लिये साहचर्य और चरित्र के सामाजिक मूल्यों की आध्यात्मिक अथवा साध्य-मूल्यों की उचित आधीनस्थता में प्राप्ति भी आवश्यक है। सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों के आधीनस्थ आर्थिक, शारीरिक और मनोरंजन के मूल्यों की प्राप्ति भी उसके लिये अनिवार्य है। परम निःश्रेयस की सिद्धि साध्य-मूल्यों और उनकी सिद्धि के आधारभूत साधन मूल्यों की सिद्धि से होती है। इससे आत्म-लाभ अथवा व्यक्तित्व का लाभ होता है। यह आत्मा को पूर्णसन्तोष प्रदान करता है; यह शारीरिक, सामाजिक और आध्यात्मिक अहं की तृप्ति करता है। आत्म-लाभ विविध मूल्यों को विचारपूर्वक व्यवस्थित करने से होता है, जिससे आत्मा की शक्तियों का धीरे-धीरे सामंजस्यपूर्ण विकास होता है। परम मंगल का इस सामान्य विधि से वर्णन किया जा सकता है। राइट ने इस मूल्य के मानदण्ड को पूर्णतावाद कहा है। यह आत्मपूर्णतावाद अथवा आत्म-विकास के अव्यक्त तत्वों को स्पष्ट कर देता है। आत्म-लाभ एक दूसरे से उचित सम्बन्ध में अवस्थित जीवन मूल्यों का लाभ है। इस प्रकार मूल्यों का मानदण्ड आत्म-पूर्णतावाद से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है।

नीट्शे : 'प्रभुत्व-प्राप्ति की इच्छा' का नीति-शास्त्र

(१) शक्तिमत्ता की नीति-शास्त्र (Ethics of Will-to Power)

नीट्शे के (Nietzsche 1844—1900) **नीति-शास्त्र का जीव-शास्त्रीय आधार**—हर्बर्ट स्पेन्सर के समान, नीट्शे ने भी अपने नीति-शास्त्र की स्थापना जीव-शास्त्र के आधार पर की है। उसने प्रभुत्व-प्राप्ति की इच्छा के अपने सिद्धान्त को प्राकृतिक चुनाव, योग्यतम अथवा सर्वाधिक शक्तिमान की जीत तथा निर्बल और पतित की पराजय के जीव-शास्त्रीय नियमों से व्युत्पन्न किया है। नीट्शे "शक्तिमान बनने की इच्छा" का प्रचारक है। शोपेनहार (Scopenhauer) ने जीवन का जीने की इच्छा से तादात्म्य किया था। नीट्शे जीवन के सार को प्रभुता की इच्छा, वृद्धि, विस्तार और समृद्धि की इच्छा में पाता है। शक्ति की इच्छा ही जीवन का ध्येय है। जीने के लिये संघर्ष नहीं, बल्कि शक्ति के लिये संघर्ष 'प्रभुत्व की इच्छा' ही क्रम विकास का प्रारम्भिक सिद्धान्त है। नीट्शे के शब्दों में, "जीवन के लिये तीव्रतम और उच्चतम इच्छा का प्रकाशन सत्ता के लिये कष्टप्रद संघर्ष में नहीं होता, बल्कि युद्धैषणा में, शक्ति की इच्छा में, अति-शक्ति की इच्छा में होना है।" नीट्शे शक्ति, स्वप्रति-पादन, प्रमुत्व, स्वार्थ-सिद्धि के नीति-शास्त्र का प्रवर्त्तक है। शक्ति सत् है। जीवन ही शक्ति की इच्छा है। एक आदर्श समाज उद्विकास का लक्ष्य। यह हर्बर्ट स्पेन्सर का मत है। मानव जाति के भ्रातृत्व उद्विकास का लक्ष्य है। यह जुलिअन हक्स्ले (Julian Huxley) का मत है।[2] एक अतिमानव जाति उद्विकास का लक्ष्य है, यह नीट्शे का मत है।

शुभाशुभ (Good and Evil)—शुभाशुभ के प्रयत्नों के आधार जीवशास्त्रीय या शरीर-शास्त्रीय विचार हैं। शुभ का अभिप्राय उससे है जो मनुष्य में शक्ति के अभिमान, शक्ति की इच्छा और वास्तविक शक्ति का उत्कर्ष करता है। अशुभ का अभिप्राय उससे है जो कि शक्ति का क्षय करता है। उसका प्रादुर्भाव निर्बलता, दया और प्रतिहिंसा से होता है। जो जीवन की प्रगति करता है वह शुभ है। जो जीवन का ह्रास करता है वही अशुभ है। सभी पुण्य और पापों के आधार शारीरिक हेतु हैं। नीट्शे 'अच्छा' और 'बुरे' के यूनानी-अर्थों का (अच्छा=वीर, कुशल, योग्य; बुरा=अशिष्ट साधारण, कायर) स्वीकार करता है। "जो शक्ति से उत्पन्न होता है वह शुभ है, जो निर्बलता से उत्पन्न होता है वह अशुभ है।" (नीट्शे)

विश्व की नीति-शून्यता (Amorality of the World)—नीट्शे के अनुसार विश्व की प्रकृति नीति-शून्य है। तथा-कथित नैतिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिये विश्व एक क्षेत्र नहीं है। यह मनुष्य के नैतिक लक्ष्यों के प्रति कठोर उदासीनता का भाव

1. वही पुस्तक, १९४९, पृष्ठ २८।
2. J. Huxley, *Evolutionary Ethics*, O. U. P. 1943.

धारण किये हुए हैं। वह नैतिक प्रयोजन की सिद्धि नहीं करता। दुनिया न अच्छी है, न बुरी है। मनुष्य के सम्बन्ध में ही यह पद सार्थक है। नीट्शे के शब्दों में "संसार में केवल नीति-शून्य अभिप्राय और क्रियायें ही पाई जाती हैं। नैतिक तथ्यों का यहाँ अभाव है, तथ्यों का केवल नैतिक अर्थ लगाया जाता है।"[3] प्रकृति बौद्धिक नहीं है, जो कि स्टोइको (Stoics) का मत है। यह नियम से नहीं चलती है, जो कि पदार्थ विज्ञान का मत है। प्रकृति का उद्विकास यान्त्रिक समायोजन नहीं है, जो कि देह में परिवर्तन और चुनाव में होता है, क्योंकि यह जीवन की प्रति प्रतिज्ञा है। जीवन यन्त्र के विरुद्ध है। उद्विकास अव्यवस्था में व्यवस्था को दशा में प्रगति नहीं है, जो हर्बर्ट स्पेन्सर का मत है क्योंकि प्रायशः प्रकृति अबौद्धिक गतिशील प्रवाह है जो शक्ति की इच्छा की शक्ति की अभिव्यक्ति है। यह दया और न्याय से शून्य है। यह नैतिक मूल्यों के प्रति उदासीन है।[4]

नैतिक आपेक्षिकतावाद—(Ethical Relativity)—नीट्शे एक आपेक्षिकतावादी है। वह शुभ और 'अशुभ' को चिरन्तन सत्य नहीं मानता। नैतिक विभेद नित्य और अपरिवर्तनीय नहीं हैं। वे किसी जाति की भौगोलिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों पर निर्भर हैं। सामाजिक वातावरण से उनका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने पर वे निरर्थक हो जाते हैं। वे समयानुसार परिवर्तित होते रहते हैं। 'शुभ' और 'अशुभ' आपेक्षिक पद हैं। वे निरन्तर प्रवाह में हैं। जिसकी एक जाति शुभ समझकर प्रशंसा करती थी, उसी की दूसरी जाति अशुभ कहकर निन्दा करती है। जो कभी अशुभ माना जाता था वही कालान्तर में शुभ माना गया, क्योंकि वह उपादेय सिद्ध हुआ। विवाह को पहले असत् समझा जाता था क्योंकि समुदाय से इसका अधिकार छीन लिया जाता था, लेकिन अन्त में यह एक आत्यावश्यक नैतिक संस्था माना गया। नीट्शे ने अन्तःकरण को मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों का अन्तरीकरण माना है, जो बाह्य कर्म में व्यक्त नहीं होती। अन्तःकरण-युक्त मनुष्य 'व्याधिग्रस्त' जीव है।[5]

संकल्प स्वातंत्र्य से इन्कार—(Denial of Freedom of Will)—नीट्शे ने इच्छा-स्वातंत्र्य का निषेध किया है। हमारे कर्म अपने कारणों के कठिन बन्धन में हैं। वे वंशानुक्रम और परिस्थितियों के द्वारा दृढ़तापूर्वक निर्धारित होते हैं। संकल्प-स्वातन्त्र्य में आस्था रखने के विरुद्ध है। हमारे कर्म स्वतन्त्र संकल्प की रहस्यमय क्रियाओं के द्वारा उत्पन्न विविक्त कर्म नहीं हैं। कार्य-कारण श्रृंखला में ही वे भी आबद्ध हैं। स्वतन्त्र इच्छाकृत कर्मों में विश्वास रखने का अर्थ संकल्प और कार्यों के भौतिक कारणों से सम्बन्ध में अविश्वास करना है, जो कार्यकारण से नियम के अपवाद हैं। संकल्प-स्वातन्त्र्य में विश्वास मनुष्य के निरर्थक अहंकार की भावना से जनित एक धार्मिक अन्धविश्वास का अवशेष है। इस तथ्य के लिए कोई उत्तरदायी नहीं है कि उसकी सत्ता है; उसकी रचना जैसी है वैसी ही है, और वह एक विशेष

3 *Beyond Good and Evils*, p. 79.
4. वही पुस्तक, पृ० १२५।
5. W. Durant, *The Story of Philosophy*, New York, 1957, p. 422.

वातावरण में किन्हीं परिस्थितियों से घिरा हुआ पाया जाता है। उसकी सत्ता की अवश्यम्भाविकता का, अतीत् और भवितव्य जो कुछ भी है उसको अवश्यम्भाविता से विच्छेद नहीं किया जा सकता।[6]

जीवन की नीति-शून्यता (Amorality of Life)—जीवन की सत्ता के लिए संघर्ष-मात्र नहीं है। यह शक्ति अति-शक्ति प्राप्त करने की इच्छा है। वह युयुत्सा है। वह प्रभुत्व है, दूसरों का शोषण है स्वार्थसिद्धि है। नीट्शे के शब्दों में, "जीवन नीति-शून्य है। जीवन आभ्यन्तर सम्बन्धों का बाह्य सम्बन्धों से अविरत समायोजन नहीं है, बल्कि, शक्ति की इच्छा है, जो अन्तर से निःसृत होकर बाह्य पदार्थों की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई मात्रा को आधीनस्थ करती है और स्वयं में मिलाती है। छीनना, क्षति अपरिचित और निर्बल के ऊपर विजय, दमन, आत्मसात् करना, और कम से कम उसे अनुद्धत बना देना, शोषण, इन्हीं का नाम जीवन है। जीवन तत्वतः नीति-शून्य है।"[7]

प्रभु और दासों की नीति (Morality of Masters and Slaves)—नीट्शे के अनुसार नैतिक मूल्यांकन दो परस्पर विरुद्ध विधियों से किया गया है। एक प्रकार के नैतिक मूल्यांकन को वह "प्रभुओं की नैतिकता" कहता है और दूसरे को "दासों की नैतिकता"। पहिला शक्ति का नीति-शास्त्र है और दूसरा उपयोगिता का नीति-शास्त्र है। रोमन लोगों ने पहिले को स्वीकार किया था, वे साहस, पुरुषत्व, उद्योग और वीरता को सद्गुण मानते थे। यहूदी लोगों ने अपने राजनैतिक दासत्व के युग में दूसरे को स्वीकार किया और सौजन्य, नम्रता बलिदान और धैर्य की नैतिकता का प्रदर्शन किया। दासों की नीति में शान्ति और सुरक्षा के प्रेम का स्थान भय के प्रेम के स्थान पर हुआ, चातुर्य बल का, दया दृढ़ता का अनुकरण उपक्रम का, अन्तःकरण अहं भाव का स्थानापन्न हुआ। ईसा ने इस प्रकार के मूल्यांकन को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया। ईसा के अनुसार प्रत्येक मनुष्य के दूसरों के समान ही मूल्य और अधिकार हैं। ईसा की इसी शिक्षा से प्रजातन्त्रवाद, उपयोगितावाद और समाजवाद के प्रयत्नों का प्रादुर्भाव हुआ। प्रजातन्त्रवाद का अर्थ है पतित मनुष्यों से समानता। प्रजातन्त्रवाद मनुष्य जाति की मेहरुदण्डहीन प्राणियों की जाति बना देता है। इसका अर्थ है, नारीवाद—पुरुष और स्त्री की समानता। अतः उनका विरोध होना चाहिए।

नीट्शे ने कहा है, "प्रभु-नीति तथा दास-नीति है। पहिले में 'शुभ' का अर्थ 'महत' है और 'अशुभ' का अर्थ 'घृणित' है। महान पुरुष मूल्यों का निर्धारक है। वह मूल्यों का सृष्टा है। स्वयं में विश्वास, स्वयं में गर्व और स्वार्थपरता के प्रति तीव्र शत्रुता महत-नीति में हैं। दास-नीति में इनके विपरीत अवगुण हैं। दास शक्तिमान के चरित्र-गुणों के प्रति प्रतिकूल है। वह सब 'शुभ' अथवा शक्ति में उत्पन्न गुणों में आस्था नहीं रखता। परन्तु वह दुखियों के दुःख के लाघवकारी गुणों को प्राधान्य

6. *Beyond Good and Evil*, 2p. 79,
7. Mugge, *Netzsche.*

देता है और उन्हें उत्कृष्ट मानता है। सहानुभूति, अतः श्रमशीलता तथा मित्रता उसके लिए सम्मान योग्य हैं। इन गुणों से जीवन-धारण रूप-नम्रता भार सहनीय है। दास-नीति अवश्यमेव उपयोगिता की नीति है।[8]

पुरुषोचित गुण और स्वेच्छाचारी तन्त्र (Virile Virtues and Autocracy)—सभी रूढ़-परम्पराओं और संस्थाओं का उन्मूलन हो जाना चाहिये और मूल्यों की एक नूतन प्रणाली का आविष्कार होना चाहिये। नीट्शे के शब्दों में "मूल्यों का मूल्यान्तरण" (Pransvaluation of Values) होना चाहिये। सभी वर्तमान संस्थाओं और सामाजिक परम्पराओं को नष्ट कर देना चाहिये। नवीन संस्थाओं का निर्माण शक्ति की इच्छा, वृद्धि, विस्तार और शोषण की इच्छा के आधार पर होना चाहिए। जीवन शक्तिमान बनाने की इच्छा है। अतः नैतिक नियमावली बलवान और योग्य के विशेषाधिकारों पर आधारित होनी चाहिए। यदि जीवन एक सघर्ष है जिसमें योग्यतम ही जीवित रह सकता है, तो बल ही अन्तिम गुण है, और निर्बलता ही एकमात्र दोष है। शुभ वह है जो जीवित रहता है, जो विजयी होता है, अशुभ वह है जो हारता है, असफल होता है।"[9] ईसाइयों की नीति जो विनय, सौजन्य और परोपकार की प्रशंसा करती है सड़ी-गली नीति है, अतः उसको छोड़ देना चाहिये। इस जीवन के युद्ध में सदाचार की नहीं बल्कि बल की, विनय की नहीं, बल्कि अहंकार की, परोपकार की नहीं, बल्कि प्रौढ़-बुद्धि की आवश्यकता है। समानता और प्रजातन्त्र प्राकृतिक चुनाव (Natural Selection) और योग्यतम की जीत (Survival of the Fittest) के नियमों के विरुद्ध हैं। हमारा लक्ष्य जनता नहीं, बल्कि प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति होने चाहिये। न्याय नहीं, बल्कि शक्ति को ही हमारे भाग्य का निर्णायक होना चाहिए। दया का अर्थ निर्बलता है। दया निश्चेष्ट बनाने वाली मानसिक विलासिता है। अतः उसको छोड़ देना होगा। युद्ध एक जैविक आवश्यकता है। भावी मनुष्यों के लक्षण साहस, निर्भीकता और युद्ध-प्रेम होंगे। इस प्रकार नीट्शे के ऊपर डार्विन और विस्मार्क का अत्यधिक प्रभाव है।[10]

अतिमानव (Superman)—उस समय तक संसार में सुधार नहीं होगा और मनुष्य, मनुष्य नहीं बनेगा, जब तक कि मनुष्य-जाति की योजना में प्रभुत्व और शक्ति की भावना, अधिकार और बल की प्रवृत्ति की अपने उचित स्थान पर पुनः स्थापना नहीं हो जाती और दया, उदारता, सहानुभूति और बलिदान की भावनाओं का अन्त नहीं हो जाता। मनुष्य की समुदाय या जाति में वास्तविक परीक्षा उत्साह, योग्यता या शक्ति है। विश्व को बलवान, महान् और कम लोगों के निवास के योग्य बनाना चाहिए। मानवीय प्रयत्न का लक्ष्य अधिक अच्छे और अधिक बलवान व्यक्तियों का विकास होना चाहिए, सभी व्यक्तियों का विकास नहीं। अतिमानव—मनुष्य

8. *Beyond Good and Evil*, pp. 194—97.
9. *The Genealogy of Morals* (The Philosophy of Nietzsche), p. 659.
10. W. Durant, *The Story of Philosophy*, pp. 420—22.

जाति नहीं, उद्देश्य है। मनुष्य-जाति के विषय में सोचना या उसकी उन्नति का प्रयत्न करना मूर्खता की पराकाष्ठा है; यह एक कल्पना-मात्र है। इस प्रकार, चेतन प्रयत्न मनुष्यों के एक नवीन प्रकार को—अतिमानवों की एक जाति को उत्पन्न करने के लिये होना चाहिए। अति-मानव का ध्येय शासन करने का होना चाहिए, सेवा करने का नहीं। अति-मानव का प्रधान लक्षण शक्ति और युद्ध का प्रेम होगा। उत्साह बुद्धि, अहंकार और शक्ति, यही अतिमानव के गुण हैं।[11]

हमारी संस्थायें, नीति और धर्म जो इस शक्तिशाली जाति के आने में विघ्न-स्वरूप हैं, त्याज्य हैं। ईसाई धर्म, जो कि नम्रता और दया की पूजा करता है, और दासों की नीति का उद्धार करता है मनुष्य जाति का सबसे बड़ा शत्रु और नई अति-मानव जाति के जन्म का सबसे बड़ा विरोधी है। प्रजातन्त्र का भी विनाश होना चाहिए, क्योंकि वह संयम की प्रशंसा और उत्कर्ष से घृणा सिखाता है। प्रजातन्त्र महान् व्यक्तियों का होना असम्भव कर देता है।

नीट्शे के शब्दों में, "हम प्रजातान्त्रिक आन्दोलन को सिर्फ एक अध:पतित राजनैतिक संस्था नहीं मानते हैं, उसे नीचे गिराने वाले क्षय प्राप्त मनुष्य के समान स्थिति भी मानते हैं। हमें अधिकतम संख्या रूप मूर्खता का—मूर्खता और संयोग का विनाश करना चाहिए।"[12] अधिकांश लोग बुद्धिशून्य, कायर, मध्य और अधम कोटि के हैं। वे देश का शासन करने के लिये अयोग्य हैं, अथवा योग्यता प्रतिनिधियों को चुनने में अक्षम हैं। गणतन्त्र योग्य, बुद्धिमान, साहसी-अल्पसंख्यक मनुष्यों को अयोग्य अधिक-संख्यक लोगों के स्तर में गिराता है। गणतन्त्र स्त्रियों व पुरुषों में समानता पर बल देता है। वह दैहिक निर्माण में कमजोर और बुद्धिशून्य, डरपोक और कायर बुद्धिमत्ता और भविष्य दृष्टि से शून्य हैं। अतएव गणतन्त्र नारीतन्त्र (Feminism) है। 'नारी-स्वतन्त्रता' के आन्दोलन में निबुद्धिता है। गणतन्त्र का विनाश करना चाहिए, क्योंकि यह मध्यम योग्यतायुक्त मनुष्यों को शासन-भार देता है, उत्तम योग्यतायुक्त मनुष्यों से घृणा करता है और महान् मनुष्यों को असम्भव करता है।

नीट्शे ने कहा है, "देव लोग मर गये, अब हम इच्छा करते हैं कि अति-मानव का जन्म हो। मैं तुम्हें अतिमानव के बारे में शिक्षा देता हूँ। मानव के प्रति अतिक्रमण करना होगा। मानव में जो महत्व है वह सेतु है, लक्ष्य नहीं। अब उप-युक्त अवसर है जब मनुष्य उसका लक्ष्य स्थिर करें, वह लक्ष्य अतिमानव है।" कभी-कभी नीट्शे कहता है कि, एक अतिमानव जाति का उद्विकास होगा। वह कभी-कभी कहता है कि व्यक्ति अतिमानव का जन्म होगा।

नीट्शे अभिजाततन्त्र (Aristocracy) में आस्था रखता है। नीट्शे के अभि-जात गणतन्त्र के विरोधी हैं। वह परार्थ पर उपयोगितावाद के विरोधी हैं। वह

---

11. वही पुस्तक, पृष्ठ ४६२–६५।
12. *Thus spoke Zorathustra*, p. 108.

होगी । गणतन्त्र में योग्यतम व्यक्तियों को चुनने के लिये प्रबन्ध होना चाहिए । गण-तन्त्र में अधिकतम मनुष्यों का मत मान्य है, परन्तु यह अवश्यम्भावी रूप से उत्तम नहीं है । नीट्शे ने प्लेटो के 'दार्शनिक शासकों' की प्रशंसा की है । इसका अर्थ यह है कि शासकों को निःस्वार्थ, दूरदृष्टि सम्पन्न, राजनीतिज्ञ होना चाहिये । यह मत भी ठीक है । साम्प्रतिक परिस्थिति में गणतन्त्र को हटाना नहीं चाहिये, परन्तु इसे निर्दोष करना चाहिये । व्यक्ति के स्वातन्त्र्य को अटूट रखना चाहिये । एक पार्टी सरकार मजदूरों का एकाधिनायकत्व अथवा तानाशाही, जंगी सरकार गणतन्त्र नहीं है । यह व्यक्ति स्वातन्त्र्य का पूर्ण निषेध है । यह स्वतन्त्र विचार और सभ्यता तथा सृष्टि का नाशक होगा ।

(३) श्री अरविन्द की अतिमानव की धारणा
(Aurobindo's Concept of Superman)—

आधुनिक भारत के प्रसिद्ध योगी अरविन्द यह मानते हैं कि सच्चिदानन्द ब्रह्म निर्गुण भी है और सगुण भी, शान्त भी है और गतिमान भी, तृप्त भी है और तृप्ति शेष भी; वह स्वयं को युद्गल, जीवन और चित्त में अभिव्यक्त करता है; वह मनुष्य को ऊँचा उठाकर यहीं इसी सांसारिक जीवन में उसके अन्दर छिपे दिव्यत्व को सिद्ध करवाता है । मनुष्य दिव्य शक्ति का उपकरण है जिसके द्वारा ईश्वर अपनी दैवी योजना को पूरा करता है मनुष्य स्वयं को ईश्वर से अलग इसलिये समझता है । कि वह अपनी बुद्धि से सोचने का काम लेता है । उसे पृथकता का भ्रम उत्पन्न कराने वाली मानसिक बौद्धिकता चेतना से उठकर अतिबौद्धिक चेतना या अतिमानस (Supermind) में पहुँचना होगा—ईश्वर के बौद्धिक और व्यवहित ज्ञान से उठ कर अन्तःप्रजा और अव्यवहित ज्ञान में पहुँचना होगा । ईश्वर मनुष्य के अन्दर निवास करने वाली अन्तरात्मा है जो उसे उसके शरीर, जीवन और मन के द्वारा रास्ता दिखाती है । मनुष्य अपने अन्दर ईश्वरीय प्रेरणा का अनुभव करता है और धर्म के द्वारा ऊपर उठकर ईश्वर के पास पहुंचने का प्रयास करता है । उसे बौद्ध या मानस भूमि से ऊपर उठकर अतिमानस या अतिबौद्धिक भूमि में पहुंचना होगा, स्वयं अपने और विश्व के अन्दर ईश्वर का साक्षात्कार करना होगा, और ईश्वर के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करके मानव जाति के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करना होगा । जब ईश्वर से, जो कि उसके और ब्रह्माण्ड के अन्दर रहने वाला आत्मा है, उसका ऐक्य हो जायेगा तब वह विकास की ऊर्ध्व दिशा में ले जाने में स्वयं बोधपूर्वक ईश्वर के साथ सहयोग कर सकेगा । तब वह अतिमानव (Superman) हो जायेगा, अपने परिच्छिन्न दैहिक, जैव और मानसिक अस्तित्व से ऊपर उठ जायेगा; मनुष्य जाति से अपना, तादात्म्य करेगा; और मनुष्य जाति को उच्चतर भूमि में ले जाने के दैवी कार्य का सहायक बनेगा । अतिमानव दूसरे मनुष्यों को अतिमानव की भूमि में ले जाने में ईश्वर के साथ सहयोग करता है । अतिमानव आत्मचेतन और निःस्वार्थ दैवी उपकरण हैं, जो अपने जीवन को मावव जाति की सेवा में अर्पण कर देते हैं । वे

मानव जाति के आध्यात्मिक विकास के लिए जान-बूझ कर प्रयत्न करते हैं। वे दिव्य मानव हैं जो स्वयं में दैवी शक्ति के स्पन्दन का अनुभव करते हैं और सीमित मानवीय चेतना को उठाकर असीम दिव्य चेतना की भूमि में पहुंचाने का प्रयत्न करते हैं। अरविन्द का अतिमानव नीट्शे के शक्ति के प्यासे, अति-शक्ति की इच्छा वाले, युद्धप्रिय अतिमानव का विपरीत है।

योगी अरविन्द का 'अतिमानव' नीट्शे के अतिमानव की भाँति प्रभुत्व-सम्पन्न, युद्धप्रिय, निर्दय, निरीश्वर, नीतिहीन प्राणी नहीं है। वह ईश्वर से चरणों में आत्म-समर्पित, तद्गत-चित्त, ईश्वर यन्त्रबल भागवत-जीवन-सम्पन्न, मानव जाति से अभिन्न-चित, मनुष्यों के सार्वभौम-हितकारी मानव है। वह स्वप्रतिपादन, प्रभुत्व, स्वार्थसिद्धि, अतिशक्ति का दास नहीं है। परन्तु वह परार्थ पर मानव-प्रेमी है, नव भागवत मानव-समाज का प्रवर्तक है। यह अतिमानव का प्रकृत स्वरूप है। नीट्शे के अतिमानव की धारणा जैव है। श्री अरविन्द के अतिमानव की धारणा आध्यात्मिक है।

१७ महात्मा गांधी : अहिंसा का नीति-शास्त्र

(१) गांधी का अहिंसावादी नीति-शास्त्र
[M. K. Gandhi's (1869–1969) Ethics of Ahimsa]

महात्मा गाँधी ने बुद्ध तथा महावीर की अहिंसा नीति को पुनर्जीवित किया उन्होंने अहिंसा के सिद्धान्त पर आश्रित जीवन के एक नवीन दृष्टिकोण को जन्म दिया, और इसी सिद्धान्त की सहायता से सब सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं के सुलझाने का प्रयत्न किया। उन्होंने मनुष्य जाति की आधुनिक समस्याओं को एक नई दिशा प्रदान की, और उनका एक नया समाधान प्रस्तुत किया।

सत्य और समाज सेवा (Truth and Social Service)—महात्मा गाँधी अहिंसा के देवदूत थे। जीवन का यह आधारभूत-सिद्धान्त सत्य के ऊपर आश्रित है। गाँधी जी कहते हैं, "मैं प्राय: अपने धर्म को सत्य का धर्म कहता हूं। बहुत लम्बे समय से मैं अपने धर्म की अधिक पूर्ण परिभाषा देने के लिये, 'ईश्वर सत्य है' कहता आया हूँ। हम सत्य की चिनगारियाँ हैं। इन सब चिनगारियों का समूह अनिवर्चनीय अद्यावधि-अज्ञात सत्य है, जो ईश्वर कहलाता है।"

"इस धर्म का सामाजिक जीवन के ऊपर प्रभाव प्रत्येक के दैनिक, सामाजिक आदान प्रदान में लक्षित होता है अथवा होगा। ऐसे धर्म के सच्चे अनुयायी होने के लिये प्रत्येक को जीवन-पर्यन्त अविरत सेवा में अपने आप को विस्मृत कर देना होगा। बिना अपने आपको जीवन के असीम-सागर में लीन किये और उससे स्वयं को एकाकार किये सत्य का साक्षात्कार असम्भव है। अत: मेरे लिये, समाज-सेवा से पलायन करना असम्भव है, उससे परे अथवा अलग, पृथ्वी पर मेरे लिये कोई आनन्द नहीं है। समाज-सेवा में जीवन का प्रत्येक क्षेत्र शामिल है। इस योजना में कोई वस्तु न तो हीन है न उच्च है। क्योंकि सब एक हैं, यद्यपि अनेक दिखाई देते हैं।"[1]

पुन: गाँधी जी कहते है : "ईश्वर जीवन, सत्य, और प्रकाश है। ईश्वर प्रेम है वही परम-शुभ है।" "मेरे लिये ईश्वर सत्य और प्रेम है; ईश्वर ही नीति है। ईश्वर निर्भय है; ईश्वर जीवन और प्रकाश का उद्गम है, तथापि वह इन सबसे ऊपर और परे है। ईश्वर ही अन्तरामा है। वही दुनिया में सबसे अधिक न्यायप्रिय है। वह हमसे वही व्यवहार करता है जो हम अपने पड़ौसी मनुष्यों और पशुओं से करते हैं। उसकी दृष्टि में अज्ञान, क्षम्य नहीं है। तथापि यह सदा क्षमाशील है। क्योंकि वह सदैव हमें प्रायश्चित करने का अवसर देता है। वह सर्वश्रेष्ठ प्रजातन्त्र-

1. *Contemporary Indian Philosophy*, (edited by S. Radhakrishnan).

वादी है, क्योंकि वह हमें शुभाशुभ का चुनाव करने के लिये निर्बन्ध छोड़ देता है। सत्य और अहिंसा ईश्वर के तत्व हैं।''

उपर्युक्त उद्धरण महात्मा गांधी के अहिंसावादी नीति-शास्त्र की दार्शनिक-पृष्ठभूमि उपस्थित करते हैं। उनके मतानुसार ईश्वर की सत्ता है; ईश्वर सत्य और प्रेम है। जीव ईश्वर के अंश हैं। वे अपरिच्छन्न-सत्य अथवा ईश्वर अंश हैं। वे समाज सेवा के द्वारा— स्वयं का सम्पूर्ण-सृष्टि मानव-जाति और पशुओं से एकीकरण के द्वारा—और जीवन की एकता की सिद्धि के द्वारा, पूर्णता का लाभ करने के लिए स्वतन्त्र हैं।

अहिंसा (Non-violence)—महात्मा गाँधी अहिंसा के देवदूत हैं। शताब्दियों पूर्व जैन और बौद्ध धर्म ने भारत में अहिंसावाद का प्रचार किया था। महाभारत में लिखा है, 'अहिंसा परमो धर्मः।' इसका अर्थ है कि अहिंसा केवल एक ऋणात्मक धर्म ही नहीं बल्कि धनात्मक धर्म भी है। हिंसा से विरत होना ही धर्म नहीं है बल्कि दूसरों का हित करना भी धर्म है। अहिंसा सर्वोच्च दया और सर्वोच्च आत्म बलिदान है। जैन धर्म ने अहिंसा के ऋणात्मक पक्ष पर—यहाँ तक कि सूक्ष्म कीटाणुओं को हानि न पहुँचाने पर भी, अत्यधिक बल दिया है। बौद्ध धर्म ने अहिंसा के दोनों धनात्मक और ऋणात्मक पहलुओं पर—पशुओं की हत्या न करने पर और सम्पूर्ण जीव जगत के लिए सहानुभूति पर बल दिया है। महात्मा गाँधी अहिंसा को बहुत व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हैं। अहिंसा हत्या का निषेध है। अहिंसा मनसा, वाचा, कर्मणा हिंसा न करना है। यह केवल हत्या अथवा हानि का त्याग करना मात्र नहीं है। वचन, विचार अथवा क्रोध के द्वारा दूसरों को कष्ट न पहुँचाना भी हिंसा है। यह सूक्ष्म और स्थूल किसी भी रूप में हिंसा न करने का नाम है।

मन, वचन, और कर्म से किसी को हानि न पहुँचाना अहिंसा का ऋणात्मक-पक्ष है। इसके अतिरिक्त अहिंसा का एक धनात्मक-पक्ष भी है, जो ऋणात्मक-पक्ष से अधिक महत्वपूर्ण है। अहिंसा मनुष्य-जाति और सम्पूर्ण सजीव-सृष्टि के प्रति द्वेष का अभाव-मात्र नहीं है बल्कि उनके लिये स्नेह का भाव भी है। अहिंसा का अर्थ हिंसा-निषेध और प्रेम है। ईश्वर सत्य और प्रेम है और हम सत्य का साक्षातकार सम्पूर्ण प्राणी जगत, जिसमें मनुष्य जाति भी सम्मिलित है, से प्रेम करके कर सकते हैं। महात्मा गाँधी के शब्दों में, ''अहिंसा सत्य के अनुसन्धान का आधार है, सत्यानुसन्धान व्यर्थ है यदि अहिंसा की भित्ति पर उसकी स्थापना नहीं होती। सत्य के साक्षात्कार का एक मात्र साधन-अहिंसा है। अहिंसा की पूर्ण सिद्धि से ही सत्य का पूर्ण दर्शन सम्भव है।'' गाँधी जी इन महान सत्य के शाब्दिक-अर्थ मात्र से सन्तुष्ट नहीं थे।

अहिंसा के लिये सत्य वादिता और निर्भीकता आवश्यक है। ''एक ही वस्तु ऐसी है जिससे भय होना चाहिये वह वस्तु ईश्वर है। जब हम ईश्वर से डरते हैं

तो मनुष्य से डरने की कोई आवश्यकता नहीं है और यदि तुम सत्य का व्रत धारण करना चाहते हो तो निर्भीकता अत्यावश्यक है।" "सत्य से निर्भय होकर अनुसरण करने का यह सिद्धान्त सत्याग्रह कहलाता है।" जीवन का शासन परिणामों की परवाह न करते हुए सत्य के नियम के द्वारा होना चाहिए। प्रहलाद सत्य की रक्षा के हेतु मरने को कटिबद्ध था। उसने एक भी आघात से बचने का प्रयत्न न करने हुए प्रसन्नमुख से अभी सम्भव यन्त्रणाओं को सहन किया और अन्त में सत्य की ही विजय हुई। सत्य समझौता नहीं जानता। असत्य पाप है।

पाप से अहिंसात्मक असहयोग (Non-violent non-cooperation with evil)—गाँधी जी ने कहा कि पाप से घृणा करो, पापी से नहीं। हम सब एक ही सृष्टा की सन्तति हैं और इस रूप में हमारे में अवस्थित दैवी शक्तियाँ असीम हैं। एक अकेले मनुष्य का आदर करना, उन दैवी शक्तियों का अनादर है। अतः हमें अपराधी को मिटाने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए, बल्कि हर सम्भव तरीकों से पाप का प्रतिरोध अपना उससे सम्बन्ध-विच्छेद करके करना चाहिए। पाप में अपने बल पर खड़ा रह सकने की सामर्थ्य नहीं है। पाप से असहयोग करो और वह निर्बल होकर गिर पड़ेगा। "किसी सिद्धान्त पर आक्रमण करना और उनका विरोध करना नितान्त उचित है, किन्तु उसके प्रणेता पर आक्रमण करना और उसका प्रतिरोध करना स्वयं अपने विरोध के तुल्य है।" हम अहिंसात्मक उपायों से असहयोग के द्वारा किसी अनिष्टकारी सिद्धान्त पर सफलतापूर्वक आक्रमण कर सकते हैं। गाँधी जी ने अहिंसात्मक असहयोग का नैतिक शास्त्र अशुभ सिद्धान्त से युद्ध करने के लिये सबसे शक्तिशाली शस्त्र है। राजनैतिक क्षेत्र में विदेशियों के प्रभुत्व के पाप से युद्ध करने के लिये इसने निष्क्रिय प्रतिरोध और कानून-भंग आन्दोलन (Civil Disobedience) का रूप ग्रहण किया।

आत्म-शुद्धि (Self-purification)—"सत्य की सामान्य और सर्वव्यापी आत्मा का प्रत्यक्ष दर्शन करने के लिये सृष्टि के तुच्छ से भी तुच्छ प्राणी में भी अपने ही समान प्रेम करने की क्षमता होनी चाहिये और वह मनुष्य जो ऐसी महत्वाकांक्षा रखता है जीवन के किसी भी क्षेत्र से अलग नहीं रह सकता। यही कारण है कि मेरी सत्य शक्ति मुझे राजनैतिक क्षेत्र में खींच लाई है, सबके साथ एकीकरण के बिना आत्म-शुद्ध असम्भव है, बिना आत्म-शुद्धि के अहिंसा के नियम का पालन स्वप्न मात्र है, आत्म-शुद्धि का अर्थ जीवन के सभी पहलुओं की शुद्धि होनी चाहिये क्योंकि शुद्धि अत्यधिक संक्रामक होती है, आत्म-शुद्धि से परिगत वस्तुओं की भी शुद्धि हो जाती है।"

गाँधी जी ने यदा-कदा अनशन का आत्म-शुद्धि और अपने सामाजिक और राजनैतिक वातावरण की शुद्धि के साधन-रूप में अवलम्बन किया। इसके अनेक उदाहरण हैं जैसे—हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के दिल्ली का इक्कीस दिनों का महान अनशन; हिन्दू समाज

का उच्च वर्ग और अछूतों में विभाजन के विरोध में यर्वदा-जेल में अनशन; और राजा के विश्वासघात के विरुद्ध राजकोट में अनशन।

अस्तेय अथवा अपरिग्रह (Non-stealing and Non-possession)—महात्मा गाँधी प्रेम और आत्म-त्याग की भित्ति पर एक नूतन सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करना चाहते थे। वे चाहते थे कि व्यक्ति को व्यक्तित्व के चरम विकास के लिये सभी अवसर उपलब्ध हों। किन्तु वे विशेषाधिकार युक्त वर्गों के अधिकार छीनने के लिये शक्ति-प्रयोग नहीं करना चाहते थे। गाँधी जी की वर्ग-संघर्ष (Class Conflict) में आस्था नहीं थी। न वे समाजवादी (Socialist) थे और न साम्यवादी, (Communist)। वे हृदय-परिवर्तन में और गरीबों के हितार्थ अतिरिक्त सम्पत्ति को इच्छापूर्वक दान (Trusteeship of Wealth) कर देने में विश्वास करते थे।[1] नई समाज-व्यवस्था की उनकी योजना में पशु-बल और अहिंसा का कोई स्थान नहीं है। जिस सामाजिक ढाँचे का वे विकास करना चाहते थे उसके आधार प्रेम और अहिंसा हैं। यह एक मन्द किन्तु अवश्यम्भावी प्रक्रिया है। यह अहिंसात्मक विद्रोह, खूनखराबी और अव्यवस्था का विरोध है। प्रेम संयोजक है और घृणा वियोजक। प्रेम ऐक्य और सामंजस्य, शान्ति और सुख के साम्राज्य की स्थापना करता है।

उन्होंने कहा था कि, मेरा विचार है कि हम एक रूप में चोर हैं। यदि मैं एक ऐसी वस्तु ग्रहण करता हूँ जिसकी तुरन्त प्रयोग की मुझे आवश्यकता नहीं है और उसे मैं अपने अधिकार में रखता हूँ, तब मैं अवश्य ही किसी अन्य से उसका अपहरण करता हूँ। यह प्रकृति का अपवाद-रहित आधारभूत नियम है कि प्रकृति हमारी दैनिक आवश्यकताओं के लिये काफी पैदा करती है और यदि प्रत्येक अपने लिये केवल उतना ही ले जितना उसके लिये आवश्यक है तो संसार में भिखमंगी और भूखमरी नहीं रहेगी। मैं समाजवादी नहीं हूँ और सम्पत्ति वालों को सम्पत्ति-हीन नहीं करना चाहता, किन्तु यह अवश्य कहूँगा कि व्यक्तिगत रूप से हममें जो अन्धकार से प्रकाश में आना चाहते हैं उन्हें इस नियम का पालन करना ही होगा। मैं किसी की सम्पत्ति नहीं छीनना चाहता, यदि मैं ऐसा चाहूँ तो मैं अहिंसा के सिद्धान्त से दूर जा पड़ूँगा। ...आपका और मेरा जो अपने पास है उसे रखने का कोई अधिकार नहीं है जब तक कि करोड़ों प्राणी नंगे और भूखे हैं। आपको और मुझे, जिन्हें अधिक अच्छे तरीके से जानना चाहिये, अपनी आवश्यकताओं का समायोजन करना होगा और उन्हें अन्न-वस्त्र देने के लिये इच्छापूर्वक गरीबी का आलिंगन करना होगा।

अहिंसावाद का राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं का प्रयोग-अहिंसावाद व्यक्तिगत जीवन मात्र में व्यवहार का नियम नहीं है, बल्कि राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक जीवन में भी यह गाँधी जी की संसार को संस्कृति और सभ्यता की सबसे बड़ी देन है। हिंसा किसी अधर्म को नष्ट कर सकती है, किन्तु वही प्रभाव

---

1. श्री अरविन्द भी 'धन न्यास के विचार' में विश्वास रखते हैं : —*Mother*.

उसके प्रणेता पर भी पड़ता है, इससे उसका नैतिक पतन हो जाता है जो उसका आश्रय लेता है। हिंसा, हिंसा को जन्म देती है। इससे अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। इससे सामाजिक जीवन का स्रोत विषाक्त हो जाता है। इसके विपरीत अहिंसा, अधर्म की अधर्मता को नष्ट करके उसे शुद्ध कर देती है। वह किसी मानव-संगठन की आत्मा को बदल कर उसके अन्तर से परिवर्तन आरम्भ करती है। सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में भी वह व्यवहृत हो सकती है। उद्योग की पूँजीपति पद्धति गरीबों के नियमपूर्वक शोषण पर आधारित है। अहिंसा, ऐसी पद्धति विरुद्ध असहयोग का रूप धारण करती है और गृह-उद्योग इत्यादि की उन्नति करती है। सामाजिक क्षेत्र में यह विशेषाधिकार सम्पन्न वर्गों के विरुद्ध असहयोग करती है, जो अपने ही कुछ भाइयों को प्रारम्भिक अधिकार देना तक पाप समझते हैं। गांधी जी युद्ध में विश्वास नहीं करते। युद्ध मनुष्यों की सामूहिक हत्या है। यह मानव प्रकृति के निगम सत्य और अहिंसा के विरुद्ध है। सामाजिक व्यवस्था में युद्ध की सत्ता नहीं होगी।

विश्व के नैतिक शासन (Moral Government of the World)—अहिंसा का उपासक ईश्वर में और विश्व के नैतिक शासन में विश्वास रखता है संसार में ही वह क्षेत्र है जिसमें नैतिक आदर्श की सिद्धि हो सकती है। जैसा कि नीट्शे का मत है, यह नीति शून्य नहीं है। संसार नैतिक दृष्टि से रचा गया है। यह नैतिक आदर्श की सिद्धि के लिये अवसर प्रदान करता है। मनुष्य ईश्वरीय सत्ता का अंश है। अतः मनुष्य तत्वतः आध्यात्मिक है। यह जड़ प्रकृति का एक अंश नहीं है। वह पशु-जीवन के यथा, सत्ता के लिये संघर्ष और योग्यतम की विजय से सतुष्ट नहीं हो सकता। अहिंसा उसके लिये जीवन का नियम है; उसके जीवन का मूल मंत्र आत्म-बलिदान (Self-sacrifice) है, स्व-प्रतिपादन (Self-assertion) नहीं। शक्ति की इच्छा नहीं बल्कि सेवा की इच्छा उसका आदर्श है। निर्दयतापूर्ण स्वप्रतिपादन बल, अभिमान, अत्याचार, नहीं बल्कि आत्म-निषेध, सौजन्य, मार्दव, क्षमाशीलता, दया, परोपकार, सहानुभूति, प्रेम, स्नेह उसके गुण हैं। वह मनुष्य जाति का स्वेच्छापूर्वक सेवक है और अतिमानव के तुल्य उसका स्वामी नहीं। संसार इन गुणों के अर्जन के लिये उचित क्षेत्र है। संसार का उसके नैतिक आदर्श से द्रोह नहीं है। वह नैतिक जीवन के लिये उचित क्षेत्र है, क्योंकि वह ईश्वर की अभिव्यक्ति है, मनुष्य जिसका एक स्फुलिंग-मात्र है। इस प्रकार गांधी जी का अहिंसात्मक नीति-शास्त्र नीट्शे की शक्ति की इच्छा के नीति-शास्त्र की प्रतिप्रतिज्ञा है। पहिला परहितवादी (Alruistic) है जबकि दूसरा व्यक्तिवादी (Individualistic)।

"अहिंसा का अनुयायी उपयोगितावाद के नैतिक आदर्श अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख को आदर्श नहीं मानता है, परन्तु सबके अधिकतम हित को आदर्श मानता है। सबके हित में अधिकतम संख्या के अधिकतम हित समाविष्ट हैं।" यह अति गुरुत्वपूर्ण उक्ति है। यह लक्षणीय है कि गाँधी का नैतिक आदर्श 'सर्वोदय' है। यह समाज के प्रत्येक व्यक्ति के, प्रत्येक श्रेणी के 'हित' में है। हित में सुख समाविष्ट

है, परन्तु सुख ही हित नहीं । हित में ज्ञान, चरित्र, संस्कृति सर्व-मूल्यों का समावेश है । वह एक श्रेणी, जैसे पूँजीपति श्रेणी, का विनाश नहीं चाहता है । नैतिक दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति अन्य व्यक्ति के समान है । प्रत्येक व्यक्ति को यह समानता ध्यान में रखनी चाहिये व समान व्यवहार करना चाहिये । प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य दैहिक मेहनत करना और धन का अर्जन करना है । किसी का परोपजीवी होने का अधिकार नहीं है । बौद्धिक श्रम तथा दैहिक श्रम का भेद नहीं करना चाहिये । किसी को अन्य व्यक्ति को मारने का अधिकार नहीं । लेकिन अन्यों के जीवन की रक्षा के लिये प्रत्येक व्यक्ति को तैयार रहना चाहिये । धनी को अनावश्यक धन अन्य व्यक्तियों के हित के लिये दान करना चाहिये । यह 'धन का न्यासवाद' (Trusteeship of Wealth) कहलाता है । ऐसे बुद्धि-जीवी कमाने वाले को अनावश्यक धन को गरीबों के हित के लिये दान करना चाहिये । यह न्यासवाद सर्वोदयवादी नीति का एक महत्वपूर्ण अंग है । सर्वोदयवाद धनियों के पूर्ण रूप से विनाश को अन्याय और असत् समझता है । सर्वोदयवाद और साम्यवाद में यह गुरुत्वपूर्ण अन्तर है ।

रस्किन की भाँति गाँधी जी कहते हैं, "श्रम पूँजी है और यह जीवधारी-पूँजी अक्षय है । मैं पूँजी और श्रम में न्यायसंगत सम्बन्ध की स्थापना करना चाहता हूँ । मैं एक का अन्य के ऊपर प्रभुत्व नहीं चाहता हूँ । मेरे विचार में इनके बीच स्वाभाविक बैर नहीं है ।" यदि पूँजी शक्ति है, तो श्रम भी शक्ति है । उभय शक्ति सृजनात्मक रूप से अथवा विनाशात्मक रूप से प्रयुक्त हो सकती है । ये एक दूसरे पर निर्भर हैं । जब मजदूर अपनी शक्ति को उपलब्ध करे, तब वह पूँजीवादी का अंशभागी हो सकेगा, वह पूँजीवाद का दास नहीं रहेगा । अगर वह पूँजीवादी को विनष्ट करना चाहे, और शिल्प का पूर्ण मालिक बनना चाहे, तो उसकी जीविका का अजन समाप्त हो जायेगा । "मनुष्य धन है, सोना और चाँदी नहीं ।" सब वस्तुयें ईश्वर की हैं । ईश्वर सबका सृष्टा है । अतएव ये एक विशेष व्यक्ति की नहीं, परन्तु सब मनुष्यों के लिये हैं । यदि एक व्यक्ति के पास उसकी आवश्यकता की अपेक्षा अधिक धन है, तो उसे अतिरिक्त अंश का दान करना चाहिये, क्योंकि वह उस अतिरिक्त धन का न्यासी (Trustee) है । "अन्य मत अहिंसा संगत नहीं हैं ।" सब भूमि ईश्वर की है । मनुष्य ने इसमें सीमा की है; इस सीमा को मनुष्य ही हटा सकता है । अतएव सारी भूमि सब लोगों के लिए इस प्रकार है । उनकी आवश्यकता के अनुसार सारी भूमि का वितरण होना चाहिये । महात्मा गाँधी ने 'समवायिक कृषि' (Co-operative Farming) का समर्थन किया है । इससे किसानों की दरिद्रता दूर हो जायेगी । इनके शब्दों में, "सही अर्थनीति सामाजिक न्याय का समर्थन करती है । यह सबके प्रति समान रूप से न्याय करती है । इन सब में दुर्बलतम का भी समावेश है । यह भद्र जीवन के लिये अत्यावश्यक है ।" "सबकी योग्यता समान भी नहीं है । यह असम्भव है । परन्तु सबको समान सुयोग मिलना चाहिये । प्रतिभावना व्यक्तियों

को अधिक मिलना चाहिये परन्तु उनको आवश्यकता के अतिरिक्त धन राष्ट्र के हित के लिये देना चाहिये । वे अतिरिक्त धन के न्यासी हैं ।"

गाँधी जी राजनैतिक और आर्थिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण के समर्थक हैं। बल प्रयोग के द्वारा केन्द्रीकरण रक्षित होता है। बल अहिंसा का विरोधी है। आध्यात्मिक सभ्यता विकेन्द्रीकरण पर आधारित होनी चाहिये । विकेन्द्रीकरण समाज के अहिंसात्मक गठन से संगत नहीं है ।

गाँधी जी के मतानुसार "औद्योगीकरण (Industrialisation) मनुष्य जाति के लिये एक अभिशाप है । यह पूरी तरह शोषण करने की योग्यता पर निर्भर है। इसका भविष्य अन्धकारमय है । दरिद्रता को अवश्यमेव दूर करना होगा। परन्तु औद्योगीकरण इसका प्रतिकार नहीं है । यन्त्रों का स्थान स्थायी रूप से है; यन्त्रों ने स्थायी स्थान प्राप्त कर लिया है, जो उचित नहीं है । इसे मनुष्य के श्रम के स्थानापन्न नहीं करना चाहिये । अगर यन्त्र सबके स्वार्थ को तृप्त करे तो यह कानून-सम्मत है । मैं यन्त्र मात्र का विरोधी नहीं हूँ। लेकिन मैं यन्त्रों को बिना विचार किये अनिवृद्धि का विरोधी हूँ ।" गाँधी जी कुटीर-शिल्प के समर्थक हैं ।

अहिंसा पर आधारित गणतन्त्र सबका समान स्वातन्त्र्य होगा। प्रत्येक व्यक्ति अपने का प्रभु होगा ।" आदर्श परिस्थिति में राष्ट्र नहीं रहेगा, क्योंकि उस परिस्थिति में राजनैतिक शक्ति नहीं रहेगी । परन्तु यह आदर्श जीवन में पूर्ण रूप से वास्तविक नहीं हो सकता इसलिये **थोरो** (Thorough) ने ठीक कहा कि "वह सरकार सबसे उत्तम है, जो बहुत कम शासन करती है ।" अतः गांधी, मार्क्स की भाँति नैराज्यवादी (Anarchist) हैं । राष्ट्र का अभाव एक आदर्श मात्र ही है ।

गाँधी जी पुरुष-स्त्री के समान अधिकार के समर्थक हैं। सब धर्मों के प्रति समान सम्मान करना चाहिये । सब सम्प्रदायों के प्रति समान न्याय करना चाहिये ।

उनके शब्दों में, पूर्ण स्वराज्य की मेरी धारणा विच्छिन्न स्वतन्त्रता नहीं है, परन्तु स्वस्थ और समान छोटे-बड़े राष्ट्रों में पूर्ण अन्योन्यापेक्षिता है। जब सब जातियाँ स्वतन्त्र हो जायेंगी, तब तक अन्तर्राष्ट्रीय संयुक्त राष्ट्र स्थापित होगा। अहिंसा पर आश्रित ससाज में, क्षुद्रतम जाति और बृहत्तम जाति में समानता का बोध होगा, उच्चता और नीचता का बोध मिट जायेगा। दुनिया की रक्षा के लिये यह आवश्यक है कि सारी दुनिया एक केन्द्रीय सरकार द्वारा शासित हो, जिसमें देशों के प्रतिनिधि हों ।" अतएव गाँधी जी अन्तर्राष्ट्रीय संयुक्त-राष्ट्र में विश्वास रखते हैं ।

गाँधी जी परार्थ पर उपयोगितावाद के समर्थक नहीं हैं । 'सर्वोदय' उपयोगितावाद से श्रेयः है। यह एक प्रकार से (Eudaemonism) है--सर्वहितवाद है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जीविका का अर्जन करना— दैनिक श्रम करना आवश्यक कर्त्तव्य है, यह मत उपयुक्त है । दैनिक श्रम को अधिक मूल्य देना चाहिये, बौद्धिक श्रम को इससे अधिकतम मूल्य देना उचित है । तब भी आधुनिक काल में जितना मूल्य

दिया जाता है, उससे कम देना चाहिए। साम्यवादी राष्ट्रों में भी शासकों और मजदूरों के वेतन में अत्यधिक वैषम्य है। पूँजी और श्रम में न्यायसम्मत सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए। परन्तु यह ऐसा होना चाहिए, जिसमें उत्पादन अधिक हो और वितरण न्यायसंगत हो। यह किसी मत पर आधारित नहीं होना चाहिए। सबको समान सुयोग मिलना चाहिए, यह गणतन्त्र की आधार-शिला है। राजनैतिक और अर्थनैतिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण अत्यावश्यक हैं। आधुनिक राष्ट्र में अत्यधिक राजनैतिक और जंगी शक्ति केन्द्रीभूत हुई। पूँजीपतियों के हाथ में अत्यधिक अर्थ-नैतिक शक्ति केन्द्रीभूत हुई। साम्यवादी राष्ट्रों में दोनों शक्तियाँ केन्द्रीभूत हुई। यह व्यक्ति स्वातन्त्र्य, विचार स्वातन्त्र्य का नाशक है। गाँधी जी का नैराज्यवाद (Anarchism) अव्यवहार्य है। राष्ट्र स्थायी संस्था है, जो कि मनुष्यों के हित के लिये अत्यावश्यक है। मार्किन-लेनिन का नैराज्यवाद भी तुल्य रूप से अव्यवहार्य है (Impractical)। राष्ट्र स्वयं लुप्त होगा, यह अव्यवहार्य आदर्शवाद है।

पूँजीवादी मार्किन संयुक्त-राष्ट्र और रूसी संयुक्त-राष्ट्र अत्यधिक शक्तिशाली (Super-powers) राष्ट्रों का आविर्भाव मानव-जाति के विनाश को सम्भव करता है। इसका प्रतिकार अहिंसाश्रयी विश्व-संयुक्त-राष्ट्र ही एकमात्र साधन है।

(४) गाँधी जी के नीति-शास्त्र की आलोचना
(Criticism of M. K. Gandhi's Ethics)

गाँधी जी कोई सैद्धान्तिक दार्शनिक नहीं थे। अतः उनके नीति-शास्त्र का निर्माण दार्शनिक विवेचन की दृढ़ आधार-शिला पर नहीं हुआ। उनके नैतिक सिद्धांत में सहज-ज्ञानवाद, बुद्धिपरतावाद अथवा सन्यासवाद, और सर्वहितवाद के तत्व वर्तमान हैं जिनकी सामंजस्यपूर्ण एकता सिद्ध नहीं हो पाई है, तथापि इस अन्धकारपूर्ण युग में उनकी आवाज देव-दूत की वाणी है।

महात्मा गाँधी के अनुसार मनुष्य का संकल्प स्वतन्त्र है। वह सत् और असत् में से एक को चुनने के लिए स्वाधीन है। ईश्वर ने मनुष्य को स्वतन्त्रता दी है। अन्तःकरण मनुष्य के अन्दर ईश्वर की वाणी है। वह कार्यों के अच्छे-बुरे होने को अपरोक्ष रूप से जान जाता है, जटिल परिस्थितियों में ईश्वर अन्तःकरण की सहज-स्फूर्ति द्वारा हमारे अन्दर सत्य का प्रकाश करता है। महात्मा गाँधी को सत् का सत्य से और असत् का मिथ्या से अभेद करने की ओर प्रवृत्ति है। इस स्थल पर उनका सिद्धान्त तर्कवाद के समान जान पड़ता है जो शाश्वत नैतिक नियमों के ज्ञान को नीति के लिए आवश्यक मानता है। वूलास्टन के मतानुसार, "नैतिक अशुभ एक सत्य प्रतिज्ञा का व्यावहारिक निषेध और नैतिक शुभ उसका व्यावहारिक-विधान मात्र है। प्रत्येक सत्कर्म सत्य का विधान है और प्रत्येक दुष्कर्म उसका निषेध।" गाँधी जी के सिद्धात में वह सहज-ज्ञानवाद का तत्व है। अतः उसमें भी वही दोष वर्तमान है जो तर्कवाद में है।

महात्मा गांधी प्राय: नैतिकता के सन्यासवादी सिद्धान्त के समर्थक हैं। मूल-प्रवृत्तियों और इच्छाओं का दमन तथा शुद्ध बुद्धिमय जीवन ही नैतिक जीवन है। आवश्यकताओं को सीमित करना चाहिये, इच्छाओं का दमन करना चाहिये, सुख का परित्याग करना चाहिये, सुख-दुःख के प्रति समता और औदासीन्य का भाव अपनाना चाहिये। सत्य के निर्भीक और अटल अनुसरण का जीवन जिसमें परिणामों के प्रति विरक्ति हो, सर्वोच्च आदर्श है, काम की तृप्ति नहीं होनी चाहिये; यह एक पाप है और इसी के हेतु उसका उन्मूलन होना चाहिये। हिंसा अथवा दूसरों की क्षति का सर्वथा नाश होना चाहिये। इससे यह सिद्ध है कि गाँधी जी के नैतिक सिद्धान्त में सन्यासवाद, कठोरतावाद, बुद्धिपरतावाद अथवा नैतिक विशुद्धवाद के तत्व विद्यमान हैं और वह इसके दोषों से भी दूषित है।

महात्मा गाँधी ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते हैं। ईश्वर सर्वोच्च शुभ है। वह सत्य और प्रेम है। वह नैतिक शासक है। जीव ईश्वर के अंश हैं। वे अपरिच्छिन्न सत्य अथवा ईश्वर के अंश हैं। वे समाज-सेवा द्वारा—मनुष्य-जाति और चेतनसृष्टि से अपना एकीकरण करने के द्वारा, और जीवन की एकता-सिद्धि के द्वारा, सत्य अथवा पूर्णता की सिद्धि कर सकते हैं। मन, वचन और कर्म में अहिंसा ही सत्य के साक्षात्कार का उपाय है। अहिंसा, प्रेम और सदिच्छा है। वह सक्रिय सेवा है। संसार की रचना बुद्धिमूलक है। वह नैतिक जीवन का क्षेत्र है। वह नैतिक मूल्यों के लिये संवेदन-शून्य नहीं है। वह गाँधीवाद में पूर्णतावाद का तत्व है।

गाँधी जी के नीति-शास्त्र में सत्य और अहिंसा आधार-शिलायें हैं। उन्होंने सत्य की परिभाषा नहीं दी है। सत्य का संकेत सत्तायुक्त तथ्यों अथवा वर्तमान में सत्ताहीन आदर्श की ओर है। सत्यवादिता, विचारों का शब्दों से और शब्दों का तथ्यों से संवाद है। निस्सन्देह यह सत्य है, किन्तु गाँधी ने सत्यवादिता को सत्यरूपी आदर्श को निर्भीक होकर अनुसरण करने के अर्थ में व्यवहृत किया है। आदर्श के अर्थ में, सर्वोच्च आदर्श के विषय में भिन्न-भिन्न दार्शनिकों के भिन्न-भिन्न मत हैं। महात्मा गाँधी आदर्श के रूप में सत्य की प्रकृति की स्पष्ट परिभाषा नहीं देते। वह सत्य को अत्यधिक स्पष्ट कर देते हैं। वह कहते हैं "ईश्वर सत्य है।" किन्तु उन्हीं के अनुसार "सत्य ईश्वर है" कहना अधिक संगत है। वह अपरिच्छिन्न सत्य के अर्थ को जो कि परम शुभ है पूर्णतया स्पष्ट-रूप से नहीं समझते। सर्वोच्च शुभ के स्वरूप और विषय के सम्बन्ध में उनका नैतिक सिद्धान्त नितान्त अस्पष्ट है।

महात्मा गाँधी का बुद्धि का प्रत्यय भी आंशिक सत्य है। मानवीय प्रकृति बड़ी जटिल है। वह इन्द्रिय और बुद्धि का योग है और सदैव ऐसी ही रहेगी। इन्द्रियानुभूति स्वयं अबौद्धिक नहीं है। उसका दमन नहीं होना चाहिये। बल्कि बुद्धि के द्वारा उसका बहिष्कार होना चाहिये। यौन प्रवृत्ति की, जो कि बड़ी बलवती और अदम्य है आवश्यक रूप से अबौद्धिक नहीं है। उचित क्षेत्र के अन्तर्गत बुद्धि के द्वारा

नियमित और परिष्कृत किये जाने पर वह प्रेम को जन्म देती है जो स्त्री-पुरुष को घनिष्ट बन्धन में जकड़ देता है तथा उनके व्यक्तित्व का विकास करता है। नैतिक शुद्धतावाद, कठोरतावाद, बुद्धिपरतावाद अथवा सन्यासवाद एकांगी सिद्धान्त हैं।

'गाँधी जी के धन के न्यासवाद' (Trusteeship of Wealth) राष्ट्रीय प्रशासन में पूर्णतया अव्यवहार्य है। क्षुद्र क्षेत्र में यह फलदायक हो सकता है। अधिकतम व्यक्तियों के हित के लिये राष्ट्र के बल का प्रयोग अत्यावश्यक है।

महात्मा गाँधी अहिंसा का भी अत्यधिक प्रयोग करते हैं। उनका मत है कि सभी स्थितियों में मन, वचन और कर्म से अहिंसा का पालन करना चाहिये। किन्तु मानव-स्वभाव शुभाशुभ का योग है। कभी-कभी व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समुदाय की पाप प्रकृति इतनी प्रबल हो जाती है और नैतिक व्यवस्था में उलझन उत्पन्न कर कर देती है कि उसका बल-प्रयोग और हिंसा के द्वारा दमन करना हमारा स्पष्ट कर्त्तव्य हो जाता है। सभी स्थितियों में नैतिक आग्रह काम नहीं देता। हिंसा भी मानव स्वभाव का अंश है। युद्ध-प्रवृत्ति सहजात है। इससे आत्म-रक्षण और जाति-रक्षण के जैविक प्रयोजनों की सिद्धि होती है। यह आवश्यकता अशुभ नहीं है। सुनियन्त्रित युयुत्सा-प्रवृत्ति नैतिक अधिकारों पर होने वाले आक्रमण और उनके व्यक्तिक्रम के अपसारण-पूर्वक समाज और नैतिक व्यवस्था की पुन: स्थापना में सहायता करती है। वस्तुत: सभी स्थितियों में अहिंसा न तो व्यवहार्य है और न उचित ही है। एक व्यक्ति अथवा जाति को आत्म-रक्षण के लिये दूसरे व्यक्ति अथवा जाति को क्षतिग्रस्त करना ही चाहिये। कुछ स्थितियों में हिंसा नैतिक दृष्टि से उचित होती है। महात्मा गाँधी ने नम्रता, सहानुभूति, परोपकार, आत्म-बलिदान इत्यादि कोमल गुणों के महत्व की अतिशयोक्ति की है। किन्तु साहस, आत्मप्रतिष्ठा इत्यादि पुरुषोचित्त गुण भी नैतिक जीवन में उचित स्थान रखते हैं। गाँधी जी ने पुरुषोचित गुणों को पर्याप्त महत्व नहीं दिया है, यद्यपि उन्होंने बलवान् की अहिंसा (Non-violence of the Strong) का उपदेश किया है। कुछ ही समय पूर्व उन्होंने लोगों को आत्म-रक्षण के लिये हत्या करने की अपेक्षा भीड़ के क्रोध के सामने झुक जाने की सलाह दी थी। अपने जीवन की रक्षा के हेतु मारने की अपेक्षा मर जाना अच्छा है, यह सलाह सिद्ध व्यक्ति के लिए है। यह न व्यवहार्य है, और न उचित ही है।

यह कथन कि अनशन नैतिक आग्रह का एक प्रकार है, या बल प्रयोग का एक सूक्ष्म रूप विवादास्पद है। आत्म-शुद्धि के लिये अनशन एक नैतिक साधन है। परन्तु अन्य लक्ष्य-सिद्धि के लिये नहीं। उद्देश्य की सिद्धि के लिये अनशन के द्वारा मृत्यु-वरण अवश्यमेव अनैतिक है। महान् उद्देश्य की सिद्धि के लिये मृत्यु-वरण सामान्य नैतिक नियम का अपवाद माना जा सकता है। यह विवादास्पद है कि मानवस्वभाव के पूर्ण परिवर्तन के आधार पर नई समाज व्यवस्था का विकास हो सकता है या नहीं। यह एक आदर्श है, मानव-जाति जिसकी कामना करती हैं, किन्तु इसकी प्राप्ति बुद्ध

व ईसा भी नहीं कर सके। सम्भवतया यह एक उच्च आदर्श है जो सदैव मनुष्य-जाति के उत्तमांश को प्रेरित करता रहेगा। यह आदर्श अमिट रहेगा। किन्तु पृथ्वी पर इसकी पूर्णप्राप्ति की सम्भावना अधिक नहीं। सेवा स्वार्थ-सिद्धि के स्थानापन्न प्रत्येक मनुष्य की प्रवर्तक प्रेरणा नहीं हो सकती; अहिंसा-हिंसा का उन्नमूलन नहीं कर सकती। शुद्ध मानव-प्रेम के आधार पर आश्रित समाज सदैव एक आदर्श रहेगा। व्यक्तिगत सम्पत्ति के स्थान सामान्य पूर्णरूपेण नहीं ले सकती। मानव-समाज के पुनर्गठन के लिये बल-प्रयोग, राज्य शक्ति का प्रयोग अंशतः अनिवार्य है। धनी-निर्धन वर्ग-संघर्ष इसका आवश्यक अंग है। व्यक्ति की लाभ-प्रेरणा, स्वार्थपरता और स्वकीय सम्पत्ति-प्राप्ति की वासना को अंशतः तृप्त करना पड़ेगा।

नीट्शे और गाँधी के नैतिक सिद्धान्त की तुलना

(Comparison of Nietszche's and Gandhiji's Ethical Theories)—

नीट्शे के नीति-शास्त्र का आधार जैविक है, जबकि गाँधी जी के नीति-शास्त्र का आधार आध्यात्मिक है। नीट्शे मनुष्य को योग्यतम की विजय के जैविक नियम के आधीन पशु के तुल्य समझता है। गाँधी जी मनुष्य को निर्बल के संरक्षण के जैविक नियम के अधीन एक आध्यात्मिक प्राणी, ईश्वर का अंश मानते हैं। नीट्शे शक्ति की इच्छा और स्वार्थ-पूर्ति को लक्ष्य मानता है। गाँधी जी सेवा की इच्छा और आत्म-त्याग को लक्ष्य मानते हैं। नीटशे शुभ को शक्ति का समानार्थक और अशुभ को निर्बलता का समानार्थक मानता है। वह शुभ को अशुभ आपेक्षिक जैविक प्रत्यय मानता है। गाँधी जी शुभ को सत्य का और अशुभ को मिथ्या का समानार्थक मानते हैं। वह 'शुभ' 'अशुभ', 'सत्य' 'असत्' को शाश्वत और निरपेक्ष नैतिक प्रत्यय मानते हैं। नीट्शे मार्दव, समवेदना, परोपकार, आत्म-त्याग इत्यादि कोमल गुणों (Soft Virtue) की अपेक्षा साहस, आत्मप्रतिष्ठा, सम्मान, हिंसा, स्वार्थपरता, इत्यादि पुरुषोचित गुणों (Manly Virtues) को प्राथमिकता देता है। गाँधी जी पुरुषोचित गुणों की अपेक्षा कोमल गुणों को प्राथमिकता देते हैं। नीट्शे के अनुसार पुरुषोचित गुण प्रभुओं की नैतिकता बनाते हैं और कोमल गुण दासों की नैतिकता बनाते हैं। गाँधी जी कोमल गुणों को नैतिकता बनाते हैं और हिंसा, निर्बल का शोषण, स्वार्थ साधना इत्यादि पुरुषोचित गुणों को अनैतिक मानते हैं। नीट्शे युद्ध का प्रचारक है, गाँधी जी युद्ध की निन्दा करते हैं और अहिंसा के प्रचारक हैं। नीट्शे अतिमानव अथवा अतिमानवों की जाति के विकास में विश्वास रखता है जो सम्पूर्ण संसार पर शक्ति द्वारा आधिपत्य करेगा या करेगी। गाँधी जी ऐसे अतिमानव पर विश्वास नहीं करते। वरन् वह ऐसे आध्यात्मिक संगठन के ऊपर विश्वास करते हैं जिसका आधार अहिंसा और प्रेम हो और जिसमें निर्बल का शोषण न हो। नीट्शे संसार और जीवन को नीति-शून्य मानता हैं। गाँधी जी विश्व को नैतिकता का क्षेत्र, बुद्धिमूलक और नैतिक प्रयोजन-विशिष्ट मानते हैं। नीट्शे इच्छा-स्वातंत्र्य और नैतिक शासक के रूप में ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करता है। इस प्रकार, नीट्शे की शक्ति का नीति-

शास्त्र की प्रति प्रतिज्ञा (Antithesis) है। नीट्शे के नीति-शास्त्र ने गत् महायुद्ध में जर्मनी को प्रेरणा दी थी, वही आधुनिक फासिस्ट (Fascist) दर्शन को शक्ति प्रदान करता है। गाँधीवाद ने भारतीयों को इस जातीय पुनर्जन्म के लिए प्रेरित किया। गाँधी जी का अहिंसावाद जिसका आधुनिक सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं पर प्रयोग हुआ है, मानव जाति की नैतिक विचारधारा के लिए एक महान देन है। इसने भारत की स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए महत्वपूर्ण योगदान किया, अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति में अहिंसा द्वारा जनता का आन्दोलन कार्य-कर हुआ। विश्व के इतिहास में अहिंसा, असहयोग सबलों के विरुद्ध निर्बलों के हाथ में एक प्रधान अस्त्र रहेगा परन्तु हम सन्निकट होने के कारण इसका यथार्थ मूल्यांकन नहीं कर सकते।

साम्यवादी (द्वन्द्वात्मक) जड़वाद का नैतिक सिद्धान्त
(Ethical Theory of Dialectic Materialism)

कार्ल मार्क्स (Karl Marx) और एन्जेल्स (Engles) ने द्वन्द्वात्मक जड़वाद का प्रतिपादन किया है और लेनिन (Lenin) व स्टालिन (Stalin) ने इसकी व्याख्या की है। इसके दार्शनिक पहलू की व्याख्या अन्यत्र की गई है।[1] यहाँ इसके नैतिक सिद्धान्त की ही व्याख्या की जायेगी। नीति-शास्त्र राजनीति-शास्त्र का अंग है और राजनीति में 'वर्ग-युद्ध के प्रत्यय का प्रमुख स्थान है'।[2]

लगभग एक शताब्दी पहले पूँजीवाद (Capitalism) के विरुद्ध आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक आन्दोलन के रूप में साम्यवाद का प्रारम्भ हुआ। ईश्वर-वादी आदर्शवाद के स्थान पर इसमें 'द्वन्द्वात्मक जड़वाद' (Dialectic Materialism) का प्रतिपादन किया गया, लेकिन इसमें एक क्रम-बद्ध नैतिक सिद्धान्त का स्पष्ट रूप विकसित नहीं हो सका। यहाँ पर साम्यवाद में निहित नैतिक विचारों की व्याख्या की जायेगी।

'द्वन्द्वात्मक जड़वाद' अनुभववाद से सम्बन्धित है। इसलिये यह 'अपरोक्ष-अनुभूतिवाद' और 'आत्मवाद' के नैतिक सिद्धान्तों का विरोधी है। अपरोक्ष-अनुभूतिवाद यह मानता है कि क्रियाओं के सत् या असत् होने का ज्ञान व्यक्ति को 'अपरोक्ष-अनुभूति' के रूप में होता है। अपरोक्ष-अनुभूति वाह्य-ज्ञानेन्द्रियों से होने वाला प्रत्यय नहीं है। आत्मवाद व्यक्ति की क्रियाओं का नैतिक मूल्यांकन उसके भावों, संवेगों और भावात्मक प्रतिक्रियाओं के रूप में करता है। मार्क्सवादी विचारक मूल्यों के सम्बन्ध में संवेगों को स्थान नहीं देते। वे नास्तिक हैं। इसलिये ये किसी दैवी नियम को नैतिक माप-दण्ड मानने का विरोध करते हैं। ये अन्तःचेतना के नियमों को, जिन्हें 'मनुष्य में ईश्वर की आवाज' माना जाता है, स्वीकार नहीं करते और न ही ये व्यावहारिक बुद्धि या विवेक के निरपेक्ष आदेश को ही नैतिक-नियम मानते हैं। ये अन्तःचेतना और व्यावहारिक बुद्धि को पूँजीवादी समाज का व्यक्तिगत पहलू समझते हैं। मार्क्सवादी प्राकृतवादी (Naturalistic) और बाह्यार्थवादी है।

साम्यवादी नीति-सिद्धान्त में दो विचार-तत्व निहित हैं। जी॰ एफ॰ होर्नी (G. F. Hourni) के अनुसार इन दोनों विचारों में कोई सगति नहीं है।

(१) नैतिक माप दण्ड वही हो सकता है जो आर्थिक-विकासक्रम में अनुकूल हो। समय के साथ पुरानी बातों का समाप्त होना और नई बातों का उत्पन्न होना

1. पश्चिमी दर्शन।
2. Mackinnon : *A Study in Ethical Theory*, p. 48.

यही विकास-क्रम का नियम है। इस समय वर्ग-हीन समाज (Classless Society) की स्थापन को लक्ष्य बनाना उचित है क्योंकि आर्थिक विकास की आगामी अवस्था यही होगी। जिस प्रकार "सामन्तशाही" (Fedualism) समाज के स्थान पर पूँजीवादी समाज की स्थापना हो सकती है। कोई भी सामाजिक व्यवस्था अपरिवर्तनीय नहीं है। निजी सम्पत्ति, जमींदारों द्वारा किसानों का शोषण और मजदूरों का पूंजीपतियों द्वारा शोषण ये 'सनातन सिद्धान्त' नहीं हैं।[3] वर्ग-हीन समाज में उपभोग की वस्तुओं की अधिक उत्पत्ति होगी और उनका उपभोग भी अधिक होगा। इस प्रकार साधारण जनता के रहन-सहन के स्तर में सुधार होगा। इसलिये इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये आर्थिक विकास करना उन्नति का मार्ग प्रशस्त करना है और इस लक्ष्य से मुंह मोड़ना मानव विकास का विरोध करना है।[4]

(२) मार्क्सवादी विचारधारा में एक और विचार-तत्व है जो पहले विचार-तत्व का विरोधी है। "सत्कर्म का माप-दण्ड, उसका मानव कल्याण में सहायक होना अर्थात् सभी व्यक्तियों को पूर्णता की सम्भावनाओं की अधिकतम प्राप्ति करना है।"[5] जी० एफ० होर्नी नैतिक आदर्श के सम्बन्ध में मार्क्स के विचारों का वर्णन करते हुए कहते हैं, "मानव कल्याण, अर्थात् सभी व्यक्तियों के पूर्ण जीवन की सम्भावनाओं का अधिकतम विकास, नैतिक शुभ का माप-दण्ड है"।[6] यह मानव की भौतिक और मनोवैज्ञानिक प्रकृति तथा उसके सामाजिक इतिहास के अनुकूल है। इसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। मार्क्सवाद मुख्यत: इस आदर्श की प्राप्ति से सम्बन्धित है। मानव की विभिन्न शक्तियों के विकास के लिये उपयोगी वस्तुओं के उत्तरोत्तर अधिक से अधिक उत्पादन और उनके समुचित वितरण द्वारा मानव जीवन का भौतिक स्तर ऊँचा करना ही लक्ष्य है। एच० सेलशम (H. Selsham) के शब्दों में, "मार्क्सवादी नीति-शास्त्र में यह स्वीकार किया जाता है कि मजदूर वर्ग की आवश्यकतायें और आदर्श वही हैं जो सम्पूर्ण मानव जाति के हैं।"[7]

मार्क्स की यह मान्यता है कि मानव का नैतिक जीवन भौतिक सामग्री के उत्पादन के ढंग पर निर्भर है। नैतिकता उपभोग-योग्य वस्तुओं के उत्पादन की आर्थिक प्रणाली का फल है। अगर उत्पादन पर एक विशेष वर्ग का आधिपत्य है तो इसमे वर्ग-नीति या बुर्जुआ (Burgeousie) पूर्वाग्रहों का जन्म होगा। यदि जनता अपने उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन पर स्वयं अधिकार रखती है तो इसमे समाज-वादी नैतिकता का जन्म होगा। उत्पादन की आर्थिक प्रक्रिया में से ही नैतिक विचार और नैतिक आदर्श उत्पन्न होते हैं। नैतिक विचार तो वर्ग युद्ध के साधन हैं

3. J. Stalin : Dialectical and Historical Materialism New York, 1940, p 13
4. H Selsham : Socialism and Ethics, New York 1947 p. 106.
5. Hourni : Ethical Value p. 186.
6. Hourni : Ethical Value p. 186.
7. "H Selsham : *Socialism and Ethics*. pp 117 96.

उत्पादन की पूँजीवादी प्रणाली जिसमें बुर्जुआ लोगों के प्रति पूर्वाग्रह शामिल होते हैं और जिससे पूंजीपतियों के हित सुरक्षित रहते हैं पूंजीवादी नैतिकता को जन्म देती है। नृशंस सामाजिक क्रान्ति (Revolution) और रक्तपात द्वारा इसके स्थान पर समाजवादी नैतिकता की स्थापना करती है। सर्वहारा वर्ग जब तक वर्ग युद्ध द्वारा पूंजीवादी उत्पादन की प्रणाली, निर्दयता और अन्याय को समाप्त नहीं करता तब तक उसका उत्पादन की प्रणाली पर अधिकार नहीं हो सकता। मजदूरों का हित समाज का हित है। वर्गहीन समाज की स्थापना अवश्यम्भावी वर्ग-युद्ध (Class War) द्वारा होगी।[8]

मार्क्स की यह मान्यता है कि साधनों का औचित्य लक्ष्य के औचित्य पर निर्भर है। वह उद्देश्य और साधनों की एक व्यवस्था को समाप्त कर दूसरी व्यवस्था लागू करना चाहता है। जिस मार्ग में कम हिंसा और कष्ट हो उसी का अनुसरण करना चाहिये। वर्ग-हीन समाज की स्थापना के लिये वर्ग युद्ध आवश्यक है। शोषण वर्ग को समाप्त कर उसके स्थान पर मजदूर वर्ग की तानाशाही स्थापित होना आवश्यक है। इसमें हिंसा और कष्ट भी अवश्य होगा।[9]

मार्क्सवादी नैतिक सिद्धान्त की आलोचना---मार्क्स और एन्जेल्स ने द्वन्द्वात्मक जड़वाद के सिद्धान्त को अपने आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक आन्दोलन का आधार बनाया। उसके अनुसार मन और प्राण यह पहले पुग्दल (Matter) और गति का अस्तित्व है, संकल्प की स्वतन्त्रता नहीं है। मानव की क्रियायें आर्थिक शक्तियों से निर्धारित होती हैं यह अपने वातावरण के वशीभूत हैं। इतिहास आर्थिक कारणों पर निर्भर नहीं है। यह अर्थनैतिक नियन्त्रणवाद (Economic Determinism) है। संकल्प-स्वातन्त्र्य को स्वीकार न करना नैतिकता पर कुठाराघात करना और उसकी सम्भावना को समाप्त करना है।

(१) यद्यपि मार्क्स और एन्जेल्स विकासवाद को मानते हैं, लेकिन वे हर्बर्ट स्पेन्सर की तरह निरपेक्ष नीति (Absolute Ethics) में विश्वास नहीं रखते। वे समाज वर्ग-संघर्ष की वर्तमान अवस्था में नैतिकता का होना स्वीकार करते हैं। समाज में सक्रिय आर्थिक शक्तियों से नैतिकता का माप-दण्ड निर्धारित होता है। आर्थिक और ऐतिहासिक तत्वों से इसे अलग नहीं किया जा सकता।

यद्यपि मानव के आचरण पर उसके वातावरण का प्रभाव पडता है लेकिन यह कहना अनुचित है कि मानव पूर्णरूप में इससे नियन्त्रित है। उसमें अपने उच्च आदर्शों के अनुसार वातावरण में सुधार करने की ओर अपने समाज के नैतिक आदर्शों से भी ऊँचा उठने की शक्ति है। बुद्ध, ईसा, मौहम्मद और सभी महान् सुधारक इस सत्य के प्रमाण हैं। ऐसे साधारण व्यक्ति भी, जिनमें विवेक है और अपने सिद्धान्तों में अटल विश्वास है बहुत से प्रचलित विचारों का विरोध करते

8. T. E. Hill, *Contemporary Ethical Theories*, pp. 144–45.
9. Somerville, *Soviet Philosophy*, p. 95. *Ethical Value*. pp. 184-89.

हैं, तथा यह सिद्ध करते हैं कि वे अपनी परिस्थितियों के दास नहीं हैं, उनमें किसी नयी बात आरम्भ करने और क्रिया का चुनाव करने की स्वतन्त्रता भी है।

(२) मार्क्सवाद का लक्ष्य "मानव जीवन का आर्थिक स्तर ऊँचा करना है।" जहां तक इस लक्ष्य का सम्बन्ध है, इसके विरुद्ध कोई आपत्ति नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को समुचित मात्रा में भोजन, वस्त्र और रहने के लिये मकान मिलना चाहिए। भूमि-हीन कृषकों और मजदूरों को पूँजीवादी समाज में ये चीजें भी प्राप्त नहीं होतीं। तथापि यह सत्य स्मरण रखना चाहिये कि मनुष्य सिर्फ मांस और रक्त का पुतला नहीं है और वह भोजन, वस्त्र और मकान की पर्याप्त सुविधायें मिलने मात्र से ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता। यद्यपि मनुष्य के लिये भौतिक सुख-साधन भी आवश्यक हैं लेकिन ये तो केवल साधन के रूप में ही मूल्यवान् हैं। इससे मानव आत्मा पूर्णरूप से तृप्त नहीं हो सकती।

अपनी आत्मा की उच्च आकांक्षाओं की सन्तुष्टि के लिये मनुष्य ज्ञान और संस्कृति, सदाचार, सौन्दर्य तथा अन्य साध्य-मूल्यों की प्राप्ति से लिये भी प्रयत्न करता है। 'मानव की विविध शक्तियों के विकास' की जो बात कहता है उसका अर्थ मानव की बौद्धिक, नैतिक, भावात्मक और धार्मिक शक्तियों का विकास करना ही है। मानव की प्रकृति के विषय में मार्क्स का विचार संकुचित और अपूर्ण है। यह कथन तो उचित है कि मनुष्य को पहले शारीरिक और आर्थिक मूल्यों का आनन्द मिलना चाहिये और उसके बाद साध्य मूल्यों का, क्योंकि साधन मूल्यों के बिना साध्य-मूल्यों की प्राप्ति नहीं हो सकती, फिर भी मानव जीवन में साध्य-मूल्यों के महत्व की उपेक्षा कदापि नहीं की जा सकती।

(३) मार्क्सवादियों के विचार में लक्ष्य (End) की अच्छाई से ही साधनों (Means) की अच्छाई सिद्ध होती है। यहां उनकी विचारधारा व गाँधी जी की विचारधारा में विरोध है। आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक आन्दोलनों के सबध में यह कहा जा सकता है कि लक्ष्य अच्छा है तो साधन भी अच्छे हैं लेकिन नैतिक क्षेत्र में लक्ष्य की अच्छाई से ही साधन की अच्छाई निश्चित नहीं होती। अच्छे लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अच्छे साधनों का भी होना आवश्यक है। राजनीति और अर्थशास्त्र भी नीतिशास्त्र के अनुसार होने चाहिये। सर्वसम्पन्न राज्य राजनीति का लक्ष्य होना चाहिये और सभी व्यक्तियों की भलाई अर्थशास्त्र का।

मार्क्सवादी वर्गहीन समाज की स्थापना के लिए हिंसा, युद्ध और क्रांति को आवश्यक साधन मानते हैं, लेकिन गांधी जी के विचार में विकासात्मक क्रांति और अहिंसामूलक सहयोग द्वारा वर्गहीन समाज की स्थापना हो सकती है। गांधी जी के सिद्धान्त की व्यावहारिक उपयोगिता चाहे सन्देह पूर्ण हो लेकिन नैतिक दृष्टि से निस्सन्देह ही यह मार्क्स के सिद्धान्त से अधिक परिष्कृत है।

(४) मार्क्सवादियों, लेनिन (Lenin) और स्टालिन (Stalin) ने वास्तविक व्यवहार में व्यक्तियों को चिन्तन, विचार-प्रकाशन और संगठन बनाने की स्वतन्त्रता

का अधिकार नहीं दिया और उनके भौतिक सुख की निश्चित व्यवस्था करने के लिये अधिनायक-तंत्र (Dictatorship) की स्थापना की। व्यक्तियों के भौतिक आराम में अधिक से अधिक वृद्धि करने के उद्देश्य से उनकी स्वतन्त्रता को कम से कम करना या समाप्त करना एक अनिश्चित और खतरनाक विधि है। विचार की स्वतन्त्रता समाप्त करना सभ्यता के लिये सर्वथा घातक है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता और प्रभुत्व इतने पवित्र हैं कि उनकी सर्वशक्तिसम्पन्न राज्य की वेदी पर बलि नहीं दी जा सकती।

(५) यद्यपि मार्क्सवादियों का यह कथन है कि, "मानव कल्याण अर्थात् सभी व्यक्तियों के पूर्ण जीवन की सम्भावनाओं का अधिकतम विकास" उनका लक्ष्य है, लेकिन वास्तविक व्यवहार में उनका उद्देश्य बुर्जुआ लोगों को समाप्त कर सर्वहारा की तानाशाही (Dictatorship of the Proletariat) स्थापित करना है।[10]

वे मजदूरों की तानाशाही को ही प्रजातन्त्र समझते हैं। गांधी जी के अनुसार, सभी व्यक्तियों की सम्वृद्धि (सर्वोदय) और सुख उद्देश्य हैं, जिसे विश्व-प्रेम की भावना पर आधारित अहिंसामूलक विकासात्मक क्रांति द्वारा प्राप्त करना चाहिये। निस्सन्देह गांधी जी का आदर्श मार्क्सवाद से अच्छा है।

इन दोषों के होते हुये भी, मार्क्सवाद वर्तमान युग की एक महान् शक्ति है और इसकी मानव-समाज के पुनःनिर्माण में यह एक महत्वपूर्ण देन है। इसने समाजवाद के स्वप्न को यथार्थ कर दिखाया है।

10. Mackinnon : *A Study in Ethical Theory*, 147–148. 48–49.
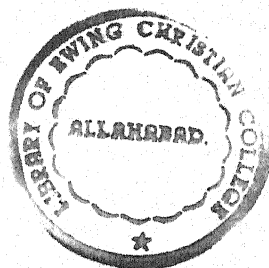
१९ तार्किक प्रत्यक्षवादियों का भाववादी (संवेगवाद)

(१) ए० जे० आयर का भाववाद (A. J. Ayer's Emotive Theory)—

आर० कारनप (R. Carnap) और ए० जे० आयर (A. J. Ayer) आदि तार्किक-प्रत्यक्षयादियों (Logical Positivist) के अनुसार 'सत्' और 'असत्' शब्द कर्म के किसी वाह्य गुण को अभिव्यक्त नहीं करते, परन्तु वक्ता की भावात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। वे केवल वक्ता की भावात्मक प्रतिक्रिया (Emotional Attitudes) को प्रकट करते हैं या श्रोता के मन में समान भावों को जाग्रत करते हैं। यह वर्णनात्मक शब्द नहीं हैं और कोई ऐसा तथ्य नहीं बताते जो आवश्यक रूप में या तो 'सत्य' हो या 'असत्य' हो।

आर० कारनप के शब्दों में, "केवल गणित और अनुभवाश्रित विज्ञानों के वाक्य ही सार्थक होते हैं, शेष निरर्थक होते हैं।"[1] सभी सार्थक वाक्य या तो अनुभव पूर्व होते हैं या अनुभवाश्रित उपकलनायें होते हैं। अनुभवपूर्व कथन पुनरुक्ति मात्र होते हैं। अनुभवाश्रित उपकल्पनायें तथ्यों के निरीक्षण के आधार पर बनाई जाती हैं, और निरीक्षण द्वारा उनकी परीक्षा की जा सकती है। नीति-सम्बन्धी वाक्य न तो अनुभव-पूर्व ही होते हैं और न अनुभवाश्रित उपकल्पनायें ही। वे निर्णय ही नहीं होते क्योंकि वे किसी के विषय में किसी बात का कथन नहीं करते। वे देखने में ही निर्णय-वाक्य लगते हैं। कारनप ने उन सबको आदेश माना है। 'सत्य बोलना अच्छा है।' इसका अर्थ यह है कि 'सत्य बोलो' नीति-सम्बन्धी निर्णय-वाक्य' प्रेरणा प्रदायक (Prescriptive) होते हैं।[2]

ए० जे० आयर ने 'वास्तविक नीति-सम्बन्धी निर्णय-वाक्य' और किसी निश्चित कर्म करने के आदेश में भेद किया है। 'तुम्हें सच बोलना चाहिये'। इस कथन का यह अर्थ हो सकता है कि 'सच बोलो'। परन्तु सभी नीति-सम्बन्धी निर्णय-वाक्यों का आदेश अर्थ नहीं लगाया जा सकता। 'सत्य बोलना सत् है।' इसका अर्थ यह है कि सत्य बोलना वक्ता को पसन्द है। 'झूठ बोलना बुरा है।' इसका अर्थ यह है कि झूठ बोलना वक्ता को अप्रिय है। 'नीति-सम्बन्धी निर्णय-वाक्य वक्ता की पसन्द के या उसकी नापसन्द के भावों को प्रकट करते हैं, या वे सुनने वाले के मन में ऐसे ही संवेग उत्पन्न करते हैं। ये कथन कर्म के किसी बाह्य गुण का वर्णन नहीं करते। ये उसके नैतिक गुणों का वर्णन नहीं करते। कर्म का कथन करने के अतिरिक्त ये उसके विषय में और कुछ नहीं कहते। या तो ये वक्ता के प्रिय या अप्रिय संवेगों को प्रकट करते हैं, या सुनने वाले में ऐसे ही सवेग उत्पन्न करते हैं। इसके अतिरिक्त

1. Philosophy and Logical Syntax, 1935, p. 36.
2. वही पुस्तक, पृष्ठ २३–२५।

इनका और कोई अर्थ नहीं होता।[3] "आयर जहाँ इस अपरिष्कृत को स्वीकार नहीं करता कि सभी नीति-सम्बन्धी निर्णय आदेश होते हैं, वहाँ वह कारनप से इस बात में सहमत है कि यद्यपि वास्तविक निर्णय की दो विशेषतायें होती हैं—अपने मन की अवस्था को प्रकट करना और किसी के विषय में कुछ कहना, नैतिक निर्णय किसी के विषय में कुछ नहीं कहते और एक विषय आचरण के प्रति अपनी पसन्द या दूसरों से भी वैसा आचरण करने की अपनी अभिलाषा को प्रकट करते हैं।"[4]

आयर के विचार में वस्तु-सम्बन्धी किसी भी ऐसे कथन (Factual Statement) का, ज्ञान की दृष्टि से, कोई अर्थ नहीं होता जिसकी निरीक्षण द्वारा परीक्षा हो सके। जिस कथन की निरीक्षण द्वारा परीक्षा नहीं हो सकती वह पुनरुक्ति-मात्र (Tantologous) होता है। नीति-सम्बन्धी निर्णण-वाक्यों की निरीक्षण द्वारा परीक्षा नहीं हो सकती, क्योंकि 'सत्' और 'असत्' का निरीक्षण सम्भव नहीं है। उन्हें अपरोक्ष अनुभूति द्वारा भी नहीं जाना जा सकता, क्योंकि जिन विविध नैतिक निर्णयों को अपरोक्ष अनुभूति पर आधारित माना जाता है वे एक दूसरे के विरोधी होते हैं। नीति की भाषा में या तो भाव और संवेग व्यक्त होते हैं या आदेश व्यक्त होते हैं। वह इसके साथ यह बात भी जोड़ देता है कि नीति की भाषा का उद्देश्य सुनने वालों में भाव या संवेग उत्पन्न करना और उन्हें किसी भी विशेष क्रिया को करने के लिये प्रेरित करना है।[5] नीति की भाषा का प्रयोग भावात्मक (Emotive) या निर्देशात्मक (Prescriptive) होता है। आयर ने कहा है, "नीति-सम्बन्धी वाक्यों के विधेय वास्तविक नहीं होते, जिस स्थिति से इनका सम्बन्ध होता है उसकी किसी विशेषता को ये वाक्य प्रकट नहीं करते।"[6] नैतिक निर्णय संवेगों की अभिव्यक्ति मात्र होते हैं। इनका और कोई ज्ञान-ग्राह्य अर्थ नहीं होता। न वे सच होते हैं और न गलत ही होते हैं। अन्य तार्किक प्रत्यक्षवादियों के अनुसार, "नैतिक निर्णय आवेश, अभिलाषा या विस्मयबाधक कथन होते हैं; वे वास्तव में निर्णय ही नहीं होते क्योंकि उनसे किसी तथ्य के विषय में कोई ज्ञान प्राप्त नहीं होता।"

आयर ने यह अनुभव किया कि वस्तु-सम्बन्धी शब्दों (Naturalistic Terms) में 'नैतिक बाध्यता' की व्याख्या करने के सभी प्रयत्न असफल रहे हैं और 'सत्' और 'शुभ' के विषय में दिये गये सभी तर्क अनिर्णीत रहे हैं। अत: उसने इनकी व्याख्या के लिये 'भाववाद' का प्रतिपादन किया।' यदि नीति-सम्बन्धी शब्द वर्णनात्मक होते तो नीति के प्रश्नों के सम्बन्ध में दिये गये तर्क अनिर्णीत नहीं हो

3. A. J. Ayer, *Language, Truth and Logic*, 1936, pp. 150–58.
4. Ross, *Foundations of Ethics*, p. 34, A. J. Ayer, *Language, Truth, and Logic*, pp. 254–55.
5. Ibid, p. 108.
6. Quoted in *Introduction to Ethics*, p. 348.

सकते थे।[7]

तार्किक प्रत्यक्षवादी या अनुभववादी (Logical Empiricists) 'सत्', 'नैतिक-बाध्यता' और 'शुभ' आदि नीति मूलक शब्दों को अनुभव से असम्बन्धित मानते हैं क्योंकि अनुभव की भाषा में इनकी परिभाषा सम्भव नहीं है। कुछ कर्मों के प्रति सामाजिक या असम्मति अथवा उनके वैधानिक महत्व के अतिरिक्त ये और कुछ नहीं हैं। वे क्रियाओं की अलौकिक विशेषतायें नहीं हैं। लोग कुछ कर्मों के प्रति कुछ संवेग अनुभव करते हैं और अभिलाषा करते हैं कि अन्य लोग भी उनके प्रति वैसे ही संवेग अनुभव करें। वे अपने इन संवेगों को 'सत्' 'असत्', 'नैतिक-बाध्यता', 'कर्त्तव्य' 'उत्तरदायित्व' आदि शब्दों द्वारा वाक्यों में प्रकट करते हैं। इन वाक्यों का अर्थ निकालते समय यह समझना चाहिये कि वक्ता के मन में कुछ भाव हैं जिन्हें वह इन वाक्यों से प्रकट करता है। सभी 'मूल्य-वाचक शब्द' (Value Words) वक्ता के मन के भाव को प्रगट करते हैं।[8] 'अच्छा', 'बुरा', 'मूल्यवान', 'बहुत सुन्दर', 'अद्भुत' आदि ऐसे शब्द हैं, जिनका अर्थ संवेगमय होता है जो वक्ता की भावात्मक प्रतिक्रिया को व्यक्त करते हैं। जो कथन मूल्यों को किसी अलौकिक अर्थ में व्यक्त करते हैं, वे असल में अर्थहीन होते हैं।

बर्टण्ड रसल (Bertrand Russel) के नीति-सम्बन्धी कुछ विचार तार्किक प्रत्यक्षवादियों के भाववाद से मिलते हैं। उसने अपने ये विचार "धर्म और विज्ञान" में व्यक्त किये हैं जिनकी भूमिका वह अपनी "एक स्वतन्त्र मनुष्य की पूजा" में बना चुका था। उसके अनुसार नैतिक निर्णय बाह्यार्थ-वाचक (Objective) नहीं होते, परन्तु पूर्ण रूप में संवेगमूलक होते हैं। क्योंकि 'औचित्य और अनौचित्य' बाह्य विशेषतायें नहीं हैं, अतः वे किसी भी नियम के अनुसार निश्चित नहीं हो सकती और इनके विषय में यह भी नहीं माना जा सकता कि ये व्यक्ति की अन्तरात्मा से निश्चित होती हैं क्योंकि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की अन्तरात्मा भिन्न-भिन्न निर्णय देती है और इन निर्णयों में विरोध होता है और व्यक्ति की अन्तरात्मा भी अचेतन इच्छाओं से निर्धारित होती है।[9] रसल की यह मान्यता है कि मूल्य-मूलक निर्णय (Value Judgements) हमारे संवेग को अभिव्यक्त करते हैं और सवेगों से अतिरिक्त किसी बाह्य तथ्य को प्रगट नहीं करते। यह व्यक्ति की इस इच्छा को प्रगट करते हैं कि अन्य व्यक्तियों में भी ऐसी ही इच्छा हो। जब एक व्यक्ति कहता है,

---

7. Ayer, *Language, Truth and Logic*, pp. 20–22, 35, ff, 85, 102–14; *Ethical Value*, pp. 22–23.
8. Ayer, A. J.: *Language, Truth and Logic*, 1948, Ch. VI.
   Carnap, R.: *Philosophy and Logical Syntax*, 1945, pp. 22–26;
   Stevenson, C. L., *Ethics and Language*, 1945, Ch. II, VII and IX.
   L. Garvin: *A Modern Introduction to Ethics*, Ch. V.
9. *Religion and Science*, 1935, p. 227.

'सौन्दर्य शुभ है' तो वह अपनी इच्छा को प्रकट करता है कि अन्य भी सौन्दर्य से प्रेम करें। मूल्य-मूलक निर्णय किसी के विषय में कुछ नहीं कहते, अपितु अभिलाषा अभिव्यक्त करते हैं, और क्योंकि ये किसी के विषय में कुछ नहीं कहते इसलिये इन्हें सच या गलत नहीं कहा जा सकता।[10] सी० एल० स्टीवेन्सन (C. L. Stevenson) ने भी यह माना है कि नैतिक शुभ जैसे 'शुभ', 'अशुभ', 'सत्', 'असत्' तीव्र भावों को व्यक्त करते हैं। वे स्रोतों में भावों की प्रतिक्रिया उत्पन्न करते हैं। 'सत्य-कथन' शुभ है। यह वाक्य स्रोतों में अनुमोदन के भाव या झुकाव को उत्पन्न करता है। यह वर्णात्मक नहीं है जैसे 'पत्थर भारी है'। 'शुभ' मुख्यतया एक गुण का नाम नहीं। नैतिक शब्द वस्तुओं के गुण या क्रियाओं के नाम नहीं, परन्तु संवेगों (Emotions) या झुकाव (Attitude) को व्यक्त करते हैं। स्टीवेन्सन 'झुकाव' शब्द को पसन्द करता है, क्योंकि इसमें 'उद्देश्य, इच्छायें, आवश्यकतायें, आकांक्षायें, समाविष्ट है'।[11]

(२) एच० जे० आयर के भावभेद की आलोचना
(Criticism of H. J. Ayer's Emotional Theory)

(१) आयर का भाववाद जहाँ तक 'नैतिक संवेदनवाद' की भाँति इस बात पर बल देता है कि नैतिक निर्णयों के साथ नैतिक संवेग या भाव जुड़े रहते हैं और प्रायः नैतिक निर्णयों में नैतिक संवेगों का प्रधान स्थान होता है वहाँ तक यह ठीक है। परन्तु यह नैतिक संवेदनवाद की तरह यह नहीं मानता कि नैतिक निर्णय नैतिक सवेगों पर निर्भर होते हैं जो कर्म से उत्पन्न होते हैं और जो कर्म की अच्छाई या बुराई को प्रकट करते हैं। इसके विपरीत, यह सिद्धान्त यह मानता है कि नीति-सम्बन्धी सभी कथन अर्थहीन होते हैं, न वे सच होते हैं ओर न गलत ही। सभी सार्थक निर्णय-वाक्य या तो निरीक्षण द्वारा परीक्षा के योग्य होते हैं या वे पुनरुक्ति-मात्र होते हैं। नीति-सम्बन्धी निर्णय-वाक्य इनमें से किसी में नहीं आते। ये संवेगों के प्रकाशन-मात्र होते हैं और इनका बुद्धिगम्य कोई अर्थ नहीं होता।

(२) क्रियाओं की अच्छाई और बुराई नैतिक अपरोक्ष अनुभूति के रूप में ज्ञात होती है और लोग इस ज्ञान को ठीक मानते हैं। अथवा नैतिक मापदण्ड के अनुकूल या प्रतिकूल होने के अनुसार इनका ज्ञान अनुमान द्वारा प्राप्त किया जाता है। सच बोलना, ब्रह्मचर्य, संयम और परोपकार सम्बन्धी क्रियाओं को अच्छा समझा जाता है। झूठ बोलना, पर-स्त्री-गमन, असयम, निर्दयता और हत्या करना बुरा समझा जाता है। सामाजिक और नैतिक जीवन इन्हीं निर्णयों की सत्यता पर आश्रित है। इन्हें अर्थहीन कहना नैतिक शंकावाद (Moral Scepticism) होगा जिससे सामाजिक और नैतिक जीवन ही असम्भव हो जायेगा। नीति-शास्त्र का

---

10. Ibid, pp. 234–43; T. E. Hill, *Contemporary Ethical Theories*, pp. 13–15.
11. *Ethics and Language*, p. 3. S. Link, *The Concepts of Ethics*. 1962, p. 10.

कार्य समाज में प्रचलित नैतिक प्रत्ययों को स्पष्ट करना, उनकी समालोचना करना और उन्हें सुव्यवस्थित करना है, नैतिकता को समाप्त करना नहीं। यद्यपि नैतिक निर्णयों के साथ नैतिक संवेग जुड़े रहते हैं, परन्तु यह कहना उचित नहीं है कि इनका ज्ञान-गम्य कोई अर्थ ही न होता हो। ये निर्णय संकल्पजन्य क्रियाओं पर विवेक बुद्धि द्वारा दिये जाते हैं और इसी से इन्हें अच्छा बुरा समझा जाता है। भाववाद विवेक-बुद्धि निर्णयों का विरोध करता है और हमारे सामाजिक और नैतिक जीवन पर कुठाराघात करता है। यह नैतिकता को आत्मगत (Subjective) और सापेक्ष (Relative) बना देता है, यद्यपि इस बात को स्पष्ट शब्दों में प्रकट नहीं करता। यदि एक व्यक्ति के किसी कर्म की अच्छाई या बुराई उसके प्रति उसके मन में उत्पन्न होने वाले अनुकूल या प्रतिकूल संवेगों में निर्भर है तो नैतिकता आत्मगत और सापेक्ष बन जायेगी जैसा कि सोफिस्ट (Sophists) मानते थे। इसलिये भाववाद युक्तिसंगत और तर्क-सम्मत नहीं।

(३) भाववाद इसलिये भी मान्य नहीं है, कि नैतिक पद, चाहे वह क्रियापद हो (जैसे—करना चाहिये) या विधेय हो, (जैसे—'अच्छा', 'बुरा') जिन वाक्यों में प्रयुक्त होते हैं वे तथ्यवाचक रूप में होते हैं। यह वाक्य कि 'वह अच्छा मनुष्य था' एक वर्णात्मक वाक्य है, जो एक व्यक्ति के नैतिक गुणों को प्रकट करता है। यदि आयर ने यह माना है कि ये वाक्य असल में वर्णात्मक नहीं होते परन्तु ये हमें वर्णनात्मक लगते हैं तो उसे इस बात को स्पष्ट करना चाहिये कि वर्णनात्मक न होते हुये भी ये वर्णनात्मक क्यों लगते हैं। तार्किक प्रत्यक्षवादी इसका कोई कारण नहीं बताते। अपनी इस बात को सिद्ध करने के लिये, कि नैतिक निर्णय वाक्यों का कोई अर्थ नहीं होता, वे कोई तर्क नहीं देते। मूल्यों के प्रत्यय के बिना, जो तथ्य से भिन्न हैं, नैतिक पदों को समझा ही नहीं जा सकता। अतः भाववाद को स्वीकार नहीं किया जा सकता।[12]

(४) यदि जिन कथनों में 'करना चाहिये' 'सत्' आदि शब्द आते हैं वे किसी बाह्य विशेषता को प्रगट नहीं करते और पसन्द के भावों को ही प्रकट करते हैं तो इनमें कोई विरोध नहीं होना चाहिये और किसी को भी इनके विषय में बहस नहीं करनी चाहिये। परन्तु प्रायः लोग इनके विषय में भी बहस करते हैं, और अपने पक्ष का समर्थन करने के लिये और विपक्ष का खण्डन करने के लिये तर्क देते हैं। यदि नीति-सम्बन्धी कथनों का कोई अर्थ न होता तो लोग क्यों इनके पक्ष या विपक्ष में तर्क देते और यदि नीति-सम्बन्धी कथन न सच होते और न गलत होते तो गलत नैतिक धारणाओं और विचारों को त्याग सत्य नैतिक विचारों को अपनाना भी सम्भव न होता। अतः नैतिक उन्नति असम्भव होती।[3] भाववाद नैतिक आत्मगत-वाद (Subjectivism) तथा नैतिक सापेक्षवाद है।

12. T. E. Hill: *Ethics in Theory and Practice*, pp. 27-31.
13. L. Garvin: *A Modern Introduction to Ethics*, 1953, Ch.

तार्किक प्रत्यक्षवादी इन आक्षेपों का इस प्रकार उत्तर देते हैं। यद्यपि भावों के प्रकाशन के रूप में नैतिक निर्णयों में कोई विरोध नहीं होता फिर भी इनमें विरोध हो सकता है। यह विरोध व्यक्तियों के भावात्मक दृष्टिकोण का विरोध है। उनके विश्वासों या निर्णयों का विरोध नहीं। जब हमें लोग अपने नैतिक कथनों के पक्ष में तर्क देते हुये प्रतीत होते हैं तब वे अपनी भावात्मक दृष्टियों के पक्ष में तर्क दे रहे होते हैं। जब हमें ऐसा प्रतीत होता है कि नैतिक उन्नति हो रही है, तब यह नहीं होता कि असत्य विश्वासों और विचारों को छोड़कर लोग सत्य विश्वासों और विचारों को अपनाते हों। जिसे हम नैतिक उन्नति कहते हैं वह नैतिक विश्वासों और विचारों में परिवर्तन नहीं है परन्तु लोगों के भावात्मक दृष्टिकोण में परिवर्तन है।

हमें इन तर्कों की बहुत बारीकियों में जाने की आवश्यकता नहीं है। यह ध्यान में रखना ही पर्याप्त है कि नीति के सम्बन्ध में भाववाद, नैतिक आत्मगतवाद और नैतिक संदेहवाद का रूप लेता है जो नीति का विनाशक है।

(५) आयर ने यह स्वीकार नहीं किया है कि नैतिक निर्णय वास्तव में निर्णय होते हैं। वह उन्हें व्यक्ति की पसन्द और नापसन्द का प्रकाशन समझता है। डब्ल्यू० डी० रौस (W. D. Ross) ने कहा है, "यदि जैसा वह (आयर) कहता है वैसे ही ये निर्णय होते हैं, तो इनके विषय में बहस ही क्यों करते हो? हम सिद्ध क्या करना चाहते हैं? क्या 'अ' इसलिये तर्क देता है कि वह यह सिद्ध करना चाहता है कि उसे अमुक कर्म पसन्द है और 'ब' अपने तर्कों से यह सिद्ध करना चाहता है कि वह कर्म नापसन्द है। स्पष्टतया: ऐसा नहीं है। अपने तर्कों से ये जो बात सिद्ध करना चाहते हैं वह यह कि उस कर्म को पसन्द करना या नापसंद करना उचित है। दूसरे शब्दों में, उस कर्म की अपनी विशेषता है जिसके कारण उसे पसन्द करना या नापसन्द करना, उसे अच्छा कहना या बुरा कहना उचित है।[14] अत: नीति के सम्बन्ध में भाववाद मान्य नहीं हैं।

(६) भाववाद के अनुसार नैतिक निर्णय आत्मगत हैं; इनके पक्ष में युक्तियां प्रयुक्त नहीं होतीं, इनके बाह्यार्थ-मूलक अर्थ नहीं होते। परन्तु वस्तुत: नैतिक निर्णय बाह्यार्थ-मूलक, वास्तविक और तर्क-संगत हैं। पसन्द-नापसन्द के संवेगों की अभि-व्यक्ति-मात्र भावात्मक या अभावात्मक प्रतिक्रियाओं का झुकाव मात्र नहीं हैं। अगर वे ऐसा होते तो अर्थहीन होते। नैतिक निर्णय वास्तविक तथा युक्ति-संगत है। अगर वे तर्क-संगत नहीं होते तो वे प्रकृत-नैतिक निर्णय नहीं देते। भाववाद प्रकृत नैतिक निर्णयों का विश्लेषण नहीं करते, परन्तु वे नैतिक निर्णयों की अभिव्यक्तियों का विश्लेषण करते हैं।[15]

(७) एक व्यक्ति एक सत् कर्म करने के लिये नैतिक चुनाव या संकल्प

14. *Foundation of Ethics* 1939 p. 41.

15. M. G. Singer *Generalization in Ethics*, 1963 pp. 34-35, 59-60.

करता है, क्योंकि वह सोचता है कि यह कर्म सत् है। वह यह कर्म पसन्द करता है, इसीलिये वह इसे करने के लिये संकल्प नहीं करता। वह जानता है कि यह कर्म सत् है, वह इसे पसन्द मात्र नहीं करता। वह सत् कर्म करने के लिये दूसरे व्यक्ति को प्रेरित करता है इसलिये कि यह कर्म सत् ही है। उभव व्यक्ति के पसन्द भाव हैं, परन्तु उनके भाव उनके नैतिक निर्णय का आधार नहीं। अतः भाववाद तर्कसंगत नहीं।[16]

(३) हेयर के आदेशवाद
(R M. Hare's Prescriptive of Moral Judgement)

प्रारम्भ में आयर ने नैतिक वाक्य को भावात्मक (Emotive) माना था। तदुपरान्त उसने वह माना कि नैतिक वाक्य श्रोता में भाव को उत्पन्न करता है ताकि श्रोता एक काम करे। अतः आयर ने नैतिक वाक्य को सिर्फ भावात्मक नहीं, बल्कि आदेशात्मक (Prescriptive) भी माना है। रसल ने नैतिक वाक्य को इच्छा-व्यंजक माना है। स्वीवेन्सन ने नैतिक वाक्य को झुझाव-व्यंजक (Attitude) माना है; झुकाव में उद्देश्य, पसन्द, अभिलाषा, अनुमोदन, प्रशंसा भी समाविष्ट हैं।

हेयर (R. M. Hare) की मान्यता है कि नैतिक वाक्य प्रायः भावनात्मक होते हैं क्योंकि ये भावात्मक परिस्थितियों में प्रयुक्त होते हैं परन्तु इनमें अनुमोदन (Approval) के भाव समाविष्ट नहीं हैं। परन्तु नैतिक वाक्य में आदेशात्मक (Prescriptive) तत्व निहित है। यह श्रोता को उपदेश देता है, परिचालित करता है, प्रोत्साहित करता है, एक काम करने के लिये प्रवर्तित करता है। नैतिक वाक्य में काम कराने की प्रवृत्ति है, जो कि वक्ता में तीव्र भाव को उत्पन्न करता है। परन्तु इसमें विलक्षण नैतिक भाव-नैतिक अनुमोदन के भाव नहीं हैं।

(४) हेयर के आदशावाद की समीक्षा

उपरोक्त समीक्षा हेयर के मत के विरुद्ध भी प्रयोज्य है। नैतिक वाक्य नैतिक निर्णय की अभिव्यक्ति है। यह श्रोना में भाव उत्पन्न करके उसे एक कार्य कराने के लिये प्रवर्तित करता है, क्योंकि वह वस्तुतः सत् है, शुभ का साधन है, नैतिक मूल्य प्राप्ति का उपाय है। सत् आत्मगत, मानसिक कल्पना-मात्र नहीं, परन्तु विषयगत है, आत्मपूर्णता तथा समाज का कल्याण साधन है। नीति को पूर्णरूप से काल्पनिक मानना मानव-संस्कृति को लुप्त करना है। नीति और धर्म मनुष्य की बौद्धिक तथा आध्यात्मिक प्रकृति में अन्तर्निहित हैं। इनका उन्मूलन नहीं हो सकता। यह मनुष्य को पशु स्तर में गिरा देगा।

---

16. "S. Zinc : *The* Concepts of Ethics, 1963, pp, 10–15.

सैमुअल क्लार्क (Samuel Clarke) के विचार में कर्म की अच्छाई का अर्थ परिस्थिति के साथ उसकी एक विशेष प्रकार की उपयुक्तता (Fitness) है, जिसका ठीक-ठीक विश्लेषण नहीं किया जा सकता। उसके नैतिक सिद्धान्त पर पहले ही विचार किया जा चुका है। आर० प्राइस (R. Price) ने क्लार्क का अनुसरण किया और कर्म की अच्छाई को उपस्थिति के साथ उपयुक्तता के रूप में समझा। प्राइस के अनुसार सत्कर्म की उपयुक्तता उपयोगितावादी उपयुक्तता से भिन्न है। यह विलक्षण है।

एच० ए० प्रिचार्ड, ई० एफ० कैरिट, ए० सी० इयूंग; सी० डी० ब्रौड और डब्ल्यू० डी० रौस ने इस प्रकार के नैतिक अपरोक्ष अभूतिवाद को पुनर्जीवित किया। ये नव्य अपरोक्ष ज्ञानवाद (Neo-Intuitionism) कहलाते हैं। ये ऐसे नैतिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं जिसके अनुसार किसी कर्म की अच्छाई एक विलक्षण अविश्लेषणीय और प्रकृति के धर्मों से भिन्न धर्म है। इस सिद्धान्त को परिणाम-निरपेक्षवाद या उद्देश्य निरपेक्षवाद (Deontological Theory) कहा जाता है। परिणाम-निरपेक्षवादी ऐसे किसी भी नैतिक सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते जिसके अनुसार कर्मों की अच्छाई उनसे पैदा होने वाले मूल्यों पर आश्रित समझी जाती हो। वे इस बात को अस्वीकार करते हैं कि वही कर्म उचित हो सकता है जिसका संसार का हित पैदा करने में अधिकतम योग हो।

एच० ए० प्रिचार्ड (H. A. Prichard) 'शुभ' के प्रत्यय को विलक्षण मानते हैं। वे यह अस्वीकार करते हैं कि 'शुभ' के प्रत्यय 'सत्' के प्रत्यय पर आश्रित हैं। भिन्न-भिन्न सद्वृत्तों और अच्छी मनोवृत्तियों की अच्छाई प्रत्यक्ष रूप से ज्ञात होती है। वे यह स्वीकार नही करते कि सत् या कर्त्तव्य का प्रत्यक्ष शुभ के प्रत्यय से निर्गमित होता है। वे यह मानते हैं कि किसी कर्म का औचित्य उसे करने की नैतिक बाध्यता विलक्षण अपराश्रित या साक्षात् रूप में अनुभूत होती है। कर्म का औचित्य (Rightness) परिस्थिति के साथ उसके विलक्षण सम्बन्धों के रूप में होता है। नैतिक बाध्यता (Moral Obligation) को अपने से भिन्य अन्य किसी रूप में परिवर्तित नहीं किया जा सकता। औचित्य या नैतिक बाध्यता शुभ परिणामों पर आश्रित नहीं। कोई कर्म इसीलिये करना चाहिये कि वह स्वयं में

1. L. A Sebby—Bigge, British Moralist, Paras. 482–83 & 67.

शुभ है। सत् और कर्त्तव्य विलक्षण, अपराश्रित और स्वयं प्रकाशित हैं। सत् और कर्त्तव्य का ज्ञान अपरोक्ष अनुभूति के रूप में होता है।[2]

ई० एफ० कैरिट (E. F. Carrit) परम-शुभ के प्रत्यय को अज्ञानमयी कल्पना समझकर अस्वीकार करते हैं। उनके अनुसार, शुभ, एक बहुर्थक शब्द है जिसका नीति-शास्त्र में गौण स्थान है। सत् शुभ से स्वतन्त्र है। एक कर्म का औचित्य व्यक्तियों के बीच विलक्षण सम्बन्ध पर निर्भर है। यह शुभ परिणामों पर निर्भर नहीं। अपना वायदा पूरा करना या अपना कर्ज चुकाना सदा अधिकतम शुभ के लिये उपयोगी नहीं होता। शुभ के विचार से कर्त्तव्य की प्राप्ति सम्भव नहीं है। कर्मों के सत् होने की तरह नैतिक बाध्यता भी व्यक्तियों के सम्बन्धों से ही उत्पन्न होती है। परिस्थिति के निरीक्षण से दोनों की अपरोक्ष अनुभूति होती है।[3]

सी० डी० ब्रोड (C. D. Broad) मानते हैं कि कर्म की अच्छाई, शेष परिस्थिति के साथ, उसके उचित सम्बन्ध पर निर्भर है और कर्म की बुराई शेष परिस्थिति के साथ उसके अनुचित सम्बन्धों पर निर्भर है। उनके शब्दों में, "मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि जब मैं किसी बात को अच्छा कहता हूँ तो मैं यह समझता हूँ कि वह एक अधिक व्यापक सम्पूर्ण परिस्थितियों का अंग है और वह अपनी शेष परिस्थिति के साथ गठित है। जब मैं किसी बात को बुरा कहता हूँ तो मैं यह समझता हूँ कि वह अपनी शेष परिस्थिति के साथ सामंजस्य नहीं रख पा रही है। इसकी सत्यता ऐसे कथनों में स्पष्ट है, जैसे हम यह कहते हैं कि माँ-बाप के प्रति सद्भाव है या निरपराधी व्यक्ति को दुःखी देखकर उसके प्रति करुणा सद्भाव है और उसकी सहायता करना सत्कर्म है। सत् और असत् का सम्बन्धाश्रित होना इसीलिये अधिक स्पष्ट नहीं दिखाई देता कि एक विशेष प्रकार के सभी कार्यों को निरपेक्ष रूप में सामान्यतया असत् समझा जाता है। परन्तु मेरे विचार में इसका अर्थ यही है कि वे क्रियायें ऐसी होती हैं कि वे किसी भी परिस्थिति में सामंजस्य नहीं रख पातीं। 'सत्' और 'असत्' में औचित्य और अनौचित्य का जो रूप निहित है वह स्वलक्षण और अविश्लेषणीय है।"[4] 'अ' और 'ब' मान लीजिये, एक व्यक्ति को ऐसे दो कर्मों में से चुनाव करना है जिसमें से हर एक से कुछ अभीष्ट और कुछ अनिष्ट पैदा होगा और 'अ' से 'ब' की तुलना में अभीष्ट की अधिक मात्रा उत्पन्न होगी। तब वह कर्म जिससे कुछ अभीष्ट पैदा होगा कुछ मात्रा और रूप में नैतिक दृष्टि से उचित होगा, परन्तु हमें इसे सत्कर्म नहीं मानना चाहिये। एक कर्म नैतिक उपयुक्तता की हर किसी मात्रा से सत्कर्म नहीं बन सकता। दूसरी ओर, किसी कर्म के सत् होने के लिये यह भी आवश्यक नहीं कि उसकी उपयुक्तता पूर्ण हो क्योंकि कर्म 'अ' सत्कर्म माना

---

2. Mind. New Series, Vol. XXI, 1912.
3. *The Theory of Morals*, 1982, pp. 34, 71—72, 74, 93.
4. *Free Types of Ethical Theory*, pp. 161—65.

जायेगा यद्यपि इसकी उपयुक्तता नैतिक दृष्टि से नहीं है क्योंकि इससे कुछ अनिष्ट भी उत्पन्न होगा । इस प्रकार कर्म का सत् होना न तो उसकी उपयुक्तता की किसी मात्रा पर निर्भर है और न पूर्ण उपयुक्तता पर ही निर्भर है । यह एक विशेष परि-स्थिति में कर्म की अधिकतम उपयुक्तता पर निर्भर है । उदाहरणार्थ—एक मनुष्य ने दो वायदे किये हैं और दोनों को पूरा वह नहीं कर सकता । एक वायदे के पूरा करने का अर्थ दूसरे को तोड़ना होगा । इन कर्मों में से प्रत्येक की कुछ न कुछ उपयुक्तता होगी क्योंकि प्रत्येक से ही वायदा पूरा होता है । न 'अ' और न 'ब' की उपयुक्तता पूर्ण होगी क्योंकि एक कर्म से जहाँ एक वायदा पूरा होगा वहाँ दूसरा वायदा पूरा नहीं होगा । अतः उस कर्म को सत्कर्म कहना चाहिए जो एक परिस्थिति में सम्भव-नीय कर्मों में से अधिकतम उपयुक्त है ।[5]

सी० डी० ब्रौड के अनुसार कर्म के सत् होने का अर्थ एक विशेष की उप-युक्तता (Fittingness) है । वह उपयोगितावादी और अपरोक्ष ज्ञानवादी दोनों से ही असंतुष्ट है, क्योंकि वायदा पूरा करना सत्कर्म है भले ही उससे सामान्य शुभ में वृद्धि न होती हो और क्योंकि परिणामों को ध्यान में रखकर सभी वायदे पूरे नहीं हो सकते । ऐसा प्रतीत होता है कि वे किसी कर्म के सत् होने से उसकी उपयुक्तता और उपयोगिता (Utility) दोनों ही सम्मिलित समझता है । उसके शब्दों में, 'हमें किसी 'कर्म' 'क' के दो भिन्न नैतिक पहलुओं, उससे प्रभावित होने वाले सम्पूर्ण घटना-क्रम के साथ उसकी उपयुक्तता या अनुपयुक्तता और उसकी उपयोगिता और अनुपयोगिता में भेद करना चाहिए ।" "एक विशेष परिस्थिति में एक कर्म की अच्छाई और बुराई उस परिस्थिति में उसकी उपयुक्तता और उस परिस्थिति में उसकी उप-योगिता पर निर्भर है । कट्टर परिणाम निरपेक्षवादी (Deontologist) यह स्वीकार नहीं करेंगे कि उसकी उपयोगिता और अनुपयोगिता का उसकी अच्छाई या बुराई से कोई सम्बन्ध है । कट्टर परिणामवादी यह स्वीकार नहीं करेगा कि एक कर्म की अपनी (वातावरण में साथ) सीधी उपयुक्तता या अनुपयुक्तता है, और वह उसकी अच्छाई और बुराई को उसकी उपयोगिता और अनुपयोगिता पर निर्भर समझेगा । मुझे ये दोनों ही अतियुक्तियाँ निराधार लगती हैं और साधारण भावना की स्पष्ट रूप में विरोधी प्रतीत होती है ।"[6] इस प्रकार ब्रौड एक कर्म की उपयुक्तता और उपयोगिता के मिश्रित रूप को उसकी अच्छाई, और उसकी अनुपयुक्तता और अनुपयोगिता के मिश्रित रूप को उसकी बुराई समझता है ।

सी० डी० ब्रौड शुभ को सुखात्मक भावना या नैतिकता से परे की अन्य कोई और विशेषता नहीं मानता, यह इसे विलक्षण मानता है । वह 'शुभ' के शब्दों में 'सत्' का लक्षण नहीं करता यद्यपि वह यह मानता है कि सत् का शुभ से

5. W. D. Ross : *Foundations of Ethics*, pp. 52-53 O. A. Johnson. Righteousness and Goodness p. 82.

6. Five Types of Ethical Theory, p. 218.

सम्बन्ध है क्योंकि इसमें तुष्टि के वितरण का अर्थ भी सम्मिलित है। कर्म का सत् होना उसकी उपयुक्तता और उपयोगिता पर निर्भर है। कर्त्तव्य और सत्कर्म में भेद है क्योंकि जब भिन्न-भिन्न कर्म सत् हों, तब यह नहीं कहा जा सकता कि उनमें से एक विशेष कर्म ही किया जाना चाहिये और क्योंकि जब एक व्यक्ति किसी सत्कर्म में स्वयं प्रवृत्त हो रहा हो तब यह नहीं कहते कि उसे वह कर्म करना चाहिये। नैतिक प्रत्यय प्रागनुभविक (A Priori) या अनुभव-पूर्व होते हैं, अनुभवाश्रित (Empirical) नहीं। कुछ नैतिक निर्णय भी अनुभव-पूर्व होते हैं, परन्तु किसी एक विशेष परिस्थिति में एक कर्म पूर्णरूप में सत् है या नहीं इस विषय में नैतिक निर्णय अनुभव-पूर्व या स्वयं-सिद्ध (Self-evident) नहीं होते। नैतिक निर्णयों के साथ नैतिक संवेग जुड़े रहते हैं, परन्तु उनकी सत्यता या असत्यता उन पर निर्भर नहीं होती।[7]

ए० सी० इविंग (A. C. Ewing) भलाई, नैतिक बाध्यता और उपयुक्तता को आधारभूत नैतिक प्रत्यय मानता है। अन्तिम दो प्रत्यय सामान्य कर्त्तव्य-बाध्यता के ही विशेष रूप हैं। नैतिक बाध्यता और भलाई के प्रत्ययों की परिभाषा उपयुक्तता के आधार पर की जा सकती है। उसने शुभ की परिभाषा करते हुये कहा है कि 'शुभ' अनुकूल मानसिक झुकाव (Pro Attitude) का उपयुक्त विषय है। कर्त्तव्य में सम्पूर्ण परिस्थिति के साथ उपयुक्तता और नैतिक बाध्यता शामिल हैं। इविंग को कट्टर परिणाम निरपेक्षवादी नहीं कह सकते क्योंकि वह यह मानता है कि सत्कर्म अधिकतम शुभ का उत्पादक है, यद्यपि वह यह भी मानता है कि अपने आप में शुभ तो नैतिक बाध्यता से पैदा होने वाली 'उपयुक्तता' ही है। उसका सिद्धान्त मूर (Moore) के आदर्शमूलक उपयोगितावाद और रौस के परिणाम निरपेक्षवाद का मध्यवर्ती है।[8]

सत्कर्म के विषय में रौस का 'नैतिक-उपयुक्तता' का सिद्धान्त
(Ross' Moral Suitability Theory of Rightness)

डब्ल्यू० डी० रौस (W. D. Ross) ने नैतिक उपयुक्तता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है जो क्लार्क के अपरोक्ष ज्ञानवाद से मिलते-जुलते नव्य-अवरोक्ष ज्ञानवाद का ही एक रूप है। वह अपना सिद्धान्त 'शुभ' के विचार से प्रारम्भ न करके 'सत्' के विचार से प्रारम्भ करता है क्योंकि यदि 'शुभ' के प्रत्यय से नैतिक सिद्धान्त प्रारम्भ किया जाये तो इस प्रश्न का उत्तर, कि क्या कर्मों का मूल्य उनके उद्देश्यों से स्वतन्त्र है पूर्व निर्णीत ही हो जाता है। सत् कर्म की अपनी सम्पूर्ण परिस्थिति के साथ एक विलक्षण उपयुक्तता (Unique Suitability) है। व्यक्ति

7. वही पृष्ठ २८२–८३, १६५ और ८१।

8. A C. Ewing, *The Definiton of Good.* 1947, Ch. IV—VI.
O. A. Johnson, *Rightness and Goodness* p. 82; T. E. Hill, Contemporary Ethical Theories. pp. 312—14.

की पसन्द से भिन्न यह कर्म की बाह्य या वस्तुगत विशेषता है। यह नैतिक निर्णय देने वाले व्यक्ति की भावात्मक प्रतिक्रिया से भिन्न है। इसे सुख-उपयोगिता या ऐसे ही अन्य और किसी प्रत्यय में परिवर्तित नहीं किया जा सकता। यह विलक्षण और अवर्णनीय है। यह रंग की संवेदना की तरह विलक्षण है। इसका शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता क्योंकि यह स्वलक्षण (Suigereris) है। रौस इसे 'नैतिक उपयुक्तता' कहता है। एक कर्म सत् है यदि वह अपनी सम्पूर्ण परिस्थिति में विशेष ढंग से मेल खाता है। एक कर्म नैतिक दृष्टि से सत् है यदि वह अपनी परिस्थिति में अधिक से अधिक मेल खाता है। वह किस रूप में परिस्थिति के साथ अधिकतम मेल खाता है इसकी परिभाषा नहीं की जा सकती। नैतिक उपयुक्तता का नैतिक अंश विलक्षण और अवर्णनीय है, यद्यपि इसे पहचाना जा सकता है। सत् परिस्थिति के साथ कर्म की ऐसी विलक्षण उपयुक्तता है जिसका ज्ञान व्यक्ति को अपरोक्ष अनुभूति के रूप में हो जाता है।

एक सड़क जिस व्यक्ति को उसके गंतव्य तक पहुँचाती है उसकी परिस्थिति में उसके लिये वह ठीक सडक है। जिस ताले को एक व्यक्ति खोलना चाहता है उसमें जो कुञ्जी लगती है वही उपयुक्त कुञ्जी है। इसी प्रकार एक व्यक्ति का जो कर्म उसकी सम्पूर्ण स्थिति के साथ मेल खाता है वही सत् है। नैतिक उपयुक्तता सामान्य उपयुक्तता (General Fittingness) का ही एक विशेष रूप है।

कुछ सत्कर्मों के उदाहरणों से सत् के अर्थ को अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। कुछ विशेष कर्त्तव्यों, जैसे—अपना वायदा पूरा करना, कर्ज चकाना, किसी का नुकसान करने पर उसका उसे मुआवजा देना, आदि—में नैतिक उपयुक्तता है। प्राय: सभी स्थितियों में सभी व्यक्तियों के लिये इनका करना नैतिक बाध्यता होती है। अधिकतम शुभ उत्पन्न करने में उपयोगी होने की बाध्यता से यह स्वतन्त्र है। एक व्यक्ति ने ऋण देने वाले को एक निश्चित समय पर ऋण चुकाने का जो वायदा किया है उसे उस समय इसलिये न चुकाना कि उसने अधिक हित के लिये वह रुपया किसी धर्मार्थ औषधालय को देना है उचित नहीं समझा जाना चाहिये। रौस की यह मान्यता है कि सामान्य नियम के रूप में एक कर्म नैतिक दृष्टि से उपयुक्त है, यदि वह अपनी स्थिति में अधिकतम शुभ उत्पन्न करता हो। हमारे प्रधान कर्त्तव्य (Prima-facie Obligations) स्व-प्रकाशित होते हैं, वे अनेक होते हैं और परस्पर एक दूसरे का स्थान नहीं ले सकते हैं।

प्रधान कर्त्तव्य ऐसे कर्म होते हैं जो पहली दृष्टि में ही सत् पहचान लिये जाते हैं। अपरोक्ष अनुभूति से इनका सत् होना जाना जाता है। जब तक व्यक्ति के कर्त्तव्यों में विरोध हो तब एक कर्म आँशिक रूप में उचित और आंशिक रूप में अनुचित हो सकता है। एक कर्म का पूर्णरूप में सत् होना इस बात पर निर्भर है कि वह अपनी सम्पूर्ण स्थिति से जिसमें कर्त्ता के अन्य कर्त्तव्य भी शामिल हैं पूर्ण मेल खाता है। कर्म का अपनी स्थिति में अधिकतम उपयुक्त होना ही 'सत्' है।

रौस ने एक प्रकार के नव्यअपरोक्ष ज्ञानवाद (Neo Intuitionism) का प्रतिपादन किया है। वह कहता है, "एक कर्म, जैसे—वायदा पूरा करना, अपने आप में सत् है यह इस अर्थ में स्वयं-सिद्ध है कि एक परिपक्व बुद्धि वाला जब इस कथन पर ध्यान देगा तो बिना किसी अन्य प्रमाण के निकट स्पष्ट रूप में यह उसे सत्य मालूम देगा। जिस अर्थ में गणित के नियम या अनुमान के रूपों की सत्यता स्वयं-सिद्ध है उसी अर्थ में यह भी स्वयं-सिद्ध (Self-evident) है।[9]" हमें अपरोक्ष ज्ञान के रूप में सामान्य नैतिक सिद्धान्त ज्ञात नहीं होते। इससे तो प्रधान कर्त्तव्यों का ही ज्ञान होता है। रौस 'सत्' के विषय में एक ऐसे परिणाम-निरपेक्षवादी सिद्धांत का प्रतिपादन करता है जिसके अनुसार कर्म का 'सत्' होना स्थिति के साथ उसकी उपयुक्तता अथवा मेल खाने का एक विलक्षण गुण है।

रौस का 'सत्' का सिद्धान्त ब्रौड के सिद्धान्त से एक और बात में भिन्न है। ब्रौड ने यह माना है कि एक कर्म का औचित्य-कर्म की प्रारम्भिक परिस्थितियों के साथ ही उसकी उपयुक्तता नहीं है अपितु उस कर्म के परिणाम के रूप में उसकी परिस्थितियों में जो नवीनता पैदा होगी उसके साथ ही उसकी उपयुक्तता है। परन्तु रौस यह स्वीकार नहीं करता है कि कर्म की प्रारम्भिक परिस्थितियों के साथ ही उसका मेल खाना उसका औचित्य है। वह ब्रौड के मत की इस प्रकार आलोचना करता है, प्रोफेसर ब्रौड के इस सिद्धान्त में कि एक कर्म द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों के साथ उसकी उपयुक्तता ही सत् है मुझे एक आपत्ति लगती है। मुझे यह बिल्कुल स्पष्ट दिखाई देता है कि सत् होने के लिये एक कर्म का अपनी समकालीन स्थितियों या उससे पूर्व की स्थितियों के साथ मेल होना चाहिये, उस कर्म के फल के रूप में उत्पन्न परिणामों से नहीं।[10]

रौस का सत्कर्म का सिद्धान्त ब्रौड के सत्कर्म के सिद्धान्त से आंशिक रूप में मिलता है। ब्रौड कर्म के औचित्य को उपयुक्तता (Fittingness) और उपयोगिता (Utility) का सम्मिश्रण मानता है। परन्तु रौस औचित्य को कर्म और उसकी स्थिति का विलक्षण मेल समझता है जिसे स्थिति के साथ नैतिक उपयुक्तता नहीं कहा जा सकता है। वह उपयोगिता को 'औचित्य' की विशेषता नहीं मानता। वह कट्टर परिणाम निरपेक्षवादी है और लक्ष्य-मूलक किसी भी नैतिक सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता। रौस ब्रौड के सिद्धान्त की इस प्रकार आलोचना करता है, प्रोफेसर ब्रौड पहले ही कह चुके हैं कि "एक कर्म का औचित्य अपनी स्थिति के साथ उसकी विलक्षण उपयुक्तता है जिसे हम नैतिक उपयुक्तता कह सकते हैं। यदि औचित्य का यही अर्थ है तो हम यह कह सकते हैं कि कर्म का औचित्य उसकी उपयुक्तता और उपयोगिता के सम्मिश्रण पर निर्भर है। यदि औचित्य एक प्रकार की उप-

9. Ross : *Foundation of Ethics;* (1939), pp. 112-13 : *The Right and the Good (1939).*
10. *Foundation of Ethics*, 1959, p. 18.

युक्तता है तो जब तक कर्म की उपयोगिता उसे अपनी स्थिति के साथ उपयुक्त बनाने में सहायक न हो तब तक यह नहीं कहते कि कर्म की उपयोगिता पर उसका औचित्य निर्भर है। मेरे विचार में उन्हें कर्म के औचित्य को उसकी उपयुक्तता और उपादेयता के सम्मिलित रूप पर आश्रित नहीं मानना चाहिये, वरन् उसका औचित्य उपादेयता के कारण उत्पन्न होने वाली उपयुक्तता और अन्य कारणों से उत्पन्न होने वाली कर्म की उपयुक्तता पर मानना चाहिये। उदाहरणार्थ किस वायदे के पूरा करने के सम्बन्ध में यही बात कि वह वायदा पहले किया गया है एक ऐसी बात हैं जिस पर उस कर्म की उपयुक्तता निर्भर होगी। मुझे यह मानने में कोई कठिनाई नहीं दिखाई देती कि जो कर्म अपनी परिस्थिति में उत्तम परिवर्तन पैदा करता है अर्थात् अधिकतम शुभ उत्पन्न करता है उसमें ऐसी विशेषता होती है जिसके कारण वह अपनी परिस्थिति के उपयुक्त बनता है।"[11] इस प्रकार रौस उपयोगिता को औचित्य का लक्षण नहीं मानता, परन्तु वह यह मानता है कि उपयोगिता की उपादेयता सत्-भाव का एकमात्र कारण नहीं, यह मानव जाति के सर्वाधिक हित का जनक है।[12]

रौस के सिद्धान्त ब्रौड के सिद्धान्त से एक और बात में भी भिन्न हैं। ब्रौड यह मानता है कि कर्म के औचित्य के लिये यही पर्याप्त नहीं है कि वह अपने प्रारम्भ की स्थिति के उपयुक्त हो; इसके लिये यह भी आवश्यक है कि कर्म के परिणाम-स्वरूप उसकी स्थिति में जो परिवर्तन आता है उसके साथ भी उसकी उपयुक्तता हो। परन्तु रौस यह मानता है कि कर्म का औचित्य उसके प्रारम्भ काल की स्थिति के साथ ही उसकी उपयुक्तता है। वह ब्रौड के मत की आलोचना इस प्रकार करता है, "ब्रौड के इस सिद्धान्त को, कि कर्म का औचित्य उसके परिणाम के कारण उत्पन्न होने वाली स्थिति के साथ मेल खाता है, मानने में मुझे कठिनाई मालूम देती है। मुझे ऐसा लगता है कि जिस परिस्थिति के साथ कर्म का मेल होना चाहिये वह कर्म के प्रारम्भ काल या उससे पूर्वकाल की ही परिस्थिति है, उस कर्म के परिणाम-स्वरूप पैदा होने वाली परिस्थिति नहीं।"[13]

रौस के मतानुसार, औचित्य कर्म की परिस्थिति के साथ उसकी विलक्षण उपयुक्तता है जिसे नैतिक उपयुक्तता या सद्भाव कह सकते हैं। इसकी परिभाषा नीति की भाषा से भिन्न भाषा में नहीं की जा सकती है। नीति की भाषा से भिन्न भाषा के किन्हीं दो पत्रों के मेल से औचित्य का स्वरूप प्रकट नहीं किया जा सकता। दूसरा नीति विषयक पद, अर्थात् शुभ को उत्पन्न करने में समर्थता भी औचित्य के स्वरूप को अभिव्यक्ति नहीं करता। रोस के शब्दों में, नैतिक औचित्य एक विलक्षण विशेषता है, और यदि वह स्वीकार भी किया जाये कि यह किसी अधिक व्यापक

---

11. *Foundations of Ethic*, p. 81.
12. Mackinon, *A Study in Ethical Theory*, 1951, op. 186—87.
13. *Foundation of Ethics*, p. 18.

सम्बन्ध, जैसे—उपयुक्तता का ही एक विशेष रूप है तब भी इसके भेदक गुण को 'नैतिक दृष्टि से सत्' या इसके ही पर्यायवाची को दुहराये बिना अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार लाल एक विशेष रंग है परन्तु दूसरे रंगों से इसके भेद को यही कहकर अभिव्यक्त किया जा सकता हैं कि यह वह रंग है जो लाल है।"[14]

औचित्य के विषय में रौस के नैतिक उपयुक्तता के सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of Ros's Moral Suitability of Rightness)

यह सिद्धान्त एक प्रकार का अपरोक्ष ज्ञानवाद है और उसके सभी दोष इसमें विद्यमान हैं। औचित्य का स्वरूप विलक्षण और अनिभधेय या व्याख्या करने अयोग्य गुण मानने का अर्थ उसे रहस्यमय और बुद्धि से अगम्य समझना है। इसका निष्कर्म नैतिक अज्ञेयवाद होगा। यद्यपि यह एक कर्म का बाह्य गुण है जिसे अपरोक्ष प्रत्यक्ष के रूप में ग्रहण करते हैं, परन्तु यह व्याख्या करने अयोग्य समझा जाता है। रौस को चाहिये कि वह किसी सत्कर्म के सत् होने के विषय में प्रमाण दे। उसका सिद्धान्त ऐसा कोई नियम प्रदान नहीं करता जिसके आधार पर कर्त्तव्यों के द्वन्द्व को दूर किया जा सके। एक कर्म को अपनी सम्पूर्ण परिस्थिति के साथ "नैतिक उपयुक्तता" को उसमें उत्पन्न होने वाले मूल्यों (Values) के रूप में अच्छी प्रकार समझ सकते हैं। लक्ष्यमूलक नैतिक सिद्धान्त (Teleological Ethics) नैतिक उप-युक्ततता' की ठीक व्याख्या कर सकता है। अत: 'सत्' का यही अर्थ नहीं हो सकता कि एक कर्म अपनी परिस्थिति के उपयुक्त हो।[15]

प्रिचार्ड और कैरट के मत के अनुसार किसी कर्म का औचित्य या सद्भाव शुभ या मूल्य में नहीं है। उनके इस मत के विरुद्ध भी उपरोक्त दोष लागू होता है। ए० सी० इयुंग का यह मत कि 'शुभ' की परिभाषा 'उपयुक्तता' के रूप में कर सकते हैं, तर्क-सम्मत प्रतीत नहीं देता। वह उपयुक्तता को एक प्रकार की 'कर्त्तव्य-बाध्यता' समझते हैं। परन्तु वास्तव में यह एक प्रकार का औचित्य है। 'शुभ' नीति-शास्त्र का मौलिक प्रत्यय है और 'सत्' का प्रत्यय उस पर आश्रित है। इयुंग 'शुभ' की परिभाषा करते हुए इस प्रकार कहते हैं कि शुभ अनुकूल मानसिक झुकाव का उपयुक्त विषय है। 'क अनुकूल मानसिक झुकाव का उपयुक्त विषय' है। यह कथन इस कथन के बराबर है कि 'क शुभ है।' इसका अर्थ यह है कि एक व्यक्ति को 'क' के प्रति अ कूल मानसिक झुकाव बनाना उपयुक्त है। इस प्रकार 'उपयुक्तता' किसी वस्तु का गुण नहीं हैं परन्तु उसके प्रति बनाने वाले व्यक्ति के मानसिक झुकाव का गुण है। अत: 'शुभ' अनुकूल मानसिक झुकाव का उपयुक्त विषय नहीं है। इयुंग ने 'उपयुक्तता' को वस्तु का गुण माना है, परन्तु वास्तव में

14. वही पृ० ३१६।
S. Zink, *The Concept of Ethics*, 1963, p. 125.
15. T. E. Hill, *Ethics in Theory and Practice*, pp. 76 - 82.

यह एक व्यक्ति के मानसिक झुकाव का गुण है। इयुंग 'शुभ' को उपयुक्तता पर आश्रित समझते हैं। परन्तु वास्तव में 'शुभ' का प्रत्यय आधारभूत है और 'अनुकूल मानसिक झुकाव (Pro attitude) का उपयुक्त विषय' होना उस पर आश्रित है। 'उपयुक्तता के प्रत्यय से पहले 'शुभ' के प्रत्यय को जिस पर आश्रित है मानना आवश्यक है।[16] सी० डी० ब्रौड का यह मत, कि कर्म के 'औचित्य' और 'अनौचित्य' के प्रत्यय अपनी शेष परिस्थिति के साथ 'उपयुक्त' या 'अनुपयुक्त' 'उचित' या 'अनुचित' रूप में सम्बन्धित है, इसी दोष से दूषित है। 'उपयुक्तता' का अर्थ है 'औचित्य' जो 'शुभ' पर आश्रित है। 'शुभ' आधारभूत प्रत्यय है और 'उपयुक्तता' उस पर आश्रित है।[17] 'शुभ' के बिना 'उपयुक्तता' को भली भाँति समझना सम्भव नहीं है। 'सत्कर्म' 'शुभ' का साधक है। परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि किसी धर्म को 'सत्कर्म' समझने से पहले हम सदा इसका हिंसाब लगा लेते हैं कि इससे कितना शुभ उत्पन्न होगा। ●

---

16. O. A. Johnson, *Rightness and Goodness*, pp. 153—55.
17. Ibid pp. 82 ff.

नैतिक प्रत्यय—

नैतिक नियमों का पालन करने में मनुष्य स्वतन्त्र है। उसकी इच्छा समुचित कार्य तथा निषिद्ध-कर्म करने में स्वतन्त्र है। धर्म-ग्रन्थों द्वारा विहित-कर्म सत् हैं तथा निषिद्ध कर्म असत् हैं। जब मनुष्य सत्-कर्मों का पालन स्वतन्त्रतापूर्वक करता है तो वह पुण्य अथवा धर्म का सचय करता है, तथा स्वतन्त्रतापूर्वक निषिद्ध-कर्म करने पर पाप अथवा अधर्म संचित करता है न्याय के अनुसार पुण्य तथा पाप अथवा धर्म और अधर्म आत्मा के गुण हैं। वे कालान्तर में परिपक्व होते हैं तथा इस जीवन अथवा भविष्य-जीवन में अपना फल प्रदान करते हैं। पुण्य अथवा धर्म सुख को जन्म देता है तथा पाप अथवा अधर्म दुख को जन्म देता है। सुख और दुख अंशत: बाह्य-विषयों तथा परिस्थितियों से उत्पन्न होते हैं तथा अंशत: हमारे पुण्य और पाप से। हम पुण्य के बिना सुख का उपभोग नहीं कर सकते। इस सिद्धान्त में सुखवाद का सिद्धान्त सन्निहित है। इस जीवन में सुखों का आंशिक कारण पिछले जन्मों में संचित पुण्य है तथा दुखों का आंशिक कारण संचित पाप हैं। वे इस जीवन में अथवा पिछले जीवनों में सत् अथवा असत् कर्मों के परिणाम होते हैं। वे हमारे सद्-भाग्य अथवा दुर्भाग्य के लिए उत्तरदायी होते हैं। हम अपने पापों को स्वतन्त्र सत्कर्मों द्वारा नष्ट कर सकते हैं तथा इसी प्रकार हम अपने पुण्यों को दुष्कर्मों द्वारा नष्ट कर सकते हैं। आत्मा का जीवन अनन्त है। यह एक जीवन से दूसरे तक फैला रहता है। गुण-अवगुण, सुख-दुख तथा आत्मा का आवागमन ये परस्पर सम्बन्धित धाराएं हैं। ये कर्म के सिद्धान्त में निहित हैं। कर्म-सिद्धान्त भारतीय-दर्शन का मौलिक प्रत्यय है।

अतएव मानवीय कर्म अंशत: स्वतन्त्र होते हैं तथा अंशत: गत-जीवनों में संचित पुण्य-पाप अथवा धर्म-अधर्म से निर्धारित होते हैं। संकल्प शक्ति के स्वतन्त्र कर्मों को पुरुषकार कहा गया है। गत-जन्मों में अर्जित पाप-पुण्यों को दैव कहा जाता है। वे अदृष्ट हैं। वे अननुभूत, अदृश्य तथा ऐसे परिगणना-हीन तत्व हैं जो कि कुछ सीमा तक हमारे सुख-दुख को निर्धारित करते हैं। परन्तु वे भाग्य नहीं हैं। वे ऐसे अचेतन पूर्वस्वभाव हैं जो कि भीतर से ही हमारे ऐच्छिक कर्मों को अंशत: निर्धारित करते हैं तथा अंशत: उसके परिणामों को बल अथवा बाधा पहुंचाते हैं। अचेतन मनोवैज्ञानिक पूर्व-स्वभाव हमारे अपने कर्म हैं। वे अतीत में हमारे द्वारा किये गये स्वतन्त्र ऐच्छिक कार्यों के परिणाम होते हैं। वे आत्मा से बाह्य नहीं हैं। वे उसमें निहित हैं तथा आत्मा द्वारा अतीत-जीवनों से उत्तराधिकार में मिलने वाली आन्तरिक यान्त्रिक क्रियायें हैं। वे आत्मा के भूतकालीन जीवनों के अचेतन पूर्व-

स्वभाव हैं। आत्मा अपने स्वतन्त्र ऐच्छिक कर्मों द्वारा उन्हें नष्ट कर सकती है। इसके कार्य अंशत: अदृष्ट अथवा दैव द्वारा तथा अंशत: पुरुषकार द्वारा निर्धारित होते है। दैव का एक अन्य अर्थ भी है। पुरुषकार दैवी इच्छा अथवा दैव के आधीन होता है। इसका फल तभी मिलता है जब उसे दैव का सहारा प्राप्त हो, तथा जब इसे ईश्वर की इच्छा का सहारा नहीं मिलता तो यह फलित नहीं होती। पुरुषकार और दैव दोनों हमारे भाग्य का निर्माण करते हैं।

प्रत्येक गृहस्थ को पाँच प्रकार के यज्ञ करने चाहियें (यथा—भूतयज्ञ, मनुष्य-यज्ञ, पितृ-यज्ञ, देव-यज्ञ, और ब्रह्म-यज्ञ)। समस्त जीवधारी प्राणियों को भोजन देने को भूतयज्ञ कहते हैं। अतिथियों को दिया जाने वाला सत्कार, सम्मान और पूजा मनुष्य-यज्ञ कहलाता है। दिवंगत पूर्वजों को दिया जाने वाला यज्ञ, पितृयज्ञ कहलाता है। होम की अग्नि में दी जाने वाली आहुति को देवयज्ञ कहते हैं। मनुष्य को वेदों का अध्ययन और अध्यापन करना चाहिए। इस कार्य को ब्रह्मयज्ञ कहते हैं। इस प्रकार ईश्वर, देवताओं, मनुष्यों तथा समस्त प्राणियों का हित करना होता हैं। भारतीय नीति-शास्त्र तीन प्रकार के कर्त्तव्यों का उल्लेख करता है—अपने से सम्बन्धित कर्त्तव्य, दूसरों से सम्बन्धित कर्त्तव्य एवं ईश्वर से सम्बन्धित कर्त्तव्य है।

प्रत्येक व्यक्ति जन्म से ही तीन ऋण लेकर उत्पन्न होता है। वह ऋषियों के प्रति-वेदों के अध्ययन द्वारा पूर्वजों के प्रति पुत्रोत्पत्ति द्वारा, तथा देवताओं के प्रति-यज्ञों द्वारा अपने कर्त्तव्यों की पूर्ति करता है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने से तथा समाज से सम्बन्धित कर्त्तव्यों की पूर्ति करता जाता है।

इसके अतिरिक्त अपनी जाति के प्रति कर्त्तव्य होते हैं। उन्हें शास्त्रों ने वर्ण-धर्म कह कर पुकारा है। ब्राह्मणों को वेदों का अध्ययन-अध्यापन, ईश्वर चिन्तन तथा जाति के आध्यात्मिक कल्याण का ध्यान रखना चाहिए। क्षत्रियों को सेना में भरती होकर न्यायपूर्ण युद्धों में भाग लेना चाहिए तथा बाह्य आक्रमणों से जाति का रक्षण करना चाहिए। वैश्यों को पशु पालन, कृषि, व्यापार एवं वाणिज्य-सम्बन्धी कार्य करना चाहिये। शूद्रों को शेष वर्णों की सेवा करनी चाहिए। वर्ण-धर्म का ध्येय कर्त्तव्यों तथा गुणों के आधार पर समाज का निर्माण है।

जीवन के विविध स्तरों से सम्बन्धित धर्मों को आश्रम-धर्म कहते हैं। विद्यार्थियों को ब्रह्मचर्य, शुद्धि, पवित्रता, वेदाध्ययन तथा अध्यापकों एवं गुरुजनों से ज्ञान-संग्रह करना चाहिए, इसे ब्रह्मचर्य धर्म कहते हैं। इसके पश्चात् व्यक्ति को विवाह करके अपने व समाज के हित के लिए सत्यापरायण जीवन व्यतीत करना चाहिए। इसे गृहस्थ धर्म कहते हैं। पचास वर्ष की आयु में उपासना व एकान्त-चिन्तन में जीवन व्यतीत करना चाहिये। यह वानप्रस्थ कहलाता है। उन्हें वहाँ एक यति जैसा जीवन व्यतीत करना चाहिये, अथवा एक भ्रमणशील साधू जैसा इस जीवन को सन्यास कहते हैं। सन्यासियों को अपनी जीविका के लिये परिश्रम नहीं करना चाहिये उन्हें मानवता की सेवा में अपना जीवन लगा देना चाहिये तथा ईश्वर को

अर्पित करके पवित्र जीवन व्यतीत करना चाहिये। यह भली प्रकार समन्वित तथा संतुलित हिन्दू जीवन का आदर्श है। यह व्यक्ति को पूर्णत्व की अन्तिम स्थिति तक पहुंचने में सहायता देता है।

मनुष्यों को चार सर्वोच्च उद्देश्यों—अर्थात् पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये। ये चार सर्वोच्च उद्देश्य इस प्रकार हैं—अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष। अर्थ उसकी भौतिक, शारीरिक तथा आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। काम उसकी मानसिक एवं मनोवेगात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। धर्म बौद्धिक एवं शारीरिक आवश्यकताओं की तथा मोक्ष अथवा सर्वोच्च आनन्द अथवा शारीरिक व मानसिक दुःख की पूर्ण परिसमाप्ति एवं उसकी आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन है। अर्थ अथवा धन साधन स्वरूप है। वह धर्म से निम्नकोटि का है। धर्म स्वयं साध्य तथा प्राकृत मूल्य है। फिर भी यह अनुभूतिगम्य हित है। मोक्ष परम शुभ अथवा निःश्रेयस है। यह आत्मा की ऐसी परम परिपूर्णता है जो अपने अनुभूति विषयक तत्वों से मुक्त होती है। यह धर्म और अधर्म, पाप और पुण्य से परे है। पूर्णत्व की सर्वोच्च स्थिति में पुण्य और पाप समाप्त हो जाते हैं। पुण्य अनुभूतिविषयक सुख अथवा आनन्द देते हैं तथा पाप दुःख अथवा पीड़ा देते हैं। पुण्य व्यक्ति को स्वर्ग में ले जाते हैं तथा जब वे क्षीण हो जाते हैं तो पुनर्जन्म होता है। अतः पूर्णता की सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त करने के लिये पाप-पुण्य को समाप्त करना चाहिये। मोक्ष को वेदान्त में अनन्त एवं अमर आनन्द माना गया है जो कि अनुभूतिविषयक जीवन के सुख-दुख के परे की स्थिति है। यह ब्रह्म के साथ अभेद अथवा साधर्म्य की प्राप्ति है। यह ब्रह्म के अनन्त आनन्द की उपलब्धि है। यह ब्रह्म के अनन्त आनन्द एवं पूर्णता की प्राप्ति है। पूर्णता तथा निस्सीमता ही आनन्द है। सीमित जगत् में आनन्द नहीं है। सीमित स्वरूप ही दुःख है और निस्सीमता आनन्द। यह निःश्रेयस की चरम सीमा है चार्वाक मोक्ष नहीं मानते। कुछ चार्वाक धर्म भी नहीं मानते। चार्वाक धर्म को सुख का साधन मानते हैं। कुछ चार्वाक दैहिक सुख को परम ध्येय मानते हैं।

(२) कर्म के स्रोत

पांतजलि ने कर्म के पाँच स्रोतों का उल्लेख किया है—(१) राग अथवा आसक्ति; (२) द्वेष अथवा घृणा; (३) अस्मिता अथवा मिथ्या अभिमान; (४) अविद्या अथवा अज्ञान; तथा (५) अभिनिवेश अर्थात् मृत्यु-भय। मृत्यु का भय आत्म-रक्षण अथवा जीने की प्रारम्भिक आकांक्षा की वृत्ति में से उत्पन्न होता है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा अस्मिता को भूल से आत्मा मान बैठना ही अविद्या अथवा अज्ञान है। यह अन्य कर्म-स्रोतों का है। 'मैं' और 'मेरे' की भावना अथवा अस्मिता अविद्या (अज्ञान) का फल है। सुखदायी पदार्थ के प्रति आसक्ति और दुःखदायी पदार्थ के प्रति द्वेष भी अज्ञान (अविद्या) से उत्पन्न होते हैं। आत्मा अपने स्वाभाविक रूप में निष्पक्ष अर्थात् सुख-दुःख से परे है। भूल से यह ऐसा मान

बैठती है कि इसे सुख-दुःख होते हैं। आत्मा अविद्या का नाश करके इन सब कर्म-स्रोतों की जड़ काट सकती है। अविद्या का नाश विद्या द्वारा ही हो सकता है। राग (आसक्ति), घृणा, अस्मिता अविद्या एवं मृत्यु भय हमें जगत् के सुखोपभोग (प्रकृति) में प्रवृत्त करते हैं। हम सुख ढूँढने में इन कर्म-स्रोतों द्वारा परिचालित होते हैं। हमें अपने भीतर वैराग्य अथवा अनासक्ति को अभ्यास और तीव्रता द्वारा जागृत करना चाहिये जिससे कि कैवल्य अथवा पूर्ण मुक्ति प्राप्त हो सके। निवृत्ति अथवा आत्म-संयम का कर्म स्रोत अनासक्ति है। सुख की सक्रिय खोज का नाम प्रवृत्ति है। सुखोप-भोगों की घृणा के कठोर प्रयास को निवृत्ति कहते हैं। आसक्ति अथवा राग प्रवृत्ति का कर्म-स्रोत है एवं वैराग्य अथवा अनासक्ति सुखों के परित्याग का।

न्याय-दर्शन राग, द्वेष तथा मोह को कर्म-स्रोत मानता है। राग और द्वेष मोह अथवा अज्ञान से उत्पन्न होते हैं। राग (आसक्ति) के भीतर काम, मत्सर, स्पृहा, तृष्णा, लोभ, माया तथा दम्भ का समावेश होता है तथा द्वेष में क्रोध, ईर्ष्या, असूया, द्रोह, हिंसा तथा अमर्ष का। अज्ञान में मिथ्या ज्ञान, संशय, मान और प्रमाद होते हैं। मनोवेगों तथा पशु-प्रवृत्तियों का मूल कारण अज्ञान है। यह सच्चे ज्ञान द्वारा ही नष्ट किया जाता है।[1]

(३) सदाचार और अन्तर्भावना

(Custom and Conscience as Moral Standard)

मनु ने शाश्वत आचार को नैतिक मानक माना है। शाश्वत आचार से अभिप्राय है समाज में पीढ़ियों से चले आने वाला अच्छे पुरुषों का अच्छा आचरण (सदाचार)। जो रूढ़ आचार का पालन करता है, अर्थात् अपने समाज में प्रचलित नैतिकता का अनुसरण करता है वह दीर्घायु होता है और सुख को प्राप्त होता है। जो व्यक्ति उसका उल्लंघन करता है उसकी सब निन्दा करते हैं, और वह दुख को प्राप्त होता है। जो उसके विपरीत चलता है वह श्रेय का भागी नहीं बनता।

लेकिन मनु केवल रूढ़ नैतिकता को (आधार) नहीं, बल्कि वेदों में विहित ईश्वरीय नियम के साथ संगीत रखने वाली रूढ़ नैतिकता को नैतिक मानक, मानता है। यदि रूढ़ आचार वैदिक विधि-निषेधों के प्रतिकूल है तो मनु के अनुसार वे आदर्श नहीं हैं। मनु ने अन्तर्भावना (Conscience) के आन्तरिक नियम को भी नैतिक मानक माना है जो अन्तर्भावना के अनुकूल है और आत्मा को तुष्टि देता है, वह उचित है। कर्मों के औचित्य और अनौचित्य का ज्ञान अन्तर्भावना से होता है। जो कर्म अन्तर्भावना को पसन्द नहीं हैं और आत्मा को तुष्टि नहीं देता वह अनुचित है।[2]

1. J. N. Sinha, *Inroduction to Indian Philosophy*, p. 92.
2. मनुसंहिता २१८, ४·१५६, २·१५७, १०८, ११०, ५०४।
   J. N. Sinha. A History of Indian Philosophy. Vol. I. p. 47.
3. मनुसंहिता ६·४६, १२·३७ ४·१६१।

साथ ही मनु ने यह भी कहा कि सबसे ऊंचा नैतिक मानक वेदों में विहित ईश्वरीय नियम है और सामाजिक नियम तथा अन्तर्भावना के आन्तरिक नियम उसकी तुलना में गौण स्थान रखते हैं।

महाभारत में ईश्वरीय नियम का प्रकाश करने वाले वेदों और स्मृतियों को तथा रूढ़ आचार को नैतिकता का स्रोत माना गया है।[4] रूढ़ आचार धर्म है। समाज जिन कर्मों की प्रशंसा करता है उन्हें करना धर्म है, और जिनकी वह निन्दा करता है उन्हें करना अधर्म है। धर्म वही है जिसका अनुमोदन और अनुष्ठान पुरुष सर्वत्र करते हैं। अपना अन्तःकरण जिस बात का अनुमोदन करता है वह भी धर्म है। जो श्रेयस्कर है, अहिंसा और सब भूतों के हित का साधक है वह धर्म है। वैदिक विधियों को, रूढ़ आचार को, सत्पुरुषों के अच्छे आचार को और सामाजिक कल्याण को धर्म माना गया है। लेकिन इनमें परस्पर विरोध होने की अवस्था में वेदों का विधान ही मान्य है।

रामायण में भी इसी मत का समर्थन किया गया है। वेद, तर्क सदाचार (सत्पुरुषों का आचरण) और रूढ़ आचार और अनौचित्य निर्धारित करता है। तर्क का स्थान वेदों से गौण है। मानव जाति के हित के प्रति निष्ठा रखना सबसे बड़ा धर्म है।[5]

पुराणों में भी इसी बात का समर्थन किया गया है। वेदों और स्मृतियों में जिस ईश्वरीय नियम का उपदेश किया गया है वही नैतिक मानक है। सारांश में धर्म वही है जिसका ईश्वर ने आदेश दिया है, जिसे सत्पुरुषों का अनुमोदन प्राप्त है, स्वयं अपना अन्तःकरण जिसकी आज्ञा देता है, जो आत्मा को सुख पहुँचाता है और जिससे सब मनुष्यों का हित-साधन होता है। वर्ण के कर्म, आश्रम के कर्म, गृहस्थ के कर्म, गोत्र के कर्म करना और अपने देश के प्रति कर्त्तव्यों को निभाना धर्म है।[6]

(४) चार्वाक का स्वार्थमूलक सुखवाद
(Charvaka Hedonism)

भारत में चार्वाक विचारधारा के अनुयायी सुखवाद के समर्थक हैं। चार्वाक मतावलम्बी सुख को सर्वोच्च शुभ अथवा हित मानते हैं। व्यक्ति के इन्द्रियमूलक सुख में उसका सर्वोच्च शुभ निहित है। स्वर्ग व नरक का कोई अस्तित्व नहीं है। स्थायी आत्मा भी नहीं होती, जब देह में चेतना जाग्रत हो जाती है तो उसे आत्मा कहते है। आत्मा चैतन्य-युक्त देह है। "मरणोत्तर जीवन की कल्पना निराधार और भ्रम-मूलक है। चार्वाक का सिद्धान्त है—यावज्जीवेत् सुखम्, जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिवेतं।"[7] जब तक जियो सुख स जियो, चाहे ऋण भी करना पड़े सुखोपभोग करते

4. महाभारत, शान्ति पर्व, २५६, ३।
5. A History of Indian Philosophy, Vol. 1, pp. 69-70.
6. वही पृष्ठ ८३-८४।
7. वही पृष्ठ १७३।

रहो; (घी पियो)। कभी-कभी दुख को सुख मान लिया जाता है। जहां तक सम्भव हो दुःख को मिटाना तथा सुख का अनुसरण करना चाहिये। सुख में दुख मिला होता है, यह सत्य है परन्तु इस कारण सुख की खोज न करना मूर्खता है। भूसी उड़ाने के दुःख को टालने के लिये कभी चावल खाना छोड़ना नहीं चाहिये। इसी प्रकार हड्डियाँ अलग करने के दुःख से मछली खाना छोड़ देना मूर्खता होगी। इन्द्रियों का अधिकतम सुख इस जीवन में व्यवित का सर्वोच्च शुभ है। जो कर्म दुःख की अपेक्षा सुख अधिक देते हैं, वे सत् हैं तथा जो सुख की अपेक्षा दुःख अधिक देते हैं वे असत् हैं। चार्वाक सिद्धान्त के अनुयायी घोर सुखवाद के समर्थक हैं, वे शारीरिक सुखों की अपेक्षा बौद्धिक सुखों को महत्ता नहीं देते। वे सुख और धन को सर्वोच्च शुभ मानते हैं। सुख स्वयं शुभ है। धन सुख की प्राप्ति का साधन है। धर्म और मुक्ति व्यक्ति के सर्वोच्च शुभ नहीं हैं। चार्वाक एन्द्रिय आत्मसुखवाद धूर्त है। ये ऐन्द्रिय सुख को प्रधानता देते हैं। परन्तु सुशिक्षित चार्वाक (जैसे, कामसूत्र-प्रणेता वात्सायन) काम, अर्थ तथा धर्म—त्रिवर्ग को परम हित मानते हैं। काम या सुख और अर्थ या धन को धर्म के आधीन करना चाहिये। ६४ कलाओं से उत्कष्ट सुख को भी प्राप्त करना चाहिये। सुशिक्षित चार्वाक संस्कृत आत्म सुख-वादी हैं जबकि धूर्त चार्वाक असंस्कृत आत्म-सुखवादी हैं।

(५) चार्वाकों के सुखवाद की आलोचना
(Criticism of Charvaka Hedonism)

भगवद्गीता में, चार्वाक सुखवादियों को अल्प बुद्धि वाले पुरुष कह कर निन्दा की गई। उनकी आत्मा नष्ट हो चुकी है। वे मानव-समाज का विनाश करने वाले हैं। वे मनुष्यों के शत्रु हैं। वे अज्ञान से विमोहित हैं और अपवित्र बातों में लगे रहने वाले हैं। वे अज्ञान के अन्धकार में भटक रहे हैं, भ्रम-वश देह को आत्मा मान बैठे हैं, तथा काम, क्रोध और लोभ के चक्कर में पड़े हैं जो कि नरक के द्वार हैं। वे पशुओं की तरह भोग विलास का जीवन बिताने के कारण नरक में पड़ते हैं। अपनी पाशविक प्रवृतियों की पूर्ति से जब तक वे विरक्त नहीं होते तब तक उन्हें श्रेय प्राप्त नहीं हो सकता (१६।८, १५।१६, २१।२२) शंकर ने उन्हें अशुचि, वंचक और मिथ्याचारी, राक्षस कहा है जो सदाचार से नितान्त शून्य हैं।[8]

भगवद्गीता इन्द्रियों के द्वारा विषयों का भोग करने से प्राप्त सुखों के बारे में कहा गया है कि भोग के समय तो वे अमृत के तुल्य मालूम पड़ते हैं लेकिन उनका परिणाम विष के तुल्य होता है। वे रजस् से पैदा होने के कारण राजस सुख कहलाते हैं। निन्द्रा, आलस्य और प्रमाद से होने वाले सुख आदि में भी और अन्त

---

8. शंकरभाष्य, भगवद्गीता १६.७।

में भी आत्मा को मोह में डालते हैं। तमस् से उत्पन्न होने के कारण वे तामस सुख कहलाते हैं। वे चित्त को कलुषित कर देते हैं। लेकिन जो सुख आत्मा के ज्ञान से उत्पन्न चित्त की निर्मलता से उत्पन्न होता है वह शुरू से विष के तुल्य प्रतीत होता है लेकिन अन्त में अमृत के समान होता है। सत्व से उत्पन्न होने के कारण वह सात्विक सुख कहलाता है (१८३७-३८)। शुभ और अशुभ, सुख और दुःख, राग और द्वेष, सफलता और विफलता के प्रति उपेक्षा का भाव तथा इच्छाओं का त्याग बुद्धि की स्थिरता के लिये आवश्यक हैं।। इन्द्रियों को विषयों से विरत करना प्रज्ञा की स्थिति के लिये आवश्यक है। राग और द्वेष के प्रेरित हुए बिना इन्द्रियों का दमन करना, इन्द्रियों का आत्मा के वश में होना बुद्धि की निर्मलना को पैदा करता है। जब चित्त में निर्मलता उत्पन्न हो जाती है तब वह शान्ति का उपभोग करता है और उसके क्लेश नष्ट हो जाते हैं (२४५, ५५६५)। कठोर तपस्या, अर्थात् आत्मा का मन और इन्द्रियों को अपने वश में करने का मन की समता और आत्मा के साक्षात्कार के लिये परम आवश्यक है। क्षणिक विषय-सुखों का अविवेकपूर्वक सेवन करने से मन की शान्ति नष्ट हो जाती है और कष्ट भोगना पड़ता है। चंचल इच्छाओं की तृप्ति से क्षणिक सुख की प्राप्ति होती है जो कि शान्ति भंग करने वाला है। लेकिन इच्छाओं को पूरी तरह जीतने से शाश्वत शान्ति प्राप्ति होती है (२७०-७१)।

साँख्य-प्रवचन-भाष्य के कर्त्ता विज्ञानभिक्षु ने सुखवाद की इस प्रकार आलोचना की है। सारे दुःखों का आत्यन्तिक निरोध पुरुषार्थ है। सम्पत्ति इत्यादि के सचय से उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। सम्पत्ति के दुःख का जो उपशमन होता है वह अस्थायी होता है। जब सम्पत्ति समाप्त हो जाती है तब दुःख पुनः लौट आता है। क्षणिक विषयों के उपभोग से जो सुख मिलता है वह अस्थायी होता है और इसलिये उससे थोड़े समय के लिये ही दुःख से मुक्ति मिलती है। भूख और प्यास की वेदनायें खाने और पीने के सुखों से कुछ देर के लिये मिट जाती हैं। भूख और प्यास की पुनरावृत्ति समय-समय पर होती रहती है क्योंकि ये पुनरावर्ती शारीरिक आवश्यकतायें हैं। क्षण-भंगुर लौकिक उपायों से दुःख की आत्यान्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती। सुख क्षण भंगुर होते हैं और इस कारण उनकी प्राप्ति परम पुरुषार्थ नहीं हो सकता (साँख्य प्रवचन भाष्य १२-४)।

"वेदान्त परिभाषा" के लेखक धर्मराज्याध्यरीन्द्र ने सातिशय सुख और निरतिशय सुख में भेद किया है। सातिशय सुख विषय हैं सुख जो इन्द्रियों का विषयों से संयोग होने पर मिलता है। इन सुख में मात्राओं का भेद होता है। यह ब्रह्मानन्द का लौकिक प्रशासन है और सत्व-प्रधान चित्त को इनका अनुभव होता है। यह आत्यान्तिक आनन्द की अधूरी छाया है। यह उत्पन्न और नष्ट होता रहता है। यह क्षण-भंगुर है। लेकिन निरतिशय सुख यानी ब्रह्मानन्द न उत्पन्न होता है, न नष्ट होता है। वह शाश्वत होता है। अविद्या के कारण अर्थात् आत्मा को मन और देह

के अभिन्न मानने के कारण जो समस्त दुःख पैदा होता है उसका ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के पश्चात् सदैव के लिये अनुच्छेद हो जाता है । सातिशय सुख की विभिन्न मात्रायें होती है, लेकिन निरतिशय सुख एक, समरस, नित्य, अविषयज और मात्रा-भेद से रहित होता है । ब्रह्म के अनुभव की तरह ब्रह्मानन्द भी आत्मा में सहज रूप से रहता है । जो सहज है उसकी प्राप्ति कैसे ? अविद्या के आवरण के हटने से ब्रह्मानन्द अपने-आप प्रकट हो जाता है जब अविद्या की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। उसका उदय होता है । वही परम पुरुषार्थ है ।[9]

(६) संयम और मात्रा (Measure or Mean)

अरस्तू ने सद्गुण का विषय सुखों का अत्यधिक सेवन और उनसे बिल्कुल विरत होने के मध्य की स्थिति का चुनाव कहा है । बुद्ध ने भी सद्गुण को मिताचार माना है जो ऐन्द्रिय सुख की प्राप्ति के लिये कामों के अत्यधिक सेवन से और कामों को बिल्कुल मिटा देने से भी भिन्न है । बुद्ध ने मिताचारी जीवन को साधु-जीवन माना है । उन्होंने न सुखवाद का समर्थन किया है और न सन्यासवाद का । परार्थ का तथा ऊँचे भावों, अनुशासित इच्छाओं और शान्त चिन्तन का जीवन बुद्ध को अभीष्ट है । मानव-जाति के हित के लिये और सब भूतों के हित के लिये आत्म-सयम करना धर्म का सार है । एक जैन दार्शनिक गुणभद्र ने माना है कि असयत विषय-सुखों का भोग आत्मा की साधुता को और उसकी नैतिक समता को नष्ट कर देता है इस कारण बुरा है, लेकिन संयत विषय-सुख आत्मा की साधुता और नैतिक समता को बढ़ाते हैं इस कारण अच्छे हैं । अतः प्राकृतिक इच्छाओं, ऊँचे भावों और आवेगों को दबाना नहीं चाहिये, बल्कि बुद्धि के द्वारा उनका समन्वय और तन्त्रीकरण करके उन्हें एक संगतिपूर्वक नैतिक जीवन का अंग बना देना चाहिये । यह मत आत्मपूर्णतावाद (Eudaemonism) की तरह है ।[10]

भगवद्गीता में नियताचार को परम पुरुषार्थ का अपरिहार्य साधन माना गया है । नियताचार से अभिप्राय है—न अधिक खाना, न अति उपासना करना, न अति श्रम करना, न निश्चेष्ट बैठना, न अति सोना, न बिल्कुल न सोना, न अधिक जागना, न बिल्कुल न जागना इत्यादि । नियताचार का मतलब है—मिताहार, मित-पान, मित-चेष्टा, मित-निद्रा, मित-जागरण इत्यादि । शरीर और चित्त की मित क्रिया नियतचार है । (६·१६, १७, ४·३०) । योग (मानसिक अनुशासन) के लिये मिताचार अपरिहार्य है । शरीर, वाणी और मन का सयम तथा इच्छाओं का संयम मानसिक समता के लिये अत्यावश्यक है । (१८·५२–५३) । सौमनस्य, शम, आत्म-संयम और चित्त-शुद्धि के मन के संयम हैं (१७·१६) । अनियताचार से मानसिक

---

9. वेदान्त परिभाषा, अध्याय ८. शिखामणि और मणिप्रभा ।

10. आत्मानुशासन :
Ethics of Hindus (S K. Maitra). p. 320-21.

समता नष्ट हो जाती है और मन पूर्णता प्राप्त करने के योग्य नहीं रह जाता। आत्म-संयम साधु-जीवन का आधार है।

(७) बाह्य नियम (External Law)

(१) **राजनैतिक नियम का नैतिक मानक**—चार्वाक सुख को परम पुरुषार्थ मानते हैं और दुःख को नरक के तुल्य। वे राजा को परमेश्वर के तुल्य मानते हैं।[1] राजा ने अपनी प्रजा के ऊपर राजनीतिक नियम को लागू किया है, वही नैतिक मानक है। जो कुछ भी उसका आदेश हो वह सत्य या उचित है। जो उसका आदेश नहीं है उसे करना अनुचित है। अगर कोई राजनीतिक नियम का उल्लंघन करता है तो वह दण्ड के योग्य है।

(२) **आप-पुरुषों का आदेश नैतिक मानक है**—बुद्ध, जैन या तीर्थंकरों के आदेश कर्त्तव्य हैं और जिसका उन्होंने निषेध किया है वह अकर्त्तव्य हैं ये साधु-सन्त अपनी इच्छाओं पर पूरी विजय प्राप्त कर चुके हैं और उनका मन पूर्ण रूपेण शान्त होता है। इसलिये वे नैतिकता के विषय में एकमात्र प्रमाण होते हैं। जिनका वे आदेश करते हैं वह उचित है और जिसका वे निषेध करते हैं उसे करना अनुचित है। राजा की इच्छा औचित्य और अनौचित्य द्वारा निर्धारित नहीं है, क्योंकि राजा नैतिक दृष्टि से पूर्ण नहीं होता। यह बौद्धों और जैनों का मत है जो ईश्वर में विश्वास नहीं करते। बौद्ध बुद्ध को और जैन जैनों को नैतिक आप-पुरुष मानते हैं।

रामायण में भी ईश्वर के आदेशों को नैतिक मानक माना गया है। लेकिन उचित का अर्थ ईश्वर के द्वारा आदिष्ट होना और अनुचित का अर्थ ईश्वर के द्वारा निषिद्ध होना नहीं है। ईश्वर के आदेश केवल यह प्रकट करते हैं कि कुछ बातों को ईश्वर उचित समझता है और कुछ बातों को अनुचित समझता है। ईश्वरीय आदेश और निषेध उचित और अनुचित का प्रकाश करते हैं।

भगवद्गीता वेदों का कर्त्ता ईश्वर को मानती है जो पूर्णता प्राप्त नैतिक शासक हैं। वह वैदिक की विधि-निषेधों को उचित और अनुचित की कसौटी मानती है। जो वैदिक विधियों की उपेक्षा करके अपनी क्षणिक इच्छाओं की पूर्ति में तत्पर रहता है उसे कभी शाश्वत सुख, पूर्णता और परम श्रेय की प्राप्ति नहीं हो सकती। धर्म का प्रमाण केवल वेद है जो उचित और अनुचित का निर्धारण करते हैं। (१६·२२–२३)।

(८) ईश्वरीय नियम (Divine Law)

शंकर ने सापेक्ष लौकिक नीति और निरपेक्ष पारमार्थिक नीति के मध्य भेद किया है। वह ईश्वर या सगुण ब्रह्म को निर्गुण ब्रह्म से भिन्न मानता है। ईश्वर ब्रह्म का विवर्त है अर्थात् वह माया की उपाधि से परिच्छिन्न या उससे प्रतिबिम्बित ब्रह्म है। वह व्यावहारिक जगत का कर्ता है और वेदों का भी कर्ता है, जिसमें उसके

1. सर्वदर्शन संग्रह, अध्याय १।

आदेशों और निषेधों का संग्रह है। हमें व्यावहारिक जगत की सामाजिक नीति के निम्न, सापेक्ष स्तर पर वेदों के विधि-निषेधों का पालन करना चाहिये। इसी समय हम उससे ऊपर उठने की योग्यता प्राप्त कर सकते हैं। जब हम उसके ऊपर उठकर अपने सत्य स्वरूप सच्चिदानन्द ब्रह्म को प्राप्त कर लेंगे तब हमें वैदिक विधि-निषेध मिथ्या प्रतीत होने लगेंगे। निरपेक्ष, पारमार्थिक स्तर पर पहुँच कर हम वेदों के द्वारा आदिष्ट लौकिक कर्त्तव्यों की अनावश्यकता को पहिचान लेंगे। वेदों के आदेश केवल व्यावहारिक दृष्टि से सत्य हैं और आन्तरिक नीति के उच्चतर स्तर में पहुँचने से उनका बोध हो जाता है। उस स्तर में बाह्य नियम की जगत आत्म-संतोष और आत्म-लाभ के आन्तरिक मानक नैतिकता के प्रमाण हो जाते हैं। उच्चतर नैतिकता का परिपाक आत्मा या ब्रह्म के अनुभव या साक्षात्कार में होता है, और अविकल ज्ञान, आत्म-रति तथा आत्म-क्रीड़ा तथा अखण्ड आनन्द की प्राप्ति होती है।

भगवद्गीता में आत्म-सुख, आत्मसंतोष और आत्म-क्रीड़ा को परम श्रेय माना गया है। ऐसी स्थिति उस समय होती है जबकि मनुष्य सारी इच्छाओं, पुण्य-पापों, धर्म और अधर्म के पार पहुँच जाता है। यह आत्म-बुद्धि (आत्म-ज्ञान) से पैदा होती है। बुद्धियुक्तो जतातीह ऽसे सुकृतदुष्कृते—२५०। प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्। आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते। (२५५, २६५, २१७)।

मीमांसा के अनुयायी प्रभाकर अपूर्व को यानि अतीन्द्रिय नैतिक नियम को मानते हैं।[12]

(६) लोकस्थिति, लोकश्रेय और लोक-संग्रह (Social Solidarity)

नैयायिक जयन्त भट्ट ने लोक-स्थिति यानि सामाजिक सन्तुलन को परम पुरुषार्थ कहा है। लेकिन इसकी नैतिक प्रगति से संगति नहीं हैं; केवल नैतिक व्यवस्था से संगति है। जयन्त ने लोकसिद्धि यानि सामाजिक हित को भी परम पुरुषार्थ माना है। इस आदर्श की नैतिक प्रगति से संगति है।[13]

महानिर्वाण तन्त्र में लोकश्रेय को नैतिक मानक माना गया है। यह आदर्श लोक-स्थिति के आदर्श से अच्छा है।[14]

भगवद्गीता ने व्यावहारिक नैतिकता के स्तर में लोक-संग्रह को अर्थात् सामाजिक कल्याण को परम पुरुषार्थ माना है। अपने वर्ण और आश्रम के अर्थात् अपनी सामाजिक स्थिति के अनुसार निष्काम भाव से अपने विशेष कर्त्तव्यों को करते रहने से मनुष्य ससिद्धि (पूर्णता) प्राप्त करता है, यदि वह मनुष्य-मात्र के हित

---

12. *Ethics of the Hindus*, pp. 325-31.
13. *Ibid*, pp. 301-302.
14. *Ibid*, p. 303.

के लिये उनको करता रहे। (२२०)। बुद्धिमान् पुरुष को मनुष्य-जाति के हित के लिए राग रहित होकर स्वधर्म का पालन करना चाहिए (३२५)। शंकर ने 'लोक-सग्रह' का अर्थ यह किया है कि दुराचारियों को पाप-कम से रोका जाये और सदाचारी बनने की शिक्षा दी जाये।' इस प्रकार लोकसंग्रह मनुष्य का नैतिक नव-निर्माण करता है (शांकर-भाष्य, ३·२०)। भगवद्गीता ने सर्व-भूत-हित को सबसे बड़ा लौकिक आदर्श माना है (११·५५; १२·१३; १६·२; ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वतभूहिते रताः १२·४)। सर्व-भूत-हित ईश्वर की प्राप्ति का उपाय है। लेकिन जो आत्मानन्द, आत्म-सन्तोष को प्राप्त कर चुका है उसके लिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं है (३·१७)। गीता पूर्ण अहिंसा, विश्व-प्रेम, करुणा, सद्भावना मैत्री परोपकार को सर्वोच्च धर्म मानती है (१६·२, ३)। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कुछ पाश्चात्य आलोचकों की यह धारणा पूर्णतया असत्य है कि हिन्दू-नीति स्वार्थवादी है।

(१०) आत्मा अनात्मा के विवेक-ज्ञान
(Discrimination of Self-from Not-self)

सांख्य-दर्शन ईश्वर या ब्रह्म में आस्था नहीं रखता। वह अनेक पुरुषों (आत्मा) को मानता है जो कि नित्य शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव वाले हैं। चित् (चैतन्य) आत्मा स्वरूप है, उनका आगन्तुक गुण नहीं। प्रकृति का पुरुष के भोग के लिये परिणाम होता है और उसके मोक्ष के लिये उनका प्रलय होता है। जगत्, शरीर, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकार प्रकृति की विकृतियाँ बुद्धि प्रकृति का विकार है और सुख और दुःख, धर्म और अधर्म, ज्ञान और प्रयत्न बुद्धि की अचेतन वृत्तियाँ हैं। वे चेतन इसलिये प्रतीत होती हैं कि शुद्ध चैतन्यरूप पुरुष बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता है और बुद्धि की वृत्तियों का पुरुष में प्रतिबिम्ब पड़ता है। इसी कारण निष्क्रिय और उदासीन स्वरूप वाला पुरुष सुख और दुःख का भोक्ता और कर्मों का कर्त्ता प्रतीत होता है। पुरुष का न बन्ध होता है और न मोक्ष होता है। बन्ध और मोक्ष औपाधिक हैं। अविवेक के कारण पुरुष का बन्ध होता है। जब विवेक-ख्याति प्राप्त करके पुरुष अपने असली स्वरूप को बुद्धि, शरीर इत्यादि प्रकृति की विकृतियों से अलग पहिचान लेता है और बुद्धि की वृत्तियों को अपने गुण मानना छोड़ देता है तब वह मोक्ष की अपनी सहज अवस्था में आ जाता है। विवेक-ख्याति जिसके द्वारा कि औपाधिक बन्ध का अन्त हो जाता है, तार्किक ज्ञान नहीं है बल्कि अन्तःप्रज्ञात्मक है। पुरुषों का प्रकृति से संयोग अनादि है, किन्तु पुरुष की पृथक् सत्ता की अन्तःप्रज्ञा या विवेक-ख्याति से इस संयोग का अन्त हो सकता है। पुरुष का प्रकृति और उसकी विकृतियों से सादृश्य कदापि नहीं है। शुद्ध पुरुष के सहज मोक्ष की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह मन, बुद्धि और अहंकार से नितान्त अपरिच्छिन्न शुद्ध आत्मा को इस जीवित देह से भिन्न समझ ले और प्रकृति मे अपने पूर्ण स्वातन्त्र्य और कैवल्य का बोध कर ले। जब प्रकृति से शुद्ध आत्मा के पृथक् होने की अन्तःप्रज्ञा का उदय हो जाता है तब बुद्धि प्रकृति में

लीन हो जाती है और वह आत्मा को अपने बन्धन में रख सकती है। अविवेक-राग और बन्धन का कारण है। विवेक वैराग्य और मोक्ष का कारण है। विवेक पुरुष की प्रकृति से जो आसक्ति है उसे तोड़ देता है। ज्ञान मोक्ष का साधन है। कर्म का कोई लाभ नहीं है। मोक्ष की प्राप्ति न काम्य कर्मों से हो सकती है और न नित्य कर्मों से। योगशास्त्र के प्रणेता पतञ्जलि ने अष्टांग-योग के अभ्यास को क्लेशों के सुप्त संस्कारों को नष्ट करने के लिये आवश्यक माना है। यम (इन्द्रियों का संयम), नियम (नैतिक कर्त्तव्य), आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार (इन्द्रियों को विषय से खींच लेना), धारणा (मन को एकाग्र करना), ध्यान और समाधि योग के आठ अंग हैं। पतञ्जलि कैवल्य को अर्थात् आत्मा की पृथक्ता को मोक्ष मानता है, यद्यपि वह ईश्वर को भी मानता है। ईश्वर का चिन्तन और सब कर्मों को ईश्वरार्पण-बुद्धि से करना कैवल्य का साधक है। इसके विपरीत, शंकर आत्मा और ब्रह्म के अभेद के साक्षात् ज्ञान को आत्मा के सहज मोक्ष का साधक मानता है, यद्यपि साँख्य की तरह उसने भी बन्धन और मोक्ष को औषाधिक मात्र और अज्ञान से उत्पन्न माना है। साँख्य नित्य शुद्ध पुरुष और प्रकृति के विवेक (पार्थक्य) के ज्ञान पर बल देता है, जबकि शंकर शुद्ध आत्मा के सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म से अभिन्न होने के ज्ञान पर बल देता है। शंकर ने चित्त-शुद्धि के लिए कर्म को साधन-रूप में स्वीकार किया है।

(११) प्रवृत्ति और निवृत्ति (Self-gratification and Self-conquest)

शंकर ने नैतिक जीवन का दो भागों में भेद किया है—प्रवृत्ति मार्ग व निवृत्ति मार्ग। प्रवृत्ति मार्ग लौकिक इच्छाओं की पूर्ति का मार्ग तथा निवृत्ति मार्ग लौकिक इच्छाओं की पूर्ति से बचने का मार्ग है। पहिला मार्ग लौकिक आचार का निम्न स्तर है, जबकि दूसरा निवृत्ति मार्ग पारमार्थिक नीति, या साधारण नीति से ऊपर का, अर्थात् आत्मा के ज्ञान का उच्चतर स्तर है।[15]

अपने वर्ण तथा आश्रम के विशिष्ट धर्मों का और पृथ्वी और स्वर्ग में सुख प्राप्त करने के लिये वेदों और स्मृतियों ने जिन काम्य-कर्मों का विधान किया है उनका अनुष्ठान करने से अभ्युदय की सिद्धि होती है। जब उनका अनुष्ठान वासना से शून्य होकर, राग और द्वेष से मुक्त होकर, परिणामों का विचार न करते हुए केवल कर्त्तव्य समझकर किया जाता है तब इस प्रकार निष्काम भाव से किया हुआ कर्म चित्त को शुद्ध करता है, और शुद्ध आत्मा से सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करने के योग्य बना देता है जो निश्रेयस है। निवृत्ति से अभिप्राय है सर्व-कर्म-सन्यास अर्थात् सारे कर्मों का त्याग। इसमें व्यक्ति सारे काम्य-कर्मों का करना त्याग देता है। फल की इच्छा न करते हुए अपने को पूरी तरह ईश्वर के ऊपर छोड़ कर कर्त्तव्यों को निष्काम होकर करना चित्त को निर्मल कर देता है जो कि परम पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिये अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि इससे आत्म-ज्ञान का उदय होता है।[16] आत्म-ज्ञान का उदय कराने वाली नैतिकता के उच्च स्तर पर पुत्र, धन,

15. *Ethics of the Hindus*, pp. 256–59.
16. शंकर : गीताभाष्य, भूमिका।

पार्थिव और स्वर्गिक सुख की कामनाओं (पुत्रैषणा, वित्तैषणा औप लोकैषणा) का नाश हो जाता है। तब उन सारे कर्मों का त्याग हो जाता है जो काम से उत्पन्न होते हैं। काम का कारण अवधि अर्थात् आत्मा और देह के अभेद की मिथ्या-बुद्धि है। ज्ञान मार्ग और कर्म-मार्ग के समुच्चय से परम पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि कर्म तो अविद्या या अन्धकार है और ज्ञान प्रकाश यानी अविद्या का नाशक है। ये दोनों एक साथ नहीं रह सकते। इसलिये निःश्रेयस की प्राप्ति केवल ज्ञान से हो सकती है (वही २११, २१, ३१, ३, १६)। आत्मा के सम्यक् दर्शन के बिना आसक्ति का पूरी तरह विनाश सम्भव नहीं है (वही २५९)। भगवद्गीता में यह माना गया है कि जिसे आत्मा का दर्शन हो चुका हो, जिसकी आत्मा में रति हो, जो आत्मा से सन्तुष्ट हो और उससे खेलता हो, उसके लिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहता (यः स्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मपृश्च मानव। आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्य न विद्यते) (३१६)। सर्वोच्य श्रेय (मोक्ष) सुकृत और दुष्कृत से परे है। वह आत्मा की अलौकिक अवस्था है (२५०)। इसके अतिरिक्त गीता में कहा गया है कि मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए, फलों की कामना न करते हुए, ईश्वरार्पण बुद्धि से अपने वर्ण और आश्रम के विशिष्ट कर्त्तव्यों को करते रहने से भी मनुष्य पूर्णता प्राप्त कर सकता है (कर्मणेव हि ससिद्धिमास्थिता जनकादयः लोकसंग्रहमेवापि संपम्यन् कर्तुमहसि। ३२०; स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानवः—१८४६)।

रामानुज ने कर्त्तव्यों का निष्काम भाव से पालन, भक्ति और ज्ञान को मोक्ष की प्राप्ति के लिए आवश्यक बताया है गीता का लोक-संग्रह के लिए एक निष्काम-कर्म करने का सिद्धान्त शंकर के प्रवृत्ति-मार्ग (इच्छा और कर्म का रास्ता) और निवृत्ति मार्ग (इच्छा और कर्म के त्याग का रास्ता) का समन्वय है।[17]

(१२) आसुरी सम्पद् (Demoniac vices)

भगवद्गीता में असुर अर्थात् आसुरी वृत्ति के पुरुष के गुणों का वर्णन किया गया है। दर्प, अभिमान, अहंकार, क्रोध, कटु शब्द, और अज्ञान असुर के गुण हैं जो उसे बन्धन में डालते हैं। असुर को ऐच्छिक कर्मों के शुभाशुभ—अर्थात् कौन से कर्म किये जाने चाहिये, तथा कौन से कर्म नहीं किये जाने चाहिये, का ज्ञान नहीं रहता। उसे रूढ़ आधार का ज्ञान नहीं होता। वह सत्यवादिता और शौच का अभ्यास नहीं करता। वह भौतिक जगत् को सर्वस्व मानता है और ईश्वर में विश्वास नहीं करता। वह क्रूर कर्म करने वाला और दूसरों को हानि पहुँचाने वाला होता है। वह विषय सुख की कभी न बुझने वाली प्यास, दम्भ, अहंकार, अभिमान और मोह से प्रेरित होकर अनैतिक कर्म करता है। वह सदैव क्षणिक शारीरिक सुखों के पीछे दौड़ता रहता है। वह अपनी चंचल इच्छाओं की पूर्ति हेतु धन का संचय करता है। वह काम क्रोध, लोभ, अभिमान, बल, स्वार्थ मोह, ईर्ष्या, और आशा का दास होता है। वह सदैव अपनी ही इच्छा के अनुसार चलता है और धर्म का उपदेश करने वाले

17. वही पुस्तक, पृष्ठ २०६–२०९।

शास्त्रों की उपेक्षा करता है। वह भोगों के पीछे दौड़ता रहता है तथा कभी सुख प्राप्त नहीं करता। सुख की प्राप्ति धर्म के आचरण व इच्छाओं की विजय से होती है। कामों के पीछे भागने से सुख-सन्तोष कदापि नहीं मिल सकता। असुर को कभी पूर्णता, शान्ति और सन्तोष की प्राप्ति नहीं होती। जब कोई काम, क्रोध, लोभ और अन्य पाशविक वासनाओं को जीत लेता है और श्रेय साधक कर्मों को करता है, तब उसे परागति प्राप्त होती है (१६४—३२)।

(१३) दैवी सम्पद् (Godly Virtues)

देव-तुल्य पुरुष के गुण इस प्रकार हैं : निर्भयता, चित्त का प्रसाद या शुद्ध प्रज्ञा के उदय का कारणभूत ध्यान का स्थैर्य, दानशीलता, इन्द्रिय-संयम, यज्ञों का अनुष्ठान, शास्त्रों का अध्ययन, तपस्या, सारल्य, मनसा-वाचा-कर्मणा हिंसा न करना, सत्यवादिता, अक्रोध, त्याग, शम, अपशब्द न बोलना, सब प्राणियों के प्रति करुणा, अलोभ, मार्दव, अनुचित कर्मों में लज्जा, निरर्थक कर्मों से बचना, क्षमा, धैर्य, शरीर और चित्त की शुद्धता, शत्रुता का अभाव, और अभिमान का न होना। उपरोक्त गुण मोक्ष के साधन हैं (१६१—३, ५)। इनका अभ्यास किया जाना चाहिये।

(१४) स्थितप्रज्ञ के लक्षण (Qualities of the Perfect)

जिसकी बुद्धि स्थिर है वह सारी इच्छाओं का त्याग कर देता है और आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता हैं। वह राग, भय और क्रोध से दूर रहता है। वह सम्पत्ति में हर्षित और विपत्ति में विषण नहीं होता। शुभ से उसे प्रसन्नता नहीं होती और अशुभ से उसे विषाद नहीं होता। वह पूर्णतया विरक्त होता है और किसी भी वस्तु के प्रति अनुरक्त नहीं रहता। वह अपनी इन्द्रियों को अपने विषयों से खींच लेता है और उन्हें अपनी बुद्धि के वश में रखता है। ज्ञानी पुरुष भी अपनी इन्द्रियों को अपने वश में नहीं कर सकता; प्रयत्न से अपने को रोकते हुए भी उसका ध्यान विषयों की तरफ चला जाता है। लेकिन स्थितप्रज्ञ अपनी इन्द्रियों को पूरी तरह अपने वश में रखता है और अपने चित्त को ईश्वर में लगाता है जो कि उसके जीवन का सर्वोच्च ध्येय होता है। जो पुरुष सतत् विषयों का चिन्तन करता है उसकी उनसे आसक्ति हो जाती है। आसक्ति से काम होता है। अगर काम की तृप्ति न हो तो उससे क्रोध पैदा होता है। क्रोध से मोह पैदा होता है। मोह से स्मृति-भ्रंश पैदा होता है जो ज्ञान-शक्ति को नष्ट करता है। जब बुद्धि का नाश हो जाता है तब पुरुष अपने श्रेय की प्राप्ति नहीं कर सकता। जब पुरुष राग और द्वेष से विवर्जित होकर इन्द्रियों को पूरी तरह आत्मा के वश रखकर विषयों का भोग करता है तब उसे प्रसाद की प्राप्ति होती है। जब चित्त को प्रसाद प्राप्त हो जाता है तब उसके सारे शोक नष्ट हो जाते हैं और उसकी बुद्धि शीघ्र प्रतिष्ठित हो जाती है। जिसकी बुद्धि प्रतिष्ठित नहीं है उसकी ईश्वर में दृढ़ श्रद्धा नहीं हो सकती। जिसकी ईश्वर में श्रद्धा नहीं है उसे शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। जिसे शान्ति प्राप्त नहीं है वह सुखी नहीं हो सकता। जब मन तथा इन्द्रियाँ पूर्णरूपेण आत्मा के वश में हो

जाती हैं तब बुद्धि निश्चल हो जाती है और उसे दृढ़ प्रज्ञा की प्राप्ति होती है। जो हमेशा काम-तृप्ति के सुख से पीछे दौड़ता रहता है वह कभी शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। लेकिन जो जल-धाराओं के मिलते रहने पर भी बिल्कुल शान्त रहने वाले समुद्र की तरह, कामों से बिल्कुल भी क्षुब्ध नहीं होता, वह शान्ति को प्राप्त करता है। जो सारे कामों का त्याग करता है, और आसक्ति और अहंकार से शून्य है, वह शान्ति प्राप्त करता है। शान्तिपूर्ण निःस्पृहता आत्म-संयम से प्राप्त होती है। कामों के उपभोग से काम कभी शान्त नहीं होते; वरन् तृष्णा ही बढ़ती है। जब उनका पूरी तरह त्याग कर दिया जाता है तब मनुष्य को आत्म-प्रसाद प्राप्त होता है और उसे शुद्ध, चित्त और आनन्द की सिद्धि होती है। तब उसका जीवन ब्रह्ममय हो जाता है। यह स्थिति ब्राह्मी स्थिति कहलाती है। जब इस स्थिति की प्राप्ति हो जाती है तब मनुष्य कभी मोह-ग्रस्त नहीं होता। उसे अनन्त आनन्द की प्राप्ति हो जाती है और मृत्यु के उपरान्त वह ब्रह्म में लीन (ब्रह्म-निर्वाण) हो जाता है अथवा उसका ईश्वर से साधर्म्य हो जाता है। (२।५४–७२; ५।२१; ११।२१; १४२७)।

(१५) ईश्वरीय नियम (न्याय) (Divine Law)

न्याय-दर्शन ईश्वरीय विधान को नैतिक मानदण्ड मानता है। ईश्वर द्वारा आदिष्ट कर्म सत् हैं। ईश्वर द्वारा निषिद्ध कर्म असत् हैं। ईश्वर की विधियाँ और उसके निषेध वेदों में वर्णित हैं। वेदों की रचना ईश्वर ने की है। वह नैतिक नियमों को लागू करने वाला है। वे नियम शास्त्रों में पाये जाते हैं। नीति का स्रोत ईश्वर है। मनुष्य ईश्वरीय नियम का पालन करके धर्म या पुण्य अर्जन करता है और उसका उल्लंघन करके अधर्म या पाप अर्जन करता है। मनुष्यों के ऐच्छिक कर्म संकल्प-स्वातन्त्र्य से प्रेरित हैं। ऐच्छिक कर्म स्वयं-नियन्त्रित अथवा आत्म-नियन्त्रित हैं। मानव-स्वतन्त्रता ईश्वराधीन है। मनुष्य स्वभावतः इन्द्रियज आत्म-सुख चाहता है। यह प्रवृत्ति-मार्ग है। परन्तु उसको इन्द्रिय-दमन करके निवृत्ति-मार्ग पर चलना चाहिये। ईश्वरीय आदेश इस मार्ग को बतलाता है, इन्द्रिय-सुख या प्रेयः को छोड़ कर परम हित या श्रेयः की प्राप्ति के साधनों को।

(१६) धर्म (प्रभाकर) (Moral Law)

न्याय-दर्शन के अनुसार धर्म एक निश्चित गुण है। परन्तु एक प्रसिद्ध मीमांसक प्रभाकर धर्म को नियोग अथवा एक वस्तुगत नैतिक आदेश मानते हैं जो वैदिक आज्ञाओं में सन्निहित है। उनका कहना है कि धर्म वैयक्तिक नहीं है, आत्मगत नहीं है, परन्तु वस्तुगत है। जो व्यक्ति धर्म का पालन करता है वह गुणवान् कहलाता है। धर्म इन्द्रियों की अनुभूति से परे नैतिक नियम अथवा नियोग है। यह श्रेयस् की प्राप्ति कराता है। इसका बोध वैदिक आज्ञाओं से प्राप्त होता है। धर्म व्यक्तिगत आदेश नहीं है। न्याय इसे ईश्वरीय आदेश मानता है। परन्तु वह अन्यापेक्ष नहीं है। यह अव्यक्ति आदेश है और वह इसका अधिष्ठान स्वयं-भूत है।

धर्म की स्वतन्त्र सत्ता होती है। वह अपनी सत्ता किसी व्यक्ति से प्राप्त नहीं करता। यह स्वयं प्रकट होने वाला तथा आत्म-सत्तात्मक है। यह अपनी सत्ता किसी परोक्ष अथवा अलक्ष्य से प्राप्त नहीं करता। यह सर्वोच्च अव्यक्तिगत नैतिक नियम है। धर्म स्वयं सिद्ध होता है। मनुष्य अपनी इच्छा से धर्म का निर्माण नहीं करता। यह एक प्रकार से कर्त्तव्य-स्वरूप है। यह बाधक-कारक नहीं है। यह स्वयं ही अपना लक्ष्य है। यह किसी अन्य परोक्ष लक्ष्य की प्राप्ति का साधन नहीं है। धर्म का पालन धर्म के लिये ही करना चाहिये। कर्त्तव्य का पालन कर्त्तव्य के लिये होना चाहिये। फल की इच्छा अथवा उसका विचार किये बिना नियोग (धर्म) अनुसरण करना ही नैतिकता है। प्रभाकर का यह विचार कान्ट के विचार के सदृश है। परन्तु कान्ट का निरपेक्ष आदेश (Categorical Imperative) व्यावहारिक बुद्धि का वस्तुगत नियम है। जबकि प्रभाकर का नियोग नैतिक व्यवस्था का एक इन्द्रियातीत नियम है। निरपेक्ष आदेश कर्त्तव्य-स्वरूप हैं। परन्तु प्रभाकर का नियोग अथवा नैतिक नियम एक परम सत्ता अथवा स्वयं-सिद्धि है। इस प्रकार, प्रभाकर और कान्ट दोनों ही बुद्धिवाद, और कठोरतावाद का समर्थन करते हैं, तथापि उनके विचारों में पर्याप्त भिन्नता है।[18]

(१७) भगवद्गीता तथा कान्ट का नीति-शास्त्र
(Karmayoga and Kant's Ethics)

गीता समाज में व्यक्ति के स्थान अथवा जाति से सम्बन्धित कर्त्तव्यों के पालन पर जोर देती है। गीता के अनुसार कर्त्तव्यों के पालन में फल की कोई आकांक्षा, राग-द्वेष, स्वार्थ-परायणता एवं निम्न-कोटि की भावनाओं और मनोवेगों को कोई स्थान नहीं होना चाहिये। कर्त्तव्यों का पालन कर्त्तव्यों के लिये ही होना चाहिये (अध्याय १८, श्लोक ६)। यहां तक गीता के उपदेशों और कान्ट के विचारों में समानता पाई जाती है। सर्वप्रथम, गीता में ईश्वर की प्राप्ति को सर्वोच्च शुभ माना गया है। ईश्वर की प्राप्ति के लिये ही कर्त्तव्यों का पालन होना चाहिये। (अध्याय १२, श्लोक ४)। कान्ट ईश्वर की प्राप्ति को सर्वोच्च शुभ नहीं मानता। दूसरे, गीता में लोक-संग्रह की दृष्टि से कर्त्तव्य पालन पर बल दिया है। कर्त्तव्यों का पालन समस्त प्राणियों की हित की दृष्टि से होना चाहिये। गीता के १२ वें अध्याय और चौथे श्लोक में कहा गया है—"वे प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहितेरता।" यहाँ हित का अर्थ सुख नहीं है वरन् नैतिक शुभ है। समाज का सर्वोच्च सामान्य हित ही व्यक्ति का मान्य हित है। यह व्यक्ति को ईश्वर की ओर ले जाता है। (अध्याय १२, श्लोक ४)। कान्ट ने चरित्र-गुण अथवा सत् इच्छा को सर्वोच्च हित माना है। यह व्यक्ति का हित है। कान्ट ने धर्म और आनन्द के पूर्ण समन्वय को पूर्ण शुभ माना है। यही व्यक्तिगत शुभ भी है। साध्यों के साम्राज्य का कान्ट का विचार गीता के लोकसंग्रह विचार से मिलता-जुलता है उसने सत् की धारणा,

18. जे. एन. सिन्हा : इन्ट्रोडक्शन टु इण्डियन फिलासफी, पृष्ठ २८९–२९०।

नैतिक नियम तथा निरपेक्ष आदेश पर बल दिया है। उसने शुभ को सत् से उच्च नहीं माना है। उसका नीति-शास्त्र वैधानिक है, परन्तु गीता का नीति-शास्त्र उद्देश्य प्रधान है। कान्ट का नीति-शास्त्र व्यक्तिगत है और गीता का विश्वगत है। तीसरे, कान्ट का नीति-शास्त्र एक प्रकार का सन्यासवाद है परन्तु गीता में सन्यास का समर्थन नहीं किया गया। कान्ट भावनाओं और मनोवेगों को कुचल डालने के पक्ष में है परन्तु गीता में सभी भावनाओं को कुचलने का आदेश नहीं दिया गया। राग, द्वेष, अविद्या (अज्ञान), मोह, भय, क्रोध, दुःख, घृणा, द्रोह, दुर्भावना तथा अन्य दोषपूर्ण मनोवेगों और पशु-प्रवृत्तियों का नष्ट कर देना चाहिये। (१८। ५३; २। ६४; ३। ३७; ४१; ४। १०, २२; ५। २३, २६, २८; १०। १५, १५। ५; १६। ४, १०, १२, १६, १८, २१)। परन्तु जीवमात्र के प्रति सदिच्छा और प्रेम, दुखियों के प्रति सहानुभूति, अपराधियों के प्रति क्षमा, संतोष, उदासीनता, शान्ति, मानसिक संतुलन, ईश्वर में आस्था और श्रद्धा का विकास किया जाना चाहिये (१६। २; १३। ८; १२। १३, १६, १८, २०, ११। ५५)। ईश्वर, मनुष्य, और जीवमात्र के प्रति प्रेम को नहीं मिटाना चाहिये। कान्ट का नीति-शास्त्र सन्यासवादी है। परन्तु गीता में निहित नीति-शास्त्र ऐसा नहीं है। यह निःस्वार्थ भाव से मानवता की सेवा द्वारा ईश्वर की प्राप्ति का नीति-शास्त्र है। यह मानवता के नैतिक हित के लिये अपने निश्चित कर्त्तव्य के पालन का शास्त्र है। (१२। ४)। चौथे, गीता का नीति-शास्त्र धार्मिक अथवा नैतिक है। कान्ट के धर्म सिद्धान्त से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। गीता कर्म, ज्ञान और भक्तियोग का समन्वय है। कर्मों के लिये कर्मयोग, ज्ञानी के लिये ज्ञानयोग एवं भक्त के लिये भक्तियोग है। कान्ट ने इन तीनों की चर्चा नहीं की है। इसलिये कान्ट के नीति-शास्त्र में ऊपरी समानता दिखाई पड़ती है। गीता का नीति-शास्त्र बुद्धिवाद की अपेक्षा आत्म-पूर्णतावाद आत्म-उपलब्धिवाद के अधिक निकट है।

(१८) गीता का कर्मयोग (Gita : Karmayoga)

अकर्म से कर्म उत्तम है। जीवन कर्म पर निर्भर है। कोई भी व्यक्ति एक क्षण के लिये भी निष्क्रिय नहीं रह सकता। (३। श्लोक ५; १८। ११)। निष्क्रियता मृत्यु के सदृश है (३। ८)। गुण और कर्म के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्ण माने गये हैं (४। १३)। सत्व, रजः, तथा तमः उनके स्वभाव की विभिन्न मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ हैं। ब्राह्मणों में सत्व प्रधान होता है तथा क्षत्रियों में रजः प्रधान होता है। क्षत्रियों में सत्व रजः की आधीनता में रहता है। वैश्यों में भी रजः प्रधान होता है, उनमें तम रज के आधीन रहता है। शूद्रों में तम प्रधान होता है, उनमें रज तम के आधीन रहता है (शंकराचार्य गीताभाष्य, अध्याय ८, श्लोक १३)। उनके कर्त्तव्य स्वभाव-नियत कर्म होते हैं। (१८। ४१)। वे अपने नियत-कर्म के पालन द्वारा सर्वोच्च व्यक्तिगत सामाजिक हित की प्राप्ति कर सकते हैं। यदि वे भिन्न मानसिक स्वभाव के लोगों के कर्त्तव्यों अर्थात् पर-धर्म का अनुसरण करेंगे तो वे समाज में अनुपयुक्त रहेंगे (१८/४७)।

गीता भी ब्रैडले (Bradley) की भांति (मेरा स्थान और उससे सम्बन्धित कर्त्तव्य) यह धारणा लेकर चलती है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ मानसिक रुचियां लेकर जन्म लेता है। समाज में उसका स्थान इन रुचियों द्वारा ही निर्धारित होता है। समाज के भीतर अपने स्थान के उपयुक्त नियमित कर्त्तव्यों का पालन करके ही वह समाज का हित तथा अपने वास्तविक स्वरूप का हित कर सकता है। ब्रैडले की इस धारणा को गीता ने स्वधर्म का नाम दिया है जो स्वभाव के अनुसार निश्चित होता है। (१८ । ४८)। गीता स्व-धर्म के पालक को लोकसंग्रह एवं भगवत् प्राप्ति की दृष्टि से महत्व देती है। परन्तु ब्रैडले का मत है कि समाज के भीतर अपने स्थान से सम्बन्धित कर्त्तव्यों का पालन करके व्यक्ति आत्मलाभ करता है अर्थात् उसे अपने अनन्त और अमर स्वरूप की प्राप्ति होती है।

गीता चारों वर्णों के कर्त्तव्यों का वर्णन क्रमशः इस प्रकार करती है। ब्राह्मणों को इन्द्रिय-निग्रह, मनस-निग्रह अथवा मानसिक सन्तुलन, तपस्या, शुचिता, क्षमाशीलता, निर्भीकता, बुद्धिमत्ता, ज्ञान एवं श्रद्धा के गुणों का संचय करना चाहिये (१८ । ४२)। क्षत्रियों को शूरता, साहस, दृढ़ता, कष्ट-साध्यता एवं युद्ध से पराङ्-मुख न होने, सहृदयता तथा शक्तिशालिता के गुणों का विकास करना चाहिये। उन्हें न्यायसंगत युद्ध में प्रवृत्त होना चाहिये (२ । ३१, ३०) वैश्यों को पशु-पालन, कृषि, व्यापार एवं वाणिज्य कार्य करना चाहिये एवं शूद्रों को उच्च वर्णों की सेवा करनी चाहिये। (१८ । ४४)। वर्ण गुण पर आधारित है, भिन्न वृत्तिक समूह हैं। वे वंश-गत प्रतीत नहीं होते। योगी श्री अरविन्द का भी यही मत है। व्यक्ति अपने नियत कर्मों का पालन करके ही सिद्धि प्राप्त कर सकता है। वह कर्म के द्वारा ईश्वर की पूजा करता है (१८ । ४५–६)। गीता के अठाहरवें अध्याय में कहा है— 'श्रेयान् स्वधर्मों विगुण परधर्मात् स्वनुष्ठि-तात्। स्वाभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् (४७)।'' पर-धर्म श्रेष्ठ होने पर भी अपना विगुण धर्म भी अच्छा है। स्वभाव के अनुरूप कार्य करने वाले को पाप नहीं लगता है।

नियत कर्म का पालन राग और द्वेष अथवा फलोपभोग की इच्छा के बिना किया जाना चाहिये (२ । ४७, ५१; ३ । ८, १९; ५ । १०, १२; ६ । १, २, ४; ७ । २५; १८ । ६)। हमें केवल कर्म करने का अधिकार है, फल की प्राप्ति का नहीं (२ । ४७)। नियत कर्मों के पालन का एक नैतिक दायित्व है। परन्तु उनका फल ईश्वर की इच्छा पर निर्भर होता है। हमें अपने कार्यों के फल को परमेश्वर को समर्पित करना चाहिये। (१२ । ६)। फल के पीछे भटकने वाले दया के पात्र हैं (२ । ४९)। हमें अपने कार्य परमेश्वर को समर्पित करने चाहियें (३ । ३०, ५ । १३; १२ । ६)। हमें अपने कर्त्तव्यों का पालन लाभ-हानि की चिन्ता किये बिना निश्चित रूप से कर्म करना चाहिये। (२ । ४७; ४ । २२)। गीता कर्म-फल के त्याग पर बल देती है। फलेच्छा बन्धन का कारण है तथा फलेच्छा का परित्याग

परम शान्ति प्रदान करता है (५ । १२; ६ । २८)। जो व्यक्ति कर्म फल का परित्याग करके कर्म करता है वह सन्यासी है, तथा योगी है (६ । २, २)। सच्चा त्याग समस्त कर्म के फल का त्याग है (१८ । २, ११)। अपने सहज और नियत कर्म का पालन आसक्ति और फलेच्छा को त्याग कर करना ही सात्विक त्याग है (१८ । ६, २३, ४७, ४८) गीता का नीति-शास्त्र कान्ट की भाँति सुखवाद और उपयोगितावाद का विरोधी है।

हमें अपने कर्मों में प्रेम और घृणा, राग और द्वेष, अस्मिता और अहकार काम और क्रोध, ईर्ष्या तथा लाभ, आत्म-प्रशंसा और पाखण्ड, द्रोह और हिंसा, तथा इनके अतिरिक्त अन्य निम्न कोटि के मनोवेगों और संवेगों द्वारा परिचालित नहीं होना चाहिये (१८ । ५३, ४, १०, १२, १६, १८, २१, १५ । ५, १२ । १५)। हमें समता का विकास करना चाहिये (१४ । २४, २५, १२ । १८)। सफलता और असफलता, सुख और दुःख, जय-पराजय, लाभ और हानि सब निम्नतर इच्छाओं पर विजय प्राप्त करनी चाहिये (२ । ३८, ४८, १२ । १३, १७, १९)। लाभ की अवस्था में हर्ष और सुख तथा हानि की अवस्था में खेद और दुख पर विजय प्राप्त करनी चाहिये (१२ । १७, २ । ५७)। स्वार्थ-प्रधान इच्छाओं का दमन करना चाहिये (२ । ७१)। समस्त अहं-प्रधान इच्छाओं को ईश्वर की ओर उन्मुख कर मानवता की सेवा में लगा देना चाहिये। उनको श्रेष्ठतर बता कर तथा उनका दैवीकरण करके उन्हें परमार्थमूलक इच्छाओं में परिवर्तित कर देना चाहिये। यहाँ तक गीता का नीति-शास्त्र कान्ट के बुद्धिवाद के समान ही है। परन्तु गीता समस्त प्राणियों के प्रति प्रेम एवं सदिच्छा, दुखियों के प्रति सहानुभूति, सबके प्रति सद्व्यवहार व दया, अपराधियों के लिये क्षमा, सभ्यता, नम्रता, सन्तोष, निर्भयता, आत्म-त्याग के प्रयोग का निषेध नहीं करती (११ । ५५; १२ । १३ । १६, १६ । २, ३)। पत्नि, पुत्र एवं परिवार के संकुचित प्रेम से ऊपर उठना चाहिये (३ । १०)। सबके प्रति व्यापक प्रेम का विकास करना चाहिये। सर्वभूत-हित तथा लोकसंग्रह हमारे कर्म के प्रयोजन होने चाहिये (१२ । ४; ३ । २०)। स्वार्थ को नष्ट कर देना चाहिये। स्वार्थ-रहित मानवता का विकास करना चाहिए (२ । ७१)। गीता अहं-प्रधान-इच्छाओं को दैवीकरण द्वारा परार्थमूलक इच्छाओं में परिवर्तित करने के पक्ष में है। गीता संवेदना तथा इच्छारहित अकर्म के पक्ष में नहीं है। कर्म का त्याग संन्यास नहीं है। इससे कभी भी पूर्णत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती (३ । ४)। कर्मों के फल का ईश्वर में समर्पण ही सच्चा संन्यास है। नियत कर्त्तव्यों का सतत् एवं त्रुटिरहित पालन करना ही सच्चा संन्यास है। संकीर्ण स्वार्थमूलक इच्छाओं का त्याग तथा स्वार्थरहित इच्छाओं का विकास सच्चा संन्यास है। गीता का नीति-शास्त्र कर्मयोग का शास्त्र है (३ । ४)। यह अकर्मवाद अथवा कर्म के त्याग का नीति-शास्त्र नहीं है। यह असामाजिक नहीं है। यह कर्म-संन्यास का मार्ग भी नहीं है (५ । २)। यह मानवता के हित की स्वार्थरहित खोज के द्वारा व्यक्ति के सर्वोच्च

हित अथवा ईश्वर-प्राप्ति का नीति-शास्त्र है। अतः इसे संन्यासवाद नीति-शास्त्र नहीं कहा जा सकता।

गीता कर्मकाण्ड तथा औपचारिकता का खण्डन करती है। बाह्य-कर्मकाण्ड से यह आवश्यक नहीं है कि आत्मा का आन्तरिक जीवन अवश्य ही पवित्र हो जाये। यह आन्तरिक प्रयोजनों और अभिप्रायों की पवित्रता पर बल देती है (४ : २३ ३३)। यह संकल्प शक्ति के नैतिक-करण तथा आत्मा के पवित्रीकरण पर तथा ईश्वरीय इच्छा के सम्मुख मानवीय-इच्छा के सम्पूर्ण समर्पण अर्थात् सीमित आत्मा की परमात्मा के साथ पूर्ण आत्मीयता पर अधिक बल देती है (१८ : ६१, ६२, ६६)।

गीता अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसा, क्षमा, सरलता, आचार्य-सेवा, शुद्धता, स्थिरता, आत्मसंयम, इन्द्रियों के विषयों में वैराग्य, अहंकार-रहितता, जन्म-मरण व्याधि, आदि दुःखों का निरन्तर भान, अनासक्ति, अमोह, समचित्तता (१३ : ८–१०) तुष्टि, तप, दान, ज्ञान, सत्य, दम, शम (१० : ४, ५) समस्त प्राणियों के प्रति प्रेम, करुणा तथा दृढ़ निश्चय (१२ : १२, १४), आदि गुणों के विकास का पाठ सिखाती है।

(१६) अद्वैत वेदान्त की नीति-शास्त्र (Transcendental Eudaemonism)—

समस्त ऐच्छिक कर्मों का प्रधान उद्देश्य सुख की प्राप्ति है। इसमें दुःख का पूर्ण विरोध निहित है। ऐच्छिक कर्मों के अन्य उद्देश्य इसके आधीन होते हैं। वे सुख की प्राप्ति के साधन होते हैं। सुख दो प्रकार का होता है—(१) सर्वोच्च सुख-अथवा अनन्त सुख। इसे आनन्द कहते हैं। (२) सीमित सुख अथवा इन्द्रिय-जन्य सुख। इन्द्रियजन्य-सुख अनुभवगम्य पदार्थों के उपभोग से उत्पन्न होता है। यह आनन्द का एक अपूर्ण प्रतिबिम्ब है। आनन्द परम सत्ता अथवा ब्रह्मन् है। ब्रह्मन् अपरि-मित आनन्द की स्थिति है। इसकी प्राप्ति सर्वोच्च शुभ है। यह मुक्ति की अवस्था है। यह समस्त दुःख और पीड़ा को नष्ट कर देती है। आनन्दात्मक ब्रह्म प्राप्ति अर्थात् अमर एवं अपरिमित आनन्दस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति सर्वोच्च हित है। जीव और ब्रह्म की प्रकृति एक जैसी ही है। आत्म-प्राप्ति अथवा ब्रह्म-प्राप्ति जीवन का सार तत्व है।[19]

वैदिक साहित्य जो कि आत्मा का परम सत्ता के साथ तदाकार कर देता हैं उसका श्रवण उनके अर्थ का समझना, उन पर मनन करना तथा उनके आधार पर तर्क करना एवं चित्त को उपभोग के बाह्य पदार्थों से उपराम करके परमात्मन् अथवा ब्रह्मन् पर केन्द्रित करना, अर्थात् निदिध्यासन ब्रह्म परमात्मा अथवा अपरिमित अमर आनन्द की प्राप्ति के लिये आवश्यक है। ब्रह्म पर चित्त के एकाग्र करने का प्रत्यक्ष परिणाम ब्रह्म-साक्षात्कार है। जीवात्मा परमात्मा का प्रतिबिम्ब है। बुद्धि

---

19. वेदान्त परिभाषा अध्याय ८।

अथवा अहंकार में प्रतिबिम्बित जीवात्मा की पारमार्थिक सत्ता नहीं है। इसकी व्यावहारिक सत्ता है। परमात्मा अथवा ब्रह्म ही इसकी पारमार्थिक सत्ता है। जब जीवात्मा ब्रह्म में अभेद की उपलब्धि करती है, तब इस परम नि:श्रेयस की प्राप्ति होती है।

दम (इन्द्रिय-निग्रह), शम (चित्त-निग्रह), उपरति (मानसिक उद्वेग का अभाव), तितिक्षा (ऊष्ण, शीत, भूख और प्यास का सहन) समाधान (चित्त का ब्रह्म में एकाग्र होना), गुरु के आदेश में श्रद्धा, नित्यानित्य—विवेक, इहामुत्र-फलभोग-वैराग्य (इस जगत और स्वर्ग दोनों के भोगों के प्रति बैराग्य) में मुक्ति अर्थात् ब्रह्म अथवा प्रकृत आत्मा की प्राप्ति की इच्छा की शर्तें हैं। भोग के पदार्थों की उपस्थिति रहते हुये भी मानसिक उद्वेग का अभाव अर्थात् उपरति ही संन्यास है। कुछ वेदान्तियों के अनुसार वे संन्यासी ही, जिन्होंने जगत का त्याग कर दिया है, वेदान्त ग्रन्थों को पढ़ने के अधिकारी हैं। अन्य वेदान्तियों की धारणा है कि भोग के पदार्थों के रहते हुये भी जिन गृहस्थों का चित्त विचलित नहीं होता वे वेदान्त ग्रन्थों का श्रवण करने के अधिकारी हैं। ग्रन्थों का श्रवण, मनन और निदिध्यासन, ये तीन सभी आश्रमों के व्यक्तियों के समान-धर्म हैं। ईश्वर की पूजा भी ब्रह्मसाक्षात्कार का एक कारण है। इससे चित्त एकाग्र हो जाता है जिसके द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार में सहायता मिलती है। ईश्वर की भी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। वह माया में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है, जिसकी व्यावहारिक सत्ता है।

कोई भी कार्य केवल काम्य कर्मों की पूर्ति के उद्देश्य से नहीं किया जाना चाहिये। निषिद्ध कर्म भी नहीं किये जाने चाहिये। विहित नित्यकर्म आसक्ति के बिना पूर्ण किये जाने चाहियें। दैनिक पूजा, प्रार्थना आदि नित्य कर्म हैं। वे चित्त की शुद्धि करते हैं (गीता पर शंकर भाष्य, अध्याय ४ : १८)। कर्त्तव्यों का समर्पण ईश्वर के चरणों में करना चाहिये। वे मनुष्य को सत्-ज्ञान, गूढ़दृष्टि अथवा सहज ज्ञान प्रदान करते हैं। शंकराचार्य सहज-ज्ञान को ब्रह्म-साक्षात्कार का साधन मानते हैं। आत्मा ही ब्रह्मन् है। आत्मा अथवा पूर्णत्व का सहज ज्ञान सर्वोच्च ज्ञान पर निर्भर है जिसके पूर्व समस्त कर्त्तव्यों का त्याग होना आवश्यक है। (पूर्व पुस्तक : प्रस्तावना)। इन्द्रिह-निग्रह, चित्त-निग्रह आदि द्वारा शुद्ध हुआ मन आत्मा के सहज ज्ञान का माध्यम है (पूर्व पुस्तक २। २१) शंकर आत्मा अथवा ब्रह्म की प्राप्ति के लिये स्त्री, पुत्र, सम्पत्ति तथा इहलोक और परलोक में सुखोपभोग की इच्छा अर्थात् भोग के बाह्य पदार्थों की समस्त इच्छाओं के नाश को अनिवार्य मानते हैं निवृत्त-सर्वबाह्यैषण) (पूर्व पुस्तक १० : ८)। समस्त कर्मों का मूल काम है। काम का मूल अविद्या है। आत्मन् अनात्मन् परस्पर भिन्न हैं। आत्मन् को अनात्मन् के साथ अभेद मानना अविद्या है (पूर्व पुस्तक १८ : ६६)। अविद्या का नाश विद्या द्वारा हो सकता है। विद्या का अर्थ है आत्मा के व्यापक तथा सार्वकालिक स्वरूप को पहचानना तथा यह जानना कि शरीर प्राण, इन्द्रियाँ, मनस, बुद्धि तथा अहंकार

में से कोई भी आत्मा नहीं है। सत्‌ज्ञान अथवा विद्या उसी व्यक्ति में अवतरित होती है, जोकि इन्द्रिय-निग्रह, चित्त-निग्रह, आदि द्वारा पवित्र हो गया हो। विद्या की प्राप्ति के लिए नित्य-कर्मों का पालन, उनका ईश्वर के चरणों में समर्पण, इहलोक तथा परलोक में भोग की समस्त कामनाओं का नाश एवं जगत का त्याग आवश्यक है। शंकर का नीति-शास्त्र संन्यासवाद तथा शुद्ध आतमपूर्णतावाद का मिश्रण है। शुद्ध आत्मा निर्गुण, अतिमानस इन्द्रियानुभवातीत प्रज्ञागम्य है। यह सच्चिदानंद ब्रह्म है। आत्म-लाभ अथवा ब्रह्म प्राप्ति के लिये पूर्ण स्वभाव-प्रवृत्ति-निरोध अनिवार्य है। (कठोपनिषद २, १, १; ईशोपनिषद, १, ९ पर शंकरभाष्य)। शुद्ध-चेतना तथा आनन्द, ब्रह्म अथवा आत्मा की तदाकारिता का ज्ञान (विद्या) ही आत्म-लाभ है। यह जगत के पदार्थों और जीवों की अनेकता के विवादास्पद, बौद्धिकता अथवा तर्कयुक्त ज्ञान से परे हैं। इस सिद्धान्त को शुद्ध आत्मा-पूर्णतावाद कहा जा सकता है। इसे आत्म-बुद्धिवाद भी कहा जा सकता है। क्योंकि आत्मा की सर्वोपरि शुद्धि धर्म-अधर्म के नैतिक भेद से युक्त बाह्य जगत् से परे उठकर ही सम्भव है। धर्म की प्राप्ति के लिये नियत कर्मों की पूर्ति आवश्यक है। निषिद्ध कर्मों के करने से अधर्म का संचय होता है। आत्मा की पूर्ण शुद्धि उसके सहज ज्ञान, समस्त कर्मों के त्याग तथा धर्म-अधर्म के नाश द्वारा होती है। धर्म से सांसारिक सुख मिलता है तथा अधर्म से सांसारिक दुःख (कठोपनिषद १, २, १९—शंकर भाष्य)। इन दोनों का उदय कर्म से होता है। कर्मों का कारण कामना और अज्ञान है। जब एक आत्मा अथवा ब्रह्म के सत्य-ज्ञान अथवा उसकी सहज अनुभूति के द्वारा अविद्या का नाश हो जाता है, तब आत्मा की परा-बुद्धि अथवा उसके पूर्ण ब्रह्मत्व की प्राप्ति होती है। इस प्रकार शंकर के नीति-शास्त्र को हम शुद्ध आत्म-पूर्णतावाद अथवा आत्म-बुद्धिवाद कह सकते हैं।

(२०) अद्वैत वेदान्त के नीति-शास्त्र की आलोचना
(Criticism of Advaita Vedanta Ethics)—

ब्रह्म अथवा आत्मा की प्राप्ति ही सर्वोच्च शुभ है। यह ब्रह्म शुद्ध अस्तित्व (सत्), निर्विषय चैतन्य (चित्) तथा सुख-दुःखातीत एकान्तिक आनन्द है। तात्विक आलोचनाओं पर ध्यान न दिया जाता तो यह सर्वथा तर्कसंगत है। परन्तु इसकी प्राप्ति के साधन की आलोचना की जा सकती है। शंकर ने ज्ञान पर अत्यधिक बल दिया है तथा कर्म की अवगणना की है। उन्होंने सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति के लिये संन्यास के महत्व के विषय में अतिशयोक्ति की है। उन्होंने संन्यासवाद के नीति-शास्त्र अथवा सहज इच्छाओं के दमन अथवा एषणा त्याग का गलत समर्थन किया है। वास्तव में, इन इच्छाओं को नष्ट करने के बजाये ऊपर की ओर उठाना चाहिये, अर्थात् इनका दैवीकरण करना चाहिये। जीवात्मा परमात्मा अथवा ब्रह्म से भिन्न है। जीव ब्रह्म-भेद नीति का मूलभूत आधार है। नीति जीव की इच्छा-स्वातन्त्र्य पर निर्भर है।

(२१) बुद्ध का अहिंसात्मक नीति-शास्त्र (Buddha's Ethics of Ahimsa)—

बुद्ध ने स्पष्ट रूप से अहिंसा के नीति-शास्त्र का प्रतिपादन किया है । उनका कथन है कि—"समस्त प्राणी, प्रसन्न, सुखी, सुरक्षित और प्रसन्न-चित्त हों ।" (मेत्तासूत १४४, १४६) । "कोई किसी को धोखा न दे, किसी स्थान में किसी से घृणा न करे तथा क्रोध या प्रतिकारवश किसी को क्षति पहुँचाने की इच्छा न करे" (मेत्तासूत १४०) । "क्रोध को प्रेम से और दुष्टता को सज्जनता से जीतो क्योंकि घृणा का नाश कदापि घृणा से नहीं किया जा सकता । घृणा से प्रेम नष्ट होती है" (धम्मपद १५) । "सज्जनता का बदला सज्जनता से देना अच्छा है । परन्तु दुर्जनता के बदले में सज्जनता का व्यवहार और श्रेयस्कर है" (बोधिचर्यावतार) । "श्रेष्ठ मनुष्य हानि पहुँचाने वालों के प्रति भी करुणा से द्रवित हो जाते हैं" (अवदान-कल्पलता) । "जो व्यक्ति मूर्खतावश मुझे हानि पहुंचाता है मैं उसे बिना शिकायत के अपने प्रेम का संरक्षण दूंगा ।" "वह मुझे जितना कष्ट पहुँचायेगा मैं उसे उतना प्रेम दूँगा ।" (बयालीस खण्डों के सूत्र) । "पवित्र विचारों और प्रेम की पूर्णता द्वारा मैं दूसरों के प्रति वही व्यवहार करूँगा जो मैं अपने प्रति चाहता हूँ ।" (ललित विस्तार) ।[20] घृणा को प्रेम से जीता जाता है । "जिसके हाथ में घाव नहीं होता वह विष को छू सकता है । विष उसके हाथ पर कोई प्रभाव नहीं करता । जो बुराई नहीं करता उसके लिये संसार में कोई बुराई नहीं ।" (धम्मपद ९ : १२४) । हानि पहुँचाने वाला व्यक्ति श्रेष्ठ व्यक्तियों की पवित्रता को नष्ट नहीं कर सकता । वह उसकी आत्मा को स्पर्श नहीं कर सकता । "यदि कोई मनुष्य किसी निर्दोष सरल व्यक्ति पर चोट पहुँचाता है, तो उसी पर बुराई टूट पड़ती है, जैसे कि वायु की विरोधी दिशा में फेंकी गई धूल ।" बुराई को भलाई द्वारा जीतना चाहिये । "किसी से कठोरतापूर्वक मत बोलो क्योंकि जिनसे तुम इस प्रकार बोलोगे वह तुमसे भी इसी प्रकार बोलेंगे । क्रोधपूर्ण भाषण दुःखदायी होता है । तुम्हें घूँसे के बदले में घूँसे मिलेंगे ।" (१०।१३३) । "क्रोध और विद्वेष को प्रेम से जीतो । हिंसा में से हिंसा उत्पन्न होती है । उसे प्रेम द्वारा शान्त कर देना चाहिये ।" "बुद्ध ने धैर्य को सर्वोच्च तप तथा निरन्तर सहनशीलता को सर्वोच्च निर्वाण कहा है । क्योंकि जो मारता है वह तपस्वी नहीं है और जो दूसरों की मानहानि करता है वह सन्त नहीं है ।" (२०।१७४) "मैं गालियों को मौन पूर्वक सहूँगा, जिस प्रकार युद्ध में हाथी मनुष्य से निकले तीरों को सहता है क्योंकि संसार दुष्ट प्रकृति का है ।" (२३।१२०) । बुराइयों को हिंसा द्वारा कुचलने की अपेक्षा धैर्यपूर्वक सहन करना चाहिये । धैर्य-पूर्वक-सहनशीलता हिंसापूर्ण विरोध की अपेक्षा श्रेयस्कर है । सहनशीलता का अर्थ बुराई के सम्मुख आत्मसमर्पण नहीं है वरन् यह ऐसी नैतिक शक्ति का संग्रह है जिसके द्वारा दोषों का होना ही असम्भव हो जाता है । "विजय से घृणा उत्पन्न होती है क्योंकि विजित व्यक्ति अप्रसन्न होता है । जिसने जय-पराजय दोनों का त्याग कर

20. P. Narasu, *Essence of Buddhism*, p. 72.

दिया है वही प्रसन्न है" (१० । २०१) । यदि दुष्ट को हिंसा द्वारा कुचल दिया जाय तो दुष्ट अपने हृदय में घृणा और शत्रुता को स्थान देता रहता है तथा फिर से हानि पहुँचाता है । अतः हिंसा को प्रेम, सहनशीलता द्वारा जीतना चाहिये। "क्रोध को प्रेम से और दुष्टता को सज्जनता से जीतो । लोभी को उदारता द्वारा और झूठे को सत्य द्वारा जीतो ।" (१७।२२३) । दूसरों के दुर्गुणों पर अपने गुणों द्वारा विजय प्राप्त करो । यदि कोई व्यक्ति हिंसा करता है तो वह न्यायपरायण नहीं । "जो व्यक्ति सत्-असत् में विवेक करता है, विद्वान है और दूसरों का पथप्रदर्शन करता है, अहिंसा का अनुसरण करता है वह ही न्यायशील है ।" (१९ । २५६) । हिंसा को नष्ट कर देना चाहिये । हमें न्याय, समता और धर्म का आश्रय लेना चाहिये । "जो जीवधारी मनुष्य प्राणियों को सताता है वह आर्य नहीं है । आर्य वही है जो उनको कष्ट नहीं पहुँचाता है" (१९।२७०) । हिंसा बर्बरता का ही रूप है, चिह्न है । अहिंसा करुणा, प्रेम तथा संस्कृति का चिन्ह है । जो हिंसा करता है वह असंस्कृत है । "मैं सच्चा ब्राह्मण उसे मानता हूं जो शरीर, वचन और मन से किसी को हानि नहीं पहुँचाता है, दूसरे प्राणियों की भूल नहीं निकालता है । जो दुर्बल और सबल प्राणी को न मारता है और न मरवाता है, जो सहनशीलता के प्रति भी सहनशील रहता है, दोष निकालने वालों के प्रति नम्र रहता है, हानि पहुँचाने वालों को भी हानि नहीं पहुँचाता तथा जिसने घृणा, अभिमान और असूया को जीत लिया है वही ब्राह्मण है" (२६ । ३५ । ४०५, ४०७) । "किसी को ब्राह्मण पर आक्रमण नहीं करना चाहिये, परन्तु यदि उस पर आक्रमण किया जाय तो उसे आक्रमणकारी से बदला नहीं लेना चाहिये । जो ब्राह्मण पर आक्रमण करता है उसे धिक्कार है और उस ब्राह्मण को भी धिक्कार है जो आक्रमणकारी पर क्रोध करे" (२६।३७९) । आक्रमण के उत्तर में आक्रमण नहीं करना चाहिये । हिंसा का प्रतिकार अहिंसा द्वारा, असहनशीलता का सहनशीलता द्वारा, क्रोध का शम द्वारा, घृणा का प्रेम द्वारा तथा दोष-दर्शन का नम्रता द्वारा करना चाहिये ।

"घृणा से बढ़कर हानिप्रद और कुछ भी नहीं होना" (१०।२५१) । "खेतों को घास से और मनुष्यों को घृणा से हानि पहुँचती है" (२५।३५७) । "अतः हमें प्रसन्नतापूर्वक रहना चाहिये । जो हमसे घृणा करते हैं हम उनसे घृणा न करें । घृणा करने वालों के मध्य हम घृणा से मुक्त होकर जियें" (१० । १९७) । मनुष्य जाति में प्रेम बन्धकारी शक्ति है तथा घृणा विघटन करने वाली शक्ति है । मनुष्य को परस्पर प्रेम के स्वर्णिम बन्धनों में आबद्ध कर दो । उन्हें घृणा, दुर्भावना और असूया द्वारा पृथक् मत करो । "किसी भी प्राणी को चाहे वह सबल हो अथवा निर्बल, मत सताओ । (धम्मिका सूत) । "विश्व को मैत्री से परिपूरित कर दो । समस्त प्राणियों को ऐसा कुछ मत दिखाओ जिससे उन्हें हानि पहुंचे । इस प्रकार वे शान्ति का पद देख पायेंगे ।" (चुल्ल बग्गा) । दुर्भावना, असूया और घृणा का परित्याग करके जगत् को प्रेम और सद्भावना से परिपूरित कर दो । जब जगत्

शान्ति और प्रेम से भर जायेगा तो घृणा और दुर्भावना का नाश हो जायेगा। जिस प्रकार प्रकाश अन्धकार को नष्ट कर देता है उसी प्रकार प्रेम घृणा को। "अहिंसा का अनुयायी बैरियों को मित्र बना देता है, वह शान्तिकर्ता तथा शान्तिप्रिय होता है। शान्ति स्थापित करने वाले शब्द बोलता है" (तविज्ज सूत्त)। प्रेम एकता स्थापित करता है, घृणा उन्हें पृथक् कर देती है। प्रेम निर्माण करता है, घृणा नाश करती है। प्रेम शान्ति देता है, घृणा संघर्ष की जननी है। घृणा को हृदय में स्थान मत दो। घृणा से भरे वचन मत बोलो। घृणा से किसी को हानि मत पहुँचाओ। सर्वव्यापक प्रेम द्वारा घृणा की जड़ें जला डालो। "उदारता, सद्भावना, परोपकारिता एवं दयालुता, आदि जगत् को इस प्रकार सहारा देती हैं जिस प्रकार गतिमान् रथ को धुरे की कीली ठिकाने से बनाये रखती है। "मनुष्य समाज के ठीक संचालन के लिये ये गुण अत्यन्त आवश्यक हैं। मनुष्य जाति के हृदय के घावों को भरने के लिये विश्व-व्यापक प्रेम और भ्रातृ-भावना के मरहम की आवश्यकता है। "जिस प्रकार माता अपने जीवन को संकट में डालकर भी अपने इकलौते पुत्र की रक्षा करती है, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य को समस्त जीव-धारियों के प्रति प्रेम उत्पन्न करना चाहिये। उसे समस्त संसार के प्रति, अर्थात् ऊपर, नीचे, चारों ओर संघर्षमय हितों से मुक्त प्रेम-पूर्ण हृदय उत्पन्न करना चाहिये। उसे सर्वदा सचेतन और जागरूक रहना चाहिये, चाहे वह खड़ा हो, चलता हो, बैठा हो अथवा लेटा हो। हृदय की यह अवस्था संसार में सर्वश्रेष्ठ होती है।" (दिघ्घनिकाय २। १८६–१८७; मेत्ता सूत १४८–१५०)। संसार की समस्त व्याधियों की रामबाण औषधि विश्व-व्यापक प्रेम है। यह महात्मा बुद्ध का उपदेश है।

"बुद्धि अस्तित्व (being) और नास्तित्व (non-being) दोनों को नहीं मानते। उनका विश्वास होने (becoming) में है। वे एक तात्त्विक माध्यम का प्रयोग करते हैं। वे भोग और त्याग दोनों को अस्वीकार करके मध्यमार्ग के नीति-शास्त्र का प्रतिपादन करते हैं। वे नैतिक मध्य-मार्ग के सिद्धान्त का पाठ देते हैं।"[21] बुद्ध चार आर्य सत्यों का वर्णन करते हैं: (१) जगत् में दुःख हैं, (२) इनका एक कारण है, (३) दुःख को दूर किया जा सकता है, (४) दुःख के निवारण का एक मार्ग है। निर्वाण अथवा दुःखों का निवारण जीवन का उद्देश्य है। निर्वाण की प्राप्ति का साधन अष्टाँगिक मार्ग है। इसमें सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि का समावेश होता है। (१) चार आर्य सत्यों में सम्यक् दृष्टि मनुष्य को शान्ति, आत्म-नियन्त्रण और वासना से मुक्ति प्रदान करती है, (२) सम्यक् संकल्प का सत कर्मों के करने तथा असत् कर्मों से बचने का निश्चय है। यह इन्द्रियजन्य सुखों की आसक्ति, दूसरों के प्रति दुर्भावना और उन्हें हानि पहुँचाने की इच्छा को नष्ट करने का निश्चय है। यह त्याग, उदारता और दया की लगन है। (३) सम्यक्

21. J. N. Sinha, A History of Indian Philosophy, Vol II, p. 319.

वचन का अर्थ असत्य वचन, कठोर वचन और व्यर्थ की बकवास को त्यागना है। सत्यता के प्रति प्रेम उत्पन्न करना चाहिये और सत्य का समन्वय सत् तथा शुभ के साथ किया जाना चाहिये। (४) प्राणी-हिंसा से विरत होना, बिना दी हुई वस्तु को न लेना, कामोपभोग के दुराचार से बचना, असत्य तथा मदिरापान से विरत होना ही सम्यक् कर्मान्त हैं। इसमें भिक्षुओं के लिये नियमित समय के अतिरिक्त खाने, सामाजिक उत्सवों में भाग लेने, विलास की वस्तुओं के उपभोग, तथा सोना-चादी छूने से बचने का भी समावेश होता है।

माता-पिता को चाहिये कि वे अपने बच्चों को समुचित बौद्धिक एवं नैतिक शिक्षा तथा अपनी सम्पत्ति दें। बच्चों को अपने वृद्ध माता-पिता का पोषण करना चाहिए तथा अपनी पितृ-सम्पत्ति और मातृ-सम्पत्ति की रक्षा करनी चाहिये। शिष्यों को गुरुओं का सम्मान करना चाहिये तथा गुरुओं को चाहिये कि वे अपने शिष्यों को कलाओं और विज्ञान की शिक्षा तथा गुणों की शिक्षा दें। पतियों को चाहिये कि वे अपनी पत्नी का आदर करें, उसके साथ दयापूर्ण व्यवहार करें, उसके प्रति सच्चे रहें और उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करें। पत्नियों को चाहिये कि वे अपने पतियों के प्रति सच्ची और स्नेहपूर्ण रहें। अपने गृहस्थ का प्रबन्ध समुचित ढंग तथा मितव्ययितापूर्वक करें एवं अपने जातीय बन्धुओं तथा सम्बन्धियों का आतिथ्य सत्कार करें। स्वामी को सेवकों की चिन्ता करनी चाहिये। उसे चाहिये कि वह उन्हें उनकी शक्ति के अनुसार काम दे, समुचित वेतन और भोजन दे, रुग्णावस्था में उनकी सेवा करे और यदा-कदा उन्हें अवकाश भी दे। सेवकों को अपना कार्य सदा भली प्रकार और प्रसन्नतापूर्वक करना चाहिये, अपने वेतन से सन्तुष्ट रहना चाहिये और अपने स्वामी का आदर करना चाहिये। इस प्रकार सबको उदारता, सद्व्यवहार, दयालुता तथा आत्म-त्याग के गुणों का विकास करना चाहिये।[22] (५) सदाचरण द्वारा आजीविका का अर्जन करना ही सम्यक्-आजीव है। धोखा देना, उत्कोच, कुटिलता,द्रोह, दमन, डाका तथा लूट वर्जनीय है। (६) निरन्तर जागरूकता, प्रयास तथा सक्रियता जो कि आत्म-नियन्त्रण के लिये आवश्यक हैं; दूषित विचारों का विरोध तथा सद्-विचारों का पोषण तथा व्यापक सदिच्छा पर मनस का केन्द्रीकरण, ये सब सम्यक् व्यायाम के अंग हैं। (७) शरीर की अशुद्धता, लोभ, घृणा तथा माया से संयुक्त मन की प्रकृति, धर्मों की प्रकृति तथा चार आर्य सत्यों का स्मरण ही सम्यक् स्मृति है। समुचित धारणा के लिये सम्यक् स्मृति अनिवार्य है। (८) सम्यक् समाधि में चार उपासनायें सन्निहित हैं। प्रथम समाधि इन्द्रियानुभूति के नाश से उत्पन्न सुख की अवस्था है। द्वितीय समाधि गहरी एकाग्रता से उत्पन्न सुख की अवस्था है। इसमें विचार का लोप हो जाता है तथा सहजज्ञान की प्रधानता होती है। तृतीय समाधि उस निस्पृह चेतनता की अवस्था है जिसमें समस्त वासनायें लुप्त हो जाती हैं। चतुर्थ समाधि पूर्ण लय और आत्म-प्राप्ति की अवस्था है जिसमें सुख-

---

22 Rhys Davids *Buddhism*, pp. 144-47.

दुःख का लय हो जाता है। बौद्धिक धर्म सम्यक् आचार, सम्यक् समाधि, तथा अन्तर्दृष्टि पर बल देता है। सब प्राणियों को समस्त जीवधारियों के लिये प्रेम और मैत्री, दुखियों के लिये करुणा, गुणवानों के लिये मुदिता, दुष्टों के लिये उपेक्षा का विकास करना चाहिये जैन धर्म भी इन वृत्तियों का समर्थन करता है। गीता में भी इन गुणों पर बल दिया गया है।

बौद्ध-धर्म आन्तरिक जीवन की शुद्धि पर बल देता है, इसके अनुसार बाह्य आचरण की शुद्धि पर्याप्त नहीं है। मन को लोभ, घृणा और माया से शुद्ध करना चाहिये। क्रोध, असूया, ईर्ष्या, तथा अन्य निम्न वासनाओं का नाश करना चाहिये। मनस् को शुद्ध करना चाहिये।

बौध-नैतिकता परार्थमूलक है। निर्वाण की प्राप्ति से लिए व्यापक सदिच्छा तथा प्रेम अपरिहार्य है। व्यापक प्रेम, करुणा, मुदिता और उपेक्षा में घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रेम करुणा, मुदिता और उपेक्षा को जन्म देता है। अतः प्रेम इन सबमें महान् है।

बौद्ध नैतिकता, भोग-परायणता तथा आत्मदमन के मध्य एक मध्य मार्ग है। यह न सुखवाद का समर्थक है न सन्यासवाद का। सुख की इच्छा अहं से जाग्रत होती है। जब अहं ही नष्ट हो जाता है तो सांसारिक और स्वर्गीय सुखों की प्यास बुझ जाती है। दूसरी ओर, भोगपरायणता पतनकारक है, यह मनस् की शान्ति तथा शुद्धि में बाधक है। परन्तु शरीर को स्वस्थ रखने के लिए भूख और प्यास की तुष्टि, उसे शीत और उष्णता से बचाना, थकावट को दूर करना; आराम और सभ्यता के लिए वस्त्र धारण करना मन को स्वस्थ और शुद्ध रखने के लिए आवश्यक हैं। यह मध्य मार्ग है। यह अरस्तू (Aristotle) के उस सिद्धान्त के समान है, जिसके अनुसार वह अत्यधिक भोगपरायणता तथा भोगों के पूर्ण त्याग इन दो सीमाओं के मध्य संयत व्यवहार को चरित्र-गुण मानता है। बुद्ध सुखों की खोज और आत्म-दमन दोनों की निन्दा करते हैं। उनके अनुसार अकर्मवाद अथवा निष्क्रियतावाद नैतिक जीवन नहीं है। समस्त नैतिक रोगों की जड़ आलस्य है। उत्कृष्टता, परिश्रमशीलता तथा जागरूकता नैतिकता के लिये अपरिहार्य हैं। मोह, क्रोध, द्वेष, अभिमान तथा अज्ञान (अविद्या) को व्यापक प्रेम, उदारता, करुणा तथा मुदिता द्वारा विजय किया जा सकता है। आत्म-पूर्णता की प्राप्ति आत्म-निरोध द्वारा हो सकती है। संकीर्ण-स्वार्थी प्रेम के स्थान पर व्यापक आत्मत्यागयुक्त प्रेम उत्पन्न करना चाहिये।

बौद्ध नीति-शास्त्र का मूल मन्त्र अहिंसा है। विचार, शब्द और कार्यों से किसी को चोट न पहुँचाना, प्रेम, सदिच्छा, धीरज, सहनशीलता, क्षमाशीलता, करुणा तथा आत्मशुद्धि ऐसे गुण हैं जिनका विकास किया जाना चाहिये। बुद्ध गृहस्थ के जीवन की अपेक्षा एक भिक्षु के जीवन को अधिक पसन्द करते थे, क्योंकि गृहस्थ जीवन सांसारिक आकर्षणों से पूर्ण है। परन्तु बुद्ध के नीति-शास्त्र को

संन्यासवाद नहीं कहा जा सकता । यह सुखवाद और संन्यासवाद के मध्य एक मध्य मार्ग है । यह निष्क्रियतावाद नहीं है । वरन् यह मानव-समाज के हितार्थ सक्रियता के शान्त एवं आत्म-त्यागयुक्त जीवन की रचना पर बल देता है । गीता के नीति-शास्त्र के अनुसार यह ईश्वर को अर्पित सक्रिय जीवन का पाठ नहीं है । यह परार्थ-मूलक मानवतावाद है ।[23]

(२२) महावीर का अहिंसात्मक नीति-शास्त्र (Jaina Ethics of Ahimsa)

महावीर जैन अहिंसात्मक नीति-शास्त्र का प्रवर्तक है । जैन धर्म पंचव्रत पर बल देता है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह । इनका अर्थ है—किसी को हानि न पहुँचाना, चोरी न करना, झूठ न बोलना, यौगिक-भोगों से बचना तथा अणुव्रत, अनावश्यक वस्तु को न लेना । जब इनका पालन आंशिक रूप से होता है तो ये अणुव्रत कहलाते हैं तथा पूर्णता से पालन होने पर इन्हें महाव्रत कहा जाता है । साधारण व्यक्तियों को अणुव्रतों का पालन करना चाहिये तथा साधुओं को महाव्रतों का पालन करना चाहिये । बौद्ध धर्म गृहस्थों और भिक्षुओं के जिन कर्त्तव्यों का उल्लेख करता है जैनव्रत उनमें सम्मिलित हैं । वे पतञ्जलि की योग-पद्धति के पाँच यमों के समान हैं । इन व्रतों का पालन न करने से पाँच पाप होते हैं—हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्म और मूर्छा (आसक्ति) । मनसा, वाचा, कर्मणा किसी प्राणी के जीवन का स्वार्थ-वश हानि पहुँचाना हिंसा है । ऐसे असत्य का भाषण अथवा शारीरिक व मानसिक कर्म अनृत है जो दूसरों को पीड़ा पहुँचाये । दूसरों की सम्पत्ति का हरण स्तेय है । लोभ भी स्तेय है । पुरुष और स्त्री की पारस्परिक आसक्ति के कारण यौन भोगों की समस्त क्रियायें अब्रह्म हैं । उपभोग के पदार्थों से आसक्ति तथा उनकी प्राप्ति और रक्षा लोभ है । गृहस्थों को चाहिये कि वे पशुओं को न मारें । उन्हें प्रेम, मोह तथा संकट के समय में भी किसी मनोवेग के कारण हितकारक असत्य तक नहीं बोलना चाहिये । उन्हें दूसरों की सम्पत्ति का हरण नहीं करना चाहिये तथा उनकी अनुमति के बिना उसका उपभोग नहीं करना चाहिये । पर-पुरुष और पर-स्त्री का सेवन नहीं करना चाहिये । स्वेच्छा से अपनी सम्पत्ति को सीमित कर लेना चाहिये । ये पंच अणुव्रत हैं । साधुओं को किसी भी जीवधारी का प्राण नहीं हरना चाहिये । उन्हें विचार, शब्द अथवा कार्य में असत्य का आश्रय नहीं लेना चाहिये तथा उपभोग के समस्त पदार्थों के प्रति आसक्ति का परित्याग कर देना चाहिये । उन्हें योग सम्बन्धी विचारों, शब्दों अथवा क्रियाओं से बचना चाहिये । उन्हें जीवन-धारण मात्र के लिये अत्यन्त आवश्यक पदार्थों के अतिरिक्त न कोई सम्पत्ति रखनी चाहिये न कोई भेंट स्वीकार करनी चाहिये । उन्हें पंच-महाव्रत का पालन अत्यन्त दृढ़ता और जागरूकता-पूर्वक करना चाहिये ।

---

23. J N. Sinha, *History of Indian Philosophy*, Vol. II, pp. 317-28.

साधकों को चाहिये कि वे समस्त जीवधारी प्राणियों के लिये मैत्री, दुखियों के लिए करुण्य, धार्मिक व्यक्तियों के दर्शन में प्रमोद तथा अधार्मिक व्यक्तियों के प्रति मध्यस्थ्य का चिन्तन करें। बौद्ध धर्म तथा योगपद्धति भी मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा पर बल देती हैं। बौद्ध धर्म की भाँति जैन मत भी साधकों को जगत् और जीवन की क्षणभंगुरता तथा शरीर की अपवित्रता, निस्सारता, क्षणिकता और दुःख-दायी प्रकृति पर चिन्तन करने का आदेश देता है। यह उनसे इस चिन्तन की अपेक्षा भी करता है कि पाप अभ्युदय और निःश्रेय की प्राप्ति में बाधक होते हैं।

जैन धर्म में गुप्तियों (नियन्त्रण) पर बल दिया है। गुप्ति से तात्पर्य है—इन्द्रियों की स्वाभाविक क्रियाओं पर नियन्त्रण। गुप्तियाँ आत्म बुद्धि में अत्यधिक सहायक होती हैं। जैन धर्म में तीन प्रकार की गुप्तियाँ बताई गयीं हैं—कार्य गुप्ति, बागगुप्ति, मनोगुप्ति।

जैन-मत उत्तम-क्षमा उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जद, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य तथा उत्तम ब्रह्मचर्य के गुणों का विकास करने की शिक्षा देता है। ये दस प्रकार के धर्म हैं।

जैन मत पूर्णत्व अथवा आत्म-लाभ को सर्वोच्च लाभ मानता है। आत्मन् का ज्ञान, उनकी दृष्टि, उनका आनन्द और उनकी शक्ति अपरिमित हैं। जब आत्मा अपने स्वाभाविक स्वरूप में निवास करती है तो वह पवित्रता की स्थिति होती है। पूर्णत्व की प्राप्ति का साधन सन्यासवाद है। सन्यास का अर्थ है वासनाओं का हनन। पूर्णत्व की प्राप्ति शरीर, वाणी और मन की क्रियाओं के पूर्ण रूप में बन्द होने पर होती है। क्योंकि वे आत्मा की शान्ति में बाधा डालती हैं। अहिंसा मूल गुण है। सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये सब अहिंसा पर आधारित हैं। जैन नीति-शास्त्र प्रधानतः अहिंसा का नीति-शास्त्र है।[24]

(२३) भाग्यवाद (Fatalism)

पूर्वी संसार की जनता भाग्यवाद में विश्वास करती है। वहाँ एक उच्चतर शक्ति में विश्वास किया जाता है जिसे लोग भाग्य के नाम से पुकारते हैं। वह मनुष्यों के कार्यों को पहिले से ही निर्धारित करते हैं। उनके ऐच्छिक काम स्वतन्त्र तथा आत्म-निर्धारित नहीं होते। ये भाग्य द्वारा पूर्व निर्धारित होते हैं। यह बौद्धिक शक्ति नहीं है वरन् अबौद्धिक, अन्ध तथा अनिश्चित है। जब भाग्य किसी व्यक्ति पर प्रसन्न हो जाता है; यह छोटे से छोटे कार्य में भी स्वतन्त्रता प्रदान करता है तथा जब यह किसी पर क्रुद्ध होता है तो उसे कुचल डालता है, तथा उसे कठोर परिश्रम का फल भी नहीं देता। इसकी प्रसन्नता-अप्रसन्नता अबौद्धिक होती है; मनुष्य अपने बौद्धिक तथा नैतिक प्रयत्न से भाग्य को सन्तुष्ट नहीं कर सकता। यह व्यक्तियों से पूर्ण आत्म-समर्पण चाहता है। भाग्यवाद के अनुसार भाग्य के सामने पूर्ण समर्पण तथा सद्-भाग्य की मुस्कराहट तथा दुर्भाग्य के कष्टों को सह

---

24. वही पुस्तक, पृ० २५१–६६।

लेना, व्यक्ति का कर्त्तव्य है। यह इच्छा-स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त को खोखला कर देता है तथा नैतिकता की जड़ पर आघात करता है। यह गुण-दोष, उत्तरदायित्व, पुरस्कार-दण्ड इन सबको व्यर्थ कर देता है तथा ऐसी स्थिति मे नैतिक निर्णय असम्भव हो जाते हैं। भाग्यवाद नैतिकता की जड़ों पर कुठाराघात करता है। इसने पूर्वी देशों की जनता में अपनी स्थिति के प्रति सन्तोष पैदा कर दिया है तथा उनके भीतर उपक्रमण की भावना समाप्त हो गई है। वे अपनी शक्तियों को एकत्रित नहीं कर सकते तथा अपनी स्थिति को सुधार में नहीं ला सकते। भाग्यवाद नैतिकता का निषेध है।

(२४) कर्म का सिद्धान्त (Law of Karma)

हिन्दू, बौद्धिक तथा जैन मतावलम्बी कर्म के सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं। 'जैसा करोगे वैसा भरोगे।' सत् कर्मों से मनुष्य में धर्म का संचय होता है तथा असत् कर्मों द्वारा अधर्म संचय होता है। मनुष्य सत् या असत् कर्म स्वतन्त्रतापूर्वक करते हैं। मनुष्य में स्वतन्त्र इच्छा होती है। धर्म, अधर्म तथा पुण्य-पाप का अर्जन स्वतन्त्रतापूर्वक करते हैं। ये सब मनुष्य की आत्मा में निहित होते हैं तथा समय पाकर पनप उठते हैं और इस जीवन अथवा भविष्य जीवन में सुख अथवा दुःख उत्पन्न करते हैं। आत्मा वर्तमान शरीर की मृत्यु के पश्चात् संचिन धमार्थ का भोग करने के लिये अपनी नैतिक योग्यता के अनुकूल शरीर धारण करती है। मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। वह स्वतन्त्रतापूर्वक धर्माधर्म का अर्जन करता है। वे उसकी आत्मा में अदृष्ट रूप से विद्यमान रहते हैं तथा परिपक्व होने पर सुख-दुःख के रूप में फल प्रदान करते हैं। मनुष्य अपने स्वतन्त्र कार्यों के परिणाम से नहीं बच सकता। अपने पिछले असत् कार्यों के परिणामस्वरूप संचित होने वाले अधर्म को मनुष्य भविष्य में अपने सतकर्मों द्वारा समाप्त कर सकता है। इसी प्रकार अपने सत्-कर्मों द्वारा संचित गुणों पर भी मनुष्य भविष्य में असत् कर्म करके पानी फेर सकता है। मनुष्य स्वय अपने भाग्य को बना या बिगाड़ सकता है। कर्म का सिद्धान्त इच्छा स्वातन्त्र्य पर आधारित है। कर्म सिद्धान्त भाग्यवाद नहीं है जैसा कि कभी-कभी लोग इसे समझ बैठते हैं। यह पुरस्कार में विश्वास करता है। यह एक अदृश्य शक्ति अर्थात् दैव में विश्वास करता है जो कि स्वतन्त्र ऐच्छिक कार्यों का परिणाम है। यह इस बात में विश्वास करता है कि मनुष्य अपने स्वतन्त्र कर्मों द्वारा दैव की शक्ति को व्यर्थ कर सकता है।

यद्यपि कर्म का सिद्धान्त मानवीय स्वतन्त्रता को पूर्णत: समाप्त नहीं कर देता तथापि यह उसकी चेतन स्वतन्त्रता को न्यूनतम कर देता है क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य उन पाप-पुण्यों के आधीन रहता है जो कि इस धारणा के अनुसार वह अपने गत जीवन में संचित कर लेता है। यह वर्तमान स्वतन्त्रता पर गत जीवन के पाप-पुण्य का भार लाद कर कुचल डालता है। संसार में मनुष्यों के मध्य असमानता की व्याख्या के लिए आत्मा का आवागमन एक आध्यात्मिक

धारणा है। यह केवल एक धारणा है। इसके अधिष्ठान को सिद्ध नहीं किया जा सकता। असमानता का कारण सामाजिक वातावरण और पैतृक उत्तराधिकार भी हो सकता है। किसी समय तक सामाजिक असमानता वितरण की अच्छी सामाजिक व्यवस्था द्वारा दूर की जा सकती है तथा अनेक भौतिक संकट मानवीय बुद्धिकौशल द्वारा परास्त किये जा सकते हैं। आत्मा से आवागमन का सिद्धान्त जहाँ तक कठिनाइयों को दूर करता है वहीं अनेक कठिनाई भी उत्पन्न कर देता है। समृद्धि की असमानताओं की व्याख्या अधिकतर पूर्ण एवं उपयुक्त धारणा द्वारा की जा सकती है। इसकी अनेक तात्विक कठिनाइयों से कर्म का सिद्धान्त अशिक्षित तथा विचार-हीन व्यक्तियों के लिये भाग्यवाद का प्रतीक बन जाता है और इसकी परिभाषा मानवीय स्वतन्त्रता के निषेधात्मक सिद्धान्त के रूप में होती है। अनेक बार इसको नियतिवाद अथवा पूर्व-निर्धारणवाद (predestination) के साथ मिला दिया गया है। मनुष्य के स्वतन्त्र इच्छा से कार्य करने की प्रेरणा को ठेस पहुँचाता है, वह भ्रम से नैतिकता को परिस्थितियों के सम्मुख निष्क्रिय-समर्पण के सदृश देखता है तथा धर्म को भाग्य के सम्मुख पूर्ण समर्पण मानता है। यह विचार वास्तव में भारतीय दर्शन द्वारा प्रतिपादित कर्म सिद्धान्त के विरुद्ध है। आरम्भ में इसका अभिप्राय नैतिक कार्य-कारण सिद्धान्त के अतिरिक्त और कुछ नहीं था।

(१) समाज की प्रकृति : व्यक्ति तथा समाज का सम्बन्ध

(Nature of Society : Relation of Individual and Society)

(अ) **व्यक्तिवाद** (Individualism)—व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध के विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं। जैसे—व्यक्तिवाद, समूहवाद, आदर्शवाद। कुछ विचारकों (यथा—हॉब्स, रूसो, इत्यादि) का मत है कि समाज पृथक्-पृथक् व्यक्तियों का एक यांत्रिक समूह है। व्यक्ति एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं। वे स्वतन्त्र जीवनयापन करते हैं। उनका एक-दूसरे से समझौता होता है और समाज की रचना हो जाती है। समाज व्यक्तिगत जीवन का आगन्तुक धर्म है। व्यक्ति पारस्परिक सम्बन्धों से रहित, आत्म-पूर्ण और स्वतन्त्र इकाइयाँ हैं। पहले वे स्वतन्त्र इकाइयों के समान एक दूसरे से विच्छिन्न होकर रहते थे। तत्पश्चात् उन्होंने आपस में समझौता किया और पारस्परिक लाभ के हेतु समाज की सृष्टि की। इस मत को सामाजिक समझौता (social contract) का सिद्धान्त कहते हैं जिसका रूसो और अन्य विचारकों ने प्रचार किया।

हॉब्स (Hobbes) का मत है कि मनुष्य स्वार्थी, संघर्षप्रिय तथा आक्रमणशील है। उसकी प्रकृति अत्यन्त स्वार्थपरायण है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी सत्ता पर पदार्थों को हड़पना चाहता है। मनुष्य की यह स्वार्थपरायणता मनुष्यों के मध्य निरन्तर संघर्ष को जन्म देती है। यह युद्ध की प्राकृतिक अवस्था (state of nature) है। यह सबके विरुद्ध सबसे युद्ध की अवस्था है जिसमें मनुष्य, मनुष्य के प्रति भेड़िया बन जाता है। इसमें "मनुष्य का जीवन एकांकी, निर्धन, कुटिल, निर्दयी तथा अल्प है।" परन्तु मनुष्य और मनुष्य के मध्य यह निरन्तर युद्ध की अवस्था असह्य है। अतः मनुष्य की आत्म-रक्षण की प्रवृत्ति ने उसे परस्पर एक संविदा करने तथा एक ऐसा राजा नियुक्त करने के लिए बाध्य किया जो कि अपनी सम्पूर्ण अथवा अबोध सत्ता द्वारा उनके मध्य शान्ति और व्यवस्था को स्थापित करे।[1]

लॉक (Lock) का मत है कि प्राकृतिक अवस्था पारस्परिक संघर्ष की अवस्था नहीं है। वरन् यह शान्ति तथा संदिच्छा की अवस्था है। इस अवस्था में मनुष्य पर प्राकृतिक नियमों का शासन रहता है जो ईसाई नैतिकता के नियमों के समान ही होते हैं। परन्तु प्राकृतिक नियम की व्याख्या और उसे लागू करने वाला उस अवस्था में कोई नहीं। अत: जनता ने एक संविदा करके समाज का निर्माण कर लिया। इससे प्राकृतिक अवस्था समाप्त हो गई एवं सामाजिक अवस्था का निर्माण हुआ। इसके पश्चात् जनता ने एक दूसरी संविदा की जिसके अनुसार सामान्य हितों की पूर्ति के

1. Leviathan, CH. XIII, X, XII.

लिये विधियों का निर्माण और उन्हें लागू करने को एक शासन की अवस्था को स्थापना की गई ।[2]

रूसो (Rousseau) का मत है कि प्राकृतिक अवस्था आदिकालीन सरलता, पारस्परिक सदिच्छा तथा आनन्द की अवस्था थी । परन्तु जनसंख्या की अभिवृद्धि तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति की संख्या ने प्राकृतिक अवस्था में अव्यवस्था उत्पन्न कर दी तथा परस्पर संघर्ष होने लगे । अतः जनता ने एक संविदा (contract) किया, तथा प्राकृतिक स्वतन्त्रता का परित्याग कर अपने व्यक्तित्व एवं सम्पत्ति की रक्षा के हितार्थ एक समुदाय का निर्माण कर लिया । संविदा सदा सर्वदा के लिए नहीं की गई । यह जनता के मध्य एक पारस्पारिक समझौता था । यह सामान्य इच्छा के सक्रिय प्रयोग द्वारा बारम्बार अधिष्ठित किया जाना चाहिए । सामाजिक एकता से जनता की सामान्य इच्छा बनाये रखी जाती है ।[3]

यह वाद अनैतिहासिक है । मनुष्य सामाजिक प्राणी है । समाज से प्रथक उसकी कल्पना नहीं हो सकती । कुटुम्ब समाज की इकाई है और मनुष्य सदैव से कुटुम्ब का सदस्य रहा है । हम कदापि समाज की उस अवस्था की कल्पना नहीं कर सकते जिसमें मनुष्य परस्पर से पूर्णतया विच्छिन्न होकर रहे हों । इसके अतिरिक्त, हमारे पास यह सिद्ध करने के लिये कोई प्रमाण नहीं है कि व्यक्तियों ने कभी समाज की सृष्टि के लिये कोई समझौता किया हो ।

यह मत तर्क विरुद्ध है । "सामाजिक समझौता" (social contract) करने से पूर्व व्यक्तियों में जो समझौता करने के पहिले स्वतन्त्र और विविक्त-जीवनयापन करते थे, राजनैतिक जागृति की एक उच्च मात्रा आवश्यक है । प्राकृतिक मनुष्यों के मस्तिष्क में समझौता का विचार किसी रूप में आ ही सकता था । जब समाज का पर्याप्त विकास हो चुका—तब व्यक्ति उस दल से पृथक हो गए जिसमें पहिले उनका विलय हो चुका था, और उन्होंने अपने अधिकारों की मांग की तभी उन्हें समझौते का अधिकार दिया गया ।

(ब) समूहवाद : सामाजिक शरीरवाद (Collectivism : social organism)—उद्विकासवादियों (Evolutionists) (यथा—लेस्ली स्टीफेन) का मत है कि व्यक्ति और समाज के मध्य अंगागित्व का सम्बन्ध है । समाज अन्योन्याश्रित व्यक्तियों का एक शरीर है । उसकी सत्ता एक दूसरे के लिये अत्यावश्यक है । व्यक्ति उस संगठन के सदस्य हैं । वे समाज के सामान्य-जीवन के भागी हैं उनमें सामान्य सामाजिक जीवन व्याप्त है । वे समाज के आवश्यक अंग हैं विविक्त इकाइयाँ नहीं हैं । उनकी एक दूसरे से विच्छिन्न अवस्था की कल्पना भी नहीं की जा सकती । जिस प्रकार शरीर परस्पराश्रित अंगों का एक संगठन है, उसी प्रकार समाज भी परस्पराश्रित व्यक्तियों

---

2. *An Essay concerning the true origin extent and end of Government,* CH-II. VII & VIII.
3. Social Contract.

व्यक्तियों का एक शरीर है। न तो समाज ही व्यक्तियों से पृथक रह सकता है और न ही व्यक्तियों का समाज से पृथक् अस्तित्व सम्भव है। वे परस्पर आश्रित हैं। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। हम असामाजिक अवस्था में रहने वाले मनुष्यों की कल्पना नहीं कर सकते। वे पारस्परिक सहयोग और आदान-प्रदान से ही जीवित रहते और परितुष्ट होते हैं। समाज से अलग मनुष्य कल्पना-मात्र हैं। अपने ज्ञान, भावनाओं, आदतों, शिक्षा, भाषा, नैतिकता प्रभृति के लिए वे समाज के ऋणी हैं। वे समाज में ही जीवित रहते और चलते-फिरते हैं। अपनी मानसिक शक्तियों के महत्तम अंश के लिये वे समाज के ऋणी हैं। समाज एक शरीर के समान विकसित होता है। अतः समाज-विषयक जैविक मत यांत्रिक-मत की अपेक्षा अधिक युक्ति-युक्त है।

तथापि इस उपमा को अधिक दूर तक नहीं खींचना चाहिये। दोनों के मध्य तात्विक भेद हैं। पिंडस्थ अंग एक दूसरे से अलग होकर जीवित नहीं रह सकते, वे पिंड में सामान्य-जीवन व्यतीत करते हैं। किन्तु, व्यतीत चेतना के पृथक-पृथक केन्द्र हैं जिसके वैयक्तिक जीवन का सामाजिक जीवन में पूर्ण विलय होना असम्भव है। व्यक्ति ही अनुभूति-क्षम होता है समाज नहीं। अपने सदस्यों के अतिरिक्त समाज का अपना अलग चेतना केन्द्र नहीं होता। पुनः शरीर मरणशील होता है, किन्तु मानव समाज नित्य है। अतः 'सामाजिक शरीर' का प्रत्यय एक सांकेतिक रूपक-मात्र है।

(स) **समाजविषयक भाववादी मत** (Idealistic view of society)—समाज परस्पर सहयोगपूर्वक निवास करने वाले आत्म-संवितयुक्त स्वतन्त्र आत्माओं का संगठन है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसका बुद्धिसम्पन्न, उच्च अथवा आदर्श-आत्मा सामाजिक आत्मा है। उसका प्रत्यक्ष केवल समाज के ही द्वारा हो सकता है। सामाजिक मैं ही वास्तविक 'मैं' हूँ। प्रत्येक व्यक्ति का किसी न किसी समाज से सम्बन्ध है। हम एक समाज के सदस्य हैं। मैकेंजी का कथन है, "मानवीय व्यक्तित्व अवश्य एक विविक्त वस्तु नहीं हो सकता। अन्य व्यक्तियों के साथ उसका कोई सम्बन्ध होता है जिससे उसका विच्छेदन अकल्पनीय है। किसी मनुष्य के नैतिक जीवन की वस्तु इन्हीं सम्बन्धों पर निर्भर है। मनुष्य का सम्पूर्ण अर्थ और मूल्य, उन आदर्शों, संस्थाओं और नैतिक आदतों के रंग में रंगे होते हैं जिनमें उसका जीवन विकसित होता है।" अतः सामाजिक क्षेत्र आदर्श अथवा सामाजिक आत्मा की सिद्धि के लिए अनिवार्य माध्यम है।

जॉन केयर्ड (John Caird) ने भाववाद के दृष्टिकोण से व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध का बहुत अच्छा वर्णन इस प्रकार किया है, "समाज विच्छिन्न व्यक्ति वास्तविक मनुष्य नहीं है, बल्कि केवल मानवता का एक अंश है, मानव-जीवन के सारस्वरूप नैतिक और आध्यात्मिक तत्वों से रहित एक प्राणी मात्र है। सामाजिक सम्बन्ध व्यक्ति की सत्ता के आवश्यक भाग हैं। उसके लिये अपने ही अन्दर आत्म-

लाभ करना असम्भव है, ऐसा वह उन्हीं की सहायता से कर सकता है जो उससे भिन्न हैं, और केवल एक अधिक व्यापक सर्वगत आत्मा के लिये अपने व्यक्तिगत आत्मा, अपनी एकान्त सत्ता और जीवन के निषेध अथवा अर्पण के द्वारा ही वह अपने आध्यात्मिक स्वरूप की सच्ची सिद्धि करने में समर्थ हो सकता है। यहाँ पर सामान्य (समाज) विशेष का पूर्ववर्त्ती है। तथापि ऐसा नहीं सोचना चाहिये कि विशेष से सामान्य की कोई पृथक् सत्ता है, जैसे कि शरीर की अगों से पृथक् सत्ता नहीं है। यथार्थ विचार की प्राप्ति तो दोनों को उस उच्च एकता के सूत्र में आबद्ध करने से ही हो सकती है जो अपने में उनका समावेश करते हुए भी उनसे परे है, जो अपना निर्माण करने वाले व्यक्तिगत सदस्यों का सजीव संगठन है।"[4] व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध के विषय में यह मत यथार्थ मालूम पड़ता है।

समाज एक आध्यात्मिक एकता है। आध्यात्मिक प्राणी ही इस एकता की स्थापना कर सकते हैं। जिन व्यक्तियों के भीतर किसी सामान्य हित का अनुसरण करने की आत्मचेतना है तथा उन्हें यह भी चेतना है कि अन्य व्यक्ति भी उसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये उससे सम्बन्धित है वे व्यक्ति स्वतन्त्र आत्मचेतनायुक्त प्राणी हैं। उदाहरण के लिये मक्खियों में एक सामान्य हित का अनुसरण करने की प्रवृत्ति होती है, परन्तु मनुष्य अपने सामान्य हित का अनुसरण चेतना, इच्छा तथा सकल्प द्वारा करते हैं। सबके लाभ के लिये प्राप्ति की जाने वाली वस्तुओं की चेतना जितनी स्पष्ट होगी, सामाजिक संगठन उतना ही दृढ होगा।

समाज केवल एक एकता ही नहीं है। वरन् इसमें व्यक्तियों के ऐसे समुदाय होते हैं जो विशिष्ट हितों की पूर्ति का प्रयत्न करते हैं। यह हित अंशतः एक दूसरे से भिन्न होते हैं फिर भी वे समाज के एक व्यापक उद्देश्य में सम्मिलित रहते हैं। अतः समाज को 'सावयव संगठनों का एक सावयव संगठन' कहा जा सकता है (मैकेंजी)। ब्रैडले के शब्दों में, "इस सावयव एकता की सरल धारणा इसकी उपयुक्त परिभाषा नहीं कर सकती। यह एक आध्यात्मिक इकाई है जिसके भीतर अनेक छोटी-छोटी इकाइयाँ होती हैं जो कि सामान्य कल्याण के लिये एक सुव्यवस्थित समाज में सहयोग कार्य करती हैं।[5]

सामान्य इच्छा तथा सामान्य हित (General Will and Common Good)—

समाज एक आध्यात्मिक एकता है। यह ऐसे आत्म-चेतनायुक्त एवं सकलपवान् प्राणियों का आध्यात्मिक संगठन है जो कि सबके सामान्य हित की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने में रक्त सम्बन्ध तथा बन्धुभावना से प्रेरित होते हैं। उनके सम्मिलित कार्य उनकी सामान्य इच्छा को अभिव्यक्त करते हैं। यह सामान्य इच्छा एक व्यक्ति की इच्छा नहीं है, बहुमत की इच्छा भी नहीं है तथा सबकी सम्मिलित इच्छा भी

4. *Introductiou to Philosophy of Religion*, pp. 226–30.
5. *Outlines of Social Philosophy*, pp. 48–49.

नहीं। यह सम्पूर्ण समाज के सामान्य हित के विषय में एक निश्चय पर कुछ व्यक्तियों की सहमति है। व्यक्ति अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण को भुलाकर सम्पूर्ण स्थिति का पर्यवेक्षण करते हैं एवं एक निश्चय पर पहुँच जाते हैं।[6]

सामान्य इच्छा का उद्देश्य सामान्य हित होता है। सामान्य हित न तो सुखवादियों की कल्पना के अनुसार सुख ही है, न गुण अथवा सदिच्छा। न ही यह कान्ट द्वारा प्रतिपादित विवेकपूर्ण इच्छा है। वरन् यह आत्मलाभ, आत्मविकास अथवा ग्रीन के मतानुसार पूर्णत्व है। आत्मलाभ का अर्थ शारीरिक मूल्यों, आर्थिक मूल्यों सामुदायिक मूल्यों, चारित्रिक मूल्यों, ज्ञान, नैतिक हित तथा पवित्रता है। यह समाज के प्रत्येक सदस्य द्वारा प्राप्त है। सामान्य हित की धारणा का अनिवार्य परिणाम साम्यवाद नहीं है। समाज का सामान्य हित पृथक्-पृथक् व्यक्तियों द्वारा उत्पन्न किया जा सकता है, अपनाया जा सकता है तथा उपभोग किया जा सकता है। यह व्यक्तिवाद है। अथवा यह व्यक्तियों द्वारा सामूहिक रूप से उत्पन्न किया जा सकता है, यह समष्टिवाद या साम्यवाद है।

(३) सामाजिक प्रगति (Social Progress)

सामाजिक उद्विकास के साथ सभी सामाजिक संस्थायें निरन्तर परिवर्तित हो रही हैं। "अन्तिम मानदण्ड जिससे सभी प्रगतियों की परीक्षा होगी बुद्धिमय आत्मा की सिद्धि है। आधिभौतिक और सामाजिक प्रगति का मूल्य वहीं तक है जहाँ तक कि वह आत्मविकास का साधन है।" हम सामाजिक प्रगति की मात्रा को अपने बुद्धिमय आत्मा की सिद्धि के लिये व्यक्तियों को समाज द्वारा दी जाने वाली सहायता की शक्ति से नाप सकते हैं। जितनी ही अधिक समाज अपने व्यक्तिगत सदस्यों की आत्माभिव्यक्ति और आत्म लाभ में सहायता देता है, उतनी ही अधिक उसकी प्रगति लक्षित होती है। समाज के सभी सदस्यों का आत्म-लाभ सामाजिक प्रगति का लक्षण है। एक आदर्श समाज में सभी सदस्यों को आत्माभिव्यक्ति और आत्मोत्कर्ष के लिये समान अवसर प्राप्त होते हैं।

(४) व्यक्तिवाद अथवा समाजवाद (Individualism and Socialism)

व्यक्तिवादी व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर बल देते हैं जबकि समाजवादी सम्पूर्ण समाज के हित पर बल देते हैं। व्यक्तिवादी व्यक्तिगत नागरिक के लिये कार्य करने में अधिकतम स्वातन्त्र्य प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। समाजवादी सबसे अधिकतम हित की प्राप्ति के लिये व्यक्ति की स्वतन्त्रता का नियमन करने का प्रयत्न करते हैं।

किन्तु मानव-समाज के विकास में व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर आवश्यकता से अधिक बल दिया गया है। अब राज्य के द्वारा व्यक्ति की स्वतन्त्रता के नियन्त्रण की आवश्यकता और महत्व को धीरे-धीरे समझा जाने लगा है। वर्तमान में, समाज की आदर्श व्यवस्था के लिये जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उच्चतम व्यक्तिगत सिद्धि

---

6. पूर्व पुस्तक पृष्ठ ५४।

तथा मामाजिक हितसाधन के लिये अधिकतम अवसर प्राप्त होंगे, सामाजिक प्रगति समाजवादी दिशा में होनी चाहिये। किन्तु व्यक्ति को विचार और उनके प्रकाशन की स्वतन्त्रता के अपहरण-पूर्वक राज्य के हाथ में एक यांत्रिक-साधन-मात्र नहीं बनाना चाहिये। राज्य को व्यक्ति की स्वतन्त्रता को बनाये रखना चाहिये और उसके व्यक्तित्व का सम्मान तथा उत्कर्ष करना चाहिये। राज्य द्वारा व्यक्ति को यन्त्रवत् बनाकर व्यक्तित्वहीन नहीं किया जाना, चाहिये। ऐसा करने का एक भी प्रयत्न मानवता को विपत्तिग्रस्त कर देगा। समाज की आदर्श व्यवस्था में सबसे अधिकतम हित के लिये व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को स्थिर रखना चाहिये। उसे प्रजातन्त्र का आदर्श-रूप होना चाहिये।

वस्तुतः व्यक्तिवाद और समाजवाद के मौलिक सिद्धान्तों में वास्तविक विरोध नहीं है। यदि व्यक्तियों को स्वतन्त्रता पर अत्यधिक प्रतिबन्ध लगाया जाता है, तो सबका अधिकतम हित-साधन दुष्कर हो जाता है। पुनः व्यक्तियों को पूर्ण स्वातन्त्र्य देना अवांछनीय है। व्यक्तियों की स्वतन्त्रता का सर्वथा अपहरण नहीं हो सकता। स्वतन्त्रता और राज्य द्वारा हस्तक्षेप के मध्य समझौता आवश्यक है।

---

7. *A Manual of Ethics*, p. 300.

सामाजिक और नैतिक संस्थायें
(Social and Moral Institutions)

आत्म-लाभ परम शुभ है। वह आदर्श, बौद्धिक तथा सामाजिक अहं के विकास से होता है। आत्म-लाभ केवल समाज के अन्तर्गत और समाज के ही द्वारा सम्भव है। समाज में कुछ संस्थाओं का विकास हुआ है जो नैतिक आदर्श की प्राप्ति के माध्यम हैं, उनको सामाजिक अथवा नैतिक संस्थायें कहते हैं। सभी सामाजिक संगठन, जो व्यक्तियों के हित के लिये निर्मित हुये हैं, नैतिक संस्थायें कहलाती हैं। वे निम्नलिखित हैं—

(१) **कुटुम्ब** (Family)—कुटुम्ब का आधार नैसर्गिक प्रेम है। कुटुम्ब माता-पिता के बच्चों के प्रति स्वाभाविक स्नेह पर आधारित है। परिवार नागरिक गुणों के अर्जन का क्षेत्र है। वह शैशव की सहायता के लिये पर्याप्त संरक्षण प्रदान करता है; अपने सदस्यों को सहानुभूति, सहकारिता और सहयोग की शिक्षा देता है; तथा; मैत्री और प्रेम के उत्कृष्टतम रूपों के अर्जन के लिये पर्याप्त अवसर प्रदान करता है।

कुटुम्ब में नैसर्गिक संरक्षकों द्वारा बच्चों की रक्षा होती है। तथापि किसी सीमा तक माता-पिता का नियन्त्रण सीमित होना चाहिये। बच्चों को उचित शिक्षा देनी चाहिये। बच्चों से मजदूरी करवाने पर प्रतिबन्ध होना चाहिये। पति-पत्नी का सम्बन्ध प्रेम पर आधारित समानता का होना चाहिये। पत्नी को पति के अधीन नहीं होना चाहिये। कुटुम्ब नैतिक शिक्षा की पाठशाला है। वह समवेदना, प्रेम और सहकारिता का उत्कर्ष करता है। पति-पत्नी के मध्य पवित्र वैवाहिक बन्धन पर आधारित कुटुम्ब का विनाश करने का प्रयत्न मनुष्य जाति के सामाजिक तथा नैतिक ढाँचे की भित्ति को निर्बल बना देगा।

(२) **शिक्षा संस्थायें** (Educational Institutions)—पाठशालायें, कालेज, विश्वविद्यालय, इत्यादि व्यक्तियों के चरित्र-गठन में महत्वपूर्ण भाग लेते हैं। वे उनकी अव्यक्त बौद्धिक और नैतिक शक्तियों को प्रस्फुटित करते हैं और व्यक्तित्व का चरम उत्कर्ष करने में सहायता देते हैं। शिक्षण संस्थायें व्यक्तित्व के विकास के लिए शिक्षण-भूमि हैं। वे शिक्षा देते हैं जो व्यक्तियों के आत्माभिव्यक्ति और आत्मोत्कर्ष के लिये अनिवार्य हैं। सम्यक्-निर्णय शक्ति की प्राप्ति के हेतु शिक्षा अनिवार्य है।

(३) **शिल्पशाला** (Workshop)—शिल्पशाला का आधार समझौता है। औद्योगिक सम्बन्ध समझौते पर आधारित हैं; वे समानता के सम्बन्ध न होकर

अधीनता के सम्बन्ध हैं। नौकर मालिक के अधीन हैं। नौकर और नौकरी देने वाले, सेवक और स्वामी के मध्य न्यायसम्मत समझौता स्थापित करने के लिये राज्य को हस्तक्षेप करना चाहिये। सेवकों को स्वामी की अधीनता में, गुलामी में पतित होने से बचने के हेतु राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक है। कार्लाइल (Carlyle) को इसका महान् दु:ख है कि आधुनिक युग में स्वामी–सेवक के मध्य 'नकद' ही एकमात्र बन्धन बच रहा है। यह नि:सन्देह यथार्थ है कि उनके सम्बन्धों का मानवीयकरण होना चाहिये किन्तु औद्योगीकरण के इस यांत्रिक युग में एक बड़ी उद्योगशाला अथवा बड़े व्यावसायिक कारखाने में स्वामी और सेवकों के वीच वैयक्तिक सम्बन्धों की पुन: स्थापना अत्यन्त दुष्कर है।

(४) **नागरिक समाज** (Civic Community)—औद्योगिक सम्बन्ध समझौते के ऊपर आधारित है। अत: समाज के हित के लिये सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्यभार सम्पूर्ण नागरिक समाज के ऊपर होना चाहिए। स्वास्थ्य-रक्षा की व्यवस्था करना, शिक्षा संस्थाओं की व्यवस्था, मिलावटी अन्न पर रोक, निर्बल और अयोग्यों की रक्षा व्यक्तियों के ऊपर नहीं छोड़ी जानी चाहिये। समाज के इन महत्वपूर्ण कार्यों का भार स्वयं सम्पूर्ण समाज के ऊपर होना चाहिये।

(५) **धार्मिक संस्था** (Church)—नागरिक समाज के द्वारा नागरिकों की पूर्णतया पिता तुल्य रक्षा नहीं हो सकती। यह धार्मिक संस्था के द्वारा ही हो सकती है, जो मैत्री और वैयक्तिक सम्बन्धों के अर्जन के लिए पर्याप्त अवसर देता है। इसका कार्य मानवीय सम्बन्धों के उच्चतम नैतिक आदर्श को प्राप्त करने का है। धार्मिक संस्था का कार्य असाम्प्रदायिक नैतिक संस्थाओं के द्वारा पूर्ण किया जा सकता है। इस समय धार्मिक सस्थाओं का मनुष्य जाति के ऊपर से प्रभाव हटता जा रहा है। अत: आध्यात्मिक सहकारिता के अर्जन के लिये और हमारे सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन में नैतिक आदर्श की सिद्धि के हेतु असाम्प्रदायिक संस्थाओं का महत्व बढ़ जाता है।

(५) **राज्य** (State)—राज्य सभी संघों का सर्वोच्च शासनकर्त्ता है। वह विधान निर्माण करता है और दण्ड का भय दिखाकर उसको जनता के ऊपर लागू करता है। वह व्यक्तियों के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करता है। इस प्रकार राज्य व्यक्तियों के लिये नैतिक जीवन को सम्भव बना देता है। नैतिक जीवन केवल राजनैतिक संगठन में ही सम्भव है। वह जातीय रक्षा, रेलगाड़ी, पत्रों का यातायात, मुद्रा, कानून और व्यवस्था की चिन्ता करता है। वह उन कार्यों की देख-रेख करता है जो व्यक्तियों के जीवन और सुरक्षा को प्रभावित करते हैं। अत: राज्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था है। राज्य को समाप्त करने का कोई प्रयत्न नीति के मूल पर कुठाराघात है। आत्म लाभ एक सुव्यवस्थित राजनैतिक सगठन में ही सम्भव है, जो दूसरों के आक्रमण से किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व और सम्पत्ति को बचा सकता है और आत्मोत्कर्ष के हेतु उसे अधिकतम अवसर प्रदान करता है।

(१) अधिकार और कर्त्तव्य (Right and Duty)

अधिकार समाज के द्वारा स्वीकृत व्यक्तियों की नैतिक माँगें हैं। बोसांके (Bosanquet) के अनुसार—"कर्त्तव्य समाज द्वारा स्वीकृत व्यक्तियों के नैतिक ऋण हैं। अधिकार समाज के द्वारा स्वीकृत मांगें हैं, जो सर्वोच्च प्रभु की हैं, संयत से सर्वोत्तम जीवन के लिये उपयुक्त परिस्थितियों को स्थिर रखने के लिए कार्य करता है।" अधिकारों का निवास कुछ व्यक्तियों को होता है; उनका कुछ वस्तुओं पर अधिकार होता है जो आत्म-लाभ के अर्थ आवश्यक होती हैं। कर्त्तव्य इन अधिकारों का सम्मान करने के लिये अन्य व्यक्तियों की नैतिक बाध्यतायें हैं। कुछ अधिकार युक्त व्यक्ति उन अधिकारों का सामान्य हित के लिये सदुपयोग करने के लिये भी नैतिक दृष्टि से बाध्य होते हैं। अधिकार और कर्त्तव्यों के अन्तिम आधार एक ही नैतिक नियम और सम्बन्ध हैं। व्यक्तियों के अपने व समाज के हितार्थ कुछ अधिकारों को समाज स्वीकार करता है। अकेले मनुष्य का किसी वस्तु पर अधिकार नहीं है। समाज उसे कुछ अधिकार प्रदान करता है, जो सामाजिक हित के साधक होते हैं। कोई व्यक्ति समाज से विविक्त होकर अकेले किसी वस्तु का दावा नहीं कर सकता। जहां तक नैतिक अधिकारों का सम्बन्ध है सामाजिक अन्त:करण अथवा जनमत व्यक्तियों के इन अधिकारों की रक्षा करता है। नैतिक अधिकार व्यक्तियों के आत्म-लाभ के हेतु समाज द्वारा दिये जाते हैं। वे सर्वोच्च, वैयक्तिक और सामान्य हित की उपलब्धि के लिये अनिवार्य है।

अधिकार और कर्त्तव्य परस्पर-सापेक्ष हैं। कर्त्तव्य नैतिक बाध्यता है। प्रत्येक अधिकार अपने साथ एक बाध्यता लाता है। जब किसी एक मनुष्य को कोई अधिकार प्राप्त होता है तो दूसरा उसका सम्मान करने के लिये बाध्य होता है, और स्वयं वह भी सामान्य शुभ के लिये उसका उपयोग करने के लिए नैतिक दृष्टि से बाध्य होता है। नैतिक बाध्यता वैधानिक बाध्यता से भिन्न होती है। नैतिक बाध्यता राज्य के द्वारा लागू नहीं की जाती जबकि वैधानिक बाध्यता राज्य द्वारा लागू की जाती है। नैतिक बाध्यता जनमत पर निर्भर होती है। उदाहरणार्थ, सम्पत्ति के अधिकार को लीजिये। व्यक्ति को सामान्य शुभ के लिये यह अधिकार प्राप्त हुआ है। अत: केवल अन्य व्यक्ति ही उसके अधिकार का आदर करने के बाध्य नहीं हैं, बल्कि वह भी इसका सामान्य शुभ के लिये उपभोग करने को नैतिक रूप से बाध्य है। इस प्रकार अधिकार और कर्त्तव्य परस्पर आपेक्षिक हैं। हमें उन साधनों का अधिकार है जो हमारे आत्म-लाभ और समाज के, जिसके हम सदस्य

है, सर्वोच्च शुभ के लिये आवश्यक हैं। हम समाज के परम शुभ के हेतु उनका सर्वोत्तम उपयोग करने के लिये नैतिक दृष्टि से बाध्य हैं।

समाज ही सर्वोच्च प्रभु है। समाज व्यक्तियों को अधिकार देता है, अन्यों के ऊपर उनके समादर के लिये कर्त्तव्य लादता है, और कर्त्तव्य-पालन के लिये बाध्य करता है। इस प्रकार, अधिकार और कर्त्तव्य सदैव समाज के आपेक्षिक हैं। एक ही नैतिक नियमों और सम्बन्धों से समाज में उनको स्थिर रखा जाता है। वे एक नैतिक प्राणी की हैसियत से मनुष्य के कार्य की पूर्ति के साधक हैं। वे समाज के प्रत्येक सदस्य के बुद्धिमय आत्मा की सिद्धि के लिये उपयुक्त हैं। वे बुद्धि-संगत जगत की सिद्धि के लिये उपयुक्त हैं, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने पूर्णताप्राप्त चरित्र की सिद्धि कर चुकेगा। अधिकार और कर्त्तव्य समाज से पृथक् नहीं हैं। समाज से पूर्व अधिकारों की सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती। ग्रीन के शब्दों में, "कोई भी अधिकार नहीं रख सकता, समाज के एक सदस्य की हैसियत से और ऐसे समाज के जिसमें किसी शुभ को व्यक्तियों के द्वारा अपना ही आदर्श-हित स्वीकार कर लिया गया है, ही केवल किसी को अधिकार प्राप्त हो सकते हैं।" समाज कुछ शर्तों पर व्यक्तियों को अधिकार देता है। व्यक्तियों को औचित्यपूर्वक अधिकारों का प्रयोग करना चाहिये, और निर्विघ्न उनका उपभोग करना चाहिये। उन्हें कुछ अधिकार उसी समय दिये जाते हैं जिस समय उन्हें प्राप्त करने की उनमें योग्यता आ जाती है। इस प्रकार अधिकार कदापि भी शर्तहीन नहीं होते।

(२) मनुष्य के नैतिक अधिकार (Man's Moral Rights)

(१) **जीने का अधिकार** (Right to live)—मनुष्य का प्रथम अधिकार जीने का अधिकार है। आत्म-लाभ परम-शुभ है, जिसके लिये जीवन की निर्बाध गति आवश्यक है। जीने का अधिकार प्रारम्भिक अधिकार है। जीवन की पवित्रता को स्वीकार करना चाहिये।

किन्तु मानव-जाति के इतिहास में इस मौलिक अधिकार को भी धीरे-धीरे मान्यता दी गई। प्राचीन काल में, कुछ देशों में बच्चों की प्रायः हत्या कर दी जाती थी, विधवाओं को जला दिया जाता था, विधर्मियों को मार डाला जाता था और युद्ध के कैदियों को मृत्यु-दण्ड दे दिया जाता था। आज भी द्वन्द्व (Duel) वैध माना जाता है, और युद्ध के रूप में सामूहिक मनुष्य-वध (Massacre) निन्द्य नहीं माना जाता।

जीने के अधिकार में काम करने का अधिकार भी मन्निहित है। यदि किसी मनुष्य को काम नहीं मिलता तो वह जीविकोपार्जन नहीं कर सकता।

जीने के अधिकार के साथ अपने और दूसरों के जीवन को पवित्र समझने का कर्त्तव्य भी है। हमें अपने ही जीवन का अन्त नहीं करना चाहिये वरन् दूसरे व्यक्ति का जीवन भी हमें लेना नहीं चाहिये। हमें अपने तथा दूसरों के जीवन की वृद्धि करनी चाहिये। जो दूसरों की जान लेता है, नियमानुसार उनकी भी जान ली जा सकती है।

(२) **स्वतन्त्रता का अधिकार** (Right of Freedom)— जीने के अधिकार के पश्चात् दूसरा अधिकार स्वतन्त्रता का है। आत्म-लाभ सर्वोच्च शुभ है। उसकी सिद्धि व्यक्ति की इच्छा से होती है। अत: व्यक्ति को अपने परम मंगल की प्राप्ति के हेतु अपने संकल्प का प्रयोग करने के लिये स्वतन्त्र होना चाहिये। उसके ऊपर दूसरों के द्वारा बल-प्रयोग नहीं होना चाहिये। उसे किसी का क्रीत दास नहीं होना चाहिये। स्वतन्त्रता का अर्थ सीमित स्वतन्त्रता है। अनियन्त्रित और पूर्ण स्वतन्त्रता, अथवा स्वैच्छाचार दुराचार का कारण है। एक सुव्यवस्थित समाज में व्यक्ति को अपने संकल्प के स्वतन्त्र प्रयोग द्वारा अपने परम ध्येय की प्राप्ति का अधिकार उसी सीमा तक होना चाहिये जहां तक वह समाज-व्यवस्था को स्थिर रखने का विरोधी नहीं है। पूर्ण स्वातन्त्र्य का अर्थ अराजकता और अव्यवस्था है। स्वतन्त्रता एक सुव्यवस्थित राज्य में प्राप्त होती है।

स्वातन्त्र्य के अधिकार के साथ उसके सामान्य शुभ के लिये प्रयोग किये जाने का कर्त्तव्य भी है।

(३) **सम्पत्ति का अधिकार** (Right of Property)—सम्पत्ति रखने का अधिकार स्वतन्त्रता के अधिकार का अवश्यम्भावी परिणाम है। आत्म लाभ परम शुभ है। व्यक्ति को आत्म लाभ की प्राप्ति उसी समय हो सकती है जब उसे जीवित रहने, काम करने और अपने संकल्प का स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग करने का अधिकार हो। इच्छा-स्वातन्त्र्य का प्रभावपूर्ण प्रयोग तभी हो सकता है, यदि उसे, अपने द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक अर्जित सम्पति का प्रयोग करने दिया जाय। व्यक्ति सम्पत्ति के साथ है। बिना 'ममत्व' की भावना के 'अहम्' की भावना का विकास असम्भव है (हेगेल)। अत: व्यक्तित्व का विकास कुछ सम्पत्ति के स्वतन्त्र प्रयोग के द्वारा ही सम्भव है। सम्पत्ति के स्वामी होने की प्रवृत्ति मानव स्वभाव में इतनी गहराई तक प्रविष्ट है कि उसका उन्मूलन नहीं हो सकता। समाज अथवा राज्य को केवल उसे सीमित करना चाहिए।

व्यक्ति को उन साधनों का अधिकार है जिन्हें वह अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग कर सकता है। सम्मिलित सम्पत्ति के द्वारा ऐसा कर सकना उसके लिये असम्भव है। समाज के विकास की बहुत बाद की अवस्था में जब व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के गौरव का ज्ञान हुआ और उसने कुटुम्ब अवस्था गोत्र जिसमें पहिले उसका विलय हो चुका था, के विरुद्ध अपने अधिकार की माँग की, तभी उसे सम्पत्ति का अधिकार मिला।

समाज के द्वारा अपने व्यक्तिगत सदस्यों को, समानता और न्याय के आधार पर सम्पत्ति का अधिकार व्यक्ति और समाज के सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति के लिये मिलना चाहिये। सम्पत्ति के अधिकार के साथ सामाजिक कल्याण के लिये उसका बुद्धिमत्ता के साथ उपभोग करने का कर्त्तव्य भी है।

प्लेटो (Plato) का मत है कि एक आदर्श लोकतन्त्र में उपकरणों का साम्य

होना चाहिये और व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार नहीं होना चाहिये। अरस्तू (Aristotle) का मत है कि आदर्श राज्य में प्रत्येक को सामान्य शुभ के लिये सम्पत्ति का स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग करना चाहिये। आज समाज की पूँजीवादी व्यवस्था के दोष इतने अधिक बढ़ गये हैं कि मानव-जाति की विचारधारा का प्रवाह अनिवार्य रूप से सम्पत्ति के अधिकार के उन्मूलन की ओर हो गया है। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति में अवस्थित व्यक्तित्व की भावना इतनी गहरी बैठी हुई है कि मनुष्य-जाति को सीमित व्यक्तिगत सम्पत्ति को स्वीकार करना पड़ेगा। समाज को समाजवादी ढाँचे के लिये मानव-स्वभाव का पूर्ण परिष्कार करना होगा, जो कि व्यवहार्य प्रतीत नहीं होता। अतः किसी न किसी रूप में सम्पत्ति के अधिकार को मानना ही पड़ेगा।

(४) **समझौते की पूर्ति का अधिकार** (Right of Contract)—समझौते को पूरा करने का अधिकार भी एक महत्वपूर्ण अधिकार है। सम्पत्ति के अधिकारों से समझौते के अधिकारों की उत्पत्ति होती है। सम्पत्ति पर मेरा स्वत्व है। मैं उसके उपभोग, विनिमय इत्यादि के लिये स्वतन्त्र हूँ। यदि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से उसकी कोई सेवा करने का समझौता करता है तो दूसरे को उन सेवाओं को स्वीकार करने का अधिकार है। प्रारम्भिक समाजों में जिनमें व्यक्ति के कोई अपने अधिकार नहीं थे, इस अधिकार को मान्यता नहीं दी गई थी। समझौते के अधिकार के साथ ही एक न्यायोचित समझौता करने का, जिसे उचित रूप से पूरा किया जा सके, भी नैतिक कर्त्तव्य है। मनुष्य को स्वयं को क्रीत-दास बनाने का समझौता करने का अधिकार नहीं है। समझौते का अधिकार एक अत्यधिक उन्नत समाज में ही सम्भव है जो समाज उसके औचित्य का आश्वासन दे सकता है।

(५) **शिक्षा का अधिकार** (Right to Education)—अन्तिम अधिकार शिक्षा का अधिकार है। यहाँ पर अधिकार और कर्त्तव्य परस्पर घनिष्टतया सम्बन्धित हैं। प्रत्येक व्यक्ति को यथा-शक्ति उच्चतम शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है। वह अपनी योग्यता के अनुसार सर्वोत्तम शिक्षा पाने के लिये नैतिक दृष्टि से बाध्य है। एक समुन्नत समाज से प्रत्येक को अपनी अव्यक्त शक्तियों को पूर्णतया व्यक्त करने के लिये और सामान्य कल्याण के लिये अधिक से अधिक अवसर दिये जाने चाहियें। शिक्षा बुद्धि का विकास करती है, और बौद्धिक-जीवन का विस्तार करती है। यह आत्माभिव्यक्ति और आत्मोत्कर्ष के लिये नितान्त आवश्यक है।

(३) मनुष्य के कर्त्तव्य (Man's Duties)

निश्चित अधिकार अपने साथ निश्चित कर्त्तव्य लाते हैं। ऐसे कर्त्तव्यों अथवा नैतिक बाध्यताओं को आदेशों के रूप में प्रकाशित किया जा सकता है। जिस प्रकार प्रत्येक कर्त्तव्य से किसी अधिकार का सम्बन्ध है, उसी प्रकार प्रत्येक अधिकार से भी किसी कर्त्तव्य का सम्बन्ध होता है। अधिकार और कर्त्तव्य परस्पर सापेक्ष हैं। सभी कर्त्तव्यों को इस आधारभूत कर्त्तव्य से अनुमित किया जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने बुद्धिमय आत्मा का लाभ करना चाहिये।

(१) **जीवन का सम्मान** (Respect of Life)—हमारा प्रथम कर्त्तव्य अपने और दूसरों के जीवन का सम्मान करता है। हमें आत्म-हत्या नहीं करनी चाहिये और दूसरों की हत्या भी नहीं करनी चाहिये। "तुम हत्या नहीं करोगे।" यह पहिला आदेश है। हमें अपने जीवन की रक्षा करनी चाहिये। हमें दूसरों के जीवन की रक्षा करनी चाहिये।

(२) **स्वतन्त्रता का सम्मान** (Respect for Freedom)—हमारा दूसरा कर्त्तव्य अपनी और दूसरों की स्वतन्त्रता का सम्मान करना है। हमें दूसरों के जीवन के स्वतन्त्र विकास में बाधा नहीं देनी चाहिये। इस कर्त्तव्य को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है : "प्रत्येक मानव प्राणी को एक वस्तु समझकर नहीं, बल्कि एक व्यक्ति समझकर व्यवहार करो।" कान्ट (Kant) का नैतिक सूत्र है : "मनुष्यत्व को अपने तथा दूसरे के अन्दर सदैव साध्य समझो, साधन कदापि नहीं।" यह आदेश गुलामी, स्वेच्छाचारिता, शोषण प्रवृत्ति का निषेध करता है। हमें न तो दूसरों के द्वारा स्वयं को साधन बनने देना चाहिये और न दूसरों को अपना साधन बनाना चाहिये।

(३) **चरित्र का सम्मान** (Respect of Characters)—हमें व्यक्तियों के चरित्र का सम्मान करना चाहिये, हमें न केवल दूसरों के स्वतन्त्र विकास का विरोध करने के लिये किसी वस्तु से दूर ही रहना चाहिये। बल्कि उनके उच्चतम कल्याण की वृद्धि के लिये भी उनकी सहायता करनी चाहिये। कान्ट ने कहा था : मनुष्यत्व को अपने तथा दूसरे के अन्दर सदैव साध्य समझो, साधन कदापि नहीं।" हेगेल (Hegel) ने कहा था : "व्यक्ति बनो और दूसरों को भी व्यक्ति समझकर उनका सम्मान करो।" प्रथम दो आदेश निषेधात्मक हैं, जबकि तीसरा विधानात्मक है।

(४) **सम्पत्ति का सम्मान** (Respect for Property)—अगला आदेश है : "तुम चोरी नहीं करोगे।" हमें दूसरों की सम्पत्ति का अपहरण नहीं करना चाहिये और हमें अपनी सम्पत्ति का भी दुरुपयोग नहीं करना चाहिये। हमें दूसरों के कल्याण के साधनों में, उनके समय, ख्याति इत्यादि में बाधा नहीं देनी चाहिये। हमें सम्पत्ति के अधिकार का सम्मान करना चाहिये, और अपनी तथा दूसरों की सम्पत्ति के प्रति आदर का भाव रखना चाहिये। हमें जिस पर दूसरों का उचित स्वत्व है उसे नहीं छीनना चाहिये।

(५) **सामाजिक व्यवस्था का सम्मान** (Respect for Social Order)—हमें सामाजिक संस्थाओं का और सामाजिक व्यवस्था के विविध रूपों का सम्मान करना चाहिये। सामाजिक व्यवस्था, दृढ़ता व्यक्तियों की नैतिक प्रगति का एक अनिवार्य हेतु है। अतः हमें अनावश्यक-रूप से किसी सामाजिक संस्था में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। उदाहरणार्थ—हमें सामाजिक संगठन अथवा राज्य को नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिये। हमें उस सामाजिक संगठन को स्थिर रखना चाहिये, जिससे हमारा सम्बन्ध है।

(६) **सत्य का सम्मान** (Respect for Truth)—अगला आदेश है : "तुम मिथ्या भाषण नहीं करोगे।" हमें सत्य भाषण करना चाहिये। हमें उसी का भाषण करना चाहिये जो हमारा अभिप्राय: है। हमें अपना वचन रखना चाहिये। हमें अपने कर्मों को अपने वचनों के अनुसार रखना चाहिये। संक्षेप में सत्य का अर्थ है विचार और वचन का संवाद तथा वचन और कर्म का संवाद।

(७) **प्रगति का सम्मान** (Respect for Social Progress)—मानव प्रगति में हमारा दृढ़ विश्वास होना चाहिये और उसकी वृद्धि के लिये प्रयत्न करना चाहिये। विश्व की उन्नति के लिये परिश्रम में हमारा भी योग होना चाहिये। इस आदेश को इस रूप में व्यक्त किया गया है। "तुम अपने विशेष क्षेत्र में सम्पूर्ण हृदय, सम्पूर्ण आत्मा, सम्पूर्ण बल, और सम्पूर्ण मन को लगाकर परिश्रम करोगे (मैकेन्जी)।"

(४) कर्त्तव्याकर्त्तव्य-विचार : कर्त्तव्यों में विरोध

(Casuistry : Conflict of Duties)—

यदा-कदा विशेष कर्त्तव्यों में विरोध दिखाई पड़ता है। उदाहरणार्थं जीवन के लिए सम्मान का सत्य के सम्मान से विरोध हो सकता है। यदि कोई डाक्टर क्षय रोग से पीड़ित अपने रोगी को उसका रोग बतला दे तो सम्भव है रोगी की मृत्यु अधिक निकट आ जाय। पुन: जीवन के सम्मान का सम्पत्ति के सम्मान से विरोध हो सकता है। उदाहरणार्थ, यदि हमें जीवन का सम्मान करना है तो हमें हत्या करने वाले व्यक्ति से च कू छीनना होगा। ये तथाकथित कर्त्तव्य-विरोध के उदाहरण हैं।

इस प्रकार की विरोधग्रस्त अवस्थाओं में समस्या के हल के लिये कुछ लोग "'कर्त्तव्याकर्त्तव्य-शास्त्र" (casuistry) की शरण लेने की सम्मति देते हैं। कर्त्तव्या-कर्त्तव्य शास्त्र हमें बताता है कि किन विशेष परिस्थितियों में हमारे लिये विशेष नैतिक नियमों का उल्लंघन करना उचित है। "कर्त्तव्याकर्त्तव्य-शास्त्र" विशेष परिस्थितियों में नैतिक नियमों का अतिक्रमण करने के लिये सूत्रों की रचना करता है। वह नीति-शास्त्र का एक विभाग है जो अन्त:करण की समस्याओं का विचार करता है।

कर्त्तव्य का विरोध अवास्तविक है। किसी परिस्थिति-विशेष में हमारा एक ही कर्त्तव्य होता है। कर्त्तव्यों के विरोध के विषय में कथन करने का कारण केवल वास्तविक स्थिति को समझने में हमारी सफलता है। उदाहरण के लिये—हत्या करने को उद्यत व्यक्ति से चाकू छीनने का हमारा स्पष्ट कर्त्तव्य है। ग्रीन की उक्ति है : "कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसे वास्तव में कर्त्तव्य-विरोध कहा जाये। किसी मनुष्य का किन्हीं विशेष-परिस्थितियों में सदैव एक ही कर्त्तव्य होता है, यद्यपि समस्या की परिस्थितियाँ इतनी जटिल और विकट हो जाती हैं कि वास्तविक कर्त्तव्य क्या है,

इसका निर्धारण करना कठिन हो जाता है।"[1] यदि उचित रूप से कहा जाय तो कर्त्तव्यों में विरोध हो ही नहीं सकता। किसी मूर्त-दशा में व्यक्ति का एक ही निश्चित कर्त्तव्य होता है। वह अपने कर्त्तव्य को स्पष्ट नैतिक अन्तर्दृष्टि से जान सकती है। यदि वह उसी क्षण ही वासनाओं तथा पक्षापातपूर्ण धाराओं के वशीभूत नहीं होता। कर्त्तव्यों के तथा कथित (so-called) संघर्ष के कारण हैं--स्पष्ट नैतिक अन्तर्दृष्टि का अभाव, वासनाओं और स्वार्थ के कारण नैतिक निर्णय शक्ति का, बाधित हो जाना, समस्याओं का जंजाल, और नैतिक स्थिति में महत्वपूर्ण और महत्वहीन तत्वों के विवेक का अभाव।

व्यवहार में नियम बनाना स्वयं बुरा है, और उनके उल्लंघन के लिये विशेष नियम बनाना तो बिल्कुल असह्य है, पुनः संशयात्मक और जटिल दशाओं में कर्त्तव्याकर्त्तव्य शास्त्र का प्रयोग नीति में ढिलाई का कारण बन जायेगा। कोई भी किसी कर्म को स्वेच्छानुसार उचित ठहराने लगेगा।

कर्त्तव्याकर्त्तव्य-शास्त्र नैतिकता के बाह्य-रूप को अनुचित महत्व प्रदान करता है। वह ध्यान को कर्म के एक विशेष नियम के अनुकूल होने पर ही केन्द्रित करता है। वह कर्त्ता की प्रवृत्ति, उद्देश्य, अभिप्राय, कर्म करने के रुख, कर्म से प्राप्तव्य शुभ अथवा जिस पर कर्म सम्पन्न हुआ है उसकी विलक्षणता का विस्तार नहीं करता।

कर्त्तव्याकर्त्तव्य-शास्त्र नीति के वैधानिक दृष्टिकोण को प्रोत्साहन देता है। वैधानिक दृष्टिकोण में निन्दा-तृप्ति, दण्ड-पुरस्कार का प्राधान्य होना था। व्यवहार विधि और निषेध से नियन्त्रित होता है।

कर्त्तव्याकर्त्तव्य-शास्त्र नैतिक जीवन से स्वतन्त्रता को निकालकर बाहर करता है। जब कभी कर्त्तव्यों में विरोध मालूम पड़ता है तो हमें इस सर्वोच्च नैतिक नियम का आश्रय लेना चाहिये कि हमें अपने बुद्धिमय आत्मा का और उसको उपलब्ध करने में गर्भित मूल्यों का लाभ करना चाहिये।

(५) पूर्ण-बाध्यतामूलक और अपूर्ण-बाध्यतामूलक कर्त्तव्य
(Duties of Prefect Obligation and Duties of Imperfect Obligation)

कान्ट ने पूर्ण-बाध्यतामूलक और अपूर्ण-बाध्यतामूलक कर्त्तव्यों में भेद का निर्देश किया है। पहले कर्त्तव्य निश्चित और भ्रमणरहित होते हैं और उनका पालन करना ही पड़ता है। दूसरे कर्त्तव्य अनिश्चित होते हैं और उनके पालन के लिये किसी को बाध्य नहीं किया जा सकता। वे प्रायः विधिमूलक होते हैं, किन्तु निश्चयात्मक और निरपेक्ष-रूप से उन्हें वाक्यबद्ध नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ, हत्या और चोरी न करने के तथा असत्य भाषण न करने के हमारे कर्त्तव्य पूर्ण बाध्यतामूलक कर्त्तव्य हैं। किन्तु परोपकार का कर्त्तव्य देश, काल और परिस्थिति का सापेक्ष है और हमारी इच्छा पर अत्यधिक निर्भर है। हमें उसके पालन के लिये बाध्य नहीं होना पड़ता।

1. 'नीति-शास्त्र की भूमिका' पृष्ठ ३५५।

कान्ट का यह भेद नैतिक नहीं बल्कि वैधानिक है। विशेष परिस्थितियों में हमारे कर्त्तव्य निश्चित होते हैं। बल प्रयोग का तो नैतिक कर्त्तव्यों में प्रश्न ही नहीं उठता। नैतिक दृष्टि से सभी कर्त्तव्य पूर्ण-बाध्यतामूलक होते हैं।

(६) "मेरा स्थान और उसके कर्त्तव्य" (ब्रैडले)

("My Station and its Duties" (Bradley)

प्रत्येक व्यक्ति विशेष सामाजिक वातावरण में विशेष योग्यताओं को लेकर जन्म लेता है; उसके कर्त्तव्य जीवन में उसके जीवन के द्वारा निश्चयात्मक रूप से निर्धारित होते है, और अपने सर्वोच्च व्यक्तिगत शुभ और सर्वोच्च सामान्य शुभ की सिद्धि के लिये उसे उनका पालन करना चाहिये। कार्लाइल का कथन है कि, "जो कर्त्तव्य तुम्हारे सबसे निकट है उसका पालन करो।" "जिस कार्य को तुम सम्पादित कर सकते हो उसको जानो और हरक्यूलीस के तुल्य उस पर जुट जाओ।" इस प्रकार मनुष्य के कर्त्तव्यों का निर्धारण अधिकांशतः उसकी व्यक्तिगत अन्तर्दृष्टि पर निर्भर है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रतिभा की प्रवृत्ति का अनुसरण करना चाहिये और जीवन में अपने स्थान के अनुसार अपने कर्त्तव्यों को निर्धारित करना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति के कर्त्तव्य समाज में उसके स्थान अथवा वास्तविक सामाजिक सम्बन्धों में उसके स्थान के द्वारा निर्धारित होते हैं; और किसी आदर्श के प्रति उसकी अटल भक्ति का भी उसके नैतिक स्थान के आज्ञापक दावों द्वारा नियमन होना चाहिये। किसी व्यक्ति के कर्त्तव्य उसकी सामाजिक स्थिति से निर्धारित होते हैं। इस प्रकार एक अध्यापक, एक विद्यार्थी, एक शासनकर्त्ता, एक शासित, एक न्यायाधीश, एक वकील, एक व्यापारी, एक पिता, एक माता, एक बच्चा इत्यादि के कर्त्तव्य उन व्यक्तियों से पृथक हैं जिनका विरुद्ध वर्गों से सम्बन्ध है।

इस प्रकार, किसी व्यक्ति के तीन प्रकार के कर्त्तव्य होते हैं। उसे जीवन, स्वतन्त्रता, सम्पत्ति इत्यादि का सम्मान प्रभृति उपयुक्त सामान्य कर्त्तव्यों का पालन करना पड़ता है। उसे समाज में अपनी स्थिति के उपयुक्त, अपनी विलक्षण परिस्थितियों के आपेक्षिक कुछ विशेष कर्त्तव्यों का पालन करना पड़ता है पुनः उसे कुछ नवीन कर्त्तव्यों का भी पालन करना पड़ता है जो समय-समय पर परिवर्तित होने वाली उसकी परिस्थितियों पर निर्भर होते हैं। एक जनता का नेता तथा मन्त्री बन जाता है। उसके विशेष कर्त्तव्य जनता के नेता के कर्त्तव्यों से परिवर्तित होकर मन्त्री के कर्त्तव्य हो जाते हैं।

(७) एक सर्वोच्च कर्त्तव्य (One supreme duty)—

हमारा एक सर्वोच्च कर्त्तव्य है "बुद्धिमय आत्मा की प्राप्ति करो और उसमें गर्भित मूल्यों की भी।" सभी अन्य कर्त्तव्य इसी सर्वोच्च कर्त्तव्य से अनुमित होते हैं। विशेष कर्त्तव्य इसी निरपेक्ष और अन्तिम कर्त्तव्य के विभिन्न पहलू हैं। सर्वोच्च नैतिक नियम क्या है? "यह वह आदेश है जो हमें बुद्धिमय आत्मा और तत्सम्बन्धी मूल्यों के लाभ की आज्ञा देता है (मैकेंजी)।" यह इतना विशाल है कि

अन्य विशेष व्यवहारिक नियमों से इसकी पूर्ति होनी चाहिये। जब ये नियम परस्पर विरोधी मालूम पड़ते हैं, तो हमें इस सर्वोच्च आदेश का आश्रय लेना चाहिये कि "बुद्धिमय आत्मा और बुद्धिसम्मत जगत् की सिद्धि करो।

(८) **कर्त्तव्यों का वर्गीकरण** **(Classification of duties)**—

कर्त्तव्यों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) आत्मा के प्रति कर्त्तव्य।

(२) दूसरों के प्रति कर्त्तव्य।

(३) ईश्वर के प्रति कर्त्तव्य।
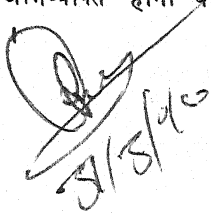
(१) **आत्मा के प्रति कर्त्तव्य** (Duties towards ourself)—इस वर्ग में निम्नलिखित कर्त्तव्यों का समावेश होता है—

(क) भौतिक कर्त्तव्य, (ख) आर्थिक कर्त्तव्य, (ग) बौद्धिक कर्त्तव्य, (घ) सौन्दर्य कर्त्तव्य, (ङ) नैतिक कर्त्तव्य। आत्म-रक्षण, स्वास्थ्य-चिन्ता और विनोद हमारे शरीर के प्रति कर्त्तव्य हैं। हमें आत्म-हत्या का कोई अधिकार नहीं है। हमारा जीवन हमारे और अन्यों की सम्मिलित सम्पत्ति है। हमें अपने जीवन का संरक्षण और परिवर्तन करना चाहिये, और अच्छे स्वास्थ्य का उपभोग करना चाहिये जो नैतिक बल के लिये अत्यावश्यक है। हमें शरीरिक मूल्यों का अर्जन करना चाहिये क्योंकि वह उच्चतर मूल्यों के आधार हैं। हमें अच्छी जीविका का उपार्जन करना चाहिये। हमें धन संग्रह करना चाहिये, साथ ही हमें मितव्ययी होना चाहिये, ताकि हम उच्चतर मूल्य का उपभोग कर सकें। धन एक आर्थिक मूल्य है। यह उच्चतर मूल्यों की प्राप्ति के लिये अनिवार्य साधन है। आर्थिक मूल्यों का अर्जन उच्च प्रकृत मूल्यों के साधनों के रूप में होना चाहिए। हमें धन को प्रकृत मूल्य नहीं समझना चाहिये। उसे साधन समझना चाहिए। यह हमारा आर्थिक कर्त्तव्य है। हमें अपनी बुद्धि का विकास करना चाहिए और ज्ञानार्जन करना चाहिए। हमें बुद्धि को अविकसित रखने का कोई अधिकार नहीं है क्योंकि व्यक्तित्व के विकास के हेतु बुद्धि का विकास अनिवार्य है। यह हमारा बौद्धिक कर्त्तव्य है। हमें सौन्दर्य की सृष्टि और प्रशंसा के द्वारा अपनी सौन्दर्यरुचि को अर्जन करना चाहिए। यह हमारा सौन्दर्य विषयक कर्त्तव्य है। हम अपनी प्रवृत्तियों, वासनाओं और इन्द्रियवेगों पर नियन्त्रण करना चाहिए। हमें इन्द्रियपरता का बुद्धि द्वारा नियमन करना चाहिए। हमें अपने व्यक्तित्व का सम्मान करना चाहिए। आत्म-संयम और आत्म-सम्मान हमारे नैतिक कर्त्तव्य है। हमें परम-शुभ के तत्वों के रूप में सत्य और सौन्दर्य को अपना लक्ष्य बनाना चाहिए। हमें बौद्धिक, सौन्दर्य-विषयक और नैतिक मूल्यों को प्रकृत, निरपेक्ष और शाश्वत् समझना चाहिए। ये आत्मा के प्रति कर्त्तव्य हैं। ये व्यक्तिगत कर्त्तव्य हैं।

(२) **दूसरों के प्रति कर्त्तव्य** (Duties towards others)—इस वर्ग में अग्रलिखित कर्त्तव्यों समावेश होता है—

(क) कुटुम्ब के प्रति कर्त्तव्य, (ख) समाज में अन्य व्यक्तियों के प्रति कर्त्तव्य, (ग) देश के प्रति कर्त्तव्य, (घ) मानव-जाति के प्रति कर्त्तव्य, (ङ) पशुओं के प्रति कर्त्तव्य, (च) पेड़ पौधों के प्रति कर्त्तव्य। हमें माता-पिता का सम्मान और उनसे प्रेम करना चाहिए। पार्थक्य में उनकी पालन-पोषण करना चाहिए। हमें अपने बच्चों से प्रेम करना चाहिए। हमें उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य और चरित्र की चिन्ता करनी चाहिए। हमें उनकी अपने लिये उचित व्यवसाय का चुनाव करने में सहायता करनी चाहिए। पति-पत्नी को एक-दूसरे का सम्मान और प्रेम करना चाहिए। उन्हें एक-दूसरे को मित्र और समकक्ष समझना चाहिये। पति को पत्नी की स्थिति अपने से हीन नहीं समझनी चाहिए। यह हमारे कुटुम्ब के प्रति कर्त्तव्य है। हमारे समाज में अन्य व्यक्तियों के प्रति मुख्यत: ये कर्त्तव्य हैं—(क) सच्चाई, (ख) समानता, (ग) परोपकार। हमें सत्य भाषण करना चाहिए। जो हमारा अभिप्राय है वही भाषण करनी चाहिए और जो कहते हैं वही करना चाहिये। हमें अपने वचनों की रक्षा करनी चाहिए। अपने विश्वासों को प्रकट कर देना चाहिए। समानता का अर्थ न्याय और ईमानदारी है। हमें दूसरों से वही बर्ताव करना चाहिए जो हम चाहते हैं कि हमारे साथ हो। हमें दूसरों के व्यक्तित्व का सम्मान करना चाहिए। हमें सब को माध्य समझकर बर्ताव करना चाहिए—आत्मोपभाग और स्वार्थ के साधन समझ कर नहीं। हमें दूसरों को स्वतन्त्रता और सम्पत्ति में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। हमें दूसरों के चरित्र, सम्मान और ख्याति पर आक्षेप नहीं करना चाहिये। हमें दूसरों का जीवन नहीं लेना चाहिए और उनके जीविकोपार्जन में बाधा नहीं देनी चाहिए। हमें दूसरों के प्रति सद्भाव रखना चाहिए। 'हमें मनसा, वाचा, कर्मणा उनकी कोई हानि नहीं करनी चाहिये। इन सब कर्त्तव्यों का समावेश समानता में होता है। हमें संकटग्रस्त के साथ सहानुभूति होनी चाहिए। हमें उसके संकट के निवारण के लिये यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिए। यह परोपकार है। ये समाज में दूसरों के प्रति हमारे कर्त्तव्य हैं। हमें अपने देश से प्रेम होना चाहिये, उसकी स्थिति सुधारने का अधिकतम प्रयास करना चाहिए और उसके महान् कार्यों में गर्व की अनुभूति होनी चाहिए। देश-भक्त होना चाहिये। यह देश के प्रति हमारे कर्त्तव्य हैं। हमें सब मानवों से प्रेम करना चाहिए और उन्हें अपने साथी समझने चाहिये। संकीर्ण देश भक्ति परित्याज्य है। साम्राज्यवाद, रंगभेद और जातीय उच्चता भी त्याज्य हैं। सामाजिक व्यवस्था का आदर और मानवीय प्रगति में आस्था होनी चाहिये। हमें उदार मानवतावादी होना चाहिये। ये हमारे मानवजाति के प्रति कर्त्तव्य हैं। पालतू पशुओं की रक्षा करनी चाहिए। पशुओं के प्रति कोमलता का निर्दयतापूर्वक व्यवहार अनुचित है। ये हमारे पशुओं के प्रति कर्त्तव्य हैं। हमें पेड़ पौधों की रक्षा करनी चाहिये, उनको सींचना चाहिये और उचित पोषक-पदार्थ देने चाहिये। हमें प्रकृति के प्रति धृष्ट नहीं होना चाहिये। ये हमारे पेड़-पौधों के प्रति कर्त्तव्य हैं।

(३) **ईश्वर के प्रति कर्त्तव्य** (Duties towards God)—हमें नित्य ईश्वर की उपासना और ध्यान करना चाहिये। हमें नित्य-प्रति उसकी पूजा करनी चाहिये और उसके शरणागत होना चाहिये। हमें अपने कर्मों को उसे अर्पण करना चाहिये और एकनिष्ठ होकर श्रद्धा से उसको प्रेम करना चाहिये। ये हमारे ईश्वर के प्रति कर्त्तव्य हैं। किन्तु हमारे ईश्वर-प्रेम का प्रकाशन मानव-प्रेम में होना चाहिये। मनुष्य-जाति की सेवा में उसकी अभिव्यक्ति होना चाहिये। मानव-प्रेम से रहित ईश्वर-प्रेम व्यर्थ ढकोसला-मात्र है।

(१) **कर्त्तव्य-कर्म और धर्म (Duty and Virtue)**—

कर्त्तव्य-कर्मों के अभ्यासपूर्वक सम्पादन से धार्मिक प्रवृत्तियों का उद्भव होता है। अभ्यास के द्वारा कर्त्तव्य धर्म में परिणत हो जाते हैं। धर्म अर्जित मानसिक प्रवृत्तियों की ओर संकेत करते हैं। धर्मनिष्ठ व्यक्ति वह व्यक्ति है जिसे कर्त्तव्य पालन का दृढ़ अभ्यास है। धर्म सच्चरित्र का निर्देश करता है। कर्त्तव्य उस विशेष कर्म का निर्देश करता है जिसे हमें कहना चाहिये। इस प्रकार कोई मनुष्य अपना कर्त्तव्य करता है; किन्तु धर्म उसका गुण होता है, अर्थात् वह धर्मनिष्ठ होता है।

धर्म चरित्र की उत्कृष्टता है। कर्त्तव्य का संकेत बाह्य व्यवहार की ओर होता है। धर्म का कर्त्तव्य में प्रकाशन होता है। कर्त्तव्य करने के अभ्यास से धर्म की उत्पत्ति होती है। धर्म का संकेत आभ्यन्तर चरित्र की ओर होता है। कर्त्तव्य का सकेत बाह्य-कर्म की ओर होता है। इस प्रकार धर्म आन्तरिक चरित्र की उत्कृष्ठता है और कर्त्तव्य बाह्य-कर्म में उसका प्रकाशन है। धर्म विचारणापूर्वक सत्कर्म के चुनाव का अभ्यास है। अधर्म (vice) विचारणापूर्वक असत्कर्मों के चुनाव का अभ्यास है। धर्म मूल प्रवृत्तियों और वासनाओं को नियन्त्रित करने तथा समग्र-आत्मा के शुभ का लाभ करने का अभ्यास है। अधर्म मूल प्रवृत्तियों और वासनाओं के वशीभूत हो जाने का तथा समग्र आतम की हानि करते हुए उनकी तृप्ति के आंशिक शुभ का लाभ करने पर अभ्यास है। धर्म चरित्र की उत्कृष्टता है। अधर्म चरित्र का कलंक है। कर्त्तव्य-पालन में धर्म का प्रकाशन होता है। अधर्म पाप-कर्मों में प्रकाशित होता है।

अभ्यासपूर्वक कर्त्तव्य करने से धर्म का अर्जन होता है। अभ्यासपूर्वक पाप-कर्म करने से अधर्म का अर्जन होता है। धर्म सहजात शुभ-प्रवृत्ति (Good nature) नहीं है जो स्वभाव-सिद्ध हो सके। वह एक अर्जित प्रवृत्ति है जो बुद्धि के द्वारा वासनाओं और मूल-प्रवृत्तियों को नियन्त्रित और व्यवस्थित करने के अभ्यास से उत्पन्न होती है। कर्त्तव्य और अभ्यास से धर्म की उत्पत्ति होती है।

(२) **धर्म का स्वरूप (Nature of Virtue)**—

अरस्तू का कथन है कि "धर्म एक स्थायी मानसिक अवस्था है जिसकी उत्पत्ति संकल्प की सहायता से होती है और जिसका आधार वास्तविक जीवन में जो सर्वोत्तम है उसका आदर्श—बुद्धि के द्वारा निर्मित आदर्श है।" धर्म नैतिक नियम से संवादित, स्थायी और अर्जित प्रवृत्ति अथवा चरित्र है। यह एक नैसर्गिक प्रवृत्ति नहीं है वरन् एक अर्जित प्रवृत्ति है। यह नैतिक नियम की अनुकूलता प्राप्त सकल्प की एक स्थायी आदत है। यह किसी सत्यकर्मों के क्षेत्र में अभ्यासपूर्वक निवास करने

में सन्निहित है। यह समग्र आत्मा के उच्चतम शुभ के विचार द्वारा निर्धारित चरित्र का एक गुण है। यह चरित्र की उत्कृष्टता है। ऐसा चरित्र जो किसी क्रिया में मूर्तिमान नहीं है, एक अव्यक्त-शक्ति मात्र है। धर्म का कर्त्तव्यों में प्रकाशन होता है। चरित्र की उत्कृष्टता कर्म-विशेष में अभिव्यक्ति होती है, जो हमारा कर्त्तव्य है। धर्म चरित्र की ओर संकेत करता है। कर्त्तव्य बाह्य व्यवहार की ओर संकेत करता है। चरित्र का प्रशासन व्यवहार में होता है। अभ्यासपूर्वक कर्त्तव्य के पालन से धर्म का निर्माण होता है। धर्म का वास कर्त्तव्य-पालन में होता है। इस प्रकार धर्म और कर्त्तव्य एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। धर्म अन्तरस्थ चरित्र की उत्कृष्टता है; कर्त्तव्य सच्चरित्र का बाह्य प्रकाशन है। धर्म शुभ संकल्प की स्थायी आदत है; कर्त्तव्य एक स्थूल कर्म है जिसमें शुभ संकल्प की अभिव्यक्ति होती है। धर्म चरित्र के सदभ्यास का निर्देश करता है। कर्त्तव्य एक विशेष प्रकार के कर्म का निर्देश करता है जो हमारे द्वारा किया जाना चाहिये। कोई व्यक्ति धर्म परायण होता है। वह अपने कर्त्तव्य का सम्पादन करता है। कर्त्तव्य-कर्म में प्रकाशित न होने वाला धर्म एक शक्ति मात्र है। यह सदैव कर्त्तव्यों में प्रकाशित होने के लिये सन्नद्ध होता है। अत: धर्म सक्रियाचरित्र का गुण होता है।

(३) धर्म, ज्ञान और अभ्यास (Virtue, Knowledge and Habit)—

धर्म सदिच्छा का अभ्यास है। वह कर्त्तव्य-कर्म सम्पादित करने की आदत है। यह विचारणापूर्वक सत्कर्मों को चुनने और करने की आदत है। किन्तु विचार-पूर्ण चुनाव और कर्म के अभ्यास से पूर्व शुभ कथा मूर्त परिस्थितियों में किये जाने योग्य कर्म का ज्ञान होना चाहिये। अभ्यासपूर्वक कर्त्तव्य-पालन विशेष अवसरों में कर्त्तव्य के तथा उसको निर्धारित करने वाले आत्मा के परम मंगल के ज्ञान के ऊपर निर्भर है। अत: धर्म में ज्ञान और अभ्यास दोनों गर्भित हैं। सुकरात और प्लेटो का यह कथन कि धर्म ज्ञान है, सम्यक् है। अरस्तू का यह कथन भी सत्य है कि धर्म अभ्यास है। शुभ और मूर्त स्थितियों में कर्त्तव्य का ज्ञान-मात्र धर्म के लिये अपर्याप्त है। ज्ञान के पश्चात् कर्म अवश्य होना चाहिये। कर्त्तव्य ज्ञान के उपरान्त कर्त्तव्यों का अभ्यासपूर्वक पालन अवश्य होना चाहिये। कर्म-हीन धर्म सत्ताहीन है। इस प्रकार धर्म में ज्ञान और अभ्यास दोनों गर्भित हैं। मैकेन्जी का कथन है धर्म एक प्रकार का ज्ञान भी है और एक प्रकार का अभ्यास भी। धर्मनिष्ठ व्यक्ति वह है जो कर्त्तव्य से निर्मित क्षेत्र में निरन्तर वास करता है। उस क्षेत्र में निरन्तर निवास एक अभ्यास है; किन्तु साथ ही वह एक प्रकार की अन्तर्दृष्टि भी है। धर्मनिष्ठ होने से अभिप्राय है अभ्यासपूर्वक एक प्रकार के ज्ञान अथवा अन्तर्दृष्टि का होना। इस प्रकार अरस्तू और सुकरात दोनों के मत उपयुक्त थे। धर्म एक प्रकार का ज्ञान और एक प्रकार की आदत दोनों हैं। आदत एक रीति (custom) मात्र नहीं है वरन संकल्प की आदत है। जिन आदतों का नैतिक महत्व होता है वे विचारपूर्वक चुनाव की आदतें हैं। विचारपूर्वक चुनाव विचार अथवा बुद्धि पर निर्भर होता है।

सत् का चुनाव करने के लिये सत् का ज्ञान आवश्यक है। अतः सत्-संकल्प सम्यक् अन्तर्दृष्टि पर निर्भर है। धर्म एक प्रकार का ज्ञान है। वह एक दृष्टिकोण पर, एक विचारयुक्त अन्तर्दृष्टि पर अवलम्बित है। इसके अतिरिक्त धर्म आदत भी है। वह इच्छाकृत कर्म मात्र नहीं है, बल्कि चरित्र भी एक अस्थायी अवस्था, किसी निश्चित क्षेत्र में निरन्तर निवास है।[1] इस प्रकार धर्म में ज्ञान अथवा अन्तर्दृष्टि (insight) तथा कर्त्तव्य-पालन के अभ्यास का समावेश है।

(४) धर्म और सुख (Virtue and Happiness)—

धर्म शुभ-संकल्प की आदत है। उसका निवास सत्यकर्मों के क्षेत्र में अभ्यास-पूर्वक वास में है। नैतिक नियम के अनुकूल चरित्र को अर्जित करने में धर्म निहित है। धर्म आत्मा के विविध तत्वों का सामञ्जस्य स्थापन है। बुद्धि के द्वारा मूल-प्रवृत्तियों और वासनाओं को व्यवस्थित करने तथा आत्मा के कल्याण के द्वारा उनके शामिल होने के अभ्यास में धर्म है। इस प्रकार धर्म से सदैव सुख प्राप्त होता है। बुद्धि और मनोवेगों के मध्य सामञ्जस्य-स्थापना में धर्म का निवास है। प्रसन्नता इस सामञ्जस्य की अनुभूति है। वह आत्मोपलब्धि की अनुभूति है। आनन्द का उद्भव इच्छाओं को व्यवस्थित करने से होता है। वह एक अकेली इच्छा अथवा इन्द्रियवेग की तृप्ति से उत्पन्न अल्पस्थायी सुख नहीं है। वह एक अनुभूति है जिसकी उत्पत्ति परम कल्याण के आदर्श के अनुसार आत्मा के विविध तत्वों के संतुलित समायोजन से होती है। आनन्द समग्र आत्मा के लाभ का लक्षण, जिसमें बुद्धि आत्मा इन्द्रियमय आत्मा को नैतिक नियम के शासन में रखता है।

जब तक कि उत्कृष्ट कार्यों में किसी को सुख न मिले, तब तक उसे अच्छा नहीं कहा जा सकता। धर्मनिष्ठ व्यक्ति को प्रसन्न होना चाहिये। अरस्तू के मतानुसार आनन्द मानवीय कार्यों की उजित रूप से पूर्ति करने में पाया जाता है। कार्यों के उचित अभ्यास में आनन्द प्राप्त होता है। मनुष्य का विशिष्ट कार्य जो अन्य जन्तुओं से उसका भेद दिखाता है, विचार है। अतः प्रसन्नता की प्राप्ति विचार के समुचित अभ्यास में है। बुद्धिमय जीवन में स्थायी चरित्र, अथवा धर्मनिष्ठता गर्भित है। आनन्द धर्मनिष्ठ जीवन का सहगामी है। धर्म के साथ सदैव आनन्द का भाव होता है। धर्म स्वयं आनन्द (happiness) नहीं है, बल्कि आनन्द धर्म का सूचक है। यद्यपि एकमात्र धर्म सुख-प्राप्ति का आश्वासन नहीं देता, लेकिन उसके बिना आनन्द असंभव है। आनन्द धर्म पर और बाह्य-शुभों पर निर्भर है। आदर्श-रूप से आनन्दित मनुष्य वह है जो धर्म पर जीवन व्यतीत करता है, और जिसे बाह्य शुभों की पर्याप्त उपलब्धि होती है। यह अरस्तू का मत है।

आधुनिक पूर्णतावादियों (Perfectionists) के मत से भी धर्म और आनन्द का साथ है। आनन्द का उद्भव इच्छाओं के सामञ्जस्य से होता है। वह बुद्धि के द्वारा इच्छाओं को व्यवस्थित करने की सहगामिनी अनुभूति है। वह आत्म-लाभ की

1. नीति-शास्त्र, पृ० ७१–७२।

अनुभूति है। आनन्द क्रियाओं के समन्वय पर निर्भर है और अन्तिम रूप से नैतिक समन्वय की सर्वोच्च क्रिया पर निर्भर है। आनन्द नैतिक उत्कर्ष का लक्षण है। आत्म-लाभ से आत्म सतोष की उपलब्धि होती है, किन्तु उसे आत्म-सन्तोष का साधन नहीं कहा जा सकता। जीवन का लक्ष्य मात्र जानना या अनुभूति करना न होकर करना या होना है। आत्म-लाभ का जीवन एक पूर्णतया सन्तोषजनक आनन्द-मय जीवन है।

(५) धर्म ज्ञान है (सुकरात) (Virtue is Knowledge [Socrates])—

सुकरात का मत है कि "धर्म ज्ञान है।" यदि एक मनुष्य को शुभ के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान हो जाय, तो उसके अनुसरण में वह कदापि असफल नहीं हो सकता। दूसरी ओर, यदि किसी को उसका पूर्ण ज्ञान न हो सके, तो वह कदापि नैतिक नहीं हो सकता; यदि वह नैतिक होगा तो मात्र आकस्मिक रूप से होगा। ज्ञान धर्म है। अज्ञान अधर्म है। ज्ञान के बिना संयमशील होना एक प्रकार के असंयम से सयमशील होना है। बिना ज्ञान के साहसी होने का अर्थ एक प्रकार की भीरुता से साहसी होना है। इस प्रकार सुकरात के मतानुसार ज्ञान धर्म का तत्व है। जान-बूझकर कोई भी पाप-कर्म में प्रवृत्त नहीं होता।

यह मत भ्रान्तिपूर्ण है। इस मत के विरुद्ध पहिली आपत्ति तो यह है कि यदि धर्म शुभ के ज्ञान में और अधर्म शुभ के अज्ञान में निहित है, तो कोई भी अपने पाप-कर्म के लिये उत्तरदायी नहीं हो सकता, क्योंकि उनका कारण अज्ञान है और केवल शुभ के ज्ञान से युक्त इच्छाकृत कर्म ही नैतिक निर्णय के विषय हैं।

दूसरी आपत्ति यह है कि मनुष्य प्रायः सत् का ज्ञान रखता है, किन्तु करता असत् है। शुभ के ज्ञान से सदैव शुभ का चुनाव नहीं होता। ज्ञान और कर्म प्रायः परस्पर असंगत होते हैं। संकल्प का सुखेच्छा के वशीभूत होकर बुद्धि के प्रतिकूल चला जाना सम्भव है। इसलिये यह मत कि कोई व्यक्ति जानकर अथवा इच्छापूर्वक असत्कर्म नहीं करता मान्य नहीं है। अतः ज्ञान धर्म नहीं है, यद्यपि वह धर्म का अनिवार्य तत्व है। धर्म शुभ के ज्ञान और शुभ के संकल्प की आदत पर निर्भर है।

(६) धर्म मध्य मार्ग है (अरस्तू) (Virtue is the Mean [Aristotle])—

अरस्तू के अनुसार "धर्म आपेक्षिक मध्यावस्था को ग्रहण करने का अभ्यास है; जिसके रूप को बुद्धि और व्यावहारिक-ज्ञान सम्पन्न व्यक्ति निश्चित करते हैं।" धर्म चुनाव की आदत है; जिसका लक्षण संयम अथवा प्रत्येक व्यक्ति की परिस्थितियों और योग्यताओं के आपेक्षिक मध्य-मार्ग का अनुसरण है जो दूरदर्शी मनुष्यों की बुद्धि-द्वारा निर्धारित किया जाता है और यह संयम दो कारणों से है, पहिला, इसलिये कि यह दो दोषों का—एक अत्यधिक और दूसरा अत्यल्प—मध्यवर्ती है; और दूसरा, इसलिये कि जबकि ये दोष अनुभूति और क्रिया के उचित परिमाण से न्यून या अधिक है, यह मध्य अथवा संयम परिमाण को ग्रहण किया करता है। धर्म सयम अथवा मध्य दशा है। बहुत से धर्म दो परस्पर विपरीत किनारों (दोषों) के

मध्यवर्ती होते हैं, उनमें से एक उचित गुण की अत्यधिकता है और दूसरा उचित गुण की अत्यल्पता। साहस का धर्म-भीरुता और असम-साहस के मध्य की स्वर्णिम-अवस्था (golden mean) है; अपने गुणों के विषय में सत्यप्रियता दर्प और हीनता के मध्य की; दानशीलता व्ययविलासिता और कृपणता के मध्य की अवस्था है। धर्म-निरपेक्ष मध्यावस्था के चुनाव में निहित नहीं है, बल्कि व्यक्ति की योग्यता स्वभाव और परिस्थितियों की आपेक्षिक मध्यावस्था (relative mean) के चुनाव में निहित है। विभिन्न व्यक्तियों के लिये मध्य-दशा विभिन्न होती है। एक सैनिक का साहस भीरुता की अपेक्षा असमता की ओर अधिक झुका होता है, और विशेष अवसरों पर उत्तेजित होता है। अधर्म उसके अत्यधिक और अत्यल्प परिमाण में निहित होता है जिसका परिणाम धर्म है।

अरस्तू के मत में सत्य का एक महान् अंश है। धर्म का तत्व संयम में, अथवा प्रवृत्तियों और वासनाओं के ऊपर बुद्धि के नैतिक नियम शासन में निहित है। बुद्धि और इन्द्रियपरता के सामञ्जस्य में धर्म का तत्व निहित है। उसका निवास मध्यमार्ग के अनुसरण के अभ्यास में है। किन्तु यह एक सामान्य उक्ति है। यह आवश्यक है कि विशेष परिस्थितियों के अनुकूल इसमें परिवर्तन किया जाय। कभी-कभी संवेग की तीव्रता का (यथा—देशभक्ति का) अनुभव करना हमारा स्पष्ट कर्त्तव्य हो जाता है, उदाहरणार्थ—जब अपने देश के ऊपर विदेशी आक्रमण होता है और शत्रु को मार भगाने के लिये अत्यन्त साहस की आवश्यकता होती है। परम शुभ के प्रत्यय का वगैर आश्रय लिये धर्म की पर्याप्त परिभाषा नहीं हो सकती। म्यूरहेड के अनुसार—"सब वस्तुओं में संयम उतना ही एक दोष हो सकता है जितना एक में और सब में असंयम। हमें एक अमूर्त्त स्वर्णिम मध्य-मार्ग के प्रत्यय को स्वीकार करना होगा।"

(७) धर्मों की एकता (Unity of Virtues)—

सभी धर्म एक सर्वोच्च धर्म के पक्ष हैं। उसका निवास प्रवृत्तियों और वासनाओं को नियन्त्रित और व्यवस्थित करने के तथा उन्हें समग्र आत्मा के परम निःश्रेयस के लाभ की दृष्टि से बुद्धि के नियम के शासन में रखने के अभ्यास में होता है। सर्वोच्च कर्त्तव्य वह कर्त्तव्य है जो आदर्श अथवा बुद्धिमय आत्मा की सिद्धि के लिये बिना किसी शर्त हमें आदेश देता है। इस कर्त्तव्य के निरन्तर पालन से हम संकल्प अथवा कर्म करने की एक आदत को अर्जित करते हैं, जिससे क्रमिक-रूप से बुद्धिमय आत्मा की सिद्धि होती है। इस आदत को सर्वोच्च धर्म कहते हैं। सभी अन्य धर्म इस सर्वोच्च धर्म के आंशिक पहलू हैं। प्लेटो का कथन है कि धर्म परस्पर पृथक् नहीं हैं, बल्कि उनमें ऐक्य होता है। ग्रीन का भी कथन है, "यह सत्य है कि सभी धर्मों का लक्ष्य एक ही है। उन सबका निर्धारण उनके अन्तिम कारण के रूप में सामाजिक हित से सम्बन्ध रखता है, और उन सबका आधार एक या अन्य रूप में

उसी कल्याण का साधन है।" अतः उच्चतम वैयक्तिक और सामाजिक शुभ के साधन-स्वरूप धर्मों का एक तन्त्र होता है।

(८) धर्म समाज की दशा का आपेक्षिक है (Virtue is relative to Social Condition)—

मनुष्यों के अर्जन के लिए वांछनीय धर्म विभिन्न देश और काल के साथ अत्यधिक परिवर्तनशील होते हैं। जिन धर्मों को आधुनिक युग में अर्जित किया जाना चाहिए उनका विचार आधुनिक समाज की व्यवस्था और आवश्यकताओं के अनुसार होना चाहिये। प्राचीन यूनान में साहस के धर्म से अभिप्राय युद्ध में वीरता से लिया जाता था। किन्तु आधुनिक समाज में इसका अर्थ शारीरिक साहस मात्र नहीं बल्कि नैतिक साहस भी है। यूनानी समाज में युद्ध-भूमि में वीरता के लिये जिस धर्म की आवश्यकता थी वह आज के वैज्ञानिक, राजनीतिक अथवा विद्वान को कार्य में दत्तचित रखने वाले धर्म से भिन्न है।

(९) धर्म सामाजिक कार्यों के आपेक्षिक हैं (Virtue is relative to Social Function)—

धर्म विभिन्न कालों और विभिन्न सामाजिक स्थितियों के ही आपेक्षिक नहीं हैं वरन् वे समाज के विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा सम्पादित होने वाले कार्यों की भी अपेक्षा रखता है। यह कहना मिथ्या है कि दरिद्र व्यक्ति दानशीलता का अर्जन नहीं कर सकता और एक धनवान व्यक्ति के लिये धैर्य आवश्यक नहीं है, क्योंकि उन्हें इन धर्मों में गर्भित मानसिक आदतों का अर्जन करना चाहिये। तथापि व्यक्ति के धर्म समाज में उनके कार्यों के आपेक्षिक हैं। पुरुष के कर्त्तव्य स्त्री के कर्त्तव्यों से भिन्न है। धनवान् के निर्धन से, वृद्ध के युवक से, माता-पिता का बच्चों से, स्वस्थ के रोगी से, और व्यापारी के कर्त्तव्य भी वैज्ञानिक के कर्त्तव्यों से भिन्न हैं। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के कर्त्तव्य समाज में उसके कार्य से निश्चित होते हैं। अमूर्त कर्त्तव्यों की सत्ता नहीं है, वे सदैव काल, देश परिस्थिति और समाज के कार्यों के आपेक्षिक हैं।

(१०) मुख्य धर्म (Cardinal Virtues)—

मुख्य धर्म मौलिक धर्म होते हैं। वे आधारभूत धर्म हैं। उनके ऊपर अन्य धर्म आश्रित होते हैं। प्लेटो ने चार मुख्य धर्मों को माना है—बुद्धिमत्ता, साहस, मित्ताचार और न्याय। बुद्धिमता में सभी अन्य धर्मों का समावेश हो जाता है। क्योंकि प्रत्येक धर्मनिष्ठ कार्य विशेष परिस्थितियों में बुद्धिमत्ता-पूर्वक काम करने में निहित होता है। यह एक सबको समाविष्ट करने वाला है। साहस और मित्ताचार दो ऐसे धर्म हैं जिनका व्यक्ति के जीवन से सर्वाधिक सम्बन्ध है। साहस (अथवा धैर्य) को कष्ट के भय के प्रतिरोध के अर्थ में ग्रहण करना चाहिये और मित्ताचार को सुख के प्रलो-न के प्रतिरोध के अर्थ में। इन दो धर्मों में व्यक्तिगत जीवन में होने वाले प्रयोभनों के सभी प्रकार के विरोधों का समावेशन हो जाता है। प्रलोभन का प्रादुर्भाव किसी

दु:ख के त्याग अथवा सुख की प्राप्ति के रूप में होता है । न्याय के अन्दर सब सामाजिक धर्मों का समावेश हो जाता है । इस प्रकार प्लेटों का मुख्य-धर्मों का वर्गीकरण आधुनिक समाज के आधार के रूप में स्वीकृत किया जा सकता है और उनको आवश्यकताओं से समायोजित किया जा सकता है ।

प्लेटो के मुख्य धर्म एक विस्तृत कार्य में ग्रहण किये जाने चाहियें । इस प्रकार बुद्धिमत्ता के अन्दर चिन्ता, दूरदर्शिता, पूर्वदृष्टि और चुनाव की स्थिरता का समावेश होना चाहिये । साहस के अन्दर वीरता और धैर्य दोनों का समावेश होना चाहिये । वीरता सक्रिय साहस है जो दु:ख की आशंका होने पर भी अपने मार्ग का अनुसरण करता है । धैर्य निष्क्रिय साहस है जो दुर्निवार्य कष्ट को बिना हिचकिचाहट के सहन करता है । साहस में निर्णय, परिश्रम और अध्यवसाय का भी समावेश होना चाहिये । आस्था और आशा के धर्म वीरता और धैर्य से निकटत: सम्बन्धित हैं । मिताचार में सभी प्रकार के सुखों ऐन्द्रिय और बौद्धिक के प्रलोभनों के प्रतिरोध सम्मिलित हैं । न्याय में न केवल समझौते की पूर्ति करना और समाज के नियमों द्वारा निश्चित कर्त्तव्यों का पालन ही सम्मिलित है, बल्कि दूसरों के साथ सम्बन्धों में पूर्ण ईमानदारी और विश्वासपात्रता भी सम्मिलित है । न्यांय में परोपकार, प्रेम, सुशीलता, प्रसन्नता और हास्य-विनोद का समावेश होना चाहिये । न्याय का समावेश परोपकारशीलता से पहले होना चाहिये । ये मौलिक सामाजिक धर्म हैं । सब धर्म व्यावहारिक बुद्धिमत्ता के विभिन्न रूप हैं । इस प्रकार प्रयुक्त पदों को व्यापक अर्थ में ग्रहण करके थोड़ -सा परिवर्तन करने के पश्चात् धर्मों के प्राचीन यूनानी वर्गीकरण को स्वीकार किया जा सकता है ।

(११) धर्मों का वर्गीकरण (Classification of Virtues)—

धर्मों को तीन विभिन्न वर्गों में रखा है—यथा: (१) आत्म-विषयक, (२) पर विषयक, और (३) आदर्श-विषयक धर्म । पहले, कर्त्ता के अपने ही शुभ के साधक हैं । दूसरे, अन्यों के मंगल साधक हैं । तीसरे, आदर्श तथा सत्य शुभ और सौन्दर्य में किसी के साधक हैं ।

तथापि यह वर्गीकरण भ्रामक है । व्यवहार में व्यक्तिगत शुभ और सामाजिक शुभ में कोई अन्तर नहीं हैं । जो धर्म व्यक्ति का शुभ-साधन करते हैं वही सामाजिक हित साधन भी करते हैं । व्यक्ति का सामाजिक सम्बन्धों से स्वतन्त्र कोई पृथक् जीवन नहीं है और जिस धर्म का सम्बन्ध व्यक्ति के शुभ से है उसका सामाजिक शुभ से भी सम्बन्ध होना चाहिये । इस प्रकार आत्मविषयक और परविषयक धर्मों का भेद भ्रामक है । तथा यह सत्य है कि कुछ धर्मों का व्यक्ति के जीवन से और कुछ का सामाजिक जीवन से विशेष सम्बन्ध है । समानरूप से आत्मविषयक और आदर्शविषयक धर्मों का भेद भी स्वेच्छाकृत है । शुभ, सत्य और सौन्दर्य का अनुसरण यदि उन्हीं के हेतु हो तब भी व्यक्ति के शुभ का साधक है । यह स्वीकार करना

आवश्यक है कि ये विविध धर्म हमारे नैतिक जीवन के विभिन्न पहलुओं पर बल देते हैं। अतः उन्हें पृथक्-पृथक् समझा जा सकता है।

(१२) व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के धर्म
(Personal virtues and Social virtues)—

संयम और संस्कृति व्यक्तिगत जीवन के धर्म हैं। नीति का तत्व बुद्धि के द्वारा वासनाओं को व्यवस्थित करना है। यह संयम है। यह बुद्धिमय आत्मा के द्वारा नैसर्गिक इन्द्रियपरता का पराभव है। संयम आत्मानुशासन है। असंयम इन्द्रिय-परायणता है। संयम के धर्म के दो पहलु है—विधानात्मक तथा निषेधात्मक। निषेधात्मक रूप में यह आत्म-निषेध, आत्मोत्सर्ग, आत्म-निरोध अथवा सब वासनाओं पर बौद्धिक चुनाव का आधिपत्य है। "मिताचार समग्र आत्मा और सामाजिक कल्याण के हेतु वासनाओं का बौद्धिक नियन्त्रण है।"[2] विधानात्मक रूप में यह आत्मा को सीमित करना अथवा प्रयोजन का केन्द्रीयकरण या एकीकरण है। नैसर्गिक वासना शक्ति को एक मार्ग पर ले जाना चाहिये। उसका नियन्त्रण और पथ-प्रदर्शन जीवन में एकमात्र प्रधान प्रयोजन द्वारा होना चाहिये। इस प्रकार मिता-चार आत्मानुशासन और एक प्रयोजन के प्रति एकनिष्ठ श्रद्धा है। संस्कृति, चरित्र की आन्तरिक उत्कृष्टता की प्राप्ति है। "समग्र आत्मा का विकास किया जाता है—बौद्धिक, सवेगात्मक, क्रियात्मक अथवा संकल्पात्मक तत्वों की एक पूर्ण जीवन के साथ सामंजस्य में अलग-अलग पूर्णता प्राप्त करनी है। संस्कृति का अर्थ केवल अनेक शक्तियों का विकास नहीं है, बल्कि समस्त शक्तियों का समतापूर्ण विकास है। सभी क्षेत्रों में संस्कृति की कुंजी समान आत्म-विकास है।"[3] शारीरिक संस्कृति नैतिक संस्कृति का आवश्यक अंग नहीं है, किन्तु यह लक्ष्य ही सिद्धि के लिये सबसे महत्वपूर्ण साधन है। नैतिक संस्कृति के लिये एक उत्कष्ट और स्वस्थ शरीर आवश्यक है। संस्कृति आत्म-विकास है जिसका अर्थ सकीर्ण व्यक्तित्व का व्यापक व्यक्तित्व में विकास है। नैतिक जीवन सदैव एक व्यक्तिगत जीवन रहता है, वह कदापि अव्यक्तिगत अथवा आत्म-निरपेक्ष नहीं होता। स्वार्थहीन जीवन आत्मा-निरपेक्ष अथवा अव्यक्तिगत जीवन नहीं है, बल्कि आत्मा का जीवन उसकी स्वार्थहीनता के अनुपात में विस्तृत और सम्पन्न हो जाता है। व्यक्तिगत का भी इस प्रकार के आत्मविकास में निषेध अथवा परिसमाप्ति नहीं होती; उसका अधिक व्यापक सामा-जिक शुभ के द्वारा स्वयं को विलय कर देना है।"[4]

साहस और सम्मान का भी व्यक्तिगत जीवन के धर्मों से योग करना आवश्यक है। साहस दुःख के भय का प्रतिरोध है। यदि सयम सुख के प्रलोभनों का प्रतिरोध करता है तो साहस दुःख और भय की विघ्नकारी शक्तिशाली का प्रतिरोध

2. राइट्।
3. नैतिक-सिद्धान्त, पृष्ठ २५४–५५।
४. नैतिक-सिद्धान्त, पृष्ठ २७१।

करने वाली शक्ति है। यदि संयम आत्म-निरोध है तो साहस आन्तरिक शक्ति है। साहस का कई रूपों में प्रकाशन होता है। वीरता सक्रिय साहस है जो पीड़ा की आशंका के विरुद्ध अपने मार्ग का अनुसरण करती है। धैर्य निष्क्रिय साहस है, जो बिना हिचकिचाहट के अनिवार्य कष्ट को सहन करता है। अध्यवसाय किसी कार्य को विघ्नों और दु:खों से आक्रांत होने पर भी करते रहने की शक्ति है। शारीरिक साहस वह है जो किसी भीषण कार्य में अनुरक्त करता है। नैतिक साहस उपहास, निन्दा, गाली और सामाजिक यंत्रणा की उपस्थिति में भी दृढ़ विश्वास न छोड़ने का साहस है। ये साहस के विविध रूप हैं।

सम्मान का अर्थ आत्म-समान है। यह स्व-चरित्र के प्रति आदरभाव है। इसमें अपने आदर्श के प्रति श्रद्धा, अपने अधिकारों का दृढ़ता-पूर्वक संरक्षण और व्यक्तिगत तिरस्कार के प्रति असहनशीलता गर्भित हैं। इस प्रकार मिताचार संस्कृति साहस और सम्मान आत्म-विषयक धर्म कहे जा सकते हैं।

न्याय और परोपकार सामाजिक जीवन के धर्म हैं। "सामाजिक धर्म के निषेधात्मक रूप को तत्सम्बन्धी स्वतन्त्रता अथवा समानता के कर्त्तव्य के साथ न्याय कहा जा सकता है; विधानात्मक-रूप में इस धर्म को परोपकार और तत्सम्बन्धी कर्त्तव्य को भ्रातृत्व कह सकते हैं।"[2] न्याय से अभिप्राय दूसरों के व्यक्तिगत-जीवन में बाधा न पहुंचाना है। यह दूसरे व्यक्तियों के स्वतन्त्र विकास में हस्तक्षेप न करना है। जिस प्रकार सयम सच्ची संस्कृति का पूर्वगामी हेतु है, उसी प्रकार न्याय सच्चे परोपकार का पूर्वगामी हेतु है। दानशील होने से पूर्व न्याय-प्रिय होना आवश्यक है। परोपकार दूसरों के व्यक्तिगत-जीवन में सहायता और वृद्धि करना है। इसका अर्थ सहानुभूति और सहकारिता तथा प्रेम है। इसका अर्थ अपने को दूसरे व्यक्तियों से एकाकार कर देना है। परोपकार का परम-उत्कर्ष मानव जाति की उन्नति के प्रति नि:स्वार्थ भक्ति में पाया जाता है।

हमें सामाजिक जीवन के धर्मों के साथ प्रेम, स्वामिभक्ति, सम्मान और सत्य-प्रियता का भी योग करना चाहिये। प्रेम में पति और पत्नी के लिये प्रेम, माता-पिता के लिये प्रेम, बच्चों के लिये प्रेम, सम्बन्धियों के लिये प्रेम, मित्रों के लिये प्रेम, अपने देशवासियों के लिये प्रेम और मनुष्य-जाति के लिये प्रेम का समावेश होता है। प्रेम में आत्म-बलिदान और पर-सेवा निहित हैं। यह दूसरों के हित के प्रति स्वयं को विस्मृत कराने वाली भक्ति है। आरम्भ में यह नैसर्गिक होता है; किन्तु बाद में बुद्धि के द्वारा परिष्कृत होता है। न्याय से, जो सामान्य शुभ का साधक है, उसका उचित और समान वितरण होता है। प्रेम सम्पूर्ण मानव-जाति के लिये वात्सल्य और सहकारिता की अनुभूति के लिये आग्रह करता है और उन्हें जितना न्यायपूर्वक मिलना चाहिये, उससे अधिक देने का भी आग्रह करता है। प्रेम की अनुभूति व्यक्तियों के लिये होती है। भक्ति की अनुभूति समुदायों के लिये होती

---

2. वही पृष्ठ २७६।

है। "भक्ति का धर्म विभिन्न समुदायों के प्रति, जिससे कोई व्यक्ति एकाकार हो चुका है, अनुभूतियाँ होने वाली भावनाओं का बौद्धिक नियन्त्रण और व्यवस्था है।"[6] भक्ति उन सभी भावनाओं को जिन्हें एक व्यक्ति विभिन्न समुदायों के लिये अनुभव करता है, एक सामान्य और सुसगत तन्त्र में आबद्ध करती है। अपने से बड़ों का आदर एक सामाजिक धर्म है। हम उत्कृष्ट गुणों से सम्पन्न व्यक्तियों की उपस्थिति में हीनता का अनुभव करते हैं। हम उनके उच्च गुणों के कारण आश्चर्य प्रशंसा और आदरयुक्त भय का भी अनुभव करते हैं। यदि किसी व्यक्ति को दूसरों के प्रति प्रशंसा अथवा आदरयुक्त भय का अनुभव होता है तो वह उनके प्रति आदर की भावना का अर्जन करता है। "आदर का धर्म एक बौद्धिक भावना है जिसमें व्यक्तित्व के लिये सम्मान, बुद्धिमत्तापूर्ण, न्यायोचित, परोपकारयुक्त और आदर के योग्य है। दूसरों का और अपना सम्मान करना, यथार्थ मूल्य और चरित्र के अनुसार दूसरों की और अपनी प्रशंसा और निन्दा करना, कर्त्तव्य है।"[7] सत्यवादिता का अर्थ सत्य भाषण करने का अभ्यास है। वह विचारों और शब्दों की तथा शब्दों और कार्यों की संगति है। वाक्छल, झूठी निन्दा, खुशामद, कपट, मिथ्या-साक्ष्य प्रभृति मिथ्या-भाषण के विविध रूप हैं। सत्य को प्रकट करने के द्वारा पर-सेवा करना ही सत्यवादिता है। शिक्षा, सम्पत्ति, नम्रतापूर्वक डाटना, उपदेश इत्यादि सत्यवादिता के विभिन्न रूप हैं। न्याय, परोपकार, प्रेम, भक्ति, सम्मान और सत्यवादिता परविषयक अथवा सामाजिक धर्म हैं।

श्रद्धा ईश्वरविषयक धर्म है। यह ईश्वर का सम्मान है जो हमारे अन्दर नम्रता, प्रशंसा, आदरयुक्त सम्मान, प्रेम, कृतज्ञता, समाधि-सुख और भक्ति के संवेगों का उद्रेक करता है। ईश्वर धार्मिक श्रद्धा का सर्वोच्च विषय है। ईश्वर अपने मानवातीत उत्कृष्ट-रूप में सभी नैतिक धर्मों से विशिष्ट सर्वोच्च नैतिक पुरुष है।

बौद्धिक धर्म, सौन्दर्य विषयक धर्म और नैतिक आदर्श विषयक धर्म है। हमें सत्य, सौन्दर्य और शुभ के अनुसरण की आदतों का, जो कि निरपेक्ष और शाश्वत् मूल्य हैं, अर्जन करना चाहिये।

(१३) जाति का आचार-विचार (Ethos)—

हेगेल का कथन है कि शिशु सामान्य नैतिक आचार व्यवहार के वातावरण में शिक्षित और परिवर्धित होता है। "बुद्धिमत्ता और धर्मनिष्ठता अपनी जाति के आचार-व्यवहार के अनुसार जीवन-यापन करने में निहित है।" ब्रैडले ने इस प्रत्यय को सार्वजनिक बताया है। किसी जाति का आचार व्यवहार यह वातावरण ही है जिसमें जाति के सबसे अच्छे सदस्य अभ्यासपूर्वक निवास करते हैं। यह उनके नैतिक कार्यों का क्षेत्र है। यह हमारे जगत की नैतिकता है। जो मनुष्य उस जगत की नैतिकता का पालन करता है वह अच्छा मनुष्य है, तथा उनका उल्लंघन करने

6. राइट्।
7. नीति-शास्त्र की साधारण भूमिका, पृष्ठ २४७।

वाला मनुष्य बुरा मनुष्य है।[8] किसी जाति का आचार-व्यवहार अंशत: निश्चित नियमों और उपदेशों में तथा अंशत: किसी काल में किसी जाति में प्रचलित निर्णय में मानदण्ड और कर्म की (जनता का) समर्थन-प्राप्त आदतों में व्यक्त होता है। यदि किसी जाति के द्वारा स्वीकृत विचार नैतिक दृष्टिकोण है। किसी व्यक्ति के धर्म एक बड़ी सीमा तक उन लोगों के आचार-विचार अथवा नैतिक आदतों के द्वारा निर्धारित होते हैं जिसमें वह निवास करता है।

ब्रैडले ने नैतिक वातावरण के महत्व की अत्युक्ति की है। उसका मत है कि वह मनुष्य, जो अपनी जाति की नैतिकता से उच्च नैतिकता प्राप्त करना चाहता है, दुर्नीति के द्वार पर खड़ा है। "किन्तु यह एक अत्युक्ति है, क्योंकि किसी जाति का नैतिक वातावरण एक स्थायी वस्तु नहीं है। वह प्राय: सामाजिक जीवन के साथ विकसित होता है और इस विषय का मुख्य कारण जाति के उत्तम सदस्यों का उनके समान्तर प्रचलित जीवन के मानदण्ड के उच्चतर मानदण्ड प्राप्त करने का निन्तर प्रयत्न है।"[9] तथापि यह स्वीकार करना पड़ेगा कि किसी देश के अधिकतर लोग जनता के आचार-व्यवहार अथवा नैतिक आदतों के स्तर तक नहीं पहुंच पाते। पहिले उन्हें नैतिकता के सामाजिक मानदण्ड तक पहुचना चाहिये और फिर उसके आगे जाने का विचार करना चाहिये।

8. नीति-शास्त्र, पृष्ठ ३३१—३१।
9. नीति-शास्त्र, पृष्ठ ३३१।

(१) अन्तःकरण अथवा नैतिक शक्ति (Conscience and Moral Faculty)—

नैतिक शक्ति आत्मा की वह योग्यता है जिसके द्वारा आत्मा किसी कर्म के नैतिक गुण को ग्रहण करता है अथवा सत् और असत् का विवेक प्राप्त करता है। इसको प्राय: अन्त:करण कहते हैं। अन्त:करण और नैतिक शक्ति एक ही हैं।

सुखवादी नीतिशास्त्री एक विशिष्ट शक्ति के रूप में अन्त:करण का निषेध करते हैं। स्वार्थ-मूलक सुखवादी इसका आत्मा-प्रेम और दूरदर्शी स्वार्थ में एकीकरण करते हैं। उपयोगितावादी इसका व्यक्ति के जीवन-काल में अर्जित सहानुभूति से एकीकरण करते हैं। विकासात्मक सुखवादियों के मत से यह सामाजिक प्रवृत्ति अथवा वंश-क्रमागत सहानुभूति है। सहजज्ञानवादी इसे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष अथवा बुद्धि की सहजातीय एक सहजात विशिष्ट शक्ति मानते हैं। कुछ सहजज्ञानवादी इसे नैतिक इन्द्रिय मानते हैं तथा कुछ इसे रसेन्द्रिय मानते हैं; अन्य सहजज्ञानवादी इसे नैतिक बुद्धि मानते हैं जो सामान्य नैतिक नियमों को अपरोक्ष रूप में ग्रहण करती है और विशेष कर्मों में उनका उपनय करती है। कान्ट (बुद्धिपरतावादी) ने इसे व्यावहारिक अथवा नैतिक बुद्धि माना है जिससे नैतिक नियम अथवा निरपेक्ष आदर्श की सहज स्फूर्ति होती है। पूर्णतावादियों का मत है कि अन्त:करण वह बुद्धि है जो नैतिक आदर्श का हमें सहजज्ञान देती है और पश्चात् विशेष कर्मों में उसका उपनय करती है। वे अन्त:करण का अपने अंशों के लिये विधान-निर्माण करने वाले समग्र आत्मा का एकीकरण करते हैं। अन्त:करण अथवा नैतिक शक्ति मौलिक, सहज-ज्ञानात्मक और सर्वव्यापक है; यह नैतिक उद्देश्य और नैतिक नियमों का अनुसंधान करने वाला समग्र आत्मा है।

(२) अन्तःकरण-विषयक सुखवादी मत (Hedonistic View of Conscience)—

सुखवादी एक विशेष शक्ति के रूप में अन्त:करण की सत्ता का निषेध करते हैं। आत्म-सुखवादी प्रत्येक व्यक्ति के अपने ही सुख को परम नि:श्रेयस मानते हैं। वे अन्त:करण का आत्म-प्रेम और दूरदर्शिता से एकीकरण करते हैं। आत्म-प्रेम प्रत्येक व्यक्ति को अपने ही सुख के अनुधावन के लिये बाध्य करता है। दूरदर्शिता उसे, जो उसके अपने अधिकतम सुख का साधक है, उसको परिगणना करने के लिये प्रेरित करती है। इस प्रकार, स्वार्थ-सुखवादी अन्त:करण को साधारण बुद्धि, कल्पना और अनुमान-मात्र मानते हैं। उपयोगितावादी (यथा जे० एस० मिल) सामान्य सुख को परम मंगल मानते हैं। वे अन्त:करण का बुद्धि, कल्पना और अनुमान से प्रबुद्ध सहानु-

भूति मे एकीकरण करते हैं। सहानुभूति व्यक्ति के लिये अपने ही जीवनकाल में साहचर्य और रुचि-स्थानान्तरण के नियम के कारण अर्जित होती है। जे० एस० मिल ने कहा है, कर्त्तव्य का आन्तरिक आदेश हमारे मन की एक अनुभूति है; एक कुछ-कुछ तीव्र वेदना है जिसका उदय कर्त्तव्य के व्याघात से होता है। जब यही अनुभूति स्वार्थहीन हो जाती है और कर्त्तव्य के विशुद्ध विचार के साथ संलग्न होती है, उसके किसी विशेष रूप के साथ नहीं, तो वह अन्तःकरण का तात्विक रूप होता है।" इस प्रकार अन्तःकरण का वेदनात्मक स्वरूप है। बेन ने कहा है, "अन्तःकरण हमारी बहिःस्थ सरकार की हमारी अन्तरस्थ अनुकृति है।" इस प्रकार अन्तकरण राजनैतिक नियम के प्रति सम्मान का भाव है, जो व्यक्ति के ऊपर अधिकतम सुख का आरोप करता है। बेन्थम अन्तःकरण को एक 'काल्पनिक सत्ता' मानता है। उद्‌विकासात्मक सुखवादी अन्तकरण को एक सामाजिक प्रवृत्ति अथवा पूर्वपुरुषों में वंशक्रम से प्राप्त सहानुभूति के रूप में देखते हैं। यह व्यक्ति में सहजात है, किन्तु जाति के द्वारा अर्जित है। अन्तः-करण व्यक्ति के अन्दर जनता की वाणी की प्रतिध्वनि है। लेस्ली स्टीफेन ने कहा है, "अन्तःकरण जाति के सार्वजनिक आत्मा की वाणी है जो हमें कल्याण की प्रारम्भिक शर्तों को पूरा करने का आदेश देती है।"

अन्तःकरण का दूरदर्शिता से एकीकरण नहीं किया जा सकता है। स्वार्थ-सुखवाद नैतिक जीवन का अकेले ही अधिकतम सुख अनुसरण से एकीकरण करता है, जो नैतिकता का नितान्त निषेध है। अन्तःकरण का सहजात अथवा अर्जित सहानुभूति से एकीकरण नहीं हो सकता है। सहानुभूति एक आत्मगत और परिवर्तनशील संवेग है। यह नैतिक चेतना के विलक्षण धर्मों का यथा—नैतिक बाध्यता, पुण्य, पाप, उत्तरदायित्व, पुरस्कार और दण्ड का स्पष्टीकरण नहीं कर सकती।

(३) नैतिक इन्द्रिय के रूप में अन्तःकरण
(Conscience as Moral Sense)—

कुछ सहजज्ञानवादी अन्तःकरण को संवेदनशीलता का सहजातीय मानते हैं; अन्तःकरण आभ्यन्तर नैतिक इन्द्रिय है। अन्तःकरण कर्मों के सदसत्-भाव को कर्म के द्वारा उसमें उत्पन्न अनुमोदन अथवा अननुमोदन के भाव द्वारा अपरोक्ष रूप से जान लेता है। उसे विशेष कर्मों के लिये अथवा असत् होने की स्वतः स्फूर्ति हो जाती है। अन्तःकरण का ज्ञान अभ्रान्त होता है।

मार्टिन्यू की धारणा है कि अन्तःकरण नैतिक इन्द्रिय के तुल्य है जो एक साथ प्रादुर्भूत विरोधी-वेगों के आपेक्षिक नैतिक मूल्य को अपरोक्षतः ग्रहण करता है।

इस परिकल्पना से नैतिक निर्णयों की विविधता और नैतिक प्रगति का स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। मनुष्यों के नैतिक मूल्यांकन भिन्न-भिन्न होते हैं। एक व्यक्ति जिसे सत् कहता है दूसरा उसी को असत् कहता है। जिसे एक देश अथवा युग में सत् कहा जाता है उसी को दूसरे में असत् कहा जाता है। इस परिकल्पना से नैतिक निर्णयों में दोष-दर्शन का भी स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। यह नैतिक

भावनाओं पर नैतिक निर्णयों को आश्रित करती है। किन्तु, वास्तव में नैतिक भावनायें नैतिक निर्णयों पर आश्रित हैं। अन्तःकरण को इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के तुल्य नहीं माना जा सकता। मार्टिन्यू की परिकल्पना की सहजज्ञानवाद के साथ परीक्षा हो चुकी है।

(४) रसेन्द्रिय के रूप में अन्तःकरण (Conscience as Aesthetic Sense)—

कुछ सहजज्ञानवादियों (यथा—शेफट्सबरी, हचीसन, प्रभृति) के अनुसार अन्तःकरण रसेन्द्रिय है, जो अपरोक्ष रूप में कर्मों के सौंदर्य अथवा असौंदर्य को ग्रहण करता है। सत्‌भाव सुन्दरता है, असत्‌भाव कुरूपता है। अतः अन्तःकरण रसेन्द्रिय है। यह निर्भ्रान्त है।

यह परिकल्पना नीति के व्यावर्तक धर्म की अवहेलना करती है। वस्तुतः नैतिक गुण विलक्षण और अपूर्व होता है। उसको सौंदर्य-गुण में नहीं घटाया जा सकता। सौन्दर्य की आत्मगत और परिवर्तनशील अनुभूति से नीति के वस्तुगत और समरूप मानदण्ड का स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। यह भी नैतिक बाध्यता, पुण्य, पाप, पश्चाताप, उत्तरदायित्व प्रभृति का स्पष्टीकरण नहीं कर सकती। नैतिक निर्णयों के विविधत्व का स्पष्टीकरण इससे नहीं हो सकता।

(५) अन्तःकरण के विषय में तर्कवादी मत (Dianoetic View of Conscience)—

बुद्धिमूलक सहजज्ञानवादी (यथा—कड्‌बर्थ, क्लार्क आदि) मानते हैं कि अन्तःकरण एक बौद्धिक शक्ति है, जिससे सामान्य, शाश्वत् और अपरिवर्तनीय नैतिक नियमों की सहज-स्फूर्ति होती है। यह कदापि इन नियमों को ग्रहण करने में असफल नहीं होती। यहाँ तक अन्तःकरण निर्भ्रान्त है। किन्तु तर्क-विशेष कर्मों में उनका सम्यक् उपनय करने में असफल हो जाता है। नैतिक नियमों की प्रकृति आनुमानिक है। नैतिक निर्णयों में अशुद्धियाँ होती हैं। उनका कारण नैतिक नियमों के अशुद्ध ज्ञान से अधिक विशेष कार्यों में उनका अशुद्ध उपनय है। यहाँ तक अन्तःकरण को शिक्षित किया जा सकता है। उसे नैतिक नियमों का विशेष कर्मों के सम्यक् उपनय-पूर्वक भ्रान्तियों को दूर करने की शिक्षा दी जा सकती है। यह अन्तःकरण के विषय में अधिक सन्तोषजनक परिकल्पना है।

(६) अन्तःकरण के विषय में बटलर का मत (Butler's View of Conscience)—

बटलर ने आत्म-प्रेम, परोपकार और अन्तःकरण को मानव-स्वभाव में परस्पर संगठित तीन तत्व माने हैं। वे बौद्धिक सिद्धान्त हैं। अन्तःकरण, आत्म-प्रेम और परोपकार से उच्च-कोटि का है। यह सत् के ऊपर विचार करने का सिद्धान्त है। मानव-स्वभाव में अन्य तत्वों पर शासन करने का इसका अधिकार है। मनुष्य की प्रकृति में यह सर्वोच्च और प्रभुतासम्पन्न है। बटलर ने कहा है—"जैसे इसका

अधिकार है वैसा ही इसमें बल भी होता, जैसा इसका प्रभुत्व है वैसी ही इसकी शक्ति भी होती तो वह विश्व का पूर्ण शासनकर्त्ता होता।" आत्म-प्रेम स्वार्थमूलक वासनाओं का नियमन करता है। परोपकार परार्थमूलक वासनाओं का नियमन करता है। वे बौद्धिक तत्व हैं। आत्म-प्रेम और परोपकार का नियमन अन्तःकरण के द्वारा होता है। यह मानव प्रकृति में सर्वोच्च बौद्धिक तत्व है।

(७) अन्तःकरण : मानव-प्रकृति में स्थित सामान्य तत्व

(Conscience as the Universal Element in Human Nature)—

अन्तःकरण मानव-स्वभाव में स्थित सामान्य तत्व है; यह किसी व्यक्ति-विशेष का अन्तःकरण नहीं है जो उसके मानदण्ड की किसी अपूर्णता से दूषित हो सके। अन्तःकरण प्रत्येक व्यक्ति में स्थित सामान्य अन्तःकरण है। जब नीति में अन्तःकरण को मूलभूत सिद्धान्त कहा जाता है, तो उसे हमें इस या उस व्यक्ति का अन्तःकरण नहीं समझना चाहिये। किसी व्यक्ति का अन्तःकरण सत् के उसके व्यक्तिगत मानदण्ड से उसके कर्म की संगति या असंगति मात्र की चेतना है और यदि मानदण्ड दोषयुक्त है तो अन्तःकरण में भी वही दोष आ जायेगा। रस्किन (Ruskin) के शब्दों में, "उसका अन्तःकरण 'गधे का अन्तकरण' हो सकता है।"[1]

(८) कान्ट : अन्तःकरण नैतिक बुद्धि अथवा व्यावहारिक बुद्धि है

(Kant : Conscience is Moral Reason or Practical Reason)—

कान्ट ने अन्तःकरण को नैतिक बुद्धि अथवा व्यावहारिक बुद्धि माना है। कान्ट के अनुसार यह शुद्ध-बुद्धि अथवा सैद्धान्तिक बुद्धि अथवा ज्ञान कराने वाली बुद्धि से भिन्न संकल्पात्मक और क्रियात्मक बुद्धि है। यह चरम बौद्धिक शक्ति है, जो समग्र मनुष्य-जाति में सामान्य नैतिक सिद्धान्त की पहिचान करती है, यह सब मनुष्यों में गूढ़ है। यद्यपि यह सम्भव है कि कुछ मनुष्यों में यह दूसरों की अपेक्षा अधिक विकसित हो। कान्ट ने अन्तःकरण को नैतिक बुद्धि माना है जो नैतिक नियम अर्थात् निरपेक्ष विधि को सहज-रूप में ग्रहण करती है। नैतिक नियम हमें यह ज्ञान नहीं करा सकता कि हमारे कर्मों की वस्तु अथवा विषय क्या होना चाहिये; यह हमें आकार मात्र या ज्ञान दे सकता है। नैतिक नियम से नीति में तीन सामान्य सूत्र अनुमित किये जा सकते हैं।

(९) अन्तःकरण के विषय में पूर्णतावादियों का मत

(Idealistic View of Conscience)—

पूर्णतावादियों की धारणा है कि आत्म-लाभ परम निःश्रेयस है और नैतिक आदर्श का तथा उससे निःसृत होने वाले मौलिक नैतिक सिद्धान्त का हमें सहज-ज्ञान कराने वाली बुद्धि है। बुद्धि इन नैतिक सिद्धान्तों को विशेष कर्मों में लागू करती है और इस प्रकार उसके नैतिक मूल्यों को निर्धारित करती है। बुद्धि नैतिक प्राणी की हैसियत से कार्य करने वाले आत्मा के अतिरिक्त कुछ नहीं है। यह आत्मा

---

1. मैकेंजी।

की एक विशेष शक्ति नहीं है। अन्तःकरण अपने अंशों के लिए विधान निर्माण करने का अधिकार रखने वाली समग्र अथवा सच्ची आत्मा है। अन्तःकरण अपने ही कर्मों का निर्णय करने वाली समग्र आत्मा है।'[2] यह एक विशेष शक्ति नैतिक विवेक की एक अनिर्वचनीय शक्ति नहीं है। यह अन्तःकरण-विषयक मत शुद्ध मत प्रतीत होता है।

(१०) अन्तःकरण की शिक्षण क्षमता (Educability of Conscience)—

कुछ सहज ज्ञानवादियों का विचार है कि अन्तःकरण निर्भ्रान्त है। यह विशेष कर्मों की अच्छाई या बुराई को सहज और निर्भ्रान्त रूप में ग्रहण करता है। यह मत नैतिक निर्णयों की विविधता, नैतिक निर्णयों में दोष-दर्शन इत्यादि का स्पष्टीकरण नहीं कर सकता। अन्य सहज-ज्ञानवादियों की धारणा है कि अन्तःकरण उसी सीमा तक निर्भ्रान्त है जहाँ तक कि उससे नैतिक नियमों का सहज-ज्ञान होता है। किन्तु बुद्धि-विशेष कर्मों में उनका सम्यक् उपनय करने में असफल हो सकती है और अशुद्धि कर सकती है। अन्तःकरण को शिक्षित नहीं किया जा सकता, किन्तु बुद्धि को विशेष कर्मों में नैतिक नियमों के ठीक से प्रयोग करने की शिक्षा दी जा सकती है। कुछ अन्य सहज-ज्ञानवादियों का विचार है कि आरम्भ में अन्तःकरण पूर्णतया विकसित नहीं होता, उसे विकसित और शिक्षित किया जा सकता है। प्रौढ़ व्यक्ति का अन्तःकरण एक शिशु के अन्तःकरण की अपेक्षा अधिक विकसित होता है।

कान्ट ने अन्तःकरण की भ्रान्ति-हीनता में विश्वास किया है। उसके अनुसार अशुद्धि करने वाला अन्तःकरण एक कल्पना-मात्र है।[3] कल्डारवुड ने कहा है कि अन्तःकरण वह शक्ति है जो निसर्गतया शिक्षित नहीं की जा सकती। अन्तःकरण को स्वयं-सिद्ध नैतिक नियमों का प्रत्यक्ष ज्ञान करने की शिक्षा नहीं दी जा सकती, तथापि कल्डारवुड का विश्वास है कि व्यवहार में दूसरी शक्तियों को अन्तःकरण के आधिपत्य में रखने की तथा नैतिक नियमों को विशेष अवस्थाओं में प्रयुक्त करने की नैतिक शिक्षा के लिये स्थान है। अन्तःकरण प्रत्येक मनुष्य में गुप्त नैतिक बुद्धि है, किन्तु शिक्षा-दीक्षा के द्वारा उसका विकास हो सकता है। मानवीय आत्मा एक प्रगतिशील वस्तु है और जैसे-जैसे इसका विकास होता है, यह नैतिक आदर्श और नियम को क्रमशः अधिकाधिक जानने की शक्ति अर्जित करता है।

(११) अन्तकरण का समाज से सम्बन्ध (Relation of Conscience to Society)—

अन्तःकरण को नैतिक आदर्श तथा उससे निकलने वाले नियमों की स्वाभाविक पहिचान होती है। नैतिक आदर्श सर्वोच्च व्यक्तिगत शुभ है। यह सर्वोच्च सामाजिक शुभ भी है। नैतिक नियम व्यक्ति और समाज के हित-साधक हैं। व्यक्ति

2. म्यूरहेड।
3. "An erring conscience is a chimera."

के अपने अन्त:करण से ज्ञान नैतिक नियम का निर्धारण उस सामाजिक क्षेत्र से होता है, जिस क्षेत्र में वह वास करता है। वह अपने सामाजिक वातावरण से प्राप्त नैतिक नियमों के द्वारा पुष्ट होता है। उसका अन्त:करण अधिकांशत: समाज के द्वारा निर्धारित होता है। अन्त:करण की वाणी व्यक्ति के अन्दर जनमत की प्रतिध्वनि है। नीति का आन्तरिक तत्व अथवा अन्त:करण मानव-सम्बन्धी और सामाजिक संस्थाओं के बाह्य वातावरण का आपेक्षिक है। सामाजिक वातावरण से विविक्त अन्त:करण सभी प्रकार तरंगों में बह सकता है। उसके नैतिक नियमों की सदैव वास्तविक सामाजिक आवश्यकताओं से तुलना की जानी चाहिये।

म्यूरहेड के शब्दों में, 'किन्तु यद्यपि सामाजिक वातावरण व्यक्ति अन्त:करण को अपने ही आदर्श का अर्थ करने से बहुमूल्य सहायता प्रदान करता है, तथापि अन्त:करण सदैव वातावरण पर प्रतिक्रियाशील होता है। अन्त:करण किसी व्यक्ति के समाज में स्थान और कार्य के उपयुक्त कर्त्तव्य और धर्मों को निश्चित करता है और वह और अधिक आगे बढ़कर उसके स्थान से परे एक उत्कृष्टतर आदर्श का ज्ञान कराता है, जिसके कारण वह सामाजिक वातावरण को परिवर्तित और विकसित करने वाली नई परिस्थितियों के उपयुक्त नवीन कर्त्तव्यों का बोध प्राप्त करता है। इस प्रकार समाज अन्त:करण पर क्रिया करता है और अन्त:करण पुन: समाज पर प्रतिक्रिया करता है। समाज अन्त:करण और उसके नैतिक नियमों में प्रतिबिम्बित होता है, तथा अधिक गहरी नैतिक अन्तर्दृष्टि से युक्त अन्त:करण एक अधिक अच्छी सामाजिक व्यवस्था में प्रतिबिम्बित होता है।

(१) नैतिक बाध्यता (Moral Obligation)—

जब हम किसी सत् कर्म को स्वीकार करते हैं तो हमें उसे करने के लिये नैतिक बाध्यता की अनुभूति होती है। इस प्रकार जब हम किसी कर्म को असत् स्वीकार करते हैं तो उसे न करने की नैतिक बाध्यता की अनुभूति होती है। जब हम किसी नैतिक आदर्श को जानते हैं तो उसको पालन करने के लिए अथवा उसके अनुसार कार्य करने के लिए हमें बाध्यता की अनुभूति होती है। नैतिक बाध्यता नैतिक निर्णयों की सहचारिणी है। नैतिक निर्णयों की प्रकृति बाध्यतामूलक है। नैतिक बाध्यता का स्वभाव भौतिक बल-प्रयोग की भांति नहीं है। नैतिक बाध्यता का स्वभाव 'करना चाहिये' (ought) का है, 'करना होगा' (must) का नहीं है। नैतिकता के लिये आत्मा आत्मा को बाध्य करता है, कोई आत्मा के अतिरिक्त बाह्य वस्तु आत्मा को बाध्य नहीं करती। चुनाव की स्वतन्त्रता नैतिकता का तत्व है। अत: कोई बाह्य प्रभुशक्ति नैतिक बाध्यता का उद्गम नहीं हो सकता। स्वयं आत्मा ही वह उद्गम है। आदर्श तथा बुद्धिमय आत्मा वास्तविक अथवा इन्द्रियगम्य आत्मा को नैतिक रूप से बाध्य करता है, लेकिन यह प्रश्न विवादास्पद है।

(२) वैधानिक परिकल्पनायें (Legal Theories)—

यदि ईश्वरीय नियम नैतिक नियम माना जाता है तो ईश्वर नैतिक बाध्यता का उद्गम है। यदि राजनैतिक नियम नैतिक नियम माने जाते हैं तो राज्य नैतिक बाध्यता का उद्गम है। यदि सामाजिक नियमों को नैतिक नियम माना जाता है तो समाज नैतिक बाध्यता का उद्गम माना जाता है। पुरस्कार की आशा और दण्ड का भय नैतिक बाध्यता के तत्व हैं, जो 'करना होगा' के स्वभाव की है। नैतिक बाध्यता बल-प्रयोग-मूलक है। इस प्रकार नैतिक बाध्यता का उद्गम उच्च शक्तियों से युक्त एक बाह्य प्रभुत्व-सम्पन्न वस्तु उद्गम है।

यह मत अमान्य है। नैतिक बाध्यता का स्वभाव 'करना चाहिये' का है। उच्च शक्तियों से युक्त एक अधिकार-सम्पन्न बाह्य सत्ता 'करना होगा' की सृष्टि कर सकती है, 'करना चाहिए' की कदापि नहीं। अत: वैधानिक परिकल्पनायें नैतिक बाध्यता की अनुभूति का स्पष्टीकरण नहीं कर सकती। (अभ्यास ६)

(३) सुखवादी परिकल्पनायें (Hedonistic Theories)—

स्वार्थ-सुखवाद नैतिक बाध्यता का उद्गम आत्म-प्रेम को मानता है जो व्यक्ति को अपने ही अधिकतम सुख के लाभ के लिए प्रेरित करता है। यह परिकल्पना नैतिक बाध्यता का स्पष्टीकरण करने में नितान्त असमर्थ है। स्वार्थ की भावना से कभी भी नैतिक बाध्यता का स्पष्टीकरण नहीं हो सकता, जो परार्थ-मूलक

व्यवहार और आत्म-बलिदान की मांग करती है। आत्म-प्रेम एक भावना है। यह आन्तरिक और परिवर्तनशील है। अतः यह नैतिक बाध्यता का स्पष्टीकरण नहीं कर सकती।

परार्थ-सुखवाद नैतिक बाध्यता का कारण बाह्य आदेशों (external sanctions) को मानता है। बेन्थम ने ऐसे चार आदेशों को मान्यता दी है— भौतिक, राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक। पुरस्कार की आशा और दण्ड का भय परार्थ-मूलक कर्मों के प्रवर्तक हैं। प्रकृति, राज्य, समाज और ईश्वर का भय परोपकार मूलक कर्मों के शक्तिशाली प्रवर्तक हैं। ये नैतिक बाध्यता का स्पष्टीकरण करते हैं। पर यह मत भी भ्रान्तिपूर्ण है। बाह्य आदेश 'करना होगा' की सृष्टि कर सकते हैं, 'करना चाहिए' की सृष्टि नहीं कर सकते।

जे० एस० मिल ने नैतिक बाध्यता का कारण बाह्य आदेशों और अन्तःकरण के आन्तरिक आदेशों (internal sanctions) अर्थात् नैतिक भावनाओं की सुख-प्रदता और दुखप्रदता को माना है। "सम्पूर्ण नैतिकता का अन्तिम कारण तथा बाध्यता का आधार कर्त्तव्य के विधान से उत्पन्न प्रायः तीव्र वेदना है।" यह अन्तःकरण का आन्तरिक आदेश है। कभी-कभी मिल अन्तःकरण का सहानुभूति (sympathy) से एकीकरण करता है। कुछ सहानुभूति से शून्य व्यक्तियों के बाह्य आदेश उन्हें अनैतिक कर्मों से निवृत्त करने के लिये आवश्यक हैं।

यह मत भी भ्रान्तिपूर्ण है। बाह्य आदेश करना होगा अथवा भौतिक बल-प्रयोग के कारण हो सकते हैं। आन्तरिक आदेश अनुभूति-मात्र हैं और 'करना चाहिए' अथवा नैतिक बाध्यता की सृष्टि नहीं कर सकता।

उद्‌विकासात्मक सुखवाद भी नैतिक बाध्यता का कारण बाह्य नियन्त्रण अथवा आदेशों को बतलाता है, जो नैतिक चेतना में बाध्यता की अनुभूति का प्रादुर्भाव करते हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर के शब्दों में, "क्योंकि मनुष्य ने अपने कर्त्तव्यों को राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक अधिकारों के आदेशों से सीखा है, इसलिए यह सोचा जाता है कि दण्ड-भय की बाध्यता का वास्तविक अर्थ है।" हर्बर्ट स्पेन्सर की धारणा है कि नैतिक बाध्यता की बुद्धि अल्पस्थायी और व्यक्तियों के समाज से कुसंयोजन के कारण है। नैतिक बाध्यता व्यक्तियों के समाज से पूर्ण समायोजन हो जाने के पश्चात् नहीं रहेगी।

यह मत असत्य है। बाह्य नियन्त्रण 'करना होगा' की सृष्टि कर सकते हैं। नैतिक बाध्यता 'करना चाहिए' के स्वभाव की है जिसका कभी अभाव नहीं हो सकता है। मनुष्य सदैव एक नैतिक प्राणी रहेगा। नैतिक जीवन प्राकृतिक जीवन में विलय कदापि नहीं हो सकता। (अध्याय ७–८)

(४) सहज ज्ञानवादी मत (Intuitionist Theory)—

सहजज्ञानवादियों की धारणा है कि अन्तःकरण नैतिक बाध्यता का स्थान है। उसका अधिकार बाह्य शक्तियों से स्वतन्त्र है। कुछ अन्तःकरण का नैतिक बुद्धि

से एकीकरण करते हैं। बटलर के मतानुसार मानव-प्रकृति में अन्तःकरण सर्वोच्च अधिकार सम्पन्न तत्व है। नैतिक बाध्यता का कारण अन्तःकरण है। सत् तथा नैतिक बाध्यता में विश्लेषणात्मक (analytical) सम्बन्ध है। जो कुछ भी सत् है निसर्गतः बाध्यतामूलक है। किसी कर्म की बाध्यता की उत्पत्ति उसके स्वकीय सत्भाव से होती है। किसी कर्म के सत् होने के ज्ञान-मात्र से यह विश्वास हो जाता है कि उसे करने के लिए हम बाध्य हैं। (अध्याय १०)

किन्तु मार्टिन्यू के अनुसार सत् और बाध्यता में संयोगात्मक (synthetic) सम्बन्ध है। ईश्वर नैतिक बाध्यता का प्रणता है। सत् और असत् कर्म के स्वाभाविक गुण हैं। किन्तु तथापि ईश्वर सन् को करने की बाध्यता का कारण है। ईश्वर नैतिक बाध्यता का उद्गम हैं। नैतिक बाध्यता वैधानिक बाध्यता के समान दो पुरुषों का सम्बन्ध है, यहाँ मनुष्य सम्बन्ध का एक पद है और ईश्वर दूसरा पद। ईश्वर अनन्त पुरुष है। यद्यपि मार्टिन्यू एक सहजज्ञानवादी है, तथापि उसका यह मत असत्य है। नैतिक बाध्यता आत्म-प्रेरित है। नैतिक अधिकारी आदर्श-अहं है, जो मनुष्य में ईश्वर का प्रतिबिम्ब है, आदर्श आत्मा रूप में, जीव में व्याप्त ईश्वर नैतिक बाध्यता का उद्गम स्थान है।

(५) कान्ट का मत (Kant's Theory)

कान्ट के अनुसार नैतिकता नैतिक नियम के स्वतन्त्रतापूर्वक पालन करने में निहित है नैतिक नियम का स्वभाव ही प्रभुत्वसम्पन्नता है। यह निरपेक्ष आदेश है। व्यावहारिक बुद्धि स्वयं को ही नियमबद्ध करती है। यह आत्म-बन्धन है, संकल्प की स्वतन्त्रता जो कि नैतिक नियम की एकमात्र जननी है हमें सत् का पालन और असत् की निवृत्ति करने का आदेश देती है। व्यावहारिक बुद्धि नैतिक बाध्यता का सच्चा कारण है।

किन्तु व्यवहारिक बुद्धि आत्मा में अवस्थित एक विलक्षण शक्ति है। व्यावहारिक बुद्धि का नियम समग्र आत्मा का नियम नहीं है। अतः सत्य के निकटस्थ होते हुए भी कान्ट की परिकल्पना नितान्त सन्तोषजनक नहीं हैं। (अध्याय ११)

(६) पूर्णतावादियों का मत (Perfectionist Theory)—

पूर्णतावादियों के अनुसार नैतिक बाध्यता आत्म-बन्धन है, किसी व्यक्ति का आदेश अहं (ideal self) उसके वास्तविक अहं को नैतिक बनने के लिये बाध्य करता है। आत्मा ही नैतिक बाध्यता का उद्गम है। नैतिक बाध्यता में बल-प्रयोग का कोई तत्व नहीं है। बाह्य अथवा अन्तरस्थ आदेश इसका कारण नहीं हो सकता। आत्मा अपना स्वरूप-दर्शन करने के हेतु नैतिक बाध्यता की माँग करता है। ग्रीन के अनुसार, "नैतिक कर्त्तव्य का तत्व ही मनुष्य के द्वारा अपने ही ऊपर लागू किया जाना है। किसी विधिमूलक नियम का पालन करने का नैतिक कर्त्तव्य, चाहे वह नियम राज्योक्त हो चाहे धर्मोक्त, उसके प्रणेता अथवा प्रचलित करने वाले के द्वारा आरोपित नहीं किया जाता। इसके विपरीत यह उस मानव-आत्मा के द्वारा किया

जाता है जो मनुष्य के सम्मुख एक पूर्ण जीवन का आदर्श रखता है और उस विधि-मूलक नियम के पालन को उसकी सिद्धि के लिये अनिवार्य घोषित करता है।"[1] नैतिक बाध्यता का अन्तिम संस्थान आदर्श आत्मा है जो मनुष्य के अन्दर ईश्वर का प्रतिरूप है और जो समाज के साथ आदान-प्रदान के द्वारा पूर्ण जीवन की सिद्धि करता है। आदर्श आत्मा नैतिक नियम का आरोप वास्तविक आत्मा के ऊपर करता है। यह अन्तःकरण से भी प्रभुत्व-सम्पन्न है, क्योंकि यह शाश्वत् पूर्णता का परिच्छिन्न आत्मा के लिये निर्णय है, अपरिच्छिन्न आत्मा का उसके ऊपर आरोपण है। परिच्छिन्न आत्मा निरपेक्ष आत्मा का सीमित प्रतिरूप है। आदर्श जीवन—जीव में अन्तःस्थित ईश्वर—नैतिक बाध्यता का उद्‌गम है, वह वास्तविक आत्मा के ऊपर नैतिक बाध्यता का आरोप करता है। "आन्तरिक आज्ञा" निरपेक्ष है, 'निरपेक्ष विधि' है। इसका कठोर 'आदेश' वास्तविक मानव के लिये आदर्श की वाणी है और आदर्श वास्तविक से कोई समझौता नहीं करता।"[2] जब हमें यह ज्ञान हो जाता है कि नैतिक नियम अपना ही नियम है, तो हम उसे एक बाह्य समझते हैं उसकी अपेक्षा बाध्यता का प्रभाव हमारे ऊपर अधिक हो जाता। "कर्त्तव्य का आदेश हमारे ऊपर आरोपित बाह्य आदेश नहीं है। यह हमारे अन्दर सच्चे आत्मा की आवाज है।"[3]

1. नीति-शास्त्र की भूमिका, पृष्ठ ५४।
2. सेथ।
3. मैकेंजी।

(१) **नैतिक आदेश** (Moral Sanction)—

आदेश से अभिप्राय उस वस्तु से है जो किसी कार्य को करने के लिए, उसके पालन करने के लिये पुरस्कार का और न करने के लिये दण्ड का विधान करके हमें बाध्य करता है। नैतिक आदेश का संकेत उस प्रभु की ओर है जो किसी कर्त्तव्य का आरोप करता है और उसके पालन को पुरस्कार से तथा उसके उल्लंघन को दण्ड से संयुक्त करता है। सामान्यता नैतिक आदेशों को कर्त्तव्य पालन के प्रवर्तक और कर्त्तव्य विधान के निवर्तक माना जाता है। उनमें नैतिक नियम के पालन के प्रवर्तक सुखों और उसके पालन न करने की निवर्तक वेदनाओं का समावेश होता है।

(२) **बाह्य आदेश** (External Sanction)—

परार्थ-सुखवादी अथवा उपयोगितावादी परार्थमूलक व्यवहार का स्पष्टीकरण नैतिक आदेशों की सहायता से करते हैं। बेंथम के अनुसार, "आदेश बाध्यतामूलक शक्तियों का अथवा प्रवर्तनाओं का उद्‌गम है। अर्थात् दुःख और सुखों का उद्‌गम है जो प्रवर्तक बनाने के योग्य एकमात्र वस्तुयें हैं।" उसने चार बाह्य आदेशों को स्वीकार किया है जो परार्थमूलक व्यवहार के प्रवर्तक हैं।

(१) **भौतिक अथवा प्राकृतिक आदेश** (physical sanctions)—ये आदेश वे शारीरिक वेदनायें हैं, जो प्राकृतिक नियम की अवहेलना से होती हैं। खाने-पीने के सुखों में अधिक आसक्ति से रोग उत्पन्न हो जाते हैं। प्रकृति के नियमों से उल्लंघन के परिणामस्वरूप शारीरिक कष्ट आधिभौतिक आदेश कहलाते हैं। प्रकृति असंयम के लिये रोग से दण्डित करती है।

(१) **राजनैतिक नियम** (political sanctions)—ये वे नियम हैं जिनके उल्लंघन के लिये राज्य के द्वारा दिये जाने वाले कष्ट और दण्ड तथा सामाजिक हित के लिए राज्य के द्वारा दिये जाने वाले पुरस्कार और सम्मान राजनैतिक आदेश हैं। चोरी, आक्रमण, हत्या इत्यादि के लिये राज्य अर्थदण्ड, कारावास, कालापानी अथवा मृत्युदण्ड देता है।

(३) **सामाजिक आदेश** (ocial sanction)—इस आदेश का अर्थ नैतिक अथवा अनैतिक, व्यवहार के लिये समाज के सदस्यों से मिलने वाले सुखप्रद अथवा दुःखप्रद अनुभव हैं। सत् व्यवहार का पुरस्कार सामाजिक प्रशंसा और सम्मान है। असत् व्यवहार का दण्ड सामाजिक अपमान, बायकाट और बहिष्कार है।

(४) **धार्मिक आदेश** (Religious sanction)—ये नीति सम्मत अथवा अनीतिसम्मत व्यवहार के लिये ईश्वर से मिलने वाले सुखप्रद अथवा दुःखप्रद अनुभव हैं। यह विश्वास किया जाता है कि सत् व्यवहार के लिये स्वर्ग में सुख का पारि-

तोषिक देता है और असत् व्यवहार के लिये नरक में दु:ख का दण्ड देता है। इस प्रकार भावी जीवन में पुरस्कार की मात्रा और दण्ड का भय धार्मिक आदेश है।

बेन्थम ने इन चार बाह्य आदेशों को नैतिक आदेश माना है। वे नीति-सम्मत व्यवहार के प्रवर्तक और अनीति-सम्मत व्यवहार के निवर्तक हैं। सब बाह्य आदेश एक बड़ी सीमा तक भौतिक हैं। बेन्थम ने कहा है—"इन चार आदेशों में से भौतिक आदेश राजनैतिक और सामाजिक आदेशों का आधार है, जहाँ तक धार्मिक आदेश का वर्तमान जीवन से सम्बन्ध है वहाँ तक यह धार्मिक आदेश का भी आधार है। भौतिक आदेश का अन्य तीन आदेशों में से प्रत्येक में समावेश होता है। यह किसी भी अवस्था में उनसे स्वतन्त्र होकर कार्यान्वित नहीं हो सकता। अन्य कोई भी इनसे स्वतन्त्र होकर कार्यान्वित नहीं हो सकता। संक्षेप में, प्रकृति की शक्तियाँ स्वयं कार्य कर सकती हैं, किन्तु न तो न्यायाधीश, न अन्य मनुष्य प्राकृतिक शक्तियों की सहायता के बिना कार्य कर सकते हैं, या न ईश्वर ही उनके बिना कार्य कर सकने में समर्थ माना गया है।" अत: भौतिक आदेश सब बाह्य आदेशों का आधार हैं। ये नैतिक अथवा परार्थमूलक व्यवहार के लिये बाध्य करने वाली शक्तियाँ हैं। (अध्याय ७)।

(३) आन्तरिक अथवा नैतिक आदेश (International or Moral sanction)—

आन्तरिक आदेश का अर्थ अन्त:करण की प्रसन्नता और पाश्चाताप की वेदना है। सद्‌व्यवहार अन्त:करण के अनुमोदन और आत्म-सन्तोष से पुरस्कृत होता है। असद् व्यवहार अन्त:करण के अनुमोदन, पश्चाताप और ग्लानि से दंडित होता है। ये आन्तरिक आदेश हैं। आन्तरिक आदेश भौतिक दशाओं पर आश्रित नहीं होता। यह शुद्ध आत्मगत है।

जे० एस० मिल ने बेन्थम के बाह्य आदेशों के साथ में आन्तरिक आदेशों को भी जोड़ दिया है। उसके मत से, आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के आदेश परार्थ-मूलक अथवा सद्‌व्यवहार के प्रवर्तक हैं। उसका अभिप्राय आन्तरिक आदेश से, मनुष्य जाति के लिये सुख का भाव, दूसरों के सुख और दु:ख को समझने का भाव, मनुष्य जाति की सामाजिक भावनायें, अपने सहयोगी प्राणियों में एकता स्थापित करने की इच्छा है। नैतिकता का अन्तिम आदेश हमारे ही मन में स्थित एक आत्मगत भावना है। हमारे कर्त्तव्य का मानदण्ड कुछ भी हो, कर्त्तव्य का आन्तरिक आदेश हमारे मन में स्थित एक ही आत्मगत भावना है वह भावना एक न्यूनाधिक तीव्र वेदना है जिसका उदय कर्त्तव्य के व्याघात से होता है। अधिक गम्भीर समस्याओं में सम्यक् नैतिक स्वभावसम्पन्न व्यक्तियों में यह वेदना अत्यधिक कष्ट कारी होती है। इस प्रकार, सहानुभूति और सहकारित्व की सामाजिक भावनायें तथा कर्त्तव्य के उल्लंघन से उत्पन्न पश्चाताप की नैतिक भावनायें नीति के आन्तरिक आदेश की सृष्टि करती हैं। जिन लोगों में सामाजिक और नैतिक भावनाओं का अभाव है, बाह्य आदेशों का भय उन्हें अपने कर्त्तव्य का पालन करने के लिये बाध्य

करता है। इस प्रकार नीति के बाह्य और आन्तरिक आदेश परोपकारमूलक अथवा नैतिक व्यवहार के प्रवर्त्तक हैं।

(४) बाह्य तथा आंतरिक आदेशों की समालोचना (Criticism of External and Internal Sanction)—

बाह्य आदेश प्रकृति, राज्य, समाज अथवा ईश्वर से पुरस्कार की आशा तथा दण्ड का भय है। वे हमें सत्कर्म में प्रवृत्त और असत्कर्म से निवृत्त करते हैं। यदि यही नीति की प्रवर्तक शक्तियाँ हैं, तो धर्म दूरदर्शी स्वार्थ और कर्त्तव्य आत्महित का अनुसरण हो जाता है। बाह्य-आदेश बल-प्रयोग का स्पष्टीकरण कर सकते हैं। किन्तु उनसे कर्त्तव्य-बुद्धि अथवा नैतिक बाध्यता का कदापि स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। म्यूरहेड ने कहा है, "इन आदेशों के प्रति सम्मान के भाव से जो व्यवहार निःसृत होता है वह नैतिकता नहीं हो सकता, यदि नैतिकता से हमारा अभिप्रायः नीति-सम्मत व्यवहार का है। इसकी किसी आदर्श से संगति हो सकती है और सद्व्यवहार से उसकी बाह्य अभिन्नता हो सकती है, किन्तु वस्तुतः वह सत् नहीं है।" वही कर्म शुभ है जो कर्त्तव्य के लिये अथवा बुद्धिमय आत्मा को प्राप्त करने के दृष्टिकोण से किया जाता है। पुरस्कार की आशा अथवा दण्ड-भय से किये गये कर्म को शुभ नहीं कहा जा सकता। उस कर्म का, जो भौतिक शक्ति सम्पन्न किसी बाह्य सत्ता के प्रभाव में आकर किया जाता है, कोई नैतिक मूल्य नहीं है। बल-प्रयोग से किये जाने वाले कर्म नैतिक मूल्य से रहित होते हैं। केवल वही कर्म-नैतिक गुण से युक्त होते हैं जो चुनाव की स्वतन्त्रता से इच्छापूर्वक किये जाते हैं।

जे० एस० मिल के द्वारा स्वीकृत अन्तःकरण का आन्तरिक आदेश भी नैतिकता की प्रवर्तक शक्ति नहीं माना जा सकता। अन्तःकरण की प्रसन्नता के लिये किये जाने वाले कर्म नैतिक नहीं हैं, क्योंकि ये कर्त्तव्य के लिये अथवा आत्म-लाभ के लिये नहीं किये जाते, बल्कि एक प्रकार की संतोष-प्राप्ति के लिये किये जाते हैं। वे बाह्य आदेशों के कारण किये जाने वाले कर्मों से उच्च कोटि के हैं। किन्तु, फिर, भी वे उचित रूह से नैतिक नहीं कहे जा सकते, क्योंकि वे सुख-प्राप्ति के उद्देश्य से किये जाते हैं, यद्यपि यह सुख अन्तःकरण सुख होता है। पुनः जे० एस० मिल के अनुसार, केवल स्वार्थहीन कर्म ही नैतिक है, वे अन्तःकरण के द्वारा अनुमोदित होते हैं, अथवा अन्तःकरण के सुख के जनक होते हैं। किन्तु स्वार्थहीन कर्म कैसे अन्तःकरण के सुख के रूप में आत्महित के विचार से प्रेरित हो सकते हैं? अन्तःकरण के आन्तरिक आदेश का आह्वान करना है, सुख-दुःख की अनुभूतियों का नहीं। यह सुखवादी सिद्धान्त के त्याग करने के तुल्य हैं।

बाह्य और आन्तरिक आदेशों का भेद व्यक्ति की अपनी इच्छा पर निर्भर करता है। सब बाह्य आदेशों को आन्तरिक भी समझा जा सकता है, क्योंकि वे हृदय में सुख-दुःख की अनुभूतियों को जाग्रत करने के कार्य करते हैं। पुनः सब आदेशों को

बाह्य आदेश कहा जा सकता है, क्योंकि वे हमारे नैतिक स्वभाव के लिये विजातीय हैं। तथा-कथित आन्तरिक आदेश भी एक दृष्टि से बाह्य आदेश है क्योंकि वह हमारे नैतिक स्वभाव का सहभावी है—उनका आवश्यक तत्व नहीं। मैकेंजी ने उचित ही कहा है कि सब आदेश आन्तरिक हैं, क्योंकि सब में वेदना की आत्मगत अनुभूति का समावेश है, सब आदेश बाह्य हैं, क्योंकि जिस नियम से वेदना का सम्बन्ध है उसे अपने नियम के रूप में स्पष्टतः स्वीकृत नहीं किया गया है; यदि अन्तःकरण को अपना नियम स्वीकार किया जाता है तो वह एक आदेश न होकर वास्तविक नैतिक अधिपति हो जाता है। स्वयं 'नैतिक आदेश' यह पद स्वगत-विसंवादी है। 'नैतिकता' को किसी आदेश की आवश्यकता नहीं है, इसमें संकल्प-स्वातन्त्र्य गर्भित है। 'आदेश' में नैतिक नियम के उल्लंघन के लिये किसी बाह्य प्रभु-सत्ता के द्वारा दिये जाने वाले दण्ड का भाव है। इस प्रकार आदेश में बल-प्रयोग गर्भित है जो कर्म के नैतिक मूल्य का अपहरण कर देता है। हमारा 'नैतिक आदेश' कहना ही अनुचित है, क्योंकि यह एक आत्म-विरोधी पद है। हमें आदर्श आत्मा को नैतिक प्रभु-सत्ता मानना चाहिये जो वास्तविक आत्मा के ऊपर नैतिक बाध्यता का आरोप करता है। हमें नैतिक नियम को अपनी ही सत्ता का नियम स्वीकार करना चाहिये, जो हमें आत्म-लाभ का निरपेक्ष आदेश देता है।

(१) प्राकृतिक अशुभ (Natural Evil)—

प्राकृतिक अशुभ आधिभौतिक अशुभ है। यह मानवीय संकल्प से स्वतन्त्र है। तथा प्रकृति के नियमों के व्यापार पर निर्भर है। यह हमारे हित-साधन का विधान-कर्त्ता है। यह हमारे जीवन की शान्ति अथवा प्रसन्नता में विघ्न-स्वरूप है। भूकम्प बवण्डर, चक्रवात, अन्नाकाल, बाढ़, टिड्डी, प्रभृति जो हमारी आवश्यकताओं तथा इच्छाओं की पूर्ति में बाधक हैं, प्राकृतिक अशुभ कहलाते हैं। वे मानव जाति की विपत्ति और अमंगल के कारण हैं, उनकी उत्पत्ति हमारे संकल्पों के कारण नहीं होती। हम प्रकृति की शक्तियों को नियन्त्रित करके उनमें अथवा उनके अमंगलकारी भावों में कमी कर सकते हैं। तथापि प्राकृतिक अशुभ के ऊपर हमारा पूर्ण नियन्त्रण नहीं है।

(२) भ्रान्ति (Error)—

भ्रान्ति बौद्धिक दोष है। भ्रान्ति विचारणा अथवा चुनाव में सम्भव है। बुद्धि विभिन्न कर्मों के गुण और दोषों का असम्यक् विचार करने अथवा उनका अशुभ मूल्यांकन करने के पश्चात् एक असत् कर्म का चुनाव कर सकती है। इस प्रकार भ्रान्ति विचार में अथवा चुनाव में हो सकती है। नैतिक निर्णय में भी भ्रान्ति सम्भव है। बुद्धि नैतिक नियम का एक विशेष कम में अशुद्ध उपनय कर सकती है, अथवा वह यह भ्रान्त विचार कर सकती है कि एक विशेष कर्म से आत्म-लाभ का साधन होगा। इस प्रकार, नैतिक निर्णय, जो अनुमानमूलक होते हैं, भ्रान्तिपूर्ण हो सकते हैं। भ्रान्ति नैतिक अशुभ अथवा पाप नहीं है। इच्छापूर्वक की हुई भ्रान्तियां मन्तव्य नहीं हैं। इच्छापूर्वक किये हुये विकृत नैतिक निर्णय असत् हैं अतः वे निन्दा के विषय हैं। अनिच्छापूर्वक की हुई भ्रान्तियां नैतिक दृष्टि से क्षमा के योग्य हैं।

(३) नैतिक अशुभ (Moral Evil)—

नैतिक अशुभ नैतिक नियम के इच्छानुसार उल्लंघन करने से होता है। यह आधिभौतिक या प्राकृतिक अशुभ और बौद्धिक अशुभ या भ्रान्ति से भिन्न है। आधिभौतिक अशुभ एक प्राकृतिक तथ्य या घटना है जो मनुष्य के लिये हानिकारक है। भूकम्प, बाढ़, वायुप्रकोप इत्यादि आधिभौतिक अशुभ है, वे नीति-शून्य होते हैं। मनुष्य इन दो प्रकार के अशुभों में से किसी के लिये भी उत्तरदायी नहीं है। भ्रान्ति बौद्धिक अशुभ है। इसका कारण सम्यक् बौद्धिक ग्रहण-क्षमता का अभाव है। यह इच्छा का विचारपूर्ण व्यापार नहीं है, भ्रान्ति एक नैतिक अशुभ नहीं है। क्योंकि नैतिक अशुभ नैतिक जानबूझ कर व्याघात करने से होता है।

(४) अधर्म (Vice)—

नैतिक अशुभों का अन्दर और बाहर से विचार किया जा सकता है। उन्हें चरित्र कलंक अथवा अशुभ कर्म समझा जा सकता है। पूर्वोक्त अधर्म कहलाते हैं और शेषोक्त पाप और अपराध कहलाते हैं। जिस प्रकार धर्म चरित्र की उत्कृष्टता है, उसी प्रकार अधर्म चरित्र के ऊपर कलंक है। दोनों आन्तरिक जीवन के लक्षण हैं। अधर्म नैतिक नियमों के अभ्यासपूर्वक व्याघात से जनित चरित्र का दोष है। जानबूझ कर कर्त्तव्यों की अवहेलना अथवा उल्लंघन करने के अभ्यास का परिणाम अधर्म होता है। इसका प्रकाशन बाह्य कर्मों में जिन्हें पाप और अपराध कहते हैं, होता है। अधर्म का बहुत सा अंश गुप्त रह सकता है, और अशुभ कर्मों में प्रकाशित नहीं हो सकता, यद्यपि उससे हमारे बाह्य कर्मों पर कुछ प्रभाव पड़ना सम्भव है।

(५) पाप (Sin)—

पाप एक बाह्य असत् कर्म है। अधर्म की अशुभ कर्मों में अभिव्यक्ति होती है, जो पाप कहलाते हैं। अधर्म आन्तरिक चरित्र का लक्षण है। पाप एक अशुभ कर्म है। पाप से अभिप्राय कर्त्तव्यों की जानबूझ कर अवहेलना, या उल्लंघन, असत् कर्मों का करना या सत् कर्मों का न करना है। हमारे अन्दर कभी भी अच्छे अभिप्रायों का अभाव नहीं होता है। किन्तु हमारे अन्दर उनको बाह्य कर्मों में परिणत कर सकने की संकल्प-शक्ति का अभाव हो सकता है। प्राय: बुरे अभिप्रायों का भी संकल्प की निर्बलता से विघात हो जाता है और अशुभ कर्मों में उनका प्रकाशन नहीं हो पाता। उनकी मन में सत्ता रहती है और उनसे आन्तरिक चरित्र दूषित हो जाता है। यदि कार्यों में उनका प्रकाशन हो जाता है तो कभी-कभी इनकी इतिश्री हो जाती है। इस प्रकार सत् अभिप्राय नहीं होता जितना एक सत् कर्म होता है, जबकि एक असत् अभिप्राय प्राय: एक असत् कर्म से भी बुरा होता है।

(६) अपराध (Crime)—

पहले की पाप व अपराध की परिभाषा वर्तमान काल की परिभाषा से भिन्न हैं। पहले पाप को ईश्वर के विरुद्ध जुर्म समझा जाता था और अपराध को समाज के विरुद्ध। अब अपराध पाप से संकीर्ण अर्थ में व्यवहृत होता है। यह समाज के विरुद्ध जुर्म है, जिसको राज्य मानता है और जिसके कर्त्ता को राज्य दण्डित करता है। सभी पाप अपराध नहीं हैं। जो पाप राज्य के द्वारा दण्डनीय हैं वे अपराध कहलाते हैं। चोरी करना एक अपराध है। राज्य चोर को दण्ड देता है। यद्यपि अकृतज्ञता पाप है किन्तु राज्य उसके लिये किसी को दण्डित नहीं कर सकता। किन्तु समाज उसके लिये निन्दा करता है।

(७) दण्ड (Punishment)—

अपराधी को दण्ड मिलना चाहिये। जो अपराध को सहन करता है, उसका पतन नहीं होता। उससे उसके आत्मा को आघात नहीं पहुंचता। किन्तु अपराध करने वाला नैतिक पूर्णता के स्तर से गिर जाता है। जिस प्रकार शुभ कार्यों के लिये

मनुष्य को पुरस्कार मिलता है इसी प्रकार अशुभ कर्मों के लिये उसे दण्ड भी मिलना चाहिये। "सामाजिक नियम के विरुद्ध असत् कर्म मनुष्यता के विरुद्ध असत् है और जब तक कि नियम के कुलित गौरव को तुष्ट नहीं किया जाता अर्थात् कर्म के असत्-भाव को प्रदर्शित नहीं कर लिया जाता तब तक उसे क्षमा नहीं किया जा सकता।"[1] यह दण्ड का नैतिक औचित्य है।

दण्ड के सिद्धान्त (Theories of Punishment)—

दण्ड का औचित्य सिद्ध करने के लिये निम्नलिखित तीन प्रधान सिद्धान्तों को प्रस्तावित किया गया है—

(१) **निवर्तनवादी सिद्धान्त** (Deterrent or Preventive Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड का लक्ष्य दूसरों को उसी प्रकार के अपराध करने से रोकना है। किसी अपराधी को दण्ड देकर उसे दूसरों को वही अपराध करने से निवृत्त करने के लिये एक उदाहरण बनाया जाता है। दण्ड के इस तथ्य को न्यायाधीश के इस सुपरिचित सूत्र में व्यक्त किया गया है—"तुम्हें भेड़ चुराने के लिये दण्डित नहीं किया जाता है, बल्कि इसलिये कि भेड़ की चोरी न हो।" यह सिद्धान्त, मृत्युदण्ड का औचित्य दण्ड के एक चरम रूप में ठहराता ह।

आलोचना—मनुष्य स्वयं साध्य है। वह एक व्यक्ति है, वस्तु नहीं। उसका किसी दूसरे व्यक्ति के हित के लिये साधन के रूप में प्रयोग नहीं होना चाहिये। केवल अन्यों के हित के लिये किसी मनुष्य को पीड़ा पहुंचाना अन्याय है। किसी व्यक्ति से वस्तु के समान, दूसरों के हित के साधन मात्र के तुल्य व्यवहार नहीं होना चाहिये। किसी व्यक्ति को दूसरे व्यक्तियों को अपराध करने से रोकने के लिये दंडित नहीं किया जाना चाहिये। उसे दूसरों के हित के लिये उदाहरण नहीं बनाना चाहिये।

(२) **सुधारवादी सिद्धान्त** (Reformative or Educative Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड का लक्ष्य स्वयं अपराधी को शिक्षित करना या सुधारना है। अपराधी को दण्ड इसलिये दिया जाता है कि उसका सुधार हो अथवा उसे शिक्षा मिले। इस सिद्धान्त को वर्तमान युग में सामान्यतया स्वीकार किया जाता है, क्योंकि इसकी युग की मानवतावादी भावनाओं से संगति है। इस सिद्धान्त के आधार पर अपराधी को उसी के हित के लिये दण्ड दिया जाता है, दूसरों के हित मात्र के लिये नहीं।

(क) **अपराध-मानव विज्ञान** (Criminal Anthropology)—अपराध विज्ञान सुधारवादी सिद्धान्त का समर्थन करता है। सेथ के शब्दों में, "अपराध विज्ञान की स्थापना इस सिद्धान्त पर हुई है कि अपराध एक रोग है, मानसोन्माद का एक रूप, एक वंशक्रमागत अथवा अर्जित पतन की अवस्था है। अतः अपराधी की उपयुक्त चिकित्सा उसे दण्डित करने के स्थान पर उसे रोग मुक्त कराने के प्रयास में है।

1. नीति-शास्त्र, पृष्ठ ३७४।

कारागारों के स्थान पर अस्पताल, पागलखाने और सुधारशालायें होनी चाहिये।"[1] इस प्रकार अपराध-विज्ञान के अनुसार अपराध नैतिक नियम के बोधपूर्वक उल्लघन करने के परिणाम नहीं हैं। उनके कारण शारीरिक विलक्षणतायें हैं। शारीरिक दोष अपराधियों को अपराध करने के लिये बाध्य करते हैं। उदाहरणार्थ, चौर्योन्माद (Klepromania) में अपराधी चोरी करने के लिये बाध्य होता है। अतः दण्ड के रूप पागलखानों और सुधारशालाओं में नजरबन्दी होना चाहिये। इस मत के समर्थकों को अपराध-मानव विज्ञानवादी कहते हैं।

आलोचना—प्रत्येक अपराध का कारण मानसोन्माद अथवा शारीरिक दोष नहीं होता। सेथ के शब्दों में, "हम अपराधोन्माद और अपराध का भेद मालूम कर सकते हैं, अपराधोन्माद की अवस्था में मनुष्य के साथ रोगी का सा व्यवहार होता है; उसकी गति-विधि पर नियन्त्रण रखा जाता है और दूसरे उसका प्रबन्ध करते हैं। उदाहरणार्थ, चौर्योन्माद क्षन्तव्य है, दण्डनीय नहीं।" नैतिक नियम का जानबूझकर उल्लंघन करने से जनित अपराध दण्डनीय हैं, क्योंकि वे शारीरिक दोष के कारण नहीं होते। किन्तु उन्माद की दिशा में मनुष्य का चित्त विभ्रम हो जाता है, और उसके द्वारा किये जाने वाले कर्म उसके इच्छाकृत कर्म नहीं होते। उसका व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है और उससे वस्तुगत व्यवहार किया जा सकता है। वह अपने ऊपर नियन्त्रण खो बैठता है, इसलिये बाहर से नियन्त्रण होना चाहिये। अपराध को रुग्णावस्था मानना नीति के आधार का विच्छेद कर देना है; इससे पुण्य पाप पुरस्कार दण्ड निराधार हो जाते हैं। सब अपराधों को उन्मादजनित मानना स्पष्ट-विचार का बाधक है।

(ख) **अपराध-समाजविज्ञान** (Criminal Sociology)—सुधारवादी सिद्धांत का समर्थन अपराध-समाज विज्ञान से भी होता है। यह अपराधों को प्रतिकूल सामाजिक परिस्थितियों के परिणाम मानता है। अपराधों के कारण सामाजिक असमानतायें, कुसंयोजन और भ्रष्टाचार हैं। अतः बिना अपराधियों की सामाजिक और आर्थिक स्थितियों में परिवर्तन किये अपराधों का दमन करना व्यर्थ और हानिप्रद है। अपराधों पर नियन्त्रण करने के लिये यह आवश्यक है कि मानव-समाज का पुनः संगठन न्याय और समानता के आधार पर किया जाये। इस मत के समर्थकों को अपराध-समाज विज्ञानवादी कहते हैं।

आलोचना—यह सत्य है कि कुछ अपराधों का कारण सामाजिक, आर्थिक असमानतायें हैं, जैसे कुछ चोरियों का कारण निर्धनता है। किन्तु सभी अपराधों के लिये सामाजिक कुसंयोजन को दोषी नहीं बताया जा सकता। अपराध जानबूझकर व्यक्तियों के द्वारा किये जाते हैं जो आवश्यक रूप से विपरीत आर्थिक या सामाजिक परिस्थितियों के वश में नहीं हैं। सभी अपराधों के लिये सामाजिक विपरीत परिस्थितियों को दोषी ठहराना अपराधों के व्यावर्तक धर्म को भूल जाना है।

---

2. नीति के सिद्धान्त, पृष्ठ ३२०।

यदि दण्ड देने से अपराधी का सुधार हो जाता है, तो उसका उद्देश्य सफल हो जाता है। किन्तु दण्ड सदैव अपराधी का सुधार नहीं करता; कभी-कभी इससे अपराधी की आदतें पक्की हो जाती हैं। कभी-कभी सहृदयतापूर्ण व्यवहार से दण्ड की अपेक्षा अधिक प्रभाव पड़ता है; वह अपराधी के सुधार के अधिक अनुकूल हो सकता है। कभी-कभी क्षमा कर देने से अपराधी अपने अपराध को स्वीकार कर लेता है जिससे उसको पश्चाताप होता है और उसका सुधार हो जाता है। यह स्पष्ट है कि सुधारवादी सिद्धान्त मृत्यु-दण्ड का औचित्य नहीं दिखा सकता क्योंकि मृत मनुष्य का सुधार नहीं हो सकता।

(ग) **मनोविश्लेषण-विज्ञान** (Psycho-analysis)—फ्रायड और उसके अनुयायियों का मत है कि असामाजिक मानवीय कर्म अथवा अपराध का कारण दबाई हुई मनोग्रन्थियों या इच्छायें, असफल यौन प्रवृत्तियों के कारण उत्पन्न काम व विद्वेष की प्रवृत्ति है। अतः इस प्रकार के अपराधों की चिकित्सा केवल दण्ड देने से ही नहीं बल्कि औषधि और शिक्षा से होनी चाहिये।

ऐसी अवस्थाओं में रोग निवारण का उपाय दबाई हुई अचेतन ग्रन्थियों (repressed complex) की खोज, उनको चेतना के स्तर पर ले आना, उनका कारण ढूँढना और समाज द्वारा स्वीकार्य रूपों में उनका मार्गान्तरीकरण (sublimation) कर देना है। तथापि सभी अपराध दबी हुई ग्रन्थियों से उत्पन्न नहीं होते। (१) कुछ अपराध उन्माद के कारण होते हैं; (२) कुछ शारीरिक दोषों के कारण; (३) कुछ किसी अस्थायी आवेश या ग्रन्थि के कारण; (४) कुछ भ्रान्त नैतिक निर्णय के कारण; (५) कुछ नैतिक नियम के जानबूझकर उल्लंघन करने के कारण।

पहिले प्रकार के अपराधों से मुक्ति पागलखानों व सुधारखानों में निवास और औषधोपचार के द्वारा होनी चाहिये। तीसरे प्रकार के अपराधों से मुक्ति भी औषधोपचार की आधुनिक विधियों से होनी चाहिये। तीसरे प्रकार के अपराधों का निवारण मनोविश्लेषण-पद्धति से होना चाहिये। चौथे प्रकार के अपराधों का निवारण अपराधी के नैतिक निर्णयों की भ्रान्तियों का शोध करने के द्वारा तथा उसे अपनी गलती का विश्वास करा देने से होना चाहिये। पांचवें प्रकार के अपराध वस्तुतः अपराध हैं और निश्चित रूप से दण्डनीय हैं। नैतिक नियम के प्रभुत्व की पुनःस्थापना के हेतु अपराधियों को उचित दण्ड मिलना चाहिये। दण्ड उन्हें दण्ड के औचित्य का विश्वास दिलाता है। इससे वे अपने अपराधों के लिये पश्चाताप करते हैं और अपना सुधार करते हैं, इससे उनके तथा अन्यों के उसी प्रकार के अपराध करने की प्रवृत्ति रुक जाती है।

(३) **प्रतिकारवादी सिद्धान्त** (Retributive Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड एक न्यायोचित व्यापार है। दण्ड का लक्ष्य नैतिक नियम की उच्चता तथा प्रभुता को संरक्षण और अपराधी का न्याय करना है। अपराधी नैतिक नियम

को भंग करता है, और न्याय की माँग है कि उसे दण्ड मिलना चाहिये तथा नैतिक नियम के प्रभुत्व की पुन:स्थापना होनी चाहिये। नैतिक नियम सर्वोच्च प्रभुसत्ता है। अत: नैतिक नियम को भंग करने वाले व्यक्ति को दण्ड मिलना चाहिये। नैतिक नियम के अधिकार को पुष्ट करने के लिये और नैतिक नियम के कुपित गौरव को शान्त करने लिये अपराधों को दण्डित करना चाहिये। यदि उसे दण्ड नहीं दिया जाता, तो नैतिक नियम के गौरव और प्रभुत्व का ह्रास हो जाता है। "दण्ड का तत्व नैतिक व्यवस्था का शोध है, अपराध जिसका कुख्यात भंजन है।[3] इस सिद्धान्त के अनुसार कतिपय परिस्थितियों में मृत्यु-दण्ड उचित है। जीवित रहने का अधिकार मौलिक अधिकार है। यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे का प्राण लेता है तो न्यायपूर्वक उसका भी प्राण लेना चाहिये, किन्तु मृत्यु-दण्ड बर्बरयुग का अवशेष मालूम पड़ता है।

आलोचना—कुछ लोगों की आपत्ति है कि प्रतिकारवादी सिद्धान्त प्रतिहिंसा की अधार्मिक वासना पर आधारित है। किन्तु यह उपयुक्त नहीं है। धर्म प्रतिहिंसा की निन्दा इसलिये करता है कि उसका कारण व्यक्तिगत द्वेष की भावना है। किन्तु न्यायालय अपराधी को दण्ड देने में व्यक्तिगत द्वेष से प्रेरित नहीं होता। "न्यायालय केवल मनुष्य को उसी का प्रतिपादन करता है जो वह अर्जित कर चुका है। वह अशुभ कर चुका है, और यह युक्तियुक्त है कि उसके पाप का पारिश्रमिक—जो उसके द्वारा अर्जित ध्वंसात्मक मूल्य है, अर्थात् अशुभ उसे वापस मिलना चाहिए।[4]

अरस्तु ने दण्ड को ऋणात्मक पुरस्कार (negative rewards) माना है। जो मनुष्य जान-बूझ कर नैतिक नियम को भंग करता है वह ऋणात्मक पुरस्कार का अधिकारी है। "यह उसका अधिकार है, और उसे मिलना चाहिये। समाज जो उसे दण्ड देता है उसके अधिकार से वंचित नहीं करता, बल्कि जो उसे मिलना चाहिये, जो वह कमा चुका है वही उसे देता है।"[5] कान्ट का मत है कि दण्ड इसलिये मिलना चाहिये कि अपराधी ने अपराध किया है, इसलिये नहीं कि वह उसके या अन्य के हित का साधन है। वह दण्ड के प्रतिकारवादी सिद्धान्त का समर्थक है। हेगेल ने भी इस सिद्धान्त को माना है। उसका भी मत है कि दण्ड अपराधी का अधिकार है। यह उसका परितोषिक है। यह वह वस्तु है जिसका वह पात्र है, जिसका उसने नैतिक नियम भंग करके अर्जन किया है। यह उसका ऋणात्मक पुरस्कार कहलाया जा सकता है। यही कारण है, कि कुछ अपराधी जो राज्य के द्वारा दण्डित होने से बच जाते हैं, किसी रूप में प्रायश्चित द्वारा आत्म-शुद्धि करने का प्रयत्न करते हैं। उन्हें अनुभव होता है कि जैसे पाप-कर्मों से उन्होंने

3. सेथ
4. मैकेंजी
5. मैकेंजी :

जितना अर्जित किया है उसकी प्राप्ति उन्हें नहीं हुई। ब्रैडले का भी यही मत है। वह कहता है कि "हम दण्ड इसलिये भुगताते हैं कि हम उसके योग्य हैं, किसी दूसरे कारण से नहीं, और यदि किसी असत् कर्म के फल होने के अतिरिक्त अन्य कारण से दण्ड दिया जाता है, तो यह एक विशुद्ध अनीति है, एक स्पष्ट अन्याय है, दण्ड के हेतु दिया जाता है।" दण्ड न्याय का व्यापार है, यह नैतिक नियम के उल्लंघन का प्रतिकार है।

इस प्रकार दण्ड का प्रतिकारवादी सिद्धान्त यथार्थ मत मालूम होता है। दोनों अन्य सिद्धान्तों का भी इसमें समावेश हो जाता है। मैकेंजी के शब्दों में, "यदि दण्ड का लक्ष्य नियम के गौरव की रक्षा करना है, तो ऐसा आंशिक रूप से तभी होगा जबकि अपराधी का सुधार होगा और उसी प्रकार के अपराधों का होना रुक जायेगा और वस्तुतः जब तक यह स्वीकार नहीं किया जाता कि दण्ड नियम के औचित्य का समर्थक है तब तक दण्ड के द्वारा न तो सुधार ही सम्भव है, न अपराध का निवारण ही।" अपराधी पश्चाताप करता है और उसका सुधार होता है पर उसका सुधार उसी समय सम्भव है जबकि वह मान लेता है कि नियम की रक्षा के लिये ही उसे दण्डित किया गया है और उसका फल पाना उसका अधिकार है। पुनः इस तथ्य को मान लेने से दूसरे भी अपराध से दूर रहने की चेष्टा करते हैं। अतः प्रतिकारवादी सिद्धांत को दण्ड के सिद्धांत में सबसे अधिक सन्तोषजनक सिद्धान्त माना जा सकता है।

प्रतिकारवादी सिद्धान्त के दो रूप हैं—(१) कठोर और (२) मृदु।

कठोर रूप के अनुसार दण्ड अपराध के स्वरूप के अनुसार दिया जाता है। यदि अपराध गम्भीर है, दो दण्ड भी कठोर होना चाहिये, यदि अपराध हल्का है, तो दण्ड भी हल्का होना चाहिये, चाहे अन्य परिस्थितियाँ कुछ भी क्यों न हों। इस मत का सूत्र है, 'आँख के लिये आँख', 'दाँत के लिये दाँत'। दण्ड देने में अन्य परिस्थितियों का विचार नहीं होना चाहिये। उदाहरणार्थ, किसी मनुष्य ने किसी की हत्या की है, अतः बिना अन्य परिस्थितियों पर विचार किये उसे मृत्यु दण्ड मिलना चाहिये।

प्रतिकारवादी सिद्धान्त के मृत्यु-रूप के अनुसार, विशेष परिस्थितियों में किये जाने वाले अपराध के स्वरूप का विचार करके दण्ड दिया जाना चाहिये। यहाँ दण्ड की कठोरता को कम करने वाली परिस्थितियों का यथा, अपराधों की आयु, उसका अभिप्रायः उत्तेजक परिस्थितियों इत्यादि का भी विचार होना चाहिये।

प्रतिकारवादी सिद्धान्त का मृत्यु-रूप दण्ड का सर्वाधिक सन्तोषजनक सिद्धान्त मालूम पड़ता है।

(१) नैतिक आदर्श तथा नैतिक प्रगति
(Moral Ideals and Moral Progress)

नैतिक प्रगति से अभिप्राय है, नैतिक आदर्श की उत्तरोत्तर प्राप्ति। नैतिक आदर्श की कोई सीमा नहीं है अतः उसकी पूर्ण प्राप्ति होना असम्भव है। जितनी अधिक नैतिक प्रगति होती है उतना ही दुर्लभ नैतिक आदर्श भी हो जाता है, और उतनी ही गहरी नैतिक बाध्यता की वृद्धि भी हो जाती है। हमारे लिये नैतिक बाध्यता को बुद्धि से अतिगमन करना असम्भव है। इस प्रकार नैतिक आदर्श और नैतिक प्रगति परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते रहते हैं। नैतिक आदर्श सदैव एक आदर्श रहता है, यथार्थ कदापि नहीं होता। नैतिक प्रक्रिया कभी भी विश्व की प्रक्रिया में विलय नहीं हो सकती।

(२) नैतिक प्रगति का स्वरूप (Nature of Moral Progress)

सेथ के शब्दों में, "नैतिक प्रगति प्रगतिशील नैतिकता है, किसी भी अवस्था में नैतिकता की ओर प्रगति नहीं, अथवा नीति-शून्य अवस्था में नैतिकता की ओर प्रगति नहीं हैं।"[1] नैतिकता का उद्भव नीति-शून्य तत्वों से नहीं हो सकता, जैसे कि हर्बर्ट स्पेन्सर का विचार है। वास्तविक तथ्य से नैतिक आदर्श का विकास नहीं हो सकता 'चाहिये' (Ought) 'है' (Is) से व्युत्पन्न नहीं हो सकता। हर्बर्ट स्पेन्सर के नैतिकता के उद्विकास का अन्त से स्पष्टीकरण करने के स्थान पर आरम्भ (यथा, पशु व्यवहार) से स्पष्टीकरण करने में हेतु-साध्य-विवर्त्त है। हेगेल का अन्त (प्रयोजन) से उसका स्पष्टीकरण करना ठीक है।

(३) नैतिक प्रगति का नियम : व्यक्ति की खोज
(Law of Moral Progress)—

सेथ के अनुसार, व्यक्ति की उत्तरोत्तर खोज नैतिक प्रगति का नियम है। सर हेनरी मेन (Sir Henry Main) के शब्दों में सामाजिक प्रगति का नियम "जन्मगत स्थिति से समझौते की ओर गति"[1] है। प्रारम्भ में व्यक्ति परिवार अथवा सम्प्रदाय में विलीन था। सामाजिक प्रगति के दौरान में व्यक्ति को अपनी स्थिति का ज्ञान हुआ और उसने परिवार अथवा सम्प्रदाय के अधिकारों के विरुद्ध अपने अधिकारों की मांग की, धीरे-धीरे व्यक्ति परिवार अथवा सम्प्रदाय से विविक्त हो गया और उसने अपने अधिकारों को उपलब्ध कर लिया। "जाति और व्यक्ति की नैतिक प्रगति का आधारभूत नियम तत्वतः एक ही रूप में व्यक्त किया जा सकता है। वह प्रगति संक्षेप में व्यक्ति की उत्तरोत्तर खोज है। प्रारम्भिक युग की नैतिक

1. नीति के सिद्धान्त, पृष्ठ ३२६।

इकाई समुदाय अथवा परिवार था। फिर वह राज्य हुआ, और बाद में शायद वर्ण या वर्ग हुआ, तथा सबसे अन्त में व्यक्ति।"[2] सेथ ने कहा है 'नैतिक उत्कर्ष की प्रवृत्ति सच्चे व्यक्तिगत की दशा में रही है। इसका अर्थ व्यक्ति की राजनैतिक शरीर में स्थिति का क्रमिक ज्ञान रहा है।'[3]

(४) नैतिक प्रगति के नियम के विभिन्न पहलू

(Different Aspects of Moral Progress)—

नैतिक पुरुष के रूप में व्यक्ति के गौरव और मूल्य के उत्तरोत्तर ज्ञान की अभिव्यक्ति पहले नैतिकता के बाह्य दृष्टिकोण से आन्तरिक दृष्टिकोण की ओर संक्रमण में हुई, फिर कठोर धर्मों की अपेक्षा क्रमशः मृदु धर्मों को प्रधानता देने में, और पुनः धर्मों के विस्तार।

(१) **नैतिकता के बाह्य दृष्टिकोण से आन्तरिक दृष्टि की ओर संक्रमण**— "प्रथम नैतिक प्रगति में हम कर्म के बाह्य अथवा उपयोगितावादी मूल्यांकन से आन्तरिक अथवा आध्यात्मिक मूल्यांकन की ओर, व्यवहार और परिणामों से चरित्र और प्रवृत्तियों की ओर करने से होने की ओर, कर्म से मनुष्य की ओर क्रमिक संक्रमण को पहचान सकते हैं। जो कर्म मनुष्य करता है उसका मूल्य घटता जाता है, जो वह है उसका मूल्य बढ़ता जाता है।[4] पहले हम बाह्य कर्मों और परिणामों पर नैतिक निर्णय देते हैं, फिर आन्तरिक उद्देश्यों और अभिप्रायों पर, और उसके बाद चरित्र पर। पहिले हमारा लक्ष्य व्यवहार की शुद्धता होता है, तत्पश्चात हमारा लक्ष्य आन्तरिक जीवन को शुद्धता होता है।

(२) **कठोर धर्मों को मृदु धर्मों के अधीन करना** – नैतिक प्रगति की द्वितीय अभिव्यक्ति कठोर धर्मों को मृदु धर्मों के आधीन करने में, सत्ता अथवा रक्षा के धर्मों को मंगल-साधक अथवा सौजन्य के धर्मों के आधीन करने में लक्षित होती है। कठोर धर्मों के मृदु-धर्मों की दशा में संक्रमण, व्यक्ति के प्रति असहानुभूतिपूर्ण भावना से सहानुभूतिपूर्ण भावना की दशा में असहृदयतापूर्ण भावना से सहृदयतापूर्ण भावना की दशा में संक्रमण है।"[5] प्रारम्भ में साहस, वीरता, पौरुष, बल, इत्यादि कठोर और पौरुषोचित धर्मों को उच्च स्थान दिया जाता है। तत्पश्चात् नैतिक प्रगति में उसका स्थान धीरे-धीरे सहानुभूति, परोपकारशीलता, क्षमाशीलता, नम्रता, आज्ञाकारिता, धैर्य, आत्म-समर्पण प्रभृति ले लेते हैं।

(३) **धर्मों का क्षेत्र-विस्तार**—"हमें नैतिक प्रगति का एक तीसरा पहलू अर्थात् उसका वर्तमान विस्तार, विशेषवाद से सामान्यवाद, देशभक्ति अथवा राष्ट्रवाद से मानवतावाद अथवा अन्तर्राष्ट्रीय की दशा में विकास दिखाई देता है।

---

2 नीति के सिद्धान्त; ३६१।
3. वही; पृष्ठ ३३६।
4. वही; पृष्ठ ३५।
5. वही; पृष्ठ १४३।

जब व्यक्ति को अपनी स्थिति का ज्ञान होता है, उसे अपने साथियों से अपनी सत्ता और जीवन के साम्य का, मनुष्य-जाति रूपी नगर में अपनी नागरिकता का बोध हो सकता है।"[6] उसे विदित हो जाता है कि सर्वोच्च शुभ सामान्य और सार्वजनिक हित है। जैसे-जैसे मनुष्य-जाति का नैतिक जीवन विकसित होता है, मनुष्य को मनुष्य से विविक्त करने वाली दीवारें। जैसे—राष्ट्रीयता, वंश, जन्म और पेशे के भेद हो जाते हैं, तथा मनुष्य जाति की एकता की प्राप्ति हो जाती है। किन्तु नैतिक जीवन सदैव एक व्यक्तिगत जीवन रहता है। यह कदापि अव्यक्तिगत जीवन नहीं होता। मनुष्य का सच्चा जीवन स्वार्थहीन अथवा व्यक्तिगत जीवन नहीं है बल्कि सच्चे मानवीय आत्मा का अथवा व्यक्तित्व का जीवन है। "व्यक्ति को अपने अथवा दूसरों के सम्बन्धों में कभी भी अपने व्यक्तित्व का बलिदान करने के लिये नहीं कहा जा सकता। किसी भी व्यक्ति के लिये एकमात्र निरपेक्ष आत्मोत्सर्ग धर्म का मार्ग नहीं हो सकता, जिससे जीवन के सर्वोच्च सिद्धान्त आत्म-ज्ञान और आत्म-लाभ हैं। मनुष्य का सच्चा जीवन व्यक्तिविहीन जीवन नहीं है, बल्कि सच्चे मानवीय स्वरूप का जीवन; सौभाग्ययुक्त जीवन मार्ग का आत्म-ज्ञान का मार्ग है।"[7]

ग्रीन ने यह निर्देश किया है कि नैतिक प्रगति का लक्षण नैतिक अन्तर्दृष्टि का गाम्भीर्य है। उदाहरणार्थ, यूनानियों के लिये साहस का अर्थ केवल युद्ध-भूमि में शारीरिक साहस था। किन्तु अब इसमें नैतिक साहस का भी समावेश होता है। यूनानियों के लिये मिताचार का अर्थ खान-पान और पाशविक विषय-भोग में संयम था। किन्तु वर्तमान युग में इसका प्रयोग आत्म-निषेध के विविध रूपों के लिये किया जाता है। इस प्रकार नैतिक प्रगति के दौरान में नैतिक चेतना में उत्तरोत्तर गम्भीरता आ जाती है।

नैतिक प्रगति के साथ धर्मों के क्षेत्र में भी क्रमिक विस्तार होता है। पहले धर्मों का उपनय परिवार में होता है, फिर सम्प्रदाय और जाति में, और अन्त में मानव जाति में तब जन्तु-जगत् और प्रगति के प्रति भी नैतिक बाध्यता को अनुभूति होने लगती है। इस प्रकार नैतिक प्रगति का लक्षण कर्त्तव्यों और धर्मों के क्षेत्र में उत्तरोत्तर विस्तार है।

(५) नैतिक प्रगति के हेतु (Conditions of Moral Progress)

व्यक्ति का नैतिक जीवन नैतिक जगत् में व्यतीत होता है। इस जगत् का एक नैतिक आदर्श होता है जो सामान्यतया समाज के द्वारा स्वीकृत होता है। इस आदर्श की अभिव्यक्ति आदेशों की शृंखला में, निश्चित सामाजिक संस्थाओं में, अथवा कर्म के अन्य अभ्यासजात रूपों में हो सकती है। कभी-कभी नैतिक जगत् के इन तीन तत्वों में विरोध हो जाता है। किसी जाति का आदर्श सदैव उसकी संस्थाओं तथा आदतों के अनुरूप नहीं होता है। कभी कभी उसकी आदतें भी उसकी

6. वही, पृष्ठ ३४५—४६।
7. वही, पृष्ठ ३५६—५७।

संस्थाओं के अनुकूल नहीं होती। किसी जाति की नैतिक प्रगति मुख्यतया इन तीन तत्वों का परस्पर समायोजन करने के प्रयास में निहित होती है। आँशिक-रूप में यह नैतिक आदर्श को ऊँचा उठाने तथा संस्थाओं और आदतों को उन्नत बनाने के प्रयत्न में भी निहित है।

जाति के आदर्श सामाजिक संस्थाओं और आदतों के आन्तरिक विरोध से अनिवार्यतः उनको परस्पर समायुक्त करने के लिये नैतिक प्रगति होती है। कभी-कभी आदतों, संस्थाओं तथा आदर्शों की नैतिक प्रगति का कारण अपूर्णता की अनुभूति होती है। प्रायः इस अपूर्णता का बोध आरम्भ में एक तीव्र नैतिक अन्तर्दृष्टि वाले सुधारक की सहायता से होता है। वह लोगों के आदर्श, सामाजिक संस्थाओं तथा आदतों की असंगतियों का प्रदर्शन करता है, तथा अपने ही उत्कृष्ट उदाहरण और उपदेशों के द्वारा उनके उन्मूलन करने में सहायता देता है।

नैतिक प्रगति के विभिन्न कारण होते हैं, जैसे हमारी नैतिक चेतना में तथा वातावरण में परिवर्तन, नैतिक सुधारक की गम्भीर नैतिक अन्तर्दृष्टि, वातावरणगत नूतन हेतु आदि। उदाहरणार्थ, नवीन आर्थिक हेतुओं ने महिलाओं की स्वतन्त्रता में और गुलामी के उन्मूलन में सहायता दी, जो अंशतः सुधारकों के गहरे नैतिक ज्ञान पर भी निर्भर था।

मनुष्य का अन्तरस्थ आत्मा अपरिमित है। वह अपने नैतिक विकास में निरन्तर 'ईश्वर के राज्य' (Kingdom of God) पर दृष्टि रखता है। वह आदर्श व्यवस्था के लिये अविराम प्रयत्न करता है। वह कदापि वास्तविक, सामाजिक, आर्थिक अथवा राजनैतिक व्यवस्था से सन्तुष्ट नहीं करता। "वह किसी देश और काल में वास्तविक रूप से स्थापित आदतों और संस्थाओं से तथा परम्परा से स्वीकृत आदर्शों से भी असन्तुष्ट रहता है और जीवन के उस रूप की स्थापना करने के लिये सचेष्ट होता है जो अधिक पूर्ण, अधिक सुसंगत और अधिक संतोषजनक है। इसी लिये काल्पनिक स्वर्ग, कवि के स्वप्न और रहन-सहन के अच्छे रूपों की आशा में चिरस्थायी रुचि होती है।'[8] इन काल्पनिक स्वर्ग के स्वप्नों में एक भय है। कभी-कभी ये अव्यवहार्य तथा असाध्य आदर्श होते हैं। महान पुरुष नये संदेशों को लेकर आते हैं, किन्तु प्रायः वे स्वयं अपने उच्च आदेशों के प्रकाश से बहक जाते हैं। वे कठोर तथ्यों पर ध्यान देना भूल जाते हैं। उनके आदर्श अथवा स्वर्ग के स्वप्न अवास्तविक अथवा सर्वथा काल्पनिक होते हैं। वस्तु-स्थिति से उनका स्पर्श नहीं होता। अतः उनके संदेशों का मनुष्य जाति के सामान्य-ज्ञान के अनुसार नवीन अर्थ लगाया जाता है। "सम्पूर्ण संसार सर्वाधिक मेधावान् पुरुषों से भी अधिक बुद्धिमान है।"[9]

---

8 नीति-शास्त्र, पृष्ठ ३६१–६८।

9. वही, पृष्ठ ३६८।

(६) क्या मनुष्य-जाति नैतिक दृष्टि से प्रगतिशील है ?

(Is Humanity making Moral Progress)—

युग-युगान्तर में एक प्रगतिशील प्रयोजन व्याप्त है। मनुष्य सदैव असन्तुष्ट है। उसकी अप्रसन्नता का कारण उसकी महत्ता है। मनुष्य की आत्मा का सुदूर अतीत के सुनहरे युग (golden age के प्रति सहज आकर्षण है। इस स्वर्णिम युग की प्राप्ति भविष्य में होनी चाहिये। प्रश्न यह है कि हम नैतिक दृष्टि से उन्नत हैं अथवा पतित ? अतीत में लोग का जीवन साधारण था। उनका कार्य-क्षेत्र सीमित था। उनका बौद्धिक विकास अल्प था तथा आवश्यकतायें न्यून थी, जिनकी सुगमता से पूर्ति हो जाती थी। अतः अधर्म के लिये उन्हें कम अवसर मिलते थे। हमारा जीवन जटिल है; आवश्यकतायें अधिक हो गई हैं। हमारा सम्बन्ध अधिक लोगों से हो गया है। जीवन के लिये हमारा संघर्ष जटिलतर हो गया है; हमारा बौद्धिक विकास भी अधिक हो गया है। अतः अधर्म के लिये हमें अधिक अवसर प्राप्त हैं। मैकेंजी के अनुसार, "यदि कुछ दृष्टियों से हमारे कर्म अधिक विश्वसनीय तथा अधिक यौक्तिक सिद्धान्तों पर आधारित जान पड़ते हैं, तो अन्य दृष्टियों से हम पूर्व पुरुषों की अपेक्षा अधिक स्वार्थ पर और अधिक नीच हो जाते हैं।" जिन नैतिक सिद्धान्तों के अनुसार मनुष्यों से कर्म करने की आशा की जाती है उनमें कुछ प्रगति है, यद्यपि व्यक्तियों के कर्मों में अधिक प्रगति शायद न हो। उदाहरणार्थ, आधुनिक युग में कुछ लोग मानवतावाद से प्रेरणा पाते हैं और उनसे दूसरों की अपेक्षा संकीर्ण साम्प्रदायिकता वर्गगत भेदों से और देश भक्ति से अधिक ऊपर उठकर मानव-जाति की एकता को अनुभूत करने की आशा की जाती है। पुनः ज्ञान-वृद्धि नैतिक प्रगति का एक हेतु है, यद्यपि ज्ञान शुभ-अशुभ दोनों को शक्ति-दान करता है। अज्ञान पर आश्रित नैतिकता स्तुति के योग्य नहीं है। ●

and The State — Society

(१) **समाज तथा राष्ट्र** (Society and the State —

आत्म-लाभ परम मंगल है। यह समाज के ही द्वारा सम्भव है। राष्ट्र सबसे अधिक महत्वपूर्ण सामाजिक सस्था है जो व्यक्तियों के नैतिक जीवन के स्वतन्त्र विकास के हेतु अनिवार्य है। सेथ के शब्दों में, "सम्पूर्ण सामाजिक संगठन को समाज कहा जा सकता है और उसके सामाजिक रूपों में सबसे महत्वपूर्ण राजनैतिक संगठन अथवा राष्ट्र है।"[1] राष्ट्र समाज का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। वह एक संघ है जो दूसरे संघों का सर्वोच्च शासनकर्त्ता है।

(२) **राष्ट्र और व्यक्ति** (State and Individual)—

राष्ट्र स्वतः साध्य नहीं है। वह व्यक्तियों के परम मंगल की प्राप्ति का एक साधन है। यह व्यक्तियों के चरित्र के विकास के लिये है। इसके हित के लिए व्यक्ति को यन्त्रवत् नहीं बनाना चाहिये। राज्य को व्यक्ति का दमन नहीं करना चाहिये। उसे सबके सामान्य शुभ के लिये उसके व्यक्तित्व की बुद्धि और विकास में सहायता देनी चाहिये। आज, जबकि मानव-समाज के पुर्ननिर्माण में आदेशों का भयानक सघर्ष चल रहा है, इस आधारभूत सत्य को याद रखना चाहिये।

सेथ का कथन ठीक ही है कि "नैतिक दृष्टिकोण से राष्ट्र को एक साधन समझना चाहिये, स्वतः साध्य नहीं। राष्ट्र की सत्ता व्यक्ति के लिये हैं, व्यक्ति की राष्ट्र के लिये नहीं। नैतिक इकाई व्यक्ति है और राष्ट्र का कार्य व्यक्ति के स्थान का अपहरण नहीं है, बल्कि उसके व्यक्तित्व के विकास में उसकी सहायता करना— उसे स्थान और अवसर प्रदान करना है। यह उसके लिये है, वह उसके लिये नहीं, यह उसका क्षेत्र , उसके नैतिक जीवन का माध्यम है।"[2]

राष्ट्र को व्यक्ति की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप उसी सीमा तक करना चाहिये जिस सीमा तक ऐसा करना दूसरों के व्यक्तित्व का विरोध न करते हुये उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए अनिवार्य है। उसे व्यक्ति को अपने हीन व्यक्तित्व से उच्च व्यक्तित्व का विकास करने में सहायता देनी चाहिये। हीन व्यक्तित्व पाशविक प्रवृत्तियां हैं। उच्च व्यक्तित्व बौद्धिक प्रवृत्तियां हैं। राष्ट्र उच्च व्यक्तित्व को अन्य हीन व्यक्तित्वों के हस्तक्षेप से मुक्ति करने के लिये व्यक्ति-मात्र में हस्तक्षेप कर सकता है, उसके उच्च व्यक्तित्व में नहीं। न तो राष्ट्र और न व्यक्ति ही साध्य है बल्कि उच्च व्यक्ति अन्तिम नैतिक साध्य और नैतिक इकाई है।

1. नीति के सिद्धान्त, पृष्ठ २८७।
2. वही, पृष्ठ २९३।

(३) राष्ट्र के नैतिक आधार (Moral Basis of the State)

नैराज्यवाद राज्य-शासन की आवश्यकता का निषेध करता है। विशुद्ध व्यक्ति-वाद के अनुसार शासन बल प्रयोग के अतिरिक्त कुछ नहीं है। यह स्वतन्त्रता के सही अर्थ समझने में भूल करता है। स्वेच्छाचारी शासन व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अप-हरण कर देता है। यह उसके स्वराज्य के नैतिक विशेषाधिकार का अपहरण करता है। यद्यपि स्वातन्त्र्य नैतिक जीवन का तत्व है, तथापि यह राष्ट्र की सत्ता का विरोधी नहीं है। राष्ट्र स्वयं मानव-आत्मा के प्रयत्न का फल है। मनुष्य को स्व-भावतः सामाजिक और राजनैतिक संगठन के किसी रूप में निवास करना चाहिये। उसके नैतिक जीवन का राजनैतिक जीवन में लोप नहीं होता। राष्ट्र की सत्ता ही व्यक्ति के लिये है। अतः राष्ट्र के द्वारा बल प्रयोग उस सीमा तक किया जाना उचित ही है जहां तक कि वह नैतिक व्यक्ति के आत्म-लाभ का साधन है। आदर्श राज्य नागरिकों की सामान्य इच्छा पर आधारित है जिससे राष्ट्र के द्वारा बल प्रयोग करना नागरिकों के अच्छी आत्माओं के संकल्पों का आरोपण बन जाता है। सेथ के शब्दों में —"सर्वोच्च शासन की इच्छा व्यक्तिगत इच्छा अथवा नागरिकों के सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है। जनता की सामान्य इच्छा में, नागरिकों के सामान्य व्यक्तित्व में सर्वोच्च प्रभुसत्ता का निवास है। अतः राष्ट्र की सर्वोच्च शक्ति, राष्ट्र-शासन का रूप जो कुछ भी हो, को सार्वजनिक व्यक्ति मानना ठीक है तथा उसकी आज्ञाकारिता में नागरिक अपने सामान्य व्यक्तित्व के आदेश का पालन करते हैं। राष्ट्र की आज्ञाकारिता का अर्थ नागरिक की अपने ही उच्च आत्मा की आज्ञाकारिता है। प्रकट परतन्त्रता वस्तुतः देशान्तर में स्वतन्त्रता है, अन्त में मैं राजा भी हूं और अपने ही नियम में आबद्ध प्रजा भी हूं। राष्ट्र का अधिकार स्वयं व्यक्तित्व का अधिकार है, अतः वह सर्वोच्च है।"

(४) राष्ट्र के नैतिक कार्य (Moral Functions of the State)—

राष्ट्र सबसे महत्वपूर्ण समाजिक और नैतिक संगठन है। राष्ट्र के, जो व्यक्ति के नैतिक जीवन का माध्यम है, दो नैतिक कार्य हैं—(१) व्यक्ति की अन्य व्यक्तियों अथवा समाज के राजनैतिक रूपों के आक्रमणों के विरुद्ध रक्षा करते हुये उसे आत्म-लाभ का अवसर देने का निषेधात्मक कार्य—अर्थात् न्याय का कार्य, (२) प्रत्येक नागरिक के नैतिक जीवन की स्थितियों को उन्नत बनाने का विधाना-त्मक कार्य—अर्थात् परोपकार का कार्य। प्रथम कार्य का सम्पादन करने में राज्य 'सत्ता' (being) की चिन्ता करता है शेष कार्य का सम्पादन करने में वह 'कल्याण' (well-being) की चिन्ता करता है। जिस प्रकार 'सत्ता' अथवा रक्षा-सम्बन्धी हित कल्याण सम्पन्नता-सम्बन्ध हितों से अधिक आवश्यक है, वैसे ही राजनैतिक कर्त्तव्य परोपकार के कर्त्तव्य का पूर्वगामी है।[3]

3. वही, पृष्ठ ३०२—३०३।

राष्ट्र को व्यक्ति के अधिकारों तथा सम्पत्ति, समझौता, इत्यादि के अधिकारों का स्वीकार और संरक्षण करना चाहिये। उसे व्यक्तियों के अधिकारों का अपहरण करने वाले व्यक्तियों को दण्ड देना चाहिये और सामाजिक व्यवस्था का संरक्षण करना चाहिये। यह न्याय का निषेधात्मक कार्य है।

इसके अतिरिक्त राष्ट्र का एक रचनात्मक कार्य भी है। वह अपने नागरिकों के भौतिक आध्यात्मिक कल्याण की उन्नति को अपना लक्ष्य बना सकता है। उदाहरणार्थ, राष्ट्र को नागरिकों की शिक्षा, स्वास्थ्य, नौकरी और आर्थिक हितों पर ध्यान देना चाहिये। उसे उनको सभ्यता के सभी उपलब्ध सुख प्रदान करने चाहियें। यह परोपकार का रचनात्मक कार्य है।

सेथ के शब्दों में, "राष्ट्र को व्यक्ति के जीवन पर केवल अपना स्वत्व ही नहीं स्थापित करना चाहिये, बल्कि उसका संरक्षण भी करना चाहिये, उसे व्यक्ति के जीवन का उन्मूलन नहीं, बल्कि स्थापन करना चाहिये। यदि राष्ट्र से पृथक् नैतिक व्यक्ति नहीं है, तो जिस राष्ट्र में व्यक्ति का लोप हो जाता है वह भी सच्चा राष्ट्र नहीं है। सर्वोच्च राष्ट्र वही है जिसके नागरिक होने में व्यक्ति सबसे अधिक पूर्णता के साथ अपना व्यक्तिगत जीवनयापन करता है।"[4]

(५) राष्ट्र शाश्वत है (The State is Permanent)—

राष्ट्र जनता की सामान्य इच्छा पर आधारित है। यह राष्ट्र का नैतिक अधिकार है। राष्ट्र सर्व संघों का सर्वोच्च शासक है। राष्ट्र व्यक्ति के अधिकारों को स्वीकार करता है और दण्ड का भय देखकर उनका आरोपण करता है, राष्ट्र अपने नागरिकों के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करता है, वह शान्तिपूर्ण वातावरण का आश्वासन देता है, नियम और व्यवस्था स्थापित करता है तथा अपने नागरिकों की अपने कार्यों के अनुसरण में, आत्म-विकास और आत्मपूर्णता प्राप्त करने में और व्यक्तित्व के परम उत्कर्ष करने में सहायता देता है। अतः राष्ट्र का उन्मूलन नहीं होना चाहिये।

नैराज्यवाद राष्ट्र को जनता के जीवन की एक अल्पस्थायी अवस्था मानता है। सब प्रकार के राष्ट्र बल प्रयोग के रूप हैं। सभी प्रकार के बल प्रयोग अनैतिक हैं। राष्ट्र के अनैतिक बल-प्रयोग का विनाश होना चाहिये। राष्ट्र का स्थान सहकारी संघ को ग्रहण करना चाहिये।

यह मत सम्यक् प्रतीत नहीं होता। मानव-प्रकृति शुभ और अशुभ का मिश्रण है। मानव-प्रकृति का अशुभ-तत्व किसी भी पूर्ण सामाजिक व्यवस्था में पूर्णतया नष्ट नहीं किया जा सकता। उसके ऊपर सदैव कोई न कोई बाह्य नियन्त्रण आवश्यक होगा। यदि व्यक्ति का अशुभ स्वभाव अन्यों के अधिकारों के विरुद्ध स्व-प्रति

4. वही, पृष्ठ ३०४।

पादन करता है और समाज-व्यवस्था में बाधा उपस्थित करता है, तो राष्ट्र के द्वारा उसका नियमन होना चाहिये। यदि उसे अनियन्त्रित छोड़ दिया जाता है, तो उससे नितान्त अव्यवस्था उत्पन्न हो जायेगी और फलस्वरूप व्यक्तियों का नैतिक जीवन असम्भव हो जायेगा। अतः राष्ट्र का अनिवार्य सामाजिक अथवा नैतिक संस्था है जो नैतिक मूल्य की उपलब्धि के लिये आवश्यक माध्यम है। सेथ का यह कथन सर्वथा उपयुक्त है कि, "मुझे यह लगता है कि यद्यपि राज्य-पद्धति में परिवर्तन हो सकते हैं, तथा राज्य को नैतिक जीवन की एक महान् संस्था के रूप में सदैव रहना ही होगा, जबकि उस जीवन में मौलिक परिवर्तन नहीं होता। दो राज्यों के मध्य संघर्ष का स्थान शान्ति ग्रहण कर सकती है, विरोध का स्थान सामञ्जस्य ग्रहण कर सकता है, किन्तु राज्य का स्थायित्व नैतिक जीवन के चरम उत्कर्ष से सम्बन्धित प्रतीत होता है।"[5]

विश्व शान्ति की स्थापना के लिये तथा युद्ध और उनके परिणामस्वरूप होने वाले संकट तथा मानव-जीवन में सम्पत्ति की हानि को रोकने के हेतु यह अत्यावश्यक है कि राष्ट्र क्रमिक-रूप में अपनी प्रभु-सत्ता के अंशों को किसी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को अर्पित कर दें। किन्तु, उन्हें अपनी अनन्यता तथा एकता का एक सार्वदेशिक महाराष्ट्र में विलय नहीं करना चाहिये। सार्वदेशिकतावाद एक अस्पष्ट कल्पना है। "राष्ट्रीयतावाद नैतिक जीवन का उतना ही स्थायी सिद्धान्त है जितना व्यक्तिवाद। मानव जाति केवल मात्र एक अस्पष्ट कल्पना है, जब तक उसका राष्ट्र में विशिष्टीकरण और व्यक्तिकरण नहीं होता।"[6] वास्तविक नैतिक जीवन व्यक्तिगत जीवन है—वह जीवन, जिसमें एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के मध्य किसी राष्ट्र के राजनीतिक जीवन के माध्यम से, आत्मा के द्वारा आत्मा का, जाति के आचार-व्यवहार द्वारा प्रभावित और परिवर्तित होते हुये साक्षात्कार होता है। व्यक्ति का नैतिक जीवन राष्ट्रीयतावाद के माध्यम से व्यतीत होता है, जो मानवतावाद के द्वारा समृद्ध और विशाल बनता है। राष्ट्र का स्थान अस्पष्ट और अमूर्त सार्वदेशिकतावाद (cosmopolitanism) के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता, जिसका परिणाम प्रायः व्यक्तिवाद और सामाजिक छिन्न-भिन्नता होता है। नैतिक जीवन राष्ट्रीयतावादी दृष्टिकोण से अनुप्राणित होता है।

(६) राष्ट्र के सिद्धांत (Theories of the State)—

(१) राष्ट्र एक शक्ति के रूप में (The State as Force)—ट्रीट्स्के का मत है कि राज्य की प्रकृति अनिवार्यतः सत्तात्मक है। यह शक्ति का संजीव स्वरूप है। राष्ट्र अपने अन्तर्गत सुव्यवस्था बनाये रखने तथा बाह्य आक्रमणों से प्रतिरक्षा के हेतु शक्ति का प्रयोग करता है। शासन से अभिप्राय है दमन। दमन निश्चय ही अपने प्रतिरोध का सामना शक्ति द्वारा करेगा। इसे अपनी आज्ञाओं को लागू

5. नीति के सिद्धान्त, पृष्ठ ३१९।
6. वही, पृष्ठ ३१९।

करने के लिये दण्ड की धमकी आवश्यक है। इस प्रकार शक्ति राज्य पर सार तत्व है।[7]

ट्रीट्स्के ने अपने राज्य सिद्धान्त को जर्मनी के सैनिक शासन पर आधारित किया है परन्तु वास्तव में राज्य केवल शक्ति नहीं। यह पाशविक बल का सजीव स्वरूप भी नहीं। यह जनता की सामान्य इच्छा पर आधारित है। शासन-संचालन में कुछ शक्ति की आवश्यकता अवश्य ही पड़ती है, परन्तु इसका अन्तिम अधिष्ठान जनता की सहमति में है।

(२) **राष्ट्र एक यन्त्र के रूप में** (The State as Machine)—व्यक्तिवादी लोग व्यक्ति की स्वतन्त्रता को राष्ट्र की सत्ता की अपेक्षा अधिक महत्व प्रदान करते हैं। वे राष्ट्र को ऐसा यन्त्र मानते हैं जो व्यक्तियों की स्वतन्त्रता में अभिवृद्धि करता है। इसका कार्य न्यूनतम होना चाहिये। उसे व्यक्तियों की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। व्यक्तिवादी लोग आर्थिक क्षेत्र में स्वतन्त्र कार्य-पद्धति के समर्थक हैं। राष्ट्र का कार्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता के मार्ग में आने वाली बाधाओं को हटाना है। इसका स्वरूप विधानात्मक होने की अपेक्षा निषेधात्मक अधिक है। राष्ट्र का हस्त-क्षेप न्यूनतम होता है।

राष्ट्र की यह धारणा अप्रचलित है। यह केवल उन्हीं व्यक्तियों को लाभ पहुँचा सकती है जो धनवान् और साधन-सम्पन्न हैं। यह निर्धनों तथा दलित-वर्गों के लिये हानिकारक है। आधुनिक लोक कल्याणकारी राष्ट्र (Welfare State) को सभी नागरिकों की हित भावना से व्यक्तियों की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करना चाहिये। इसे सब के आत्म-विकास और सुख की अभिवृद्धि करनी चाहिये। उग्रव्यक्तिवाद सामा-जिक हित के विरुद्ध है।

हॉब्स, लॉक और रूसों का मत है कि राष्ट्र का जन्म व्यक्तियों द्वारा की गई संविदा का परिणाम है। सामाजिक संविदा सिद्धान्त में यह भावना निहित है कि राष्ट्र स्वतन्त्र व्यक्तियों का एक यन्त्रवत् समूह है जो कि अपने जीवन और सम्पत्ति के उत्पादन के लिये अपने को संगठित करते हैं। वे राष्ट्र का निर्माण करते हैं तथा संशोधन भी कर सकते हैं। यह सिद्धान्त राष्ट्र को एक मानवीय रचना ठहराता है तथा उसके प्राकृतिक स्वरूप की उपेक्षा करता है। वास्तव में राष्ट्र का विकास मनुष्य की सामाजिकता की प्रकृति में से होता है। राष्ट्र के साथ मनुष्य का सम्बन्ध वाह्य तथा यन्त्रवत् नहीं है। राष्ट्र व्यक्तियों का यन्त्रवत् समूह मात्र नहीं है वरन् वे एक सावयव समाज के सदस्य होते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वे राष्ट्र के स्वतन्त्र सदस्य होते हैं।

(३) **राष्ट्र एक सावयव प्राणी के रूप में** (The State as an Organism)—हर्बर्ट स्पेन्सर तथा लेस्ली स्केफेल का मत है कि राष्ट्र एक सावयव प्राणी है। यह

7. मैकेन्जी : आउटलाइन्स ऑफ सोशल फिलासफी, पृष्ठ १३३-३४, १४८-१५०।

अन्योन्याश्रित व्यक्तियों की एक सावयव इकाई है। यह ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार कि एक सजीव शरीर अन्योन्याश्रित कोषों की एक सजीव इकाई है। राष्ट्र एक ऐसा सावयव शरीर है जिसके कोष व्यक्ति हैं। वे राष्ट्र के जीवन में ठीक उसी प्रकार योग देते हैं जिस प्रकार विभिन्न कोष शरीर के जीवन में योग देते हैं। जिस प्रकार प्राणी-शरीर के भीतर विभिन्न कृत्यों की पूर्ति के लिए विविध अंग होते हैं, उसी प्रकार राष्ट्र के भीतर भी विविध कार्यों की पूर्ति के लिये विभिन्न अंग होते हैं। राष्ट्र की उत्पादन व्यवस्था शरीर की पाचन-व्यवस्था के समान है, यातायात व्यवस्था रक्त-संचार व्यवस्था के तुल्य तथा केन्द्रीय कार्यपालिका मस्तिष्क के समान है जो कि शरीर पर नियन्त्रण रखता है। इस प्रकार राष्ट्र तथा सजीव शरीर के मध्य पूर्ण समानता पाई जाती है। अत: राष्ट्र एक सावयव संगठन है।

यह सिद्धान्त उपयुक्त नहीं है। सर्वप्रथम, यद्यपि व्यक्ति सामाजिक इकाई के अन्योन्याश्रित सदस्य होते हैं, तथापि वे चेतना के स्वतन्त्र केन्द्र हैं जिनमें अपना निजी जीवन होता है। वे समाज अथवा राष्ट्र का जीवन नहीं होते, परन्तु सजीव-शरीर के कोष उसके जीवन में व्याप्त होते हैं, उनका अपना निजी जीवन नहीं होता। व्यक्ति स्वतन्त्र आत्म-चेतन आत्मा होते हैं जो कि अपने कार्यों का निश्चय तथा अपने उद्देश्यों का अनुसरण करते हैं। वे स्वतन्त्र तथा आत्म निर्णय-प्रधान होते हैं। दूसरे, शरीर वातावरण से भोजन लेकर भीतर से ही विकसित होता है। परन्तु राष्ट्र इस प्रकार भीतर से विकसित नहीं होता। व्यक्तियों की चेतनायुक्त इच्छा तथा प्रयास राष्ट्र में परिवर्तन करते हैं। तीसरे, राष्ट्र में अनिवार्यत: विकास, ह्रास तथा मृत्यु का क्रम नहीं चलता, परन्तु प्राणी-शरीर में आवश्यक रूप से यह क्रम चलता है। अत: यद्यपि राष्ट्र कुछ बातों में उससे मिलता-जुलता है तथापि वह एक सावयव प्राणी नहीं है।

(४) **राष्ट्र एक व्यक्ति के रूप में** (The State as a Personality)—ब्लुंश्ली ने राष्ट्र को एक व्यक्ति माना है। उसने कहा है—"राज्य एक निश्चित भूक्षेत्र पर शासन और शासित रूप से मनुष्यों का एक संगठन अथवा समुदाय है, जो कि परस्पर एक नैतिक रूप से संगठित पुरुषवाचक व्यक्तित्व के रूप में संगठित हुआ है।"[8]

जर्मन भाषा में राष्ट्र पुरुषवाचक तथा चर्चा स्त्रीवाचक हैं। राज्य स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों का विषय अधिक है तथा पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का। राष्ट्र अपने शासन के संचालन के लिये जिस शारीरिक बल पर निर्भर रहता है वह इस स्त्री की अपेक्षा पुरुष के समान अधिक सिद्ध करता है। परन्तु राज्य को एक पुरुषवाचक व्यक्तित्व मानना अविवेकपूर्ण एवं स्वेच्छाचारिता है।

हेगेल ने राष्ट्र को आत्म-चेतना की एकता से सम्पन्न सजीव व्यक्ति माना है। इसका व्यक्तित्व इसके व्यक्तिगत सदस्यों के व्यक्तित्व से परे और उच्च होता

8. दी थ्योरी आफ दी स्टेट—पुस्तक १, अध्याय १, पृष्ठ ६७।

है। इसकी अपनी एक संकल्प-शक्ति तथा चेतना होती है जो कि इसके सदस्यों की इच्छा-शक्ति और चेतना से भिन्न होती है। इसका उद्देश्य इनके उद्देश्यों से भिन्न है। इसे उन पर अपनी इच्छा लादने तथा उनकी इच्छाओं व क्रियाओं को नियन्त्रित व नियमित करने का अधिकार है।

राष्ट्र में कुछ विशेषतायें व्यक्ति जैसी होती हैं। राज्य व्यक्ति के समान निर्णय कर सकता है तथा उन्हें लागू भी कर सकता है जिसके लिये यह उत्तरदायी होता है। परन्तु वास्तव में वे निर्णय तथा कार्य राष्ट्र की ओर से कुछ अधिकारियों द्वारा किये जाते हैं। राष्ट्र वे निर्णय या कार्य स्वयं नहीं करता। राष्ट्रों को एक व्यक्तित्व प्रदान करना उचित नहीं होगा। इसे पृथक् व्यक्तित्व तथा इच्छा तथा सदस्यों के कार्यों पर नियन्त्रण करने की अबाध सत्ता के अधिकारों से युक्त मानना खतरनाक है। इसका परिणाम राष्ट्र की निरंकुशता, स्वेच्छाचारिता एवं अधिनायकवाद होता है। इसका स्वाभाविक परिणाम व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अपहरण होता है। यह व्यक्तिगत उपक्रमण-शक्ति तथा स्वतन्त्रता को नष्ट करके सभ्यता की जड़ें काटता है।

(५) **राष्ट्र एक अतिमानव के रूप में** (The State as super-personal)—हेगेल राज्य को ब्रह्म अथवा परमेश्वर की परोक्ष अभिव्यक्ति मानता है। हेगेल के शब्दों में, "राष्ट्र का अस्तित्व संसार में ईश्वर का प्रवास है। यह धरती पर अबाध सत्ता है; वह स्वयं ही अपना उद्देश्य (हेतु) तथा लक्ष्य है।" राष्ट्र अतिमानवी है।

राष्ट्र को उसके सदस्यों के व्यक्तित्व से परे एवं उच्च अति मानव मानना व्यक्तियों की स्वतन्त्रता के विरुद्ध है। राज्य को दैवी मानने का अर्थ उसकी अबाध एवं सर्वोच्च व सम्पूर्ण सत्ता को स्वीकार करना है। वह व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को नष्ट कर देता है तथा अपने विरुद्ध-विद्रोह करने अथवा अपने राष्ट्र की आलोचना करने के उनके अधिकार का निषेध करता है। इसका स्वाभाविक निष्कर्ष है—राष्ट्र की निरंकुशता, स्वेच्छाचारिता तथा अधिनायकवाद। राष्ट्र कोई पृथक् व्यक्तित्व (वास्तव में) नहीं होता। इसकी अपनी संकल्प शक्ति तथा चेतना भी नहीं होती। इसका अस्तित्व व्यक्तियों के हित के लिये होता है। यह उनके हितों की पूर्ति का एक साधन अथवा यन्त्र है। यह उनके नैतिक कल्याण में अभिवृद्धि करता है तथा उनके मानसिक, नैतिक तथा सौन्दर्य-विषयक विकास में योग देता है। यह उनके आत्म-लाभ का अनिवार्य साधन है। साधनों को उद्देश्य के रूप में परिवर्तित करना नैतिकता के लिए घातक होता है, अत: राष्ट्र को साध्य न मानकर साधन मानना ही अधिक उपयुक्त है।

(६) **राज्य एक नैतिक संस्था के रूप में** (The State as an Ethical Institution)—ग्रीन (T. H. Green) का मत है कि राष्ट्र अपने व्यक्तिगत सदस्यों के आत्म-लाभ के लिये आवश्यक है। वह मनुष्य की सामाजिक प्रकृति में निहित है। मनुष्य अपनी संकल्प शक्ति के प्रयोग में स्वतन्त्र होता है। उसे स्वतन्त्रता

प्राप्त होती है। स्वतन्त्रता में से ही अधिकारों का उदय होता है। उसके अधिकार राष्ट्र के अस्तित्व की मांग करते हैं। यह (राष्ट्र) उसकी स्वतन्त्रता के मार्ग से बाधायें दूर करता है तथा व्यक्ति को उसके व्यक्तित्व के विकास में सहायता देता है। राष्ट्र उसके आत्म-लाभ को प्रोत्साहित करता है तथा उसके आत्म-विकास का सर्वोच्च साधन है।

बोजान्के (Bosanquet) का मत है कि राष्ट्र एक नैतिक संस्था है। यह व्यक्ति को वास्तविक स्वतन्त्रता अथवा विवेकपूर्ण आत्म-नियन्त्रण की प्राप्ति में सहायता देता है। यह जनता की सामान्य इच्छा पर आधारित है सामान्य इच्छा व्यक्तिगत नागरिकों की तर्क सम्मत, विवेकपूर्ण इच्छाओं की व्यवस्था है। राष्ट्र की आज्ञाओं का पालन करते समय वे सामान्य इच्छा अथवा अपनी व्यवस्थित विवेकपूर्ण इच्छाओं का पालन करते हैं। राष्ट्र-भक्ति हमारी अपनी उच्चतर आत्मा के प्रति भक्ति है। हमारा आदर्श-स्वरूप आत्मा सामाजिक है। हम एक दूसरे के सदस्य हैं। हमारा कर्त्तव्यों-क्षेत्र सामाजिक इकाई के अन्तर्गत होता है। आदर्शवादी सिद्धान्त राष्ट्र की सावयव प्रकृति का समर्थक है। नव-हेगेलवादी, ग्रीन तथा बोजान्के उदार आदर्शवाद का समर्थन करते हैं। हेगेल उग्र आदर्श का समर्थन करता है। ग्रीव व बोजान्के के आदर्शवादी सिद्धान्त में पर्याप्त सत्य है।[9]

(७) समष्टिवाद (Totalitarianism)—

(१) जनतन्त्रात्मक उदारवाद व्यक्ति को साध्य एवं राष्ट्र को साधन मानता है परन्तु समष्टिवाद व्यक्ति को साधन एवं राष्ट्र को साध्य समझता है। उसकी दृष्टि से राष्ट्र स्वयं ही ध्येय है तथा यह निरकुश एवं सत्ता-सम्पन्न या सर्वशक्तिमान् है। व्यक्ति उसके कल्याण और उसकी महत्ता का साधन-मात्र है। "मनुष्य पूर्ण इकाई में और उसके द्वारा ही स्वतन्त्र हो सकता है। यह पूर्ण इकाई केवल सम्पूर्ण प्रभुतासम्पन्न राज्य ही है। समष्टिवाद वादविवाद तथा नियन्त्रण को सहन नहीं करता।" (मुसोलिनी)। राष्ट्र अपने कल्याण के लिए व्यक्ति समस्त कार्यों को नियन्त्रित एवं नियमित कर सकता है। इसमें व्यक्ति के सुख का प्रश्न नहीं उठता। यह उसकी नागरिक स्वतन्त्रता को कम कर सकता है। यह शिक्षा, कला, नैतिकता और धर्म को नियमित करता है। यह उसकी आर्थिक क्रियाओं पर भी नियन्त्रण करता है तथा व्यक्तिगत नागरिकों के सम्पूर्ण जीवन पर अपना अनुशासन लागू कर सकता है। यह सिद्धान्त एक दल, एक विचार तथा जीवन के एक ढाँचे में विश्वास करता है। यह सिद्धान्त भाषण अभिव्यक्ति, सम्मेलन तथा प्रकाशन की स्वतन्त्रताओं का निषेध करता है। इसके अनुसार राष्ट्र सिनेमा, रेडियो, प्रेस, विद्यालय, धार्मिक संस्थाओं तथा व्यक्तियों के आर्थिक जीवन पर नियन्त्रण करता है। समष्टिवाद एक सर्वोच्च तथा पूर्ण इच्छाशक्ति वाले अधिनायक के शासन में विश्वास करता है। अधिनायक अपने विश्वस्त विशेषज्ञों की सहायता से राष्ट्र का शासन चलाता है।

9. जे. पी. सूद : एलीमेंट्स ऑफ पॉलिटिकल साइन्स, अध्याय ८।

वह कड़ी दण्ड व्यवस्था द्वारा शासन करता है। इसके शासन के प्रमुख साधनों में शक्ति, आन्तरिक षड्यन्त्र तथा विरोधियों का दल है। समष्टिवादी राज्य विधान सभाओं में चर्चा तथा वादविवाद का कोई अवसर नहीं देता। इसके अनुसार कार्यपालिका सर्वोच्च है। उसकी आज्ञाओं का पालन अनिवार्यतः किया जाना चाहिये। समष्टिवाद पाशविक सेना-बल तथा निरंकुश शासन में विश्वास करता है।

(२) **फासीवाद** (Fascism)—फासीवाद समष्टिवाद एक रूप है। यह राष्ट्र की सावयव धारणा का समर्थन करता है। यह राष्ट्रको एक आध्यात्मिक एकता मानता है जो कि उसके व्यक्तिगत सदस्यों को बनाये रखती है। यह व्यक्तियों का एक झुण्ड मात्र नहीं है। यह एक पूर्ण इकाई है जो अपने सदस्यों के योग से भी कुछ अधिक है। व्यक्तियों का अस्तित्व राष्ट्र के ही लिये होता है। वे इसके उद्देश्य की प्राप्ति के साधन हैं।

फासीवाद व्यक्ति को राष्ट्र की बलिवेदी पर बलिदान कर देता है। यह व्यक्ति को स्वतन्त्रता नहीं देता वह आत्मा को एक यन्त्र की भाँति मानता है। यह राष्ट्रवाद को महत्व प्रदान करता है तथा राष्ट्रीय राज्य में विश्वास करता है। फासीवादी राष्ट्र में व्यक्तिगत सम्पत्ति होती है परन्तु राष्ट्र के लिये आवश्यकता पड़ने पर व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का बलिदान करने को विवश होता है। फासीवाद वर्ग संघर्ष (class war) में विश्वास न कर राष्ट्र-हित के लिये श्रम और पूँजीवाद दोनों के मध्य सहयोग उत्पन्न करता है। नात्सीवाद राष्ट्रीय समाजवाद का समर्थन करता है। फासीवाद तथा नात्सीवाद राष्ट्र के गौरव के लिये युद्ध की महत्ता के विषय में अतिशयोक्ति करते हैं।[10]

(३) **साम्यवाद** (Communism)—साम्यवाद मार्क्स और ऐन्जिल्स के विचारों पर आधारित है। उनका मत है कि राष्ट्र एक ऐसा संगठन है जिसमें पूँजीपतियों का शासन होता है। पूँजीपति श्रमिकों का शोषण करते हैं। यह एक ऐसा संयुक्त समुदाय नहीं है जिसमें सब वर्गों के लोग सामान्य हित की प्राप्ति के लिये परस्पर सहयोगपूर्वक कार्य करते हों। राष्ट्र एकवर्गीय संगठन है, जिसका आधार सत्ता, शक्ति और हिंसा है। यह सम्पत्तिशालियों का एक ऐसा संगठन है, जिसमें वे सम्पत्तिहीनों के श्रम पर अपना हित साधते हैं। साम्यवाद का उद्देश्य एक वर्ग-विहीन शासन की स्थापना करना है। जनतन्त्रवाद, उदारवाद (Liberalism) ने अपनी संस्थाओं का निर्माण व्यक्ति के अधिकारों तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति की पवित्रता पर किया है। साम्यवाद उनकी रचना श्रमिकों के सामूहिक अधिकारों पर कहता है। यह शक्ति तथा हिंसा द्वारा सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व (Dictatorship of the proletariat) स्थापित करना चाहता है। श्रमिकों को चाहिये कि वे शक्ति द्वारा राष्ट्र पर अधिकार जमा लें तथा पूँजीवाद वर्ग को सम्पत्ति-विहीन कर दें। राष्ट्र स्थायी नहीं है, यह एक अस्थायी संस्था है जिसे पूँजीपतियों ने अपने उद्देश्यों

10. एलीमेन्ट्स आफ पोलिटिकल साइंस, अध्याय १३।

की पूर्ति के लिये अब तक बनाये रखा है। जब श्रम और पूँजी के मध्य संघर्ष समाप्त हो जायेगा तथा वर्गहीन समाज (Classless Society) की स्थापना हो जायेगी तब राज्य भी समाप्त हो जायेगा। साम्यवाद का आदर्श वर्गविहीन व राज्यविहीन समाज है। नैराज्यवाद का आदर्श भी वही है; वह समस्त शासन को दमन-चक्र मानता है। साम्यवाद का दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय है। इसका उद्घोष "विश्व के श्रमिकों संगठित हो जाओ" है। यह शक्ति तथा हिंसा द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिकों का सहयोग साम्राज्य स्थापित करने के लिये समस्त संसार में सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व स्थापित करना चाहता है। साम्यवाद एक अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा है जबकि फासीवाद एक राष्ट्रीय विचारधारा है। साम्यवादी आदर्श "श्रम करो और खाओ" है। जो श्रम अथवा उत्पादन नहीं करता उसे खाना भी नहीं चाहिये। श्रम करना अधिकार एवं कर्त्तव्य दोनों है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करना चाहिये तथा उसे अपने कार्य के अनुसार वेतन मिलना चाहिये। साम्यवाद इतिहास की आर्थिक व्यवस्था के मार्क्सवादी सिद्धान्त पर आधारित है। राजनैतिक संस्थायें, विधि, कला, धर्म तथा दर्शन सभी कुछ आर्थिक शक्तियों द्वारा निर्धारित होते हैं। वे पूर्णतया समाज में प्रचलित उत्पादन तथा वितरण की व्यवस्था द्वारा निर्धारित होते हैं। यह साम्यवाद इतिहास की आर्थिक व्यवस्था (Economic interpretation of history) है। साम्यवाद अनीश्वरवादी अथवा नास्तिक है। यह धर्म को जनता के मस्तिष्क को भुलाने का एक साधन मानता है। रूस का साम्यवादी राज्य सर्वस्वायत्तवादी (Totalitarian) है।[11]

(८) समष्टिवाद की आलोचना (Criticism of Totalitarianism)—

समष्टिवाद व्यक्ति को राष्ट्र की वेदी पर बलिदान कर देता है तथा उसे अपने हितों की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने का अधिकार एवं उसकी स्वतन्त्रता नहीं देता। यह राष्ट्र को एक स्वयं-साध्य मानता है। इसे उसकी निरंकुशता तथा सम्पूर्ण शक्तिमत्ता में विश्वास है। राष्ट्र के दो प्रधान गुण अथवा मूल्य-राजनैतिक सत्ता एवं सैनिक प्रतिष्ठा हैं। यह नागरिकों को इन मूल्यों की प्राप्ति के लिये बाध्य करता है। परन्तु वास्तव में व्यक्ति का श्रेष्ठ जीवन ही राष्ट्र का उद्देश्य है। यह व्यक्ति के सत्यं, शिवं, सुन्दरं तथा आनन्द की प्राप्ति का साधन है। राज्य को दैवी-स्वरूप प्रदान करना मूल्यों को विकृत करना है।[12] केवल व्यक्ति ही चेतना व इच्छा-शक्ति के स्वतन्त्र केन्द्र होते हैं। वे बुद्धिमान तथा नैतिक प्राणी होते हैं। वे ही नैतिक मूल्यों का अनुसरण कर सकते हैं। राष्ट्र में जीवन, चेतना और इच्छा-शक्ति का सर्वथा अभाव है। इसका कोई व्यक्तित्व नहीं होता। व्यक्तिगत नागरिकों के हितों व कल्याण के अतिरिक्त उसके कोई पृथक हित या उद्देश्य नहीं होते। राष्ट्र का मूल्य उसके व्यक्तिगत सदस्यों के नैतिक मूल्य पर निर्भर है। अच्छे राष्ट्र में समस्त अथवा

11. एलीमेंट्स ऑफ पॉलिटिकल साइन्स, अध्याय १४।
12. जोड़ : फिलॉसफी फॉर आवर टाइम्स, पृष्ठ ३१५।

अधिकांश नागरिक सद्-जीवन व्यतीत करते हैं बुरे राष्ट्र में समस्त अथवा अधिकांश नागरिक असद्-जीवन बिताते हैं। मस्तिष्क ही मूल्यों का अनुसरण तथा उनकी पहचान कर सका है। राष्ट्र का कोई मस्तिष्क नहीं होता अतः यह मूल्यों की पहचान और उनका अनुसरण नहीं कर सकता। यह किसी मूल्य का प्रतीक नहीं हो सकता। नैतिक उपक्रमण की शक्ति का स्वतन्त्रता केवल व्यक्तियों में ही हो सकती है। उनकी स्वतन्त्रता का अपहरण राष्ट्र द्वारा नहीं किया जाना चाहिये।[1]

(९) जनतन्त्र (Democracy)—

समष्टिवाद की अपेक्षा जनतन्त्र अधिक उत्तम सामाजिक तथा राजनैतिक आदर्श है। इसका अर्थ लोक-प्रिय अथवा बहुमत-शासन है। राष्ट्रपति लिंकन ने जनतन्त्र की परिभाषा इस प्रकार की है—'जनता का जनता द्वारा तथा जन-हिताय शासन।' सभी सत्-शासन जनता का और जन-हिताय होता है। परन्तु जनतन्त्र की विशेषता यह है कि वह जनता अथवा बहुमत द्वारा शासन होता है। आधुनिक जनतन्त्र प्रतिनिधिमूलक शासन है। प्रतिनिधिमूलक शासन का अर्थ है समस्त जाति के हितों की पूर्ति के लिये जनता के प्रतिनिधियों का शासन। जनता पर बहुसंख्यक दल के शासन को संसदात्मक (Parliamentary) प्रणाली कहते हैं। इसमें कार्यपालिका (Executive) विधायिका (Legislative) के प्रति उत्तरदायी होती है। जनतन्त्र उत्तरदायी शासन होता है। जनता के प्रतिनिधि विधि निर्माण करते हैं तथा समस्त जनता उनका पालन करती है। वे अपने श्रेष्ठतम प्रतिनिधियों द्वारा बनाई गई विधियों का पालन करते हैं। जनतन्त्र में स्वेच्छाचारिता, दमन और अत्याचार नहीं होता। विधि की दृष्टि में सभी नागरिकों का पद समान होता है। सभी व्यक्तियों को आत्म-विकास के लिए समान अवसर प्राप्त होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। व्यक्ति की सर्वोच्चता ही जनतन्त्र का आधार है। राष्ट्र अपने व्यक्तिगत नागरिकों के श्रेष्ठ और सद्जीवन का एक साधन माना जाता है। जनतन्त्र में नागरिकों को भाषण, सम्मेलन तथा प्रकाशन की स्वतन्त्रता प्राप्त है। यह राष्ट्र के हस्तक्षेप को अल्पतम कर सकता है। जनतन्त्र व्यक्ति को उस सीमा तक स्वतन्त्रता प्रदान करता है जिस सीमा तक राष्ट्र की सुरक्षा के बाधा न पड़ती हो। यह राष्ट्र के उद्देश्यों की पूर्ति के लिये व्यक्ति के जीवन के सैन्यीकरण के विरुद्ध है।

जनतन्त्र की सफलता के लिये एक उच्च भावनापूर्ण नागरिकता, पर्याप्त मात्रा में राजनीतिक बुद्धिमता, ईमानदारी का उच्च स्तर, राष्ट्रीय एकता तथा भक्ति की प्रबल भावना, व्यापक शिक्षा तथा जनता में सम्पत्ति की गम्भीर असमानता का अभाव अत्यन्त आवश्यक है।[14]

जनतन्त्र, राजनीतिक स्वतन्त्रता समानता पर बहुत जोर देता है। परन्तु

13. पूर्व पुस्तक, पृष्ठ ३२१-३२२।
14. एलीमेंटस ऑफ पॉलिटिकल साइन्स, अध्याय १२।

यह आर्थिक सुख और समानता से उसकी पूर्ति नहीं करता। राजनीतिक स्वतन्त्रता आर्थिक स्वतन्त्रता की साधक है। जनतन्त्र को व्यक्तियों के अधिकतम राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक तथा अध्यात्मिक हितों का सम्पादन करने का प्रयत्न करना चाहिए। जनतन्त्र, राज्य के निरंकुशवाद अथवा सर्वस्वायत्तवाद की अपेक्षा कहीं अधिक उच्च सामाजिक सिद्धान्त है।

(१०) व्यक्तिवाद (Individualism)—

व्यक्तिवाद के अनुसार व्यक्ति उद्देश्य है। व्यक्ति का विकास करना राष्ट्र का लक्ष्य है। व्यक्ति का अधिकतम हित प्राप्त करने का सबसे अच्छा साधन यही है कि राष्ट्रीय हस्तक्षेप बचाकर उसे अधिक से अधिक स्वाधीनता दी जाये। इसका प्रमुख कर्त्तव्य व्यत्ति की स्वतन्त्रता और उसके द्वारा अधिकारों के उपभोग के मार्ग से बाधाओं को हटाना तथा उनके अपहरण पर दण्ड की व्यवस्था करना है। राष्ट्र का प्रधान कर्त्तव्य शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना करना है। इसका कार्य विधानात्मक (Positive) होने की अपेक्षा निषेधात्मक (Negative) अधिक है। यह व्यक्तियों के शक्ति और जीवन की रक्षा का साधन है। यह व्यक्ति के सद्-जीवन तथा सुख की उन्नति का साधन नहीं है। व्यक्तिवाद, राज्य के पुलिस कार्यों में ही विश्वास करता है। यह व्यक्ति के सुख के लिए उस पर राष्ट्र-नियन्त्रण की अपेक्षा आत्म-नियन्त्रण का समर्थन करता है। यह आर्थिक क्षेत्र में अबाध कार्य करने के सिद्धान्त (laissez faire) में विश्वास करता है। इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति को मनचाहे कार्य करने दो। यह व्यक्ति की स्वतन्त्रता के उपक्रमण की शक्ति तथा उसके साहस को अत्यधिक महत्व देता है। यह व्यक्तिगत साहस में सामाजिक हित की दृष्टि से राष्ट्र के हस्तक्षेप की महत्ता को न्यूनतम कर देता है।

व्यक्तिवाद एकपक्षीय सिद्धान्त है। यह उस सीमा तक तो ठीक है जहाँ तक यह व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं उसकी उपक्रमण शक्ति को स्वीकार करता है। परन्तु इसकी यह धारणा गलत है कि मनुष्य स्वभाव से ही स्वार्थी है तथा वह प्रतियोगिता द्वारा ही उन्नति कर सकता है। वस्तुतः मनुष्य का स्वभाव स्वार्थी तथा परार्थी दोनों प्रकार का है। मनुष्य सहयोग तथा पारस्परिक सहायता द्वारा कार्य करता है। उसकी प्रकृति मूलतः सामाजिक है। समाज असम्बद्ध व्यक्तियों का झुण्ड मात्र नहीं है वरन् अन्योन्याश्रित व्यक्तियों का एक सावयव संगठन है। यह मनुष्य की सामाजिक प्रकृति में सामान्य हित की आध्यात्मिक एकता है। अपंग, निर्बल, असमर्थ तथा निर्धन व्यक्ति सबल, धनी तथा साधन-सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा शोषण के विरुद्ध अपनी रक्षा नहीं कर सकते। उनके हितों के संरक्षण के लिये राष्ट्र की सत्ता की आवश्यकता है। एय आधुनिक लोक-कल्याणकारी राज्य (Welfare State) का उद्देश्य समस्त नागरिकों के सद्-जीवन एवं सुख की अभिवृद्धि का प्रयास करना है। इसका कार्य विधानात्मक है। व्यक्तिवाद अपने उग्र-स्वरूप में निरुपयोगी हो चुका है।

१८वीं, १९वीं शताब्दी में इसका प्रतिपादन उदारवादियों ने किया था। व्यक्तिवाद का समर्थन समष्टिवाद तथा समाजवाद ने भी किया है।[15]

(११) नैराज्यवाद (Anarchism)—

अराजकतावाद व्यक्तिवाद का उग्र स्वरूप है। इसका आदर्श राष्ट्रविहीन तथा वर्ग-विहीन समाज है। इसके अनुसार समस्त शासन दमन पर आधारित है तथा राज्य संगठित हिंसा के अतिरिक्त कुछ नहीं। व्यक्तिगत सम्पत्ति समाप्त की जानी चाहिये। उत्पादन के समस्त साधन जाति के पास होने चाहियें, राष्ट्र के स्थान पर एक सहयोगी समाज की स्थापना की जानी चाहिये जिसमें प्रतियोगिता का स्थान सहयोग ले लेगा। नैराज्यवाद मनुष्य की स्वाभाविक श्रेष्ठता तथा सामाजिक प्रकृति में विश्वास करता है। नैराज्यवाद समाज में शोषण, हिंसा और पाशविक शक्ति के लिए कोई स्थान नहीं। उसमें दमन, विधि और शासन का अभाव रहेगा परन्तु फिर भी उसमें व्यवस्था, सामञ्जस्य सहयोग, प्रेम और सेवा प्रचुर मात्रा में रहेंगे। उसमें विभिन्न वृत्तिक समूह के अनेक सहयोगी समुदाय होंगे।

साम्यवाद का उद्देश्य भी नैराज्यवाद ही है। इसका उद्देश्य भी राष्ट्र विहीन एवं वर्ग-विहीन समाज की स्थापना करना है। सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतत्व तो एक संक्रातिकालीन योजना है। साम्यवाद इस सामाजिक आदर्श की प्राप्ति हिंसा एवं शक्ति द्वारा करना चाहता है। महात्मा गांधी भी नैराज्यवाद में विश्वास रखते हैं। उनका उद्देश्य भी श्रेष्ठ व्यक्तियों का राष्ट्र-विहीन और वर्ग-विहीन समाज है जो स्वयं अपने ऊपर शासन करें। परन्तु वह अपने सामाजिक आदर्श को अहिंसा के द्वारा प्राप्त करना चाहते हैं। महात्मा गाँधी के अनुसार यह आवश्यक नहीं है कि नैराज्यवाद और हिंसा साथ-साथ चलें। नैराज्यवाद की स्थापना के लिए हिंसा आवश्यक नहीं।[16]

नैराज्यवाद अव्यावहारिक और कल्पनात्मक है। यह मानवीय जीवन को आवश्यकता से अधिक सरल व श्रेष्ठ मानता है। वास्तव में मनुष्य की प्रकृति पूर्णतया सत् न होकर सत् और असत् का सम्मिश्रण है। वह स्वार्थी तथा परोपकारी, प्रतियोगी तथा सहयोगी, आक्रमणशील तथा सन्धिपरायण दोनों प्रकार की है।

मनुष्य का असत् तथा असामाजिक प्रकृति का दमन शासकीय सत्ता द्वारा होना चाहिये। राष्ट्र शान्ति एवं व्यवस्था की स्थापना अपनी भौतिक शक्ति द्वारा ही कर सकता है। मानवीय समाज के लिये राष्ट्र अपरिहार्य है। इसे कभी भी नहीं हटाया जा सकता। शासन का स्वरूप बदल सकता है परन्तु राष्ट्र की सत्ता सदैव रहेगी। यह स्थायी है। राष्ट्र-विहीन समाज की स्थापना हिंसा द्वारा ही सम्भव है, अहिंसा से नहीं। परन्तु साम्यवाद तथा गाँधीवाद दोनो अव्यावहारिक हैं। रूसी साम्यवाद ने एक सर्वस्वायत्तवादी अकुश की स्थापना की है जो कि जनता पर अपनी

---

15. एलीमेंटस ऑफ पोलिटिकल साइन्स, पृष्ठ ३३२—३४७।
16. पूर्व पुस्तक, ९१—३९९।

आज्ञाओं को कठोरता के साथ लागू करता है तथा जिसने अपने नागरिकों के जीवन का पूर्ण सैन्यीकरण कर लिया है। यह अपने नागरिकों को विचार, अभिव्यक्ति तथा आर्थिक स्वतन्त्रता के लिये समुदाय बनाने की स्वातन्त्रतायें नहीं देता। यह उन्हें स्वतन्त्रता का निषेध करके स्वतन्त्र करना चाहता है। समष्टिवाद, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का निषेध है। ऐसा निरंकुश राष्ट्र अपने को कैसे समाप्त कर सकता है तथा राज्य-विहीन समाज की स्थापना किस प्रकार हो सकती है? क्या सैनिक शक्ति से सम्पन्न सोवियत राष्ट्र ने सहयोगी समाज के निर्माण के लिये कोई प्रयत्न किया है? सैनिक अधिनायकवाद असैनिक सहयोग की स्थापना नहीं कर सकता।

अहिंसात्मक गाँधीवाद नैराज्यवाद अधिक व्यावहारिक है, क्योंकि गाँधी जी राजनीतिक व आर्थिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण पर जोर देते हैं। उनकी नवीन व्यवस्था के आधार इस प्रकार हैं—राजनीतिक व आर्थिक विकेन्द्रीकरण, निःशस्त्रीकरण तथा मनुष्य का नैतिक पुनर्जागरण। परन्तु प्रेम द्वारा घृणा और क्रोध को जीतना, हिंसा के स्थान पर अहिंसा का प्रयोग, अनावश्यक वस्तुओं का ऐच्छिक त्याग, असंग्रह, अलोभ, आत्म-पवित्रता, मनुष्य-मात्र के लिये प्रेम व सदिच्छा अर्थात् मनुष्य की प्रकृति का पूर्ण परिवर्तन तथा निम्नतर वासनाओं का पूर्ण दैवीकरण दुष्कर कार्य हैं। मनुष्य में भ्रातृत्व की स्थापना परिशोधित मानवीय प्रकृति की कल्पना के आधार पर नहीं की जा सकती। यह एक महान् आदर्श, एक दिव्य-स्वप्न है तथा एक भव्य कल्पना है जो कि एक नई व्यवस्था के हेतु प्रयत्न करने के लिये श्रेष्ठ मनुष्यों को सदा प्रेरित करेगी। परन्तु इस आदर्श की प्राप्ति दुर्लभ है। परन्तु यदि मानवीय प्रकृति यथावत् रही तो इसकी प्राप्ति दुर्लभ ही है। परन्तु मनुष्य समाज के दुःखों का निराकरण निश्चयतः इस दिशा में चलने से ही हो सकता है। यथार्थ जनतन्त्र अहिंसात्मक गाँधीवाद से श्रेयः है।

(१२) समष्टिवाद, समाजवाद और साम्यवाद

(Collectivism, Socialism and Communism)—

व्यक्तिवाद ने समाज को व्यक्तियों का यन्त्रवत् झुण्ड माना है जिनके मध्य कोई आन्तरिक सम्बन्धों का बन्धन नहीं होता। इसके विपरीत, समाजवाद अथवा समष्टिवाद समाज को एक अन्योन्याश्रित व्यक्तियों का एक सावयव संगठन मानते हैं जिनके मध्य आन्तरिक बन्धन का सम्बन्ध होता है। व्यक्तिवाद मनुष्य की स्वार्थ-परायण और प्रतियोगी प्रकृति पर जोर देता है जबकि समाजवाद परार्थ-प्रवृत्ति तथा सहयोगी प्रवृत्ति पर जोर देता है। व्यक्तिवाद व्यक्ति के अधिकतम लाभ के लिये उसकी स्वतन्त्रता पर जोर देता है तथा राष्ट्र-हस्तक्षेप को अल्पतम कर देता है। समाजवाद, सामाजिक हित अथवा समूचे समाज के अधिकतम हित पर बल देता है तथा राष्ट्र को व्यक्ति की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करने की व्यापक शक्तियाँ प्रदान करता है। व्यक्तिवाद राष्ट्र-नियन्त्रण को अल्पतम कर देना चाहता है जबकि समाज-वाद राष्ट्र नियन्त्रण को अधिकतम कर देना चाहता है। परन्तु वे दोनों व्यक्तियों के

अधिकतम हित अथवा सामान्य-हित को अपना उद्देश्य मानते हैं। उनके लक्ष्य में कोई भेद नहीं है केवल उनके साधन ही भिन्न हैं। व्यवितवाद, निजी-सम्पत्ति तथा भूमि व पूँजी के व्यक्तिगत स्वामित्व में विश्वास रखता है परन्तु समाजवाद इसके विपरीत, समस्त सम्पत्ति, भूमि व पूँजी के राज्य-स्वामित्व में विश्वास करता है। इसके अनुसार समस्त सम्पत्ति का स्वामित्व जाति में निहित है। उन पर सबका समान स्वामित्व होना चाहिये तथा उसका उपभोग सबके द्वारा होना चाहिये। उत्पादन के समस्त साधनों पर राष्ट्र का स्वामित्व एव नियन्त्रण होना चाहिये तथा राष्ट्र का यह कर्त्तव्य है कि वह व्यक्तिगत नागरिकों के मध्य वस्तुओं का समान वितरण करे। व्यक्तिवाद व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के प्रत्यय पर बल देता है, समाजवाद समानता और बन्धुत्व पर। व्यक्तिवाद मनुष्य के लाभ-प्रेरक (Profit Motive) पर बल देता है, समाजवाद सेवा-प्रेरक (Service Motive) पर। व्यक्तिवाद का लक्ष्य एक अर्जनकारी एवं प्रतियोगी समाज की स्थापना है, इसके विपरीत समाजवाद का लक्ष्य शोषण से मुक्त तथा पारस्परिक सहायता व बन्धुत्व के एक सहयोगी समाज की रचना है।

समाजवाद जनतन्त्र में निष्ठा रखता है। यह क्रमिक-विकास में विश्वास करता है। यह वर्ग-हीन समाज की रचना संवैधानिक साधनों द्वारा करना चाहता है। यह समाज के भीतर वांछित परिवर्तन लाने के लिये विधायिका; राजनीतिक शिक्षण एवं नैतिक-मत परिवर्तन का आश्रय लेता है। इसकी आस्था विकास के सिद्धान्त में है क्रान्ति के सिद्धान्त में नहीं। यह सम्पत्ति की गम्भीर असमानताओं को समाप्त कर देना चाहता है। परन्तु यह आय की असमानता को समाप्त नहीं करता। इसका सिद्धान्त यह है—"प्रत्येक व्यक्ति से उसकी शक्ति अनुसार (कार्य लिया जाये) तथा प्रत्येक व्यक्ति को उसके कार्य के अनुसार वेतन दिया जाये।' यह व्यक्तिगत सम्पत्ति का सम्पूर्ण निषेष रहीं करता। समाजवादी समाज के भीतर कोई व्यक्ति मकान बनवा सकता है, मोटर-कार तथा बैंक-कोष रख सकता है। परन्तु वह अपनी सम्पत्ति को अपनी सन्तान के लिये नहीं छोड़ सकता। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत सम्पत्ति की एक निश्चित सीमा भी होती है। समाजवाद का उद्देश्य सम्पत्ति का सम-वितरण है।

साम्यवाद का लक्ष्य भी वर्गहीन समाज की स्थापना है। परन्तु यह उसकी स्थापना क्रान्ति, शक्ति, आतंक एवं युद्ध द्वारा करना चाहता है। यह सामाजिक क्राति में विश्वास करता है; विकास और संवैधानिक साधनों में नहीं। साम्यवाद एक ही छलांग में प्राप्त होने वाला समाजवाद है। वह सम्पत्तिवान् वर्ग की सम्पत्ति का अपहरण उन्हें नष्ट करके करना चाहता है। साम्यवाद की नीति अपने विरोधियों का नाश करने की है। इसके लिये यह निर्दयतापूर्वक दमन की नीति अपनाना चाहता है। समाजवाद का उद्देश्य राज्य-विहीन समाज नहीं है। राज्य-समाजवाद राष्ट्र की केन्द्रीय सत्ता को आवश्यक मानता है जो कि समस्त भूमि व पूंजी पर

स्वामित्व व नियन्त्रण रखे, उसका प्रशासन करे तथा व्यक्तियों के मध्य वस्तुओं का समान वितरण करे। यद्यपि साम्यवाद का उद्देश्य राष्ट्र-विहीन अथवा अराजकता के समाज की स्थापना करना है तथापि व्यावहारिक रूप में इसने राष्ट्र के भीतर समूची सत्ता व शक्ति को केन्द्रित कर दिया है तथा उसे आसुरी-सैन्यशक्ति की सहायता द्वारा स्वेच्छाचारी तथा अत्याचारी बना दिया है।

समाजवादी आदर्श यह है—"प्रत्येक व्यक्ति से उसकी शक्ति के अनुसार तथा उसे उसके कार्य के अनुसार।" साम्यवादी इसके विपरीत है—"प्रत्येक से उसकी योग्यता के अनुसार तथा उसे उसकी आवश्यकताओं के अनुसार।" परन्तु सोवियत साम्यवाद ने समाजवादी आदर्श अपनाया है।

समाजवाद व साम्यवाद दोनों को समष्टिवादी विचार कहा जा सकता है क्योंकि दोनों ही राष्ट्र को अन्योन्याश्रित व्यक्तियों की सहयोगपूर्ण एकता के रूप में देखते हैं। समष्टिवाद भूमि व पूंजी के सामूहिक स्वामित्व का सिद्धान्त है। केन्द्रीय-जनतन्त्रात्मक राष्ट्र को चाहिये कि कृषकों के मध्य समानता के आधार पर भूमि का वितरण करे तथा समस्त उद्योगों का प्रबन्ध समूची जाति की ओर से करे। उद्योगों का समाजीकरण धीरे-धीरे शिक्षणात्मक एवं संवैधानिक साधनों द्वारा वर्तमान राष्ट्र की सहायता से होना चाहिये। समष्टिवाद क्रमिक विकास में विश्वास करता है न कि अचानक क्रान्ति में। यह निर्वाचकगण की शिक्षा और प्रचार द्वारा लोकमत में परिवर्तन करके भूमि व उद्योगों का समूहीकरण करना चाहता है। यह इस सामाजिक आदर्श को प्राप्ति ससद् द्वारा करने के पक्ष में है।

समष्टिवाद के विरुद्ध प्रधान आक्षेप यह है कि यह व्यक्तिगत स्वामित्व के स्थान पर सामूहिक स्वामित्व की स्थापना करके व्यक्ति की कार्य प्रेरणा को नष्ट कर देता है। व्यक्तिगत लाभ में कार्य करने का एक प्रभावशाली प्रेरक निहित है। सेवा उतनी प्रबल प्रेरक नहीं है जितनी कि लाभ मनोवृत्ति। सामूहिक स्वामित्व में उत्पादन को हानि पहुँचती है। निस्सन्देह उद्योगों के शासकीय प्रबन्ध में, उतनी कुशलता व मितव्ययता सम्भव नहीं है जितनी कि अनुभवी विशेषज्ञों द्वारा व्यक्तिगत स्वामित्व के आधीन प्रबन्ध में। समष्टिवाद, प्रभुसत्ता व शक्ति को राज्य के हाथों में केन्द्रित कर देता है तथा उसे निरंकुश दमनकारी, स्वेच्छाचारी तथा सर्वसत्ता-सम्पन्न बना देता है। एक सर्वसत्तासम्पन्न राष्ट्र अवश्य ही व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अवसर को कुचल कर व्यक्ति को यन्त्र के तुल्य बना देगा। इससे व्यक्तिगत चरित्र का पतन होता है तथा सभ्यता का ह्रास होता है क्योंकि वह व्यक्तियों के विचार एवं कार्य करने की स्वतन्त्रता पर निर्भर है। दरिद्र देश में धन के सम-वितरण, दारिद्रय का समान वितरण होगा। गुणवान व्यक्तियों के गुणों की उपयुक्त मूल्य देना चाहिये, इससे समाज का कल्याण अधिकतर होगा। वर्तमान साम्यवादी राज्यों में तीव्र असन्तोष दिखाई देता है, जिनमें शासकों के कर्मों की युक्तिसंगत समीक्षा निषिद्ध है। यह जनमत के विरुद्ध है।

(१३) सर्वोदय—

महात्मा गाँधी के सर्वोदय का लक्ष्य एक वर्गहीन समाज की स्थापना है, यह वर्गहीन समाज अहिंसा तथा प्रेम पर आधारित होगा। धनी और पूँजीपति इच्छा-पूर्वक अपने उद्वत्त धन राष्ट्र को देंगे और राष्ट्र इसे दरिद्रों को देगा। हिंसा और रक्तपात पर प्रतिष्ठित वर्गहीन समाज स्थायी नहीं होगा। हिंसा से हिंसा उत्पन्न होगी। इसका अवश्यम्भावी परिणाम समाज-व्यवस्था का ध्वंस-अर्थनैतिक और राज-नीतिक शक्ति का केन्द्रीयकरण राष्ट्र को अत्याचारी, स्वेच्छाचारी, निर्दय करेगा, जो कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य तथा उपक्रम को कुचल देगा, संस्कृति, सभ्यता, शिक्षा-प्रगति का विनाश करेगा। व्यक्तियों के सर्व प्रकार के कर्मों को आयत्त करके उन्हें जड़ यन्त्रवत् करेगा। गाँधी राजनीतिक और अर्थनैतिक शक्ति का विकेन्द्रीयकरण चाहते हैं, रस्किन की भाँति, गाँधी जी श्रम को पूँजी मानते हैं। भविष्य समाज में सबके हित के लिये पूँजीपति और श्रमिक सहयोग करेंगे। वे पूँजीपति के विनाश और श्रमिकों के एकाधिनाकत्व के समर्थक नहीं हैं। वे चाहते हैं कि समाज के सब सदस्य समाज-सेवा-प्रेरक से प्रेरित हों, आत्मलाभ-प्रेरक से नहीं। नैतिक परिवर्तन तथा अहिंसा और प्रेम सर्वोदय समाज की आधारशिला होगी।

सर्वोदय (Sarvodaya) आदर्श नैतिक दृष्टि से निर्दोष है। परन्तु यह वर्तमान मनुष्य-चरित्र, नैतिक वातावरण और जगत् की परिस्थिति में व्यावहारिक प्रतीत नहीं होता। परिताप के विषय यह हैं, गाँधी जी के पूर्व अनुयायियों के जीवन, आचार-व्यवहार, रहन-सहन, शासन-व्यवस्था गाँधी जी के आदर्श के सम्पूर्ण विपरीत है। पूँजीपतियों के यन्त्र बनकर स्वयं विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं, और दरिद्रों का शोषण करते हैं। पूँजीपतियों की अपने उद्वत्त धन राष्ट्र को देने की सदिच्छा के विपरीत इच्छा ही तीव्र से तीव्रतर होती जाती है। अतः सर्वोदय-आदर्श अमूर्त आदर्श ही रहेगा। जनतन्त्र को शक्तिशाली करना ही मनुष्य-जाति की रक्षा करने का एकमात्र उपाय है। वर्तमान समाज में, जितना धन-वैषम्य है इसका ह्रास, प्रत्येक नागरिक की जीविका-अर्जन का उपाय, वास, शिक्षा, चिकित्सा का प्रबन्ध करना अत्यावश्यक है। प्रदत्त शक्तिशाली गणतन्त्र ही इसका प्रमुख साधन है। ●

(१) अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता (International Morality)—

मानव-जाति की नैतिक प्रगति के साथ धीरे-धीरे यह स्वीकार किया जाने लगा है कि समाज में रहने वाले व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों पर शासन करने वाले नैतिक नियमों के द्वारा ही राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों का भी शासन होना चाहिये। विविध राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में भी उन्हीं नैतिक नियमों को लागू होना चाहिए। अन्य शब्दों में, अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता को उत्तरोत्तर स्वीकार किया जा रहा है।

आज विश्व भौतिक-दृष्टि से एक है। संसार के विविध देश और राष्ट्र एक-दूसरे के अत्यधिक समीप आ गये हैं। रेल, जलयान, रेडियो, टेलीविजन इत्यादि दिक्काल (space and time) का विध्वंस कर चुके हैं और ससार को एक बना चुके हैं। एक देश की आर्थिक समृद्धि अथवा आर्थिक अवनति की अन्य सब देशों में प्रतिक्रिया होती है। स्टुअर्ट ने कहा है, "आज सभ्य राष्ट्र इतने अधिक परस्पराश्रित हो गये हैं कि एक राष्ट्र का संकट सभी अन्य राष्ट्रों के संकट का कारण बन जाता है और एक अन्यों के बिना संस्कृति के मार्ग पर अग्रसर नहीं हो सकता।"

(२) अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की हीनता के कारण (Causes of Low International Morality)—

किन्तु यद्यपि संसार क्रमशः छिप्र गति से एक बनता जा रहा है, तथापि अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता में शीघ्रता के साथ प्रगति नहीं हो रही है। यह अभी तक एक संदेहास्पद स्थिति में है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर जन्तु जगत् में लागू होने वाला प्राकृतिक चुनाव या योग्यतम की विजय (survival of the fittest) का जैविक नियम ही शासन कर रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की अविकसित स्थिति के लिये निम्नलिखित हेतु उत्तरदायी हैं—

परिवार सामाजिक धर्मों की शिक्षणशाला है। एक ही परिवार के सदस्य नैसर्गिक प्रेम के बन्धनों से परस्पर आकर्षित होते हैं। उनको सहानुभूति और प्रेम की उत्तेजना मिलती है, वे आत्मोत्सर्ग तथा स्वाभावों के पारस्परिक समायोजन की शिक्षा ग्रहण करते हैं। उनके नैतिक जीवन की आधारशिला का न्याय परिवार में होता है। किन्तु, अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के क्षेत्र में परिवार नहीं होता जो विश्व के अन्तःकरण का विकास कर सके।

व्यक्तियों में नैतिकता की वृद्धि करने वाली विविध अन्य संस्थायें भी हैं, यथा—शिक्षा-संस्थायें, उद्योगशाला, नागरिक समाज, धार्मिक संस्था और राज्य

आदि। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ऐसी कोई संस्थायें नहीं हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की वृद्धि में सहायक हों। यद्यपि राष्ट्र-संघ और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय नामक संस्थायें हैं, तथापि वे अपने आदेशों का पालन करवाने में अशक्त हैं।

राष्ट्र-संघ (League of Nations) के सभी राज्य सदस्य न थे। जापान, इटली और जकार्ता के समान शक्तिशाली राज्य उसके सदस्य नहीं थे। पुनः राष्ट्र-संघ में कुछ राज्यों की गुटबन्दी थी। यह स्वतन्त्र राज्यों का संघ नहीं था। राष्ट्र-संघ के पास यदि भौतिक शक्ति का अभाव न होता तब वह अपने दोषों के होते हुये भी यह अत्यधिक उपादेय कार्य कर सकता था। उसके पास कोई अन्तर्राष्ट्रीय स्थल सेना, जल-सेना और वायु सेना नहीं थी। उसकी आर्थिक शक्ति आक्रमणकारी राष्ट्रों के विरुद्ध असफल सिद्ध हुई। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् उसके स्थान पर सयुक्त-राष्ट्र संघ (United Nations) का निर्माण किया गया।

राष्ट्रवाद (Nationalism) ने मनुष्य ने जाति के मस्तिष्क को दूषित कर दिया है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में यह ग्रंथि बहुत से अमंगलों का कारण है। राष्ट्रवाद उस सीमा तक, जहां तक उसका मानवतावाद से विरोध नहीं होता, ठीक है। उसे विश्वशान्ति और मानव-जाति के भ्रातृभाव के लिये मार्ग परिष्कृत करना चाहिये। किन्तु राष्ट्रवाद एक रोग हो गया है जो मानवता के ऊपर असंख्य विपदाओं का कारण है और अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की अवनति करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के मार्ग में विकृत-राष्ट्रवाद के द्वारा सर्वाधिक तथा पूंजीवाद और सेनावाद पर आधारित साम्राज्यवाद रुकावट डालता है। वह शक्ति ही अधिकार है' के सिद्धान्त पर काम करता है और निर्बलों का शोषण, उनके ऊपर आधिपत्य स्थापित करता है और उनकी नैतिकता का पतन करता है। वह युद्ध को जीवित रखता है, विनाश के घातक अस्त्रों का निर्माण करता है तथा मानव जाति की सत्ता के लिये भयानक है।

अभी जन-मत संसार में इतना प्रबल नहीं है जो अमानुषिक आक्रमणात्मक कार्यों की निन्दा कर सके और आर्थिक बहिष्कार जैसी प्रभावशाली योजनाओं के द्वारा भविष्य में उनको असम्भव कर सके।

अज्ञान और निर्धनता में डूबे हुये निर्बल और पिछड़े हुये राष्ट्र भी परोक्षतः अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की अविकसित अवस्था के लिये उत्तरदायी हैं। वे स्वाभाविक रूप से शक्तिशाली राष्ट्रों को उनकी स्वार्थ-बुद्धि और आत्म-विस्तार के लिये आकर्षित करते हैं। उन्हें स्वराज्य की कला में किसी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के द्वारा शिक्षित किया जाना चाहिये तथा उनकी रक्षा होनी चाहिये।

जब तक स्वतन्त्र राष्ट्रों के किसी विश्व-संघ की स्थापना नहीं होती, तब तक एक अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की संशयात्मक अवस्था बनी रहेगी। कान्ट का यह कथन पूर्णतया सत्य था कि स्वतन्त्र राष्ट्र सघ की शाश्वत-शक्ति (Perpetual Power) है। ऐसे महाराज्य को अपने आदेशों का पालन करवाने के लिये, राष्ट्रों

के मध्य युद्ध रोकने के लिये और विश्व-शांति का आश्वासन देने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय स्थल सेना तथा नभ सेना रखनी चाहिये। सभी निर्बल और अविकसित देशों को विश्व-संघ के द्वारा अपने हितार्थ शासित होना चाहिये तथा उसकी सहायता से आत्म-विश्वास और स्वराज्य की अवस्था प्राप्त करनी चाहिये। विश्व की राजनैतिक शक्तियों की आधुनिक प्रवृत्ति विश्व-संघ की ओर निश्चय ही है।

(३) **विश्व राष्ट्र संघ** (World Federation)—

एक विश्व राष्ट्र संघ परमावश्यक है। इसमें सब स्वतन्त्र राष्ट्र सदस्य होंगे। विश्व में कोई राज्य पराधीन नहीं रहेगा। विश्व संघ में समस्त राष्ट्रों के प्रतिनिधि रहेंगे। प्रत्येक राज्य, चाहे वह छोटा हो अथवा बड़ा उसका संघ में समान अधिकार होगा। यह विश्व संघ पारस्परिक सदिच्छा और समझौते पर प्रतिष्ठित होगा। इस संघ का कार्य अन्तर्राष्ट्रीय विवाद मिटाना होगा। यह राज्यों की शासन-प्रणाली पर हस्तक्षेप नहीं कर सकेगा। विश्व संघ की स्थल सेना, जल सेना और वायु सेना रहेगी। परमाणुविक शस्त्रों का पूर्ण निषेध और विनाश करना होगा। प्रत्येक राज्य की सामरिक शक्ति पर अल्पतम व्यय होगा। राज्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति पारस्परिक सहयोग से होगी। धीरे-धीरे राज्यों को नि:शस्त्रीकरण करना होगा। राज्यों को सद्भावना की नीति को मानना होगा। धन वैषमम्य धीरे-धीरे दूर किया जायेगा। जिन उपायों से शिल्प और कृषि उत्पादन की वृद्धि हो उन उपायों को ग्रहण करना होगा। इस विषय में कोई मतवाद का प्राधान्य नहीं रहेगा। धर्म व्यक्तिगत होगा। स्त्री-पुरुष को समानता प्राप्त होगी। प्रत्येक नागरिक को जीविका-अर्जन के लिये उपयुक्त क्षेत्र देना होगा। अर्थ नैतिक शोषण से मानव समाज को मुक्त करना होगा। प्रत्येक नागरिक को श्रम करना होगा। कोई परोपजीवी नहीं रहेगा। पूँजीवादी साम्राज्यवाद तथा साम्यवादी साम्राज्यवाद को विलुप्त करना होगा।[1] विश्व-शान्ति की विघ्नकारी तथा मानव-जाति की विध्वंसकारी परमाणविक शक्तिशाली अतिशक्तियों को प्रबल जनमत से निष्क्रिय करना होगा। ●

1. *The Ideal of Human Unity*, Chapter XVII; *Shri Aurobindo*.

नैतिकता के तात्विक प्रश्न

(१) नीति-शास्त्र व तत्व-विद्या (Ethics and Metaphysics)

नीति-शास्त्र एक नियामक विधान है। यह नैतिक आदर्श की प्रकृति निर्धारित करने का प्रयत्न करता है। यह नैतिक आदर्श के प्रामाणिकता तथा सार तत्व के साथ नैतिक आदर्श के सम्बन्ध को भी निर्धारित करने का प्रयास करता है। इस प्रकार यह तात्विक चर्चा में अपरिहार्य-रूप से प्रविष्ट हो जाता है। नैतिकता का अन्तिम स्वरूप (तात्विक-प्रकृति) तथा सार तत्व के अन्य स्वरूपों के साथ इनका सम्बन्ध कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो कि अत्यन्त महत्वपूर्ण तात्विक विषयों को हमारे सामने उपस्थित कर देते हैं। नीति-शास्त्र नैतिक चेतना के अस्तित्व को स्वीकार कर लेता है तथा नैतिक चेतना से तत्वों का विश्लेषण करता है। परन्तु यह इस मान्यता से सन्तोष नहीं कर सकता। जब तक नीति-शास्त्री नैतिक चेतना के इस विश्लेषण तक ही अपने को सीमित रखता है, वह तात्विक मान्यताओं में विश्वास करने के लिये बाध्य होता है। परन्तु अपने तत्वों सहित नैतिक चेतना की प्रामाणिकता कुछ तात्विक सिद्धान्तों के साथ असंगत रहती है। अतः नीति-शास्त्री को उसका परित्याग कर देना चाहिये। परार्थवाद अथवा निसर्गवाद, स्थायी तथा उसकी स्व-संचालन शक्ति अथवा इच्छा स्वातन्त्र्य का निषेध, आत्मा के अमरत्व का निषेध, तथा ईश्वर के अस्तित्व का निषेध नैतिक चेतना के अधिष्ठान के साथ असंगत रहते हैं। अतः नीति-शास्त्र उनको त्याग देता है। तत्वशास्त्र केवल हमारी सैद्धान्तिक चेतना के अधिष्ठान पर ही नहीं वरन् हमारी चेतना पर भी आधारित है। तत्व-शास्त्र का आधार भौतिक-विज्ञान तथा नीति-विज्ञान दोनों है।

(२) नैतिक मान्यतायें (Moral Postulates)—

निम्न मान्यतायें नैतिकता की धारणायें हैं—

(१) आत्मा एक वास्तविक, स्थायी, आत्म-चेतन तथा आत्म-स्वतन्त्र कर्ता होना चाहिये। उसका एक व्यक्तित्व होना चाहिये। यह क्षणभंगुर संवेदनाओं तथा अनुभूतियों का एक विस्तृत क्रम अथवा चेतना की धारा नहीं होनी चाहिये।

(२) आत्मा के भीतर आत्म-नियन्त्रण की शक्ति अथवा इच्छा की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। यह बाह्य परिस्थितियों के आधीन अथवा उनकी उपज नहीं होनी चाहिये। यह शक्ति तथा रचनात्मक सक्रियता अथवा उपक्रमण-शक्ति का केन्द्र होनी चाहिये। इसके भीतर मूल्य के निर्माण व मूल्यांकन की शक्ति होनी चाहिये। दूसरे शब्दों में आत्मा को इच्छा की स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिये।

(३) तर्क अथवा बुद्धि आत्मा का एक अनिवार्य तत्व होना चाहिये। इसके

कार्य आदर्शात्मक एवं व्यावहारिक दोनों प्रकार के होते हैं। बुद्धि, ऐन्द्रिक संवेदनाओं को ज्ञान की एक व्यवस्था में संयोजित कर सकती है। यह इसका बौद्धिक कार्य है। बुद्धि अनुभूतियों तथा प्रवृत्तियों को नैतिक जीवन में समन्वित कर सकती है, यह उसका नैतिक कार्य है। बुद्धियुक्त अहं का कार्य नैतिक प्रसंग में संवेदन शक्ति को तथा बौद्धिक प्रसंग में संवेदनाओं को संगठित करना है। संवेदनाओं की भाँति प्रवृत्तियों और अनुभूतियों को भी आत्मा की ओर से चुनौती मिलनी चाहिये, उनकी आलोचना व उनका माप होना चाहिये तथा उनका संयोजन होना चाहिये अर्थात् अहं के जीवन में उसका स्थान नियत किया जाना चाहिये। प्रारम्भिक संवेदनाओं के आधार पर जिस प्रकार दृश्य पदार्थ की रचना में अहं उपस्थित संवेदनाओं को पहचानता, उनमें अन्तर करता, उनमें से छाँटता तथा उन्हें संयोजित करता है एवं इस प्रकार ज्ञान के पदार्थ का निर्माण कर लेता है, ठीक उसी प्रकार प्रारम्भिक प्रेरणा अथवा प्रवृत्ति में उद्देश्य की रचना करते समय भी सवेदन-शीलता में अव्यवस्थित ब्यौरे की पहचान, भेद, छटाई तथा संगठन की कियायें होती हैं। बहुमुखी संवेदनशीलता के इस बौद्धिक संश्लेषण से उसके अनेक तत्वों के बौद्धिक जीवन की एकता में संयोजन द्वारा ही (बौद्धिक) अहं अपने लिये नैतिक उद्देश्यों तथा जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य अथवा आदर्श की रचना कर सकता है।[1] बुद्धि के अभाव में आत्मा अथवा अहं न ज्ञान ही अर्जित कर सकता है न नैतिकता ही। इस प्रकार व्यक्तिगत संकल्प-स्वातन्त्र्य अथवा आत्म-निर्णय तथा बुद्धि नैतिकता की मूल धारणायें हैं; इन्हें नैतिकता का आधार भी कहा जा सकता है।

(३) व्यक्तित्व (Personality)—

स्थायी आत्मा का अस्तित्व नैतिकता का आधार है। आत्मा भौतिक शरीर का अंग मात्र नहीं है। यह मस्तिष्क, कोष्ठों तथा विशेष स्नायुसंस्थानों के मध्य होने वाले संघर्ष की अचानक उपज नहीं है जैसा कि पदार्थवादी इसे समझते हैं। यह संवेदनाओं, विचारों तथा अनुभूतियों तथा चेतना के प्रवाह के क्रम भी नहीं हैं, जैसा कि अनुभूतिवाद अथवा संवेदनावाद का विचार है। प्रत्येक आत्मा चेतना का एक अनुपम केन्द्र है। यह एक अनन्त सार्वभौमिक चेतना की एक अभिव्यक्ति मात्र ही नहीं है जैसा कि विश्वेश्वरवाद का विचार है। यह चेतना के अन्य निश्चित केन्द्रों अथवा चेतना के अनन्त एवं सार्वभौमिक केन्द्र में सम्मिश्रण नहीं की जा सकती। प्रत्येक निश्चित आत्मा चेतना का एक अनुपम केन्द्र अथवा संस्थान है अर्थात् वह आत्मचेतना ओर आत्मनियन्त्रित व्यक्तित्व है जिसे अपने उद्देश्य की चेतना होती है तथा जो विश्व में अपने कृत्य की पूर्ति तथा लक्ष्य-सिद्धि करने में समर्थ होता है।

(४) आत्मनिर्णय (Self determination)

स्थायी आत्म-निर्णय नैतिकता का अधिकार है। नैतिकता सृजनात्मक, सक्रियता

1. *Ethical Principles*, pp. 195–96.

अथवा स्वतन्त्र उपक्रमण की शक्ति को भी मान्यता के रूप में स्वीकार करती है। इसमें इच्छा-स्वातन्त्र्य होनी चाहिये। इसके कार्यों का निर्णय बाह्य परिस्थितियों द्वारा नहीं वरन् आत्मा द्वारा भीतर से किया जाना चाहिये। वे आत्म-निर्धारित होने चाहियें। यदि वे परिस्थिति द्वारा निर्धारित किये गये हों तो उनका नैतिक मूल्य समाप्त हो जाता है तथा उन्हें नैतिकता-रहित भौतिक घटना-मात्र मानना चाहिये। रैशडैल के अनुसार, "नैतिकता की यह पूर्व मान्यता है कि आत्मा स्वयं अपने कार्यों का मान है।"[2] आत्मा की स्वतन्त्रता अथवा आत्म-कार्यकारणता आत्म-सक्रियता अथवा आत्म-निर्धारण नैतिकता की मौलिक मान्यतायें हैं। आत्मा, आत्म-निर्धारण के अधिकार से वंचित होने पर अपने नैतिक जीवन को खो देती है। प्रशंसा तथा निन्दा, गुण तथा दोष, पुरस्कार तथा दण्ड, सत् तथा असत्, कर्त्तव्य तथा श्रेष्ठता एवं उत्तर-दायित्व यह सब आत्म-निर्धारण की स्वाधीनता के बिना अपना महत्व खो देते हैं। नैतिकता आत्मा के स्थायी अस्तित्व, उसके आध्यात्मिक चरित्र, उसकी आत्म-कार्य-कारणता, आत्म-निर्धारित सक्रियता अथवा स्वतन्त्रता को पूर्व मान्यता के रूप में स्वीकार करता है।

(५) बुद्धि (Reason)—

ऐन्द्रिय एवं बौद्धिक, संवेदनशीलता और बुद्धि, दोनों मानवीय प्रकृति के अनिवार्य अंग हैं। परन्तु बुद्धि मानवीय प्रकृति का प्रधान तत्व है। यह केवल मनुष्य का ही विशेष अधिकार है कि वह बहुमुखी संवेदनाओं में से मनीषा के बौद्धिक संश्लेषण द्वारा ज्ञान की व्यवस्था तथा बुद्धि के नैतिक संश्लेषण द्वारा समन्वित नैतिक जीवन की रचना कर सकता है। आत्मा अनुभूतियों तथा इच्छाओं, सहज प्रवृत्तियों तथा प्रेरणाओं को बुद्धि की सक्रियता द्वारा एक विवेकपूर्ण जीवन में नियन्त्रित, नियमित तथा परिवर्तित करता है। आत्मा एक नैतिक प्राणी के रूप में अनिवार्यतः बौद्धिक तथा विवेकयुक्त है।

बुद्धि अपने सहज ज्ञान द्वारा आत्मा के नैतिक हित एवं उद्देश्य को जान लेती है। यह किसी विशेष कार्य को नैतिक आदर्श के अनुकूल होने पर उसे सत् तथा उसके प्रतिकूल होने पर उसे असत् ठहरा लेती है। यह किसी कार्य की प्रकृति का सत्-असत् निर्णय परिणाम के आधार पर करती है। यह कार्य की विभिन्न योजनाओं के गुण-दोष पर विचार करती है तथा अन्य योजनाओं को त्याग कर विशिष्ट कार्य योजना को चुन लेती है। इस प्रकार ऐच्छिक कर्म बुद्धि पर आश्रित है। यह स्मरण रखना आवश्यक है कि नैतिक मूल्य ऐच्छिक कर्मों का ही होता है। हम अपने कार्यों के लिये नैतिक रूप से उत्तरदायी (Responsible) होते हैं क्योंकि हमें बुद्धि मिली है। मूर्ख तथा पागल व्यक्ति बुद्धिहीन होते हैं, अतः वे सत्-असत्, उचित-अनुचित में अन्तर नहीं कर सकते। अतः वे अपने कार्यों के के लिये उत्तारदायी नहीं होते हैं।

व्यक्तित्व, आत्म-निर्धारण तथा बुद्धि नैतिकता की मूल मान्यतायें हैं। आत्मा

2. *Theory of Good and Evil.*

की अमरता, ईश्वर का अस्तित्व तथा विश्व की बौद्धिक रचनायें नैतिकता की गौण मान्यतायें हैं ।

(६) **इच्छा स्वातन्त्र्य (Freedom of the Will)**—

एक आध्यात्मिक प्राणी होने के कारण मनुष्य आत्म-निर्धारित अथवा स्वतन्त्र है । वह स्वयं अपने कर्मों का निर्धारण करता है । बाह्य शक्तियाँ उसका निर्धारण नहीं करतीं । तथापि वह पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं है वरन् उसकी स्वतन्त्रता सीमित है । किन्तु वह अपनी सीमा को अपने आत्म-विकास और आत्म-लाभ के साधनों तथा उपादानों में परिवर्तित कर सकता है । लेकिन इसे सब विचारक स्वीकार नहीं करते ।

संकल्प-स्वातन्त्र्य के प्रश्न ने विभिन्न युगों के दार्शनिकों में एक बड़े विवाद को जन्म दिया । साधारण व्यवहार में "संकल्प-स्वातन्त्र्य" का अर्थ है कि जिस कार्य को हम करने का संकल्प करते हैं, उस कार्य को बिना किसी बाध्यता अथवा प्रतिरोध के करने की स्वतन्त्रता । किन्तु यहां पर प्रश्न यह उठता है कि हम जो संकल्प करते हैं, उसे करने में स्वतन्त्र हैं, और हम उसका संकल्प कैसे करते हैं, या क्या वैकल्पिक सम्भावनाओं अर्थात् सम्भव कार्यों के मध्य हम चुनाव करने में स्वतन्त्र हैं, या क्या हमें अपने अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु उसमें से एक को चुनने के लिये बाध्य करती है ? दूसरे शब्दों में, क्या किसी कार्य का संकल्प आवश्यक रूप से केवल हमारे ही ऊपर निर्भर है और फलतः स्वतन्त्र या आत्म-निर्धारित है ? अथवा क्या वह आत्मा के बाहर की किसी अन्य वस्तु पर निर्भर है और इस प्रकार परतन्त्र है ।

कुछ मनीषी संकल्प स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त के समर्थक हैं । वे अनियन्त्रणवादी (Indeterminist) कहलाते हैं । अन्य संकल्प-स्वातन्त्र्य का निषेध करते हैं । वे नियन्त्रणवादी (Determinist) कहलाते हैं ।

इच्छा-स्वातन्त्र्य के प्रश्न का विचार विविध दृष्टिकोणों से तथा मनोवैज्ञानिक, नैतिक, दार्शनिक और धार्मिक दृष्टिकोणों से हो सकता है ।

नियन्त्रणवाद संकल्प की स्वतन्त्रता का निषेध करता है और अपने पक्ष के समर्थन के लिये निम्नलिखित प्रमाण देता है जो अंशतः मनोवैज्ञानिक, अंशतः दार्शनिक और अंशतः धार्मिक हैं :—

१ मनोवैज्ञानिक युक्तियाँ : (क) ऐच्छिक-कर्मों का मनोविज्ञान— हमारे संकल्प प्रवर्त्तनों और इच्छाओं के द्वारा निर्धारित होते हैं । जब एक अकेला प्रवर्त्तन होता है, तो वह प्रवर्त्तन संकल्प और उससे निःसृत होने वाले कर्म का निर्धारण करता है । जब विविध प्रवर्त्तन एक ही साथ उपस्थित होते हैं, तो प्रवर्त्तनों में संघर्ष पैदा हो जाता है और प्रबलतम प्रवर्त्तन विजयी होता है, प्रतिद्वन्द्वी प्रवर्त्तनों का निरोध और दमन करता है तथा संकल्प का निर्धारण करता है ।

दूसरे शब्दों में, संकल्प को निर्धारित करने वाला, प्रवर्त्तन का बल होता है । पुनः प्रवर्त्तन का बल (१) अंशतः बाहर के व्यक्ति को प्रभावित करने वाला वातावरण

(environment) अथवा बहिर्गत परिस्थितियाँ निर्धारित करता है, (२) और अंशतः स्वयं व्यक्ति की मानसिक रचना निर्धारित करती है, जिसका पुनः निर्धारण आंशिक रूप में उसके पूर्व-पुरुषों से वंशक्रमानुगत प्रवृत्तियों (heredity) के द्वारा, और आँशिक-रूप में उसके मस्तिष्क तथा शरीर की रचना के द्वारा होता है। इस प्रकार हमारे संकल्प कठोरतापूर्वक कारणों तथा हेतुओं की श्रृंखला के द्वारा निर्धारित होते है, और यदि मानवीय संकल्पों और कर्मों के सभी पूर्वगामी हेतुओं का सही ज्ञान हो जाए तो मनुष्यों के भावों तथा कर्मों का उसी प्रकार संशयहीन पूर्वज्ञान हो जाये जिस प्रकार ग्रहों की गतियों का, नदियों के ज्वारभाटों का पूर्वज्ञान इत्यादि।

(१) **मानव-व्यवहार के पूर्व-ज्ञान** (Prediction) **की सम्भावना**—केवल भावी भौतिक-घटनाओं (यथा, ग्रहण, वर्षा, अन्नकाल इत्यादि) की ही भविष्यवाणी नहीं की जा सकती जो कठोरतापूर्वक अपनी पूर्वगामी परिस्थितियों के द्वारा निर्धारित होते हैं और अपने नैतिक कारणों से प्रादुर्भूत होते हैं, बल्कि मनुष्यों के भावों कर्मों की भी भविष्यवाणी की जा सकती है। यदि उनको पूर्वगामी परिस्थितियों का पहले ही ज्ञान हो जाये और भविष्यवाणी की यह सम्भावना विवाह, अपराध और आत्म-हत्या तथा अन्य ऐच्छिक कर्मों की सही गणनाओं के उदाहरणों से और भी पक्की हो जाती है, जिन गणनाओं के ऊपर किसी देश का दीवानी और फौजदारी विधान अत्यधिक निर्भर होता है अतः सकल्प-स्वातन्त्र्य नहीं हो सकता।

(२) **दार्शनिक युक्तियां**—पहले, कार्य-कारण के नियम की संकल्प की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त से असंगति है। कोई संकल्प जो पूर्वगामी परिस्थितियों के द्वारा निर्धारित नहीं होता—तथा-कथित स्वतन्त्र संकल्प—एक कारणहीन घटना होगी जो असम्भव है, क्योंकि कार्य-करण के नियमानुसार किसी भी भौतिक अथवा मानसिक घटना का एक कारण होना चाहिये, प्रकृति अथवा मानसिक जगत् में कोई भी कारणहीन कार्य सम्भव नहीं है। अनियन्त्रणवाद कार्यकारण के नियम से नितान्त असंगत है। इस परिकल्पना से मानव-संकल्प कार्यकारण के नियम का अपराध हो जाता है। दूसरी ओर, नियतिवाद इस नियम से संवादित है, संकल्प का व्यापार संसार में प्रत्येक अन्य व्यापार के तुल्य कार्यकारण श्रृंखला में आबद्ध है।

दूसरे, शक्ति-नित्यता (Conservation of Energy) का नियम भी संकल्प स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त का विरोधी है। संकल्प की स्वतन्त्रता के द्वारा अथवा मन को स्वतन्त्र-रूप से शक्ति-सम्पन्न करने के द्वारा हम शरीर (मस्तिष्क) में चेष्टावाहक नाड़ी-सवेदन के रूप में एक नवीन-शक्ति की सृष्टि करते हैं, और शरीर की इस शक्ति से बाह्य-जगत् में परिवर्तन पैदा करते हैं। इस प्रकार अपने स्वतन्त्र संकल्पों से हम विश्व में शक्ति के निश्चित परिमाण में वृद्धि करते हैं। किन्तु, शक्ति नित्यता के नियम के अनुसार विश्व में शक्ति के परिमाण की वृद्धि या क्षय सम्भव नहीं है।

तीसरे, विश्व की द्रव्य और गति के नियमों के अनुसार संचालित होने वाले भौतिक परमाणुओं आकस्मिक संगठन मानने वाले जड़वादी तथा प्रकृतिवादी

प्रत्ययों से निसर्गत संकल्प-स्वातन्त्र्य का निषेध होता है। जड़वाद (Materialism) के अनुसार मन केवल एक उपविकार (Epiphenomenon) हैं, और इस रूप में यह कारण शक्ति-सम्पन्न नहीं हो सकता, फलस्वरूप संकल्प स्वतन्त्र नहीं हो सकता।

चतुर्थ, अमूर्त्त अद्वैतवाद (Abstract Monism) अथवा सर्वेश्वरवाद (Pantheism) से अनिवार्य रूप में नियन्त्रणवाद की प्राप्ति होती है। यदि ईश्वर ही केवल सत्य है, तो जगत् और मन केवल मिथ्या माया मात्र हो जाते हैं, स्पिनोजा (Spinoza) ने कहा था कि हम अपने संकल्पों को स्वतन्त्र केवल इसीलिये मानते हैं कि संकल्पों को निर्धारित करने वाले कारणों के अज्ञान-पूर्वक हम केवल सकल्पों का ही ज्ञान रखते हैं। जब कोई व्यक्ति पत्थर फेंकता है तो शायद पत्थर भी इसका कारण न जानने में स्वयं को स्वतन्त्र समझता होगा। सीमित मन ईश्वर के प्रकार है।

(३) **धार्मिक युक्तिः ईश्वर का पूर्व ज्ञान**—ईश्वर का पूर्व ज्ञान संकल्प स्वातन्त्र्य का विरोधी है। यदि ईश्वर है तो उसे सब वस्तुओं और कर्मों का कर्त्ता होना चाहिये और उनका उसे पूर्व-ज्ञान भी होना चाहिये। ईश्वर को केवल प्रकृति की भावी घटनाओं का ही पूर्व-ज्ञान नहीं होता, बल्कि मनुष्यों के भावी कर्मों का भी और भविष्य-दर्शन अथवा पूर्व-ज्ञान में पूर्व-निर्धारण गर्भित है। ईश्वर की पूर्व दृष्टि से सिद्ध होता है कि ईश्वर संसार के मार्ग को और मनुष्यों के कर्मों को पहले ही निर्धारित कर चुका है जिससे मनुष्य अपने कर्मों को निर्धारित करने में असमर्थ सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार नियन्त्रणवादी (Necessarianism) संकल्प की स्वतन्त्रता का निषेध करते हैं और निम्नलिखित तथ्यों का आश्रय लेते हैं—

(१) संकल्प का मनोविज्ञान, जिसके अनुसार संकल्प स्वतन्त्र नहीं है, बल्कि प्रबलतम प्रवर्तन के द्वारा निर्धारित होता है।

(२) **मानव-स्वभाव की भविष्यवाणी की सम्भावना**—यदि मानव-कर्म पूर्व परिस्थितियों के द्वारा निर्धारित न होकर पूर्णतया स्वतन्त्र होते तो उनका पूर्व-ज्ञान सम्भव न होता जैसा कि साधारणतः होता है।

(३) **कार्य-करण नियम**—चूंकि कोई भी घटना अकारण नहीं हो सकती, इसलिये संसार में कोई कारणहीन वस्तु नहीं है, अतः संकल्प भी स्वतन्त्र नहीं है।

(४) **शक्ति नित्यता का नियम**—विश्व में शक्ति का परिमाण सदा समान रहता है, किन्तु संकल्प-स्वातन्त्र्य में नूतन भौतिक शक्ति की सृष्टि तथा विश्व में शक्ति के निश्चित परिमाण की वृद्धि गर्भित है।

(५) **विश्व-विषयक जड़वादी परिकल्पना**—मन मस्तिष्क का उपविकार है, और इसलिए कारण-शक्ति और स्वतन्त्रता नहीं है।

(६) **विश्व की अद्वैतवादी अथवा सर्वेश्वरवादी परिकल्पना**—इसके अनुसार ईश्वर ही एक मात्र सत्य है तथा मनुष्य के मन की अपनी स्वतन्त्र सत्ता और फलस्वरूप संकल्प-स्वातन्त्र्य नहीं है।

(७) **ईश्वर का पूर्व-ज्ञान**—मनुष्य के भावी कर्मों को पहले से जानने के कारण, ईश्वर उन्हें पहले ही निर्धारित कर चुका है।

(८) **संकल्प स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त : नियन्त्रणवाद की समालोचना**—पहले, संकल्प का मनोविज्ञान जिस पर नियन्त्रणवाद आधारित है, भ्रान्तिपूर्ण है। इसमें कोई संदेह नहीं कि संकल्प प्रवर्त्तनों के बल से निर्धारित होता है किन्तु प्रवर्त्तनों का बल स्वयं आत्मा पर निर्भर है, पूर्वगामी परिस्थितियों पर नहीं। सबसे बलवान प्रवर्त्तन वह है जिसे आत्मा चुनती है और आत्मा जिससे स्वयं को एकाकार कर देती है। प्रवर्त्तन आत्मा के बहिर्गत नहीं हैं, वे आत्मा के ही तत्व हैं। अतः संकल्प आत्मा के अन्दर से निर्धारित होते हैं, बहिर्गत शक्तियों से नहीं। यह कारण के द्वारा बाह्य निर्धारण नहीं है बल्कि बुद्धि के अनुसार आन्तरिक आत्मनिर्धारण (Self determination) है।

द्वितीय, पूर्व ज्ञान की सम्भावना से यह सिद्ध नहीं होता कि संकल्प का पूर्व परिस्थितियों से कठोरतापूर्वक निर्धारण होता है। यह भी संकल्प-स्वातन्त्र्य से संगति रखता है, क्योंकि सकल्प-स्वातन्त्र्य से हमारा अभिप्राय मन की तरंग का नहीं है जिससे मानव कर्मों की भविष्यवाणी नितान्त असम्भव हो जायेगी। बार-बार आवृत्त संकल्पों से चरित्र का निर्माण होता है जो तुल्य परिस्थितियों में तुल्य रूप में क्रियान्वित होता है। यदि एक ही प्रवृति वाले अनेक व्यक्तियों को एक ही परिस्थितियों में रखा जाये, तो उनकी आवश्यकतायें बहुत कुछ एक ही होंगी। अतः उनकी इच्छाओं और प्रवर्त्तनों में भी बहुत कुछ साम्य होगा और वे एक ही दिशा में कर्म-प्रवृत्त होंगे क्योंकि वे समान उद्देश्यों से प्रेरित होंगे। चोरों को जब कभी अवसर मिलता है, वे चोरी कर लेते हैं। इस प्रकार संकल्प-स्वातन्त्र्य से भी समरूप चरित्र का निर्माण होता है, जिसका किसी सीमा पर्यन्त पूर्वज्ञान हो सकता है। मैकेंजी के अनुसार, "नैतिक जीवन का अर्थ चरित्र निर्माण है, अर्थात् इसका अर्थ है कर्म की निश्चित आदतों का निर्माण और यदि कोई आदत निश्चित हो जाती है तो वह स्वरूप और पूर्व-ज्ञेय बन जाती है।"

तृतीय, कार्य-कारण नियम संकल्प-स्वातन्त्र्य का विरोध नहीं है। संकल्प के स्वतन्त्र होने का अर्थ यह नहीं है कि संकल्प एक कारण रहित घटना है। स्वतन्त्र आत्मा उसका कारण है और आत्मा स्वतन्त्रतापूर्वक ऐसा करता है। आत्मा अपने बाहर स्थित किसी वस्तु से प्रभावित होकर ऐसा नहीं करता, बल्कि अपने से ही शुभ के विचार से प्रेरित होता है। इस प्रकार संकल्प कारण-रहित नहीं है। आत्मा उसका कारण है।

चतुर्थ, शक्ति-नित्यता का नियम संकल्प स्वातन्त्र्य का विसंवादी नहीं है, यदि हम उसे अधिक विस्तृत अर्थ में ग्रहण करें और मानसिक शक्ति में भी उसे लागू करें। ऐसी अवस्था में, संकल्प में मानसिक शक्ति के क्षय की पूर्ति चेष्टावाहक नाड़ी संवेदन में सम-परिमाण शारीरिक शक्ति की दृष्टि से हो जायेगी। कभी-कभी यह उत्तर भी

दिया जाता है कि स्वतन्त्र संकल्प नवीन शक्ति की सृष्टि नहीं करता, बल्कि केवल शारीरिक शक्ति की दिशा में परिवर्तन कर देता है। इसलिये शक्ति-नित्यता का नियम संकल्प-स्वातन्त्र्य का व्याघातक नहीं है।

अन्त में, ईश्वर का पूर्वज्ञान भी मानव स्वातन्त्र्य का विरोधी नहीं है। प्राक्दृष्टि अथवा पूर्वज्ञान का अनिवार्यतः पूर्व निर्धारण नहीं है। कुछ दार्शनिकों की धारणा है कि ईश्वर हमारे सम्भावित कर्मों का ही पूर्वज्ञान रखता है, हमारे वास्तविक कर्मों का नहीं। देकार्तें, लाइब्नीज, कान्ट, हेगेल आदि संकल्प-स्वातन्त्र्य के समर्थक हैं। स्पिनोजा, ह्यूम, मिल आदि नियन्त्रणवादी हैं।

(७) संकल्प-स्वातन्त्र्य के पक्ष में विधानात्मक युक्तियां
(Positive arguments for Freedom of Will —

आत्म चेतना का साक्ष्य—संकल्प करने में हमें सदैव इस बात की चेतना होती है कि हम स्वाधीनतापूर्वक बिना अपने पूर्वगामी अथवा अपने बहिवस्थ किसी वस्तु के नियन्त्रण के अपने ही द्वारा अपने मंगल के लिये कर्म में प्रवृत्त होते हैं और स्वतन्त्रता की चेतना विशेष रूप से विचारणा और संकल्प के व्यापार में स्पष्ट रूप से होती है।

नैतिक चेतना का साक्ष्य—कान्ट की युक्ति है कि संकल्प-स्वातन्त्र्य नैतिकता का मूल सिद्धान्त है। नैतिक निर्णयों में 'चाहिये' अर्थात् नैतिक बाध्यता की बुद्धि होती है। इस बुद्धि में संकल्प-स्वातन्त्र्य गर्भित—"तुम्हें करना चाहिये, अतः तुम कर सकते हो।" (Thou oughtst, therefore thou canst)। यदि संकल्प स्वतन्त्र न होता तो कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व, न्याय, पुण्य और पाप, धर्म और अधर्म नितान्त निरर्थक होते हैं।

विश्व की एक सच्ची और पूर्ण दार्शनिक परिकल्पना—संकल्प स्वातन्त्र्य के नियम का समर्थन करती है। इसके अनुसार जगत्, जीव और ईश्वर सत्य हैं। जगत् ऐसी शक्ति की अभिव्यक्ति है। जीव ईश्वर के परिछिन्न प्रतिरूप हैं और इस रूप में ईश्वर की आत्मनिर्णय की शक्ति या स्वतन्त्रता में उनका भी भाग है। मानव आत्मा ईश्वर की स्वतन्त्रता का भागी, किन्तु मनुष्य की स्वतन्त्रता निरपेक्ष नहीं, बल्कि आपेक्षिक है; एक सीमा तक प्रकृति की भौतिक शक्तियाँ अन्य मनुष्यों से सम्बद्ध तथा ईश्वर की स्वतन्त्रता के द्वारा उनको परिच्छिन्न बनाया गया है।

जड़वाद, विश्व की सन्तोषजनक परिकल्पना नहीं है। मन को मस्तिष्क का एक उपविकार (Epiphenomenon) कदापि नहीं माना जा सकता, क्योंकि मन को संकल्प में स्वतन्त्रता के कारण शक्ति की चेतना होती है।

सर्वेश्वरवाद (Pantheism) को भी विश्व की पूर्ण परिकल्पना नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह जगत् और मानव मन की सत्यता का निषेध करता है।

(८) संकल्प-स्वातन्त्र्य का स्वरूप, अनियन्त्रणवाद अथवा आत्म नियन्त्र-वाद
(Nature of Freedom of Will Indeterminism or Self-determinism)

संकल्प-स्वातन्त्र्य का अर्थ या तो अनियन्त्रणवाद या आत्मनियन्त्रणवाद है।

अनियन्त्रणवाद के अनुसार बिना किसी कारण प्रवर्त्तन या उद्देश्य के आत्मा अपने संकल्पों पर निर्णय कर सकता है। यह अकारण ही वैकल्पित सम्भावनाओं में से किसी को स्वेच्छापूर्वक चुन सकता है। अनियन्त्रणवाद मनुष्य के संकल्प को अकारणजात वस्तु के अर्थ में ग्रहण करता है। अनियन्त्रणवादी सोचता है कि कर्म में प्रवृत्त होने के समय संकल्प के सम्मुख कई विकल्प होते हैं तथा उदासीनतापूर्वक उनमें से कोई एक चुना जा सकता है। वह संकल्प की सच्ची स्वैरवृत्ति को स्वतन्त्रता समझता है जो स्वयं को सम्भावनाओं के सीमित क्षेत्र में अनिर्धारित चुनाव में व्यक्त करती हैं। यह निरंकुशता (Libertarianism) है। देकार्ते, कान्ट, मार्टिन्यू आदि नियन्त्रणवादी हैं।

किन्तु, यह हमारे बौद्धिक स्वभाव के प्रतिकूल है। आत्मा, स्वतन्त्र इस अर्थ में है कि वह शुभ के विचार के अनुसार अपने संकल्प को निर्धारित करता है। संकल्प का निर्धारण उसके बाहर स्थित किसी वस्तु से नहीं होता बल्कि अपने शुभ-साधन के उद्देश्य में आत्मा के ही द्वारा होता है। इस प्रकार संकल्प स्वातन्त्र्य का अर्थ अनियन्त्रणवाद नहीं है बल्कि आत्म-नियन्त्रणवाद (Self-determinism) है। आत्मा, परम निःश्रेयस के आदर्श के अनुसार अपने संकल्पों को निर्धारित करता है किन्तु इसका परम निःश्रेयस इसका अपना ही सर्वोच्च आत्मा है। अतः इस प्रकार निर्णीत होना आत्म-निर्णीत है। हेगेल, ग्रीन, जॉन, केयर्ड आदि आत्मनियन्त्रणवादी हैं।

(९) आत्मा की अमरता (Immortality of the Self)—

आत्मा की अमरता नैतिकता की एक अन्य धारणा है। मार्टिन्यू ने उसके विषय में निम्न तर्क दिया है—

मृत्यु का भौतिक स्वरूप—मृत्यु अपने भौतिक रूप में केवल शक्ति का परिवर्तन है। मृत्यु होने पर शरीर की शक्तियां विशृंखला हो जाती हैं जिसके परिणामस्वरूप शरीर नष्ट हो जाता है। परन्तु शक्ति अक्षयता (Conservation of Energy) के विषयक के अनुसार यह शक्तियाँ पूर्णतः नष्ट नहीं हो सकती।

शक्ति अक्षयता नियम में या तो मानसिक शक्ति सम्मिलित रहती है अथवा नहीं। यदि यह भौतिक शक्ति पर लागू होता है तो मन पदार्थ से पृथक् अथवा स्वतन्त्र रहता है अर्थात् मनुष्य की आत्मा मृत्यु के पश्चात् भी रह सकती है। परन्तु यदि यह नियम भौतिक एव मानसिक दानों शक्तियों पर लागू होता है तो ठीक जिस प्रकार भौतिक शक्ति पूर्णतः कभी भी समाप्त नहीं हो सकती वरन् किसी न किसी स्वरूप में जीवित रहती ही है, उसी प्रकार मानसिक शक्ति भी मृत्यु के उपरान्त पूर्णतः समाप्त नहीं हो सकती वरन् यह किसी न किसी स्वरूप में विद्यमान रहती ही है। इस प्रकार मानवीय आत्मा की अमरता शक्ति अक्षयता नियम के विरुद्ध नहीं है।

मृत्यु का तात्विक स्वरूप—विश्व के विकास में प्रत्येक सीमित आत्मा का अपना स्थान व नियत कार्य है। अतः यह कहा जा सकता है— कि आत्मा उस समय तक रहेगी जब तक कि यह अपने उस कार्य को पूर्ण नहीं कर लेती जिसके लिये विश्व-व्यवस्था में इसकी आवश्यकता है। यह मानना तर्क-सम्मत होगा कि आत्मा वर्तमान जीवन में अपने कार्य की समाप्ति एवं अपने उद्देश्य की प्राप्ति नहीं कर सकती। अतः उसे मृत्यु के पश्चात् भी जीवित रहकर विश्व में अपने कृत्य की पूर्ति करनी होती है।

मृत्यु का नैतिक स्वरूप—हमारे "अहं" (आत्मन) की रचना में ही हमें अपने भविष्य जीवन के सबल सुझाव तथा अचूक चिह्न मिलते हैं। हमारा बौद्धिक एवं नैतिक ढाँचा मृत्यु के उपरान्त भविष्य जीवन का कुछ बोध प्रदान करता है। इन बोध-चिह्नों अथवा सूचनाओं को डाक्टर मार्टिन्यू ने 'मनीषा द्वारा भविष्यवाणी' 'अन्तःकरण द्वारा भविष्यवाणी' तथा निलम्बन द्वारा भविष्यवाणी कहा है। मानवीय 'अहं' (आत्मन) की बौद्धिक प्रकृति के कारण उसका जीवन अनश्वर अथवा अमर होता है।

बुद्धि द्वारा भविष्यवाणी (Vaticinations of the intellect)—हमारी मनीषा-दिक् काल द्वारा सीमित होती है। मनीषा का विकास क्रमशः दिक्‌काल की सीमाओं से ऊपर उठना होता है। ज्यों-ज्यों मनस स्मरण शक्ति, कल्पना शक्ति, दूरी जानने तथा इन्द्रियों की पहुंच से परे वस्तुओं के आन्तरिक कारण व पारस्परिक सम्बन्ध पहचानने की शक्ति का विकास होता है, त्यों-त्यों यह धीरे-धीरे दिक्-काल की सीमाओं को लांघने लगता है। परन्तु वर्तमान सीमित जीवन में मनस दिक्-काल की मर्यादाओं को पूर्णतः नहीं लाँघ सकता। अतः हमारा यह आशा करना तर्क-संगत होगा कि मृत्यु के पश्चात् एक भविष्य जीवन होता है जिसमें मनीषा अपनी पूर्णता प्राप्त करेगी तथा दिक्-काल की मर्यादाओं का पूर्ण उलंघन कर सकेगी।

अन्तःकरण द्वारा भविष्यवाणी (Vaticinations of the Conscience)—नैतिक आदर्श असीम होता है। यह वर्तमान जीवन में पूर्णतः प्राप्त नहीं किया जा सकता। नैतिक प्रगति जितनी अधिक होती है नैतिक आदर्श भी उतना ही अधिक उच्च होता जाता है। अतः नैतिक आदर्श की प्राप्ति के लिए अनश्वर अथवा अमर जीवन की आवश्यकता होती है। कान्ट ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है–इच्छा एवं कर्त्तव्य के मध्य संघर्षों को कभी भी पूर्णतः सीमित जीवन में समाप्त नहीं किया जा सकता। अतः वर्तमान जीवन के ही क्रम में एक भावी जीवन भी होना चाहिये जहाँ कि मानवीय आत्मा का व्यक्तित्व जीवित रहकर इच्छा एवं कर्त्तव्य के मध्य सामंजस्य स्थापित कर सकें।

निलम्बन में भविष्यवाणी (Vaticinations in suspense)—कान्ट ने यह भी कहा है कि न्याय व समता अन्तःकरण की ये मांगें भविष्य जीवन की ओर इंगित करती हैं। हमारे मन में यह दृढ़ विश्वास होता है कि गुण (पुण्य) का

पुरस्कार सुख एवं दोष (पाप) का दण्ड दु:ख है। परन्तु पुण्यवान् इस जगत् में बिरले ही सुखी होते हैं, अत: हमारी धारणा है कि इस जीवन के परे एक अन्य जीवन होता है जिसमें पुण्यवान् को सुख और पाप-परायण को दु:ख अवश्य मिलता है। मार्टिन्यू ने भी कहा है कि भौतिक कष्ट सार्वजनिक निन्दा तथा राज्य द्वारा दिया गया दण्ड भी पापी के लिए पर्याप्त दण्ड नहीं है। उसे भविष्य जीवन में उचित दण्ड मिलेगा जहाँ कि उसके कष्ट पूर्णत: उसके पापों के अनुपात में होंगे।

नैतिक आदर्श अनन्त है। यह नियत समय के भीतर प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस अनन्त आदर्श की उपलब्धि के हेतु आत्मा को अनन्त समय मिलना चाहिये। अत: वह अनश्वर होनी चाहिए। परिमिति समय इस महान् कार्य के लिये अत्यन्त अपर्याप्त रहता है। सेथ का कथन है कि प्रगति मनुष्य के नैतिक जीवन की एक प्रधान विशेषता है। मनुष्य के जीवन का उद्देश्य निस्सीम अथवा अनन्त है। यह उद्देश्य इस सीमित जीवन में प्राप्त नहीं किया जा सकता। वर्तमान जीवन भावी जीवन की तैयारी का काल है। मृत्यु हमारे जीवन का अन्तिम चरण नहीं है। मनुष्य का कार्य असीमित है. उसकी पूर्ति इस सीमित जीवन में नहीं हो सकती। आत्मन् (अहं) की क्षमता और सम्भावित शक्तियां असीम हैं। वे इस अल्प जीवन-काल में पूर्णरूपेण विकसित नहीं की जा सकतीं। इन शक्तियों का पूर्ण विकास असीमित समय चाहता है। मनुष्य की बौद्धिक, सौन्दर्य-विषयक एवं नैतिक शक्तियां अनन्त हैं। उनकी प्राप्ति के लिए 'अह' आत्मन) की अनश्वरता आवश्यक है।

हॉफडिंग (Hoffding) ने 'मूल्यों के संरक्षण' (Conservation of Values) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। हम इस जीवन में जिन मूल्यों का अर्जन करते हैं उनका नैतिक व्यवस्था में संरक्षण होना चाहिये। अत: यह सिद्धान्त भी आत्मा की अमरता का प्रतिपादन करता है। व्यक्तिगत नैतिकता नीति-शास्त्र की एक मान्यता है। नैतिक जीवन में व्यक्तिगत जीवन है। व्यक्ति द्वारा नैतिक आदर्श की प्राप्ति व्यक्तिगत जीवन में ही होती है। यदि नैतिक आत्मन् अथवा व्यक्ति विश्वात्मक में पूर्णत: विलीन हो जाये तो नैतिक जीवन का अन्त हो जाता है। अव्यक्तिगत नैतिकता वास्तव में नैतिकता का निषेध है। नैतिक जीवन सदा व्यक्तिगत होता है। यह प्राकृतिक जीवन में विलय नहीं हो सकता, न यह दैवी-जीवन में ही विलीन हो सकता है।

(१०) ईश्वर का अस्तित्व (Existence of God)—

मार्टिन्यू ने ईश्वर के अस्तित्व के विषय में निम्न तर्क दिये हैं—

नैतिक उत्तरदायित्व—वैधानिक उत्तरदायित्व की भाँति नैतिक उदरदायित्व में भी दो व्यक्तियों का होना आवश्यक है—नैतिक उत्तरदायित्व के आधीन सीमित व्यक्ति तथा अनन्त व्यक्ति अर्थात् ईश्वर जो कि समस्त नैतिक उत्तरदायित्व का स्रोत है। नैतिक उत्तरदायित्व, व्यक्ति और समाज के मध्य एक सामाजिक सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि समाज उसके समस्त कार्यों का विशेषत: उसके आन्तरिक प्रयोजनों

एवं अभिप्रायों का ज्ञान नहीं रख सकता। राज्य भी इसी कारण नैतिक उत्तरदायित्व का स्रोत नहीं हो सकता। मार्टिन्यू का मत है कि नैतिक उत्तरदायित्व 'अहं' के आदर्श स्वरूप द्वारा उसके वास्तविक स्वरूप पर लागू नहीं किया जा सकता। यदि मैं स्वयं ही अपने उत्तरदायित्व का स्रोत हूं तो मैं उसे परिवर्तित करने या हटा लेने का अधिकार रखता हूं। परन्तु मैं वास्तव ने कभी भी नैतिक उत्तरदायित्व की अपनी भावना को नष्ट नहीं कर सकता। अतः न समाज, में राज्य और न असीम आत्मा ही नैतिक उत्तरदायित्व का स्रोत है। अतः ईश्वर (परमात्मा) ही नैतिक उत्तरदायित्व का स्रोत हो सकता है क्योंकि वह हमारे समस्त कार्यों को तथा हमारे आन्तरिक प्रयोजनों और अभिप्रायों को जानता है, वह अन्तर्यामी है।

नैतिक प्राणियों का उत्तरोत्तर क्रम—नैतिक प्राणियों का एवं उत्तरोत्तर क्रम होता है। जगत में कुछ व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक पूर्ण होते हैं। अधिक पूर्ण व्यक्ति अधिक व्यक्तियों के सम्मुख आदर्श प्रस्तुत करते हैं। हम सर्वदा पवित्र व्यक्तियों (साधु-सन्तों) के उदाहरणों से प्रेरित होते एवं श्रेष्ठ बनते हैं। अतः हम यह कल्पना कर लेते हैं कि एक सर्वाधिक पवित्र पूर्ण व्यक्ति अर्थात् परमेश्वर होता है जो कि समस्त-पूर्णत्व की चरम सीमा है। यह पवित्रतम तथा पूर्णतम होता है।

नैतिक नियम—कान्ट की भाषा में यह एक बिना शर्त अथवा निरपेक्ष आदेश है। हमें नैतिक नियम का पालन करना चाहिये परन्तु नैतिक अव्यक्तिगत होता है। इसे नैतिक नियम इस कारण कहा गया है क्योंकि यह ईश्वर के पूर्णत्व की अभिव्यक्ति होती है। नैतिक नियम मनुष्य में ईश्वर की ध्वनि है। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार कहा जा सकता है कि नैतिक नियम की वास्तविक पूर्ति तब होती है जब इसका दर्शन एक पूर्ण आत्मा में हो जो कि इसका बोध हमें प्रदान करता है तथा इसे हमारी कामनाओं के ऊपर इतनी शक्ति प्रदान करता है कि यह प्रभु के साथ संवाद में तल्लीन कर सके। हमारी नैतिक प्रकृति का ढाँचा केवल एक ही प्रकार से समझ में आ सकता है कि हम एक उद्देश्य की प्राप्ति के लिये जीवन व्यतीत करें। यह उद्देश्य "वह पूर्णत्व है जो कि समस्त ब्रह्माण्ड में पवित्र नियम के सहित व्याप्त है।"

नैतिक नियम—इस जीवन में पुण्यात्माओं को पर्याप्त पुरस्कार तथा पापात्माओं को पर्याप्त दण्ड नहीं मिल पाता। शारीरिक, सामाजिक एवं राजनीतिक उत्पीड़न पापों के पर्याप्त दण्ड नहीं हैं। अतः यह धारणा बन गई है कि पुण्यात्मा और पापात्मा दोनों अपने सत्-असत् कर्मों का उपयुक्त पुरस्कार अथवा दण्ड अपने भावी जीवन में नैतिक शासक तथा निर्णायक अर्थात् ईश्वर के हाथों से प्राप्त करेंगे। कान्ट ने ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये निम्न नैतिक तर्क प्रस्तुत किये हैं—

अन्तःकरण की यह माँग है कि धर्म के बदले में सुख और अधर्म के बदले में

दुःख मिलना चाहिये। परन्तु धर्म मनुष्य की आन्तरिक इच्छा पर निर्भर करता है। सुख बाह्य परिस्थितियों पर आश्रित होता है। हमारी इच्छा हमारी अपनी होती है तथा हमारा उस पर अपना नियन्त्रण होता है। अतः धर्म हमारी इच्छा पर आधारित है, परन्तु हमारे सुख बाह्य परिस्थितियाँ उस पर आधारित नहीं होते। अतः कान्ट ने कहा है कि जगत में कोई ऐसा सर्वोच्च व्यक्ति होना चाहिये जो कि धर्म के लिये सुख की व्यवस्था कर सके क्योंकि वह आन्तरिक व बाह्य जगत में सत्ताधारी एवं नियन्त्रणकर्त्ता है। "नैतिक जीवन का अर्थ नैतिक आदर्श की ओर निरन्तर बढ़ने वाला जीवन है। सेथ का कथन है, "नैतिक जीवन का सार, आदर्श जीवन अर्थात् उस जीवन की प्राप्ति की आकांक्षा जो अभी तक प्राप्त नहीं हो सका तथा जिसका निर्णय वास्तविकता और आदर्श के मध्य चलने वाले संघर्ष द्वारा होता है। अतः यह प्रश्न उठता है कि इस नैतिक आदर्श का स्रोत तथा अधिष्ठान क्या है? इसका यह उत्तर देना कि यह पूर्णतः आत्मगत अर्थात् हमारी वास्तविक सिद्धि का चल प्रतिबिम्ब है आदर्श के आकर्षण को करना है। इससे आदर्श एक ऐसी मूर्ख व कल्पित इच्छा बन जायेगा जिसके एक बार ज्ञात हो जाने पर हम वर्तमान स्थिति से सन्तुष्ट होकर उसका पीछा करना छोड़ देंगे। वास्तविकता से सदा दूर रहने वाला आदर्श एक महत्तम भ्रम होगा।"[3] नैतिक आदर्श सदा रहने वाली वास्तविकता है। यह निस्सीम व्यक्ति अर्थात् ईश्वर के तत्व की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है। "आदर्श अवास्तविकता नहीं है वरन् यह वास्तविकता तत्व की अभिव्यक्ति और उसका प्रवक्ता है। जो हमारे लिए आदर्श है वह दूसरी ओर वास्तविक है। आदर्श के पीछे वास्तविकता निहित होती है।"

ईश्वर सर्वोच्च नैतिक व्यक्ति है। वह सदा से पूर्ण है तथा उसमें नैतिक आदर्श की पूर्ण सिद्धि निहित है। सीमित आत्मन् में भी वही व्यापक है। वह इससे परे है। नैतिक आदर्श ईश्वर के नैतिक पूर्णत्व का अपूर्ण प्रतीक है। मनुष्य को सदा दैवी पूर्णता की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये। उसे ईश्वर के समान पूर्ण बनने का प्रयत्न करना चाहिये तथा ईश्वर की नैतिक पूर्णत्व का अनुसरण करना चाहिये। हमारा नैतिक आदर्श दैवी सत्य में निहित है।

रैशडैल का कथन है, 'पूर्ण नैतिक नियम अथवा नैतिक आदर्श का अस्तित्व भौतिक पदार्थों में सम्भव नहीं है। वह किसी व्यक्ति विशेष के मस्तिष्क में भी नहीं रहता। हम नैतिक आदर्श को तभी दृश्य जगत् की भांति बुद्धिपूर्वक वास्तविक मान सकते हैं जबकि हम एक ऐसे आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करें जिसके लिये सच्चा नैतिक आदर्श पहले से ही वास्तविक हो तथा जो हमारे नैतिक निर्णयों के सत्य का आधार हो। तभी हम सत्-असत् की एक ऐसे निरपेक्ष मापदण्ड में विश्वास कर सकते हैं जो कि किसी व्यक्ति की वास्तविक इच्छाओं और उसके वास्तविक आदर्शों से उतना ही स्वतन्त्र होता है जितने कि प्राकृतिक जगत के

3. इथिकल प्रिंसिपल, पृ० ४३०।

सिद्धान्त स्वतन्त्र होते हैं। ईश्वर में विश्वास का अर्थ वस्तुगत अथवा निरपेक्ष नैतिकता की पूर्व मान्यता है। नैतिक आदर्श आत्मा के अतिरिक्त किसी भी प्रकार और कहीं नहीं जा सकता। अत: निरपेक्ष नैतिक आदर्श एक ऐसे आत्मा में ही रह सकता है क्योंकि वह ईश्वर के आत्मा में रहने वाले नैतिक आदर्श का प्रतीक होता है।'[4]

(११) विश्व की बौद्धिक रचना
(Rational Constitution of the Universe)—

जगत् नैतिकता का उपयुक्त क्षेत्र है। यह नैतिक मूल्यों के प्रति उदासीन नहीं है। यही वह क्षेत्र है जो हमें नैतिक आदर्श की प्राप्ति के अवसर प्रदान करता है। यह ईश्वर की अभिव्यक्ति है जो कि विश्व के द्वारा अपने उद्देश्य की पूर्ति करता है। मनुष्य का नैतिक आदर्श ईश्वर के उस उद्देश्य का अंग है जो विश्व के द्वारा पूर्ण किया जा रहा है। मनुष्य का नैतिक हित विश्व-हित का एक अंग है। यह विश्व के उद्देश्य का एक अनुपम अंग तथा एक महत्वपूर्ण तत्व है। इस प्रकार जगत् एक नैतिक शासन है, जिसका उद्देश्य विश्व की प्राप्ति करना है। इसकी रचना बौद्धिक आधार पर हुई है। विश्व ईश्वर के उद्देश्य का साकार स्वरूप है। मनुष्य का नैतिक आदर्श दैवी-लक्ष्य का एक तत्व है। इस प्रकार विश्व एक नैतिक व्यवस्था है। मनुष्य का नैतिक आदर्श ईश्वर के नैतिक पूर्णत्व का अपूर्ण प्रस्फुटन है। ईश्वर, नैतिकता का अन्तिम स्रोत है। वास्तविकता शनैः शनैः ईश्वर के उद्देश्य की प्राप्ति कर रही है। मनुष्य का नैतिक उद्देश्य ईश्वर के नैतिक उद्देश्य का अनिवार्य अंग है। यदि नैतिकता वस्तुगत रूप से सत्य है तो ईश्वर के विश्व उद्देश्य का अनिवार्य अंग होना चाहिये अन्यथा यह मनुष्य के मस्तिष्क की एक आत्मगत उपज मानी जायेगी। इसका मनुष्य के मस्तिष्क के साथ सापेक्ष सम्बन्ध होता है। इसका कोई वस्तुगत एवं सार्वभौमिक महत्व नहीं होता। रैशडैल ने ठीक ही कहा है, "विश्व का कोई उद्देश्य अथवा भौतिक लक्ष्य होना चाहिये जो कि उस लक्ष्य की इच्छा करने वाले मस्तिष्क को तर्कपूर्ण प्रतीत हो तथा उस उद्देश्य की प्रकृति कम से कम अंशतः हमारे नैतिक नियमों द्वारा प्रकट होनी चाहिये। न्याय-संगत मानवीय निर्णय जैसे शुभ ठहराये वह दैवी-उद्देश्य का अंग होना चाहिये तथा उसे उद्देश्य का शेष भाग होना चाहिये जो मानवीय निर्णयों के आधारभूत सिद्धान्तों की कसौटी पर शुभ सिद्ध हो सके। वस्तुगत रूप से न्याय-संगत नैतिकता में विश्व के बौद्धिक स्वरूप का विश्वास निहित है।"[5] विश्व का भी कोई बौद्धिक लक्ष्य होना चाहिये जो पूर्ण विवेक के आधार पर शुभ कहा जा सके। हमारी बुद्धि हमारे सामने चरित्र के सच्चे लक्ष्य के रूप में जो उद्देश्य रखती है वह उस आत्मा का उद्देश्य भी होना चाहिये जो उस बुद्धि का स्रोत है।...जब तक विश्व बुद्धि-प्रधान नहीं होगा तब तक आचार के किसी भी नियम को पूर्णतया बौद्धिक नहीं कहा जा सकता। इसके पूर्णतः बुद्धियुक्त होने के लिये यह आवश्यक है कि यह बुद्धियुक्त

4. थ्योरी ऑफ गुड एण्ड ईविल, खण्ड २, पृष्ठ २१२।
5. वही पृष्ठ, २१३-२१४।

मनीषा द्वारा घोषित शुभ की प्राप्ति के लिये प्रयास करे। यह विश्वास, कि विश्व का बुद्धियुक्त उद्देश्य होता है, निरपेक्ष नैतिकता की एक काल्पनिक मान्यता है। इस प्रकार विश्व की एक ईश्वरीय रचना नैतिकता की एक मान्यता है।

(१२) काल तथा अमंगल की वास्तविकता

(Reality of Time and Evil)—

रैशडैल (Rashdall) के अनुसार वस्तुगत नैतिकता के लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य के नैतिक प्रयास जो कि काल की मर्यादा के भीतर हों, वास्तविक हों तथा क्रमशः उद्देश्य की पूर्ति करते जायें। अतः नैतिकता काल की वास्तविकता तथा उसके वस्तुगत स्रोत को एक पूर्व-मान्यता के रूप में स्वीकार करती है। काल मनुष्य की आत्मा का आत्मगत (Subjective) गुण नहीं है। इसका अस्तित्व वस्तुगत (Objective) है। इसके अभाव से मनुष्यो के स्वतन्त्र नैतिक प्रयत्नों का कोई महत्व और मूल्य नहीं रहेगा। रैशडैल ने कहा है, "कालहीन वास्तविकता का सिद्धान्त विश्व के इतिहास को अर्थहीन तथा मनुष्य के प्रयत्नों को व्यर्थ कर देता है।"[6] काल वास्तविक है, परन्तु काल का अस्तित्व ईश्वर में किस प्रकार होता है, यह हम नहीं जानते। इस प्रकार अशुभ भी वास्तविक है क्योंकि स्वतन्त्र कार्यों द्वारा दोषों पर विजय पाने में ही नैतिकता निहित है। अमंगल का अस्तित्व स्वीकार न करने पर नैतिकता एक निरर्थक कल्पना बन जाती है। ●

6. पूर्व पुस्तक, पृष्ठ २१९–२२०।

(१) नीति की सापेक्षता (Relativity of Morality)

नैतिक सापेक्षतावाद की यह मान्यता है कि सब व्यक्तियों के ऊपर लागू हो सकने वाले सार्वभौम नैतिक नियम नहीं होते। नैतिकता की सापेक्षता को सिद्ध करने के लिए इस मत द्वारा दी गई विभिन्न युक्तियां इस प्रकार हैं— (१) भूतकाल में अलग-अलग समुदायों में अलग-अलग आचार संहितायें रहीं। पूर्व के लोगों में बहु-विवाह का रिवाज रहा। पश्चिम के लोगों में एक विवाह का प्रचार रहा। पहले हिन्दुओं में विवाह-विच्छेद और विधवा-विवाह निषिद्ध माना गया। लेकिन ईसाई और मुसलमान दोनों ने इन्हें वैध माना। भारत के कुछ आदिवासी समुदायों में बहुपतित्व का प्रचार रहा। दूसरे देशों में यह निषिद्ध माना गया। (२) इस समय भी अलग-अलग समुदायों में आचार-संहितायें अलग-अलग हैं। हिन्दू और मुसलमान शराब पीना पाप समझते हैं। लेकिन पाश्चात्य देशों में रात के भोजन के साथ शराब पीना भोजन का एक अनिवार्य अंग है। ईसाई मृत पत्नी की बहिन से शादी करना निषेध मानते हैं। हिन्दुओं के यहाँ यह आम रिवाज है। हिन्दू धर्म में चाचा या मामा की लड़की से शादी करना अधर्म है। लेकिन मुसलमान धर्म में इसकी आज्ञा है। (३) एक ही समुदाय के अन्दर अलग-अलग समयों में अलग-अलग आचार संहितायें पाई जाती हैं। भूतकाल में हिन्दू लोग विधवा का अपने पति की चिन्ता पर पति के साथ सती हो जाना बड़ा पुण्य का काम समझते थे। लेकिन अब वे ही लोग इसे पाप समझते हैं। भूतकाल में, हिन्दुओं में बच्चों का गंगा सागर में फेंकना बड़ा पुण्य समझते थे लेकिन वे ही आज इसे जघन्य अपराध मानते हैं। (४) व्यक्तियों के नैतिक निर्णय उनकी भावनाओं पर निर्भर होते हैं। एक ही व्यक्ति एक ही परिस्थिति में अलग-अलग समयों में अलग-अलग भावों का अनुभव करता है और अलग-अलग व्यक्ति एक ही परिस्थिति में अलग-अलग भावों का अनुभव करते हैं। भाव व्यक्तिगत चीजें हैं, परिवर्तित होते रहते हैं। मनोदशाओं स्वभावों और परिस्थितियाँ के अनुसार उनमें परिवर्तन होते हैं। इसलिए नैतिक निर्णय भावों पर आश्रित होने से सापेक्ष होते हैं। (५) तार्किक प्रत्यक्षवादियों (Logical Positivists) का मत है कि तथाकथित नैतिक निर्णय सार्वभौमिक निर्णय नहीं होते, क्योंकि वे जिन वस्तुओं के बारे में होते हैं उनका अनुभव से सत्यापन (Empirical Verification) नहीं हो सकता। वे तो केवल आज्ञायें, इच्छायें या संवेग के प्रकाशन हैं। नैतिक निर्णयों में जो चाहिये (ought) का अंश होता है उसका सत्यापनीय और इन्द्रिय-गोचर तत्वों में विश्लेषण नहीं हो सकता। (६) वस्तुतः निरपेक्ष नीति-शास्त्र के समर्थकों में निरपेक्ष नीति-शास्त्र के आधार के बारे में कोई मतैक्य नहीं है। वे अलग-अलग

नैतिक मानक मानते हैं। कुछ उपयोगितावाद को मानते हैं; कुछ आत्मोत्कर्षवाद को, कुछ मानक को मूल्य के रूप में मानते हैं, कुछ अन्तःप्रजावादी हैं, कुछ हिंसा और शक्ति के प्रशंसक हैं, कुछ अहिंसा और प्रेम के पुजारी हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि नैतिकता सापेक्ष है।

(२) नीति की सापेक्षता की आलोचना
(Criticism of Relativity of Morality)—

(१) यह सम्भव है कि नैतिक नियम विभिन्न कालों में कई परिस्थितियों के अनुसार बदल जायें। फिर भी उनमें ओत-प्रोत जो नैतिक आदर्श हैं वह सदा एक बना रहता है। अलग-अलग कालों और देशों में जो बदले हुए नैतिक नियम हैं उनके मध्य नैतिक आदर्श निरपेक्ष बना रहता है। लोगों के किसी समुदाय में विशेष-विशेष कालों में जो नैतिक नियम प्रचलित रहते हैं वे निरपेक्ष और अपरिवर्तनशील नैतिक सिद्धांत नहीं हैं। यहाँ तक तो नैतिक सापेक्षतावादी ठीक कहते हैं। वर्तमान आचार-संहितायें विशेष परिस्थितियों में ही लागू होती हैं और उन शाश्वत और अपरिवर्तनशील नैतिक सिद्धान्तों के प्रकाशन हैं। (२) कार्यों के ऊपर दिए जाने वाले नैतिक निर्णय, सर्वोत्तम आचार-संहिता के अनुसार दिये जाते हैं, केवल हमारी अपनी स्थान विशेष की संहिताओं के अनुसार नहीं। (३) विभिन्न आचार संहिताओं की तुलना कर उनका मूल्य आँका जाता है, तत्पश्चात् उनमें से कुछ को उत्कृष्ट और कुछ को निकृष्ट आँका जाता है। इस तरह का मूल्यांकन सिद्ध करता है कि हम नैतिकता की एक निरपेक्ष संहिता में विश्वास करते हैं और उनका अस्पष्ट सा ज्ञान भी रखते हैं। (४) अगर कुछ आचार-संहिताओं को अन्य से श्रेष्ठ न माना जाये तो आदमी का नैतिक प्रगति के लिए जान-बूझकर प्रयत्न करना असम्भव होगा। अगर आचार-संहिताओं का तार्किक दृष्टि से मूल्यांकन न हो तो आदमी के प्रयत्न निरर्थक होंगे और नैतिक प्रगति असम्भव हो जायेगी। (५) नैतिक निर्णयों के साथ-साथ नैतिक भावनायें पाई जाती हैं, लेकिन वे भावनाओं के द्वारा निर्धारित नहीं होते। नैतिक निर्णयों का प्रामाण्य नैतिक भावनाओं के ऊपर आश्रित नहीं होता। उनका प्रामाण्य उनकी वस्तु निष्ठता पर अर्थात् नैतिक तर्क-बुद्धि के द्वारा निर्धारित नैतिक मानक के साथ ऐच्छिक कर्मों की संगति या असंगति होने पर निर्भर होता है। यदि वे भावनाओं प[illegible] आश्रित हों तो वे अप्रमाण होंगे और विश्वास के योग्य नहीं होंगे। हम अपनी मा[illegible] और व्यक्तिगत इच्छाओं के अनुसार कभी नैतिक निर्णय नहीं देते। यदि ऐसा [illegible] रहे तो हमारा सामाजिक जीवन असम्भव हो जायेगा। (६) तार्किक [illegible] (Logical Positivism) ज्ञान का एकमात्र सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं है। [illegible] संशयवाद पैदा होता है जो कि असह्य होता है। नैतिक निर्णयों का स[illegible] है कि इन्द्रियों के अनुभवों से उनका सत्यापन नहीं हो सकता। [illegible] इच्छाओं या संवेगों के प्रकाशन-मात्र हों, तो हम उन्हें सत्य या अस[illegible]

फिर भी हम उनकी नैतिक मानक से संगति या असंगति होने पर उन्हें सत्य या असत्य कहते हैं। वे वस्तुनिष्ठ और सार्वभौम होते हैं। उचित और अनुचित का भेद वस्तुनिष्ठ और सार्वभौम होता है। सत्य बोलना उचित माना जाता है और जान-बूझकर हत्या करना अनुचित माना जाता है। अगर इन नैतिक निर्णयों को असत्य माना जाये तो नैतिक अराजकता उत्पन्न हो जायेगी और शिष्ट सामाजिक जीवन असम्भव हो जायेगा। अतः नैतिक निर्णयों को पुरुषतन्त्र या आत्मगत (Subjective) और सापेक्ष नहीं माना जाता। नैतिक सापेक्षतावाद नैतिकता के लिए घातक है।[7]

(३) नीति का मानक और आध्यात्मिक स्वतन्त्रता

(Moral Standard and Spiritual Freedom—Aurobindo)

नैतिक मानक मनुष्य मनस की सृष्टि है जो अविद्या का नियम (Law of the Ignorance) से परिचालित होता है। मानस मन अहं (ego) बुद्धि के आधीन है। अतः मनुष्य की नीति का मानक पहले समाज की रीति होता है। तत्पश्चात् यह मनुष्य के व्यक्तिगत अन्तःकरण का आत्मगत आदेश अथवा विधि होता है। इसके पश्चात् यह मनुष्य की व्यक्तिगत बुद्धि का निरपेक्ष आदेश (Categorical Imperative) होता है। परन्तु यह भी मनुष्य-मन की सृष्टि है। यह सार्वभौम सामान्य, ईश्वरीय नियम नहीं है। जब कोई व्यक्ति साधन से व्यक्तिगत मनस को अतिक्रम करके अतिमानस (Supermind) के स्तर में स्थिति को प्राप्त करता है, तब वह ईश्वरीय सार्वभौम, निरपेक्ष नियम (Absolute Divine Law) से स्वतः चालित होता है। वह यथार्थ ईश्वरीय निरपेक्ष स्वातन्त्र्य (Absolute Freedom) में भाग लेता है। इस तात्विक दृष्टि से मनुष्य की नीति सापेक्ष है।[8]

---

7. Lilly. *An Introduction to Ethics*, 1955, pp. 13–97.
8. *The Synthesis of Yoga*, 1953, Ch. VII.

३५ सिद्धान्त और व्यवहार

(१) विभिन्न सिद्धान्तों का व्यवहार से सम्बन्ध

(Relation of Different Theories to Practice)—

(१) विधिपरक सिद्धान्त कबीली, सामाजिक, राजनीतिक या ईश्वरीय नियमों का कट्टरता के साथ पालन करने का आदेश देते हैं तथा उन नियमों के उल्लंघन को निषिद्ध मानते हैं। वे सामाजिक, राजनीतिक या धार्मिक आदेशों के द्वारा उन बाह्य नियमों का पालन करवाते हैं। इस प्रकार विधिपरक सिद्धान्त हमारे व्यावहारिक जीवन पर सीधा प्रभाव डालते हैं। (२) वे अन्तः प्रज्ञावादी जो नैतिक निर्णयों को अन्तर्भावना की अव्यवहित और कभी गलत न होने वाली अन्तः प्रज्ञायें मानते हैं वे नैतिक सिद्धान्त में विश्वास नहीं करते। उस स्थिति में सिद्धान्त का व्यवहार पर असर पड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता। लेकिन जो अन्तःप्रज्ञावादी यह मानते हैं कि अन्तर्भावना को बौद्धिक अनुशासन के द्वारा शिक्षित किया जा सकता है और अन्तर्भावना केवल शाश्वत नैतिक नियमों का ही ज्ञान कराती है, वे नैतिक सिद्धान्त के व्यवहार को प्रभावित करने की सम्भावना को मानते हैं। (३) आत्म-पूर्णतावाद, समाज में हर व्यक्ति का जो स्थान होता है उसके अनुसार व्यक्ति की क्षमताओं का विकास करने के लिये कहता है। इससे यह स्पष्ट है कि नैतिक सिद्धान्त व्यवहार को प्रभावित करने की सम्भावना मानता है। लेकिन वह हमें विशेष कर्मों के औचित्य और अनौचित्य को निर्धारित करने की कोई निश्चित कसौटी नहीं बताता। आत्म-पूर्णता का प्रत्यय कुछ अस्पष्ट-सा है। उसमें निश्चितता का अभाव है। आत्म-पूर्णतावाद, आत्म-पूर्णता को प्राप्त करने के लिये कोई निश्चित नियम नहीं बतलाता। (४) आत्म-पूर्णतावाद की अपेक्षा मूल्य का मानक अधिक निश्चयात्मक और ठोस है। वह जिस नैतिक आदर्श को बताता है उसको चरितार्थ करने की बातें भी विस्तार से बताता है। पूर्णता प्राप्त करने के लिये वह व्यवहार में लाने योग्य उपाय भी बताता है। वह साधन मूल्य और साध्य मूल्यों का, अनुत्पादक और उत्पादक मूल्यों का, अस्थायी और स्थायी मूल्यों में परस्पर उचित सम्बन्धों को ध्यान में रखकर आचरण करने को कहता है, इसलिये मूल्य का मानक हमारे व्यावहारिक नैतिक जीवन का अधिक अच्छी तरह पथ-प्रदर्शन करता है। (५) उपयोगितावाद सुखों के कलन को मानता है। अधिकतम संख्या को अधिकतम सुख देने वाले कार्य कौन-से हैं, यह अनुभव और आगमन (Induction) से जाना जाता है। व्यक्तियों को भूतकाल में जो अनुभव प्राप्त हुये हैं उनसे ये सामान्य नियम प्राप्त हुये हैं। नये अनुभव ने उन नियमों में परिवर्तन और परिवर्धन करना जरूरी है। उपयोगितावाद के प्रभाव से अनेक सामाजिक, राजनीतिक और शिक्षा-सम्बन्धी सुधार हुये हैं। फिर

भी सुखों का यथार्थ कलन व्यावहारिक नहीं है। हमारे लिये यह सम्भव नहीं है कि हम बुद्धि के तराजू में असंख्य व्यक्तियों के सुखों और दुःखों को तोल सकें, उनके प्रकारों और मात्राओं को नाप सकें और यह निर्णय कर सकें कि कौन-सा विशेष कार्य अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख का साधक होगा। (६) उद्विकासवादी सुखवादी की यह मान्यता है कि उद्विकास की प्रक्रिया यह निर्धारित करेगी कि उचित क्या है अर्थात् कौन-सी बात जीवन की दीर्घता और सम्पन्नता के लिये सामाजिक स्वास्थ्य (Social Health) के लिये या सन्तुलित प्रकार के आचरण (Equilibrium in Conduct) या नैतिक व्यवस्था के लिये उपयुक्त होगी। इस वाद के अनुसार नैतिक सिद्धान्त का व्यवहार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसे यह दिखाने के लिये कि कौन-से कार्य आत्म-परिरक्षण और जाति-परिरक्षण के लिये उपयुक्त हैं, भूतकालीन पीढ़ियों के संचित अनुभव पर निर्भर रहना पड़ता है। (७) नीट्शे का नैतिक सिद्धान्त अतिमानव के विकास को लक्ष्य मानता है और शक्ति-प्राप्ति, आत्म-स्थापना, आत्म-विवृद्धि-शोषण और प्रभुत्व की नीति पर जोर देता है। नीट्शे का सिद्धान्त हमारे नैतिक जीवन का व्यावहारिक पद-प्रदर्शन करता है, क्योंकि नीट्शे अतिमानव के आदर्श को प्राप्त करने के साधनों को विस्तृत रूप में बताता है, हालाँकि यह आदर्श अस्पष्ट और अनिश्चित है। नीट्शे नैतिक मूल्यों को सापेक्ष मानता है। वह सारे मूल्यों का मूल्यान्तरण करने (Transvaluation of Values) को कहता है और एक ऐसी अवस्था में विश्वास करता है जो शुभ और अशुभ से अतीत होगी। उसका आदर्श सुन्दर होते हुये भी अस्पष्ट और अनिश्चित है। (८) गांधी जी ने अहिंसा को साध्य और साधन दोनों ही माना है। वे सिद्धान्त के व्यवहार पर सीधा प्रभाव मानते हैं। जिस बात में हिंसा और असत्य का समावेश है वह अनुचित है, जिस बात में अहिंसा और सत्य है वह उचित है। गांधी जी नैतिक सिद्धान्त का व्यवहार पर सीधा प्रभाव मानते हैं। उन्होंने सैद्धान्तिक विवेचन इतना नहीं किया है जितना व्यावहारिक नैतिक जीवन बीताने का स्पष्ट उपाय बताया है। ब्रैडले आध्यात्मवादी आत्म पूर्णवाद को मानने वाला है। वह सिद्धान्त का व्यवहार पर कोई प्रभाव नहीं मानता। उसने कर्त्तव्य-मीमाँसा (Casuistry) को नीति-शास्त्र की शाखा नहीं माना है। (९) जी० ई० मूर उपयोगितावादी है, लेकिन सुखवाद को नहीं मानता। वह किंकर्त्तव्यमीमाँसा को नीति-शास्त्रीय गवेषण का साध्य मानता है। उसका मत है कि नीति-शास्त्र का लक्ष्य नैतिक सिद्धान्तों को वास्तविक परिस्थितियों में उत्पन्न होने वाली जटिल और सन्देह पैदा करने वाली समस्याओं में लागू करना है और लोगों को जीवित रहने की कला सिखाना है। (१०) प्लेटो 'चिन्तनमय जीवन' को सक्रिय जीवन से उच्च मानता है, क्योंकि चिन्तनमय जीवन, प्रत्ययों या शाश्वत आद्यरूपों की अनुभवातीत दुनिया में रहता है जबकि सक्रिय जीवन अनित्य ऐन्द्रिय वस्तुओं के जगत् में अर्थात् 'प्रत्ययों' की छाया में रहता है। (११) इसके विपरीत अरस्तू ने यह माना है कि यद्यपि नीति-शास्त्र का लक्ष्य नैतिक

सिद्धान्तों को खोजना है तथापि वह निश्चित रूप से हमारे व्यवहार पर असर डालता है और व्यवहार नैतिक सिद्धान्तों की जांच करके उनका स्पष्ट ज्ञान करा देता है। अरस्तू ने नैतिक हेत्वनुमान (Morol Synogism) म एक साध्य-वाक्य और एक हेतु-वाक्य और एक निष्कर्ष माना है। तर्कना से प्राप्त नैतिक मानक का ज्ञान साध्य-वाक्य (Major Premise) है। किसी विशेष कार्य को देखना और नैतिक मानक क साथ उसकी संगति जानना हेतु-वाक्य (Minor Premise) है। उस कार्य को करना निष्कर्ष (Conclusion) है। अरस्तू की नैतिक हेत्वनुमान की धारणा से यह प्रकट होता है कि कर्म नैतिक जीवन का सार है और वह नैतिक सिद्धान्त से प्रभावित होता है। (१२) एल० ए० रीड और बर्डएव ने बर्गसों के सृजनात्मक विकास (Creative Evolution) के सिद्धान्त को नीति में लागू किया है तथा सृजकता को नैतिकता का सार माना है। यह नैतिक नियमों का दासों की तरह अनुसरण करने से भिन्न बात है। जिस प्रकार कोई कला-कृति सृजनशील होती है उसी प्रकार अच्छा कर्म भी सृजनशील होना है। अच्छा कर्म सारा ही अच्छा होता है। उसका प्रेरक भी अच्छा होता है और परिणाम भी अच्छा होता है। अच्छे कर्म की अच्छाई उसकी विलक्षणत या सृजनशीलता में निहित होती है। वह अतीत में किये हुये और भविष्य में किये जाने वाले कर्मों से सर्वथा भिन्न होता है। बर्डएव ने भी सृजनशीलता, स्वतन्त्रता या विलक्षणता को नैतिकता का सार माना है। नैतिकता व्यक्ति के व्यक्तित्व की विलक्षणता का प्रकाशन है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की आवृत्ति-मात्र नहीं होता। उसका व्यक्तितव विलक्षण होता है, उसका जीवन के प्रति दृष्टिकोण विलक्षण होता है और उसके जीवन की शैली विलक्षण होती है। इसलिये उसके नैतिक कर्मों में विलक्षणता, स्वतन्त्रता और सृजनशीलता होती है। सृजक नीति के समर्थक नैतिक सिद्धान्त का व्यवहार पर सीधा प्रभाव मानते हैं।

कुछ लोगों का मत है कि नीति-शास्त्र सृजनशील (Creative) नहीं है बल्कि तर्कशास्त्र की तरह आलोचनात्मक (Critical) है। जिस तरह तर्कशास्त्र पढ़े बिना ही लोग सही तर्क कर सकते हैं, उसी तरह वे नीति-शास्त्र पढ़े बगैर अच्छा जीवन व्यतीत कर सकते हैं। जिस तरह तर्कशास्त्र का काम यथार्थ तर्क के सिद्धान्तों को खोजना है उसी तरह नीति-शास्त्र का काम कर्मों की अच्छाई को निर्धारित करने वाले नैतिक सिद्धान्तों को खोजना है। जिस प्रकार तर्कशास्त्र को जानने वाला अपने और दूसरों के तर्कों के दोषों को पकड़ लेता है और उन दोषों से बच सकता है, उसी प्रकार नीति-शास्त्र को जानने वाला अपने और दूसरों के कर्मों की बुराइयों को पकड सकता है और भविष्य में उन बुराइयों से स्वयं को बचा सकता है। तर्क-शास्त्र तर्क को उत्पन्न नही करता। इसी तरह नीति-शास्त्र भी नैतिकता को उत्पन्न नहीं करता। ये सैद्धान्तिक विज्ञान हैं और इनका काम सृजनशील होने के स्थान पर आलोचनात्मक है, व्यावहारिक विज्ञापन ा कला नहीं है। नीति-शास्त्र आचार की कला नहीं है और हमें नैतिक जीवन कुशलतापूर्वक बिताने की कला नहीं

सिखाता । वह सारी कलाओं के कार्यों का अध्ययन करता है, उसमें निहित रहने वाले नैतिक नियमों को खोजता है, उन सिद्धान्तों के प्रकाश में उन कार्यों के नैतिक मूल्य का निर्धारण करता है, वैसे ही वैसे तर्क-शास्त्र सारे विज्ञानों के निर्णयों का अध्ययन करके उनमें छिपे हुये तार्किक सिद्धान्त को खोजता है और प्रामाण्य या अप्रामाण्य का इन सिद्धान्तों की रोशनी में निर्धारण करता है। जिस प्रकार एक कुशल तर्कशास्त्री कुतर्क की सहायता से बाल की खाल निकाल कर अपनी अशुद्ध युक्तियों का समर्थन करके दूसरों को धोखा दे सकता है, उसी प्रकार एक कूट किंकर्तव्य-मीमांसक (Casui t) अपने उचित कर्मों का समर्थन करके दूसरों को धोखा दे सकता है। दोनों ही मामलों में सैद्धान्तिक अध्ययन मात्र से व्यावहारिक लाभ होना आवश्यक नहीं है।[1]

(२) चिन्तनशील जीवन और कर्मठ जीवन (Contemplative life and Active life)—

'प्लेटो' ने चिन्तनशील जीवन को कर्मठ जीवन से बहुत ऊँचा माना है क्योंकि इसका विचारों या सनातन आकारों (Eternal Forms) का अनुभवातीत (Transcendental) दुनिया से सम्बन्ध होता है जबकि कर्मठ जीवन का सम्बन्ध संवेदनीय नश्वर वस्तुओं या विचारों की छाया से होता है।

परन्तु अरस्तू के अनुसार नीति-शास्त्र का मुख्य उद्देश्य नैतिक सिद्धान्तों की खोज है तथा नैतिक सिद्धान्तों का नैतिक व्यवहार पर प्रभाव अवश्य पड़ता है क्योंकि नैतिक व्यवहार से ही नैतिक सिद्धान्त के औचित्य की परीक्षा होती है और व्यक्ति को इसका स्पष्ट ज्ञान होता है। उसकी यह मान्यता है कि नैतिक न्याय में व्याप्ति-वाक्य, पक्ष-वाक्य और निष्कर्ष सम्मिलित होते हैं। बुद्धि द्वारा नैतिक माप-दण्ड का ज्ञान व्याप्ति ज्ञान है। विशेष क्रिया का प्रत्यक्ष और नैतिक माप-दण्ड के साथ उसके सामञ्जस्य का ज्ञान पक्षज्ञान है। क्रिया का करना निष्कर्ष है। अरस्तू के नैतिक न्याय के प्रत्यय से यह स्पष्ट है कि कर्म नैतिक जीवन का सार है जिस पर नैतिक सिद्धान्तों का प्रभाव पड़ता है।

(३) नीति-शास्त्र और तर्क-शास्त्र (Ethics and Logic)—

कुछ विचारक यह मानते हैं कि नीति-शास्त्र रचनात्मक नहीं है, बल्कि तर्क-शास्त्र की तरह आलोचनात्मक है। जिस प्रकार तर्क-विद्या का अध्ययन किये बिना शुद्ध चिन्तन असम्भव है। उसी प्रकार नीति-शास्त्र के अध्ययन के अभाव में अच्छा जीवन व्यतीत कर पाना असम्भव नहीं। जिस प्रकार तर्क-विद्या का उद्देश्य शुद्ध विचारों के नियम खोजना है उसी प्रकार नीति-शास्त्र का उद्देश्य भी ऐसे नियमों की खोज और प्रस्थापना करना है जिससे मनुष्यों को सत्कर्मों का ज्ञान हो सके। तर्क-शास्त्र का विद्यार्थी अपने और दूसरों के चिन्तन की अशुद्धियों से सहज ही में अवगत हो सकता है और उनका निवारण कर सकता है। इसी प्रकार नीति-शास्त्र का विद्यार्थी अपने

1. एन इण्ट्रोडक्शन टू इथिक्स, २६३–६४।

और दूसरों के आचरण के दोषों को ज्ञात कर सकता है और अपने भावी कर्मों में सुधार ला सकता है। जिस प्रकार तर्क-विद्या के अध्ययन से मनुष्य में चिन्तन की योग्यता नहीं होती उसी प्रकार नीति-शास्त्र से भी नैतिकता उत्पन्न नहीं होती। सैद्धान्तिक विज्ञान के रूप में इन दोनों का कार्य आलोचनात्मक है, रचनात्मक नहीं। यह व्यावहारिक विज्ञान या कला नहीं है। नीति-शास्त्र आचरण की कला नहीं है, यह हमें नैतिक जीवन व्यतीत करने का कौशल नहीं सिखाता। सभी कलाओं के आधार-भूत नैतिक सिद्धान्तों को निश्चित करने के लिए यह उनके कार्यों का अध्ययन करता है। जिस प्रकार तर्क-शास्त्र सभी विज्ञानों के निर्णयों में निहित चिन्तन के नियमों को खोजने के लिए उनका अध्ययन करता है और इन नियमों के अनुसार उनकी शुद्धता और अशुद्धता निश्चित करता है, उसी प्रकार नीति-शास्त्र भी समस्त कलाओं के आधारभूत नैतिक सिद्धान्तों को निश्चित करने के लिये उनकी कृतियों का अध्ययन करता है और नैतिक सिद्धान्तों के अनुसार उनका मूल्यांकन करता है। जिस प्रकार एक कुशल तार्किक अपने गलत तर्क को भी दिखावटी शब्दजाल और बाल की खाल निकालने वाली दलीलों द्वारा दूसरों को धोखा देकर सिद्ध कर सकता है, उसी प्रकार एक चालक कर्त्तव्याकर्त्तव्य विशेषज्ञ (Casuists) भी बुरे कर्म को अपने तर्कों द्वारा अच्छा सिद्ध कर सकता है। यह बात दोनों के सम्बन्ध में सत्य है कि इनके सैद्धान्तिक अध्ययन से कोई व्यावहारिक लाभ नहीं होता। ●

(१) राज्य (State)—

राज्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण सामाजिक और नैतिक संस्था है। "यह सामाजिक सम्बन्धों का सर्वोच्च नियामक है।" यह अपने नागरिकों के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करता है। यह अराजकता और कानून के व्यतिक्रम को रोकता है। यह विधान निर्माण करता है और उसे लागू करता है। इसका पृष्ठपोषक अधिभौतिक आदेश है। वह नागरिकों के शान्तिपूर्ण जीवन का आश्वासन देता है। न्याय और उपकार इसके नैतिक कार्य हैं। इसका प्रारम्भिक कार्य न्याय करना है और गौण कार्य उपकार करना है। इसे उन अपराधियों को दण्ड देना चाहिये जो दूसरों के अधिकारों का अपहरण करते हैं और इसे अपने नागरिकों के भौतिक और आध्यात्मिक कल्याण का उत्कर्ष करना चाहिये।

नैराज्यवाद (Anarchism) मानव स्वभाव को तत्वतः अच्छा समझता है। मनुष्य की स्वतन्त्रता के ऊपर जितने भी कृत्रिम बन्धन हैं उनको हटा देना चाहिये। राज्य-शासन अनावश्यक है। यह तत्वतः एक बुराई है, क्योंकि इसका आधार बल-प्रयोग है। अतः राज्य का उन्मूलन होना चाहिये। आदर्श समाज-व्यवस्था प्रेम और सहानुभूति पर आश्रित सहयोगपूर्ण स्वतन्त्र समाज है।

यह मत भ्रान्तिपूर्ण है। मानव स्वभाव पूर्णतया अच्छा नहीं है। यह शुभ और अशुभ का मिश्रण है। राज्य को अपने नागरिकों के आत्म-लाभ और आत्म-विकास के हेतु बल-प्रयोग द्वारा मनुष्य के बुरे स्वभाव का विरोध करना चाहिये। उसे दूसरों के आक्रमणों से प्रत्येक नागरिक के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करनी चाहिये तथा आत्म-प्रकाशन के लिये उसे अधिक से अधिक अवसर देने चाहियें। वस्तुतः नैराज्यवादी का स्वप्न सिद्ध होना असम्भव है। यह स्वतन्त्रता के बहाने निषिद्ध कर्मों को करने की अनुमति लेना चाहता है। राज्य का उन्मूलन करने का कोई भी प्रयत्न समाज-व्यवस्था और मानव-हित के लिये घातक होगा।

(२) क्या राज्य अहिंसा पर आधारित हो सकता है ?
(Can the State be based on Non violence) ?

राज्य को जनता की सामान्य इच्छा पर आधारित होना चाहिये। जनता की सामान्य इच्छा राज्य का नैतिक आधार है। किन्तु उसे शासन बल प्रयोगपूर्वक चलाना चाहिये। वह शासन के कार्यों को प्रेम और नैतिक प्रोत्साहन सम्पन्न नहीं कर सकता। भौतिक दण्डविधान के आश्रय के बिना शासन निष्क्रिय और ढीला पड़ जाता है। वह सामाजिक सम्बन्धों का सर्वोच्च नियामक है। अतः नागरिक के ऊपर उनके व्यक्तिगत और सामान्य शुभ के लिये उसे अपने नियमों को लादने की शक्ति

होनी चाहिये। राज्य का जो बल-प्रयोग प्रतीत होता है वह अन्तिम रूप से नागरिकों के उत्कृष्ट आत्माओं की इच्छाओं का ही आरोपण है। "राज्य के आदेश का पालन नागरिक के अच्छे आत्मा के ही आदेश का पालन है।" कोई भी अन्य सामान्य व्यवस्था राज्य की स्थानापन्न नहीं हो सकती। अहिंसा भी उसका आधार नहीं हो सकता। उसे अपराधियों को दण्ड देना पड़ता है; भौतिक बल द्वारा उपद्रवों और विद्रोहों को शान्त करना पड़ता है; और हिंसा से आक्रमण का प्रतिकार करना पड़ता है। अहिंसामूलक राज्य को व्यवहार्य समझना मनुष्य के शुभाशुभ तत्वों से निर्मित जटिल स्वभाव को विस्तृत कर देना है। सामरिक शक्ति राज्य का अत्यावश्यक साधन है।

(३) क्या राज्य स्वयं एक लक्ष्य है ? (Is the State an End)—

राज्य स्वयं एक लक्ष्य नहीं है। नागरिकों के सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति का उपाय है। आत्म-लाभ अथवा व्यक्तित्व की सिद्धि अथवा सर्वोच्च मूल्यों की प्राप्ति उच्चतम व्यक्तिगत और सामाजिक शुभ है। राज्य को समाज की दृढ़ और शान्तिपूर्ण व्यवस्था का आश्वासन देना चाहिये जिसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति सर्वोच्च शुभ की सिद्धि कर सके। उसे व्यक्तियों को आत्मप्रकाशन और आत्म-लाभ के लिये अधिक से अधिक अवसर प्रदान करने चाहियें। राज्य को व्यक्तियों की स्वतन्त्रता अपहरण नहीं करनी चाहिये और उन्हें जड़ यन्त्र के तुल्य नहीं बनाना चाहिये। राज्य को व्यक्ति का स्थान ग्रहण नहीं करना चाहिये। यदि वह उसकी स्वतन्त्रता का हनन करता है, तो यह उसके अपने नैतिक प्रयोजन के लिये घातक होगा।

(४) क्या व्यक्ति को विद्रोह का अधिकार है ?
(Has a Person Right to Revolution ?) —

राज्य सामाजिक सम्बन्धों का सर्वोच्च नियामक है। यह सर्वाधिक विशाल संघ है, जिसमें अन्य संघों का समावेश होता है। यह हमारे जीवन और सम्पत्ति को सुरक्षित रखने का आश्वासन देता है। अतः नागरिकों का कर्त्तव्य है कि उसकी प्रभुता का सम्मान करें। उच्छृखलतापूर्वक उसकी प्रभुता में हस्तक्षेप करके अव्यवस्था और अराजकता को आमन्त्रित नहीं करना चाहिये। वे राजनैतिक व्यवस्था की आलोचना कर सकते हैं और उनमें सुधार करने का प्रयत्न कर सकते हैं। नागरिकों को उस समय तक राज्य के विरुद्ध खुले आम विद्रोह नहीं करना चाहिये जब तक कि राज्य अपने कार्यों का संचालन सुचारु रूप से करता है।

सामान्य इच्छा ही राज्य का नैतिक आधार है। उसे सामान्य जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करना चाहिये। किन्तु यदि उसके विपरीत, राज्य पशुबल पर स्थापित है और जनता की सामान्य इच्छा का निर्दयतापूर्वक विरोध करता है, तो जनता को उसके विरुद्ध विद्रोह कर उसे ठीक कर देने का नैतिक अधिकार प्राप्त है। केवल अपवादात्मक परिस्थितियों में लोगों को क्रान्ति करने का अधिकार है।

किसी तुच्छ उद्देश्य के लिये स्थायी राजनैतिक व्यवस्था में हस्तक्षेप करने तथा वैधानिक अधिकारियों के विरुद्ध चलने का उन्हें कोई अधिकार नहीं है, जिससे असंख्य जनसमुदाय का जीवन और सम्पत्ति खतरे में पड़ जाये। किसी योग्य तथा दूरदर्शी नेता के नेतृत्व में ही लोगों को असाधारण परिस्थितियों में राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने का नैतिक अधिकार है। किसी विविक्त व्यक्ति को जिसका कोई अनुमान करने वाला नहीं है जनता को सामान्य इच्छा के विरुद्ध करने का अधिकार नहीं है। इस प्रकार किसी व्यक्ति को गम्भीर संकट में ही विद्रोह करने का अधिकार है।

(५) युद्ध (War)—

राज्य सर्वोच्च प्रभु-शक्ति है। यदि राज्य दूसरे को राज्य का भय होता है, तो प्रत्येक अवस्था में उसकी रक्षा करनी चाहिये। यद्यपि राज्य आम जनता की इच्छा पर आधारित है, तथापि वह भौतिक बल से अपने प्रभुत्व को स्थिर रखता है। अतः अपनी पूर्णता और प्रभुत्व की रक्षा हेतु उसे भौतिक बल का आश्रय लेना चाहिये। समाज की वर्तमान अवस्था में यह अकल्पनीय है कि अहिंसा और नैतिक प्रोत्साहन के द्वारा आक्रमण का सफलतापूर्णक प्रतिरोध कर सके। अतः युद्ध किसी शुभ उद्देश्य की सिद्धि के लिये नैतिक दृष्टि से उचित है। उदाहरणार्थ, वह युद्ध उचित है जो किसी राज्य अथवा उसके मित्र-राज्य की प्रभु-सत्ता के लिये भयप्रद आक्रमणकारी के विरुद्ध अथवा निर्बल और अरक्षित जनता पर आक्रमण करने वाले के विरुद्ध लड़ा जाता है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिये और दासता से मुक्ति पाने के लिये युद्ध उचित है। दूसरों को आधीन करने के लिये युद्र अशुभ है। आर्थिक और राजनैतिक साम्राज्यवाद के लिये युद्ध अनुचित है, हिन्दू, मुस्लिम तथा ईसाई धर्म पवित्र उद्देश्य के लिये युद्ध का अनुमोदन करते हैं। अतः ऐसे युद्ध को धर्म की अनुमति प्राप्त है।

युद्ध ने नैतिक और सामाजिक विकास में एक समाजीकरण, व्यक्तिकरण और बुद्धिकरण के प्रतिनिधि के रूप में महत्वपूर्ण भाग लिया है।

(१) युद्ध विभिन्न वर्गों के लोगों को और विरोधी रुचि के लोगों को भी निकट ले आता है तथा सामान्य सूत्र में उन्हें आबद्ध कर देता है। लोग एक सामान्य उद्देश्य के लिये अपने व्यवसायों को छोड़ देते हैं, पारस्परिक द्वेष को भूल जाते हैं, और आवश्यकता पड़ने पर अपना सब कुछ, जीवन तक का उत्सर्ग कर देते हैं। युद्ध से राष्ट्रों का जन्म हुआ है। युद्धों ने छोटे-छोटे समुदायों को मिलाकर उन्हें एक सामान्य शासन के अन्तर्गत कर दिया है।

(२) युद्ध व्यक्तिकरण का एक महत्वपूर्ण साधन रह चुका है। यह सभी सम्बन्धित व्यक्तियों की उत्तम शक्तियों को जागृत करता है, चाहे वे अफसर, साधारण सिपाही, इन्जीनियर, आहतों की गाड़ी के चालक, शल्यक्रियाविशारद, शास्त्रों के निर्माता हों, चाहे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सामान्य प्रयत्न के सहायक उपादानों

के निर्माता हों। यह महिलाओं की उत्तम शक्तियों को भी उत्तेजना देता है, चाहे वे नर्स बनकर सेवा करें, युद्ध-भूमि में काम करने वाले लोगों की सहायता के लिये घर पर रहकर विविध प्रकार के उपयोगी काम करें, चाहे उन कामों को सम्भालें जिन्हें शान्तिकाल में पुरुष करते थे। युद्ध के भार से अनेक तुच्छ पुरुष अचानक असाधारण साहस के कारण ख्याति प्राप्त कर लेते हैं।

(३) युद्ध बुद्धिकरण का भी साधन रह चुका है। युद्ध के प्रयोजन के लिये अनेक वैज्ञानिक आविष्कार हो चुके हैं। वायुयान, पानी के अन्दर चलने वाले जहाज, सुरगें, टैंक, पैराशूट, विषैली गैस, संश्लेषात्मक भोजन इत्यादि का आविष्कार युद्ध के उद्देश्य के लिये किया गया है। राइट (Wright) ने कहा है—"सभी युगों में कला-कौशल का अधिकांश उत्कर्ष युद्ध की आवश्यकताओं के कारण हुआ है। सैनिक काल तथा विज्ञान विचार और कुशलता की उत्कृष्टतम शक्तियों को अद्भुत करते हैं। साहित्य, संगीत, भवन-निर्माण, चित्रकारी और मूर्तिकला में जो कुछ भी महान् है उसका अधिकांश युद्ध के कारण प्रादुर्भूत हुआ है।"

तथापि युद्ध अकथनीय मानव यन्त्रणाओं का कारण है। वह असंख्य युवकों को, जो राष्ट्र को सुशोभित करने वाले हैं, अंगहीन और निर्बल कर देता है तथा उनका हनन कर डालता है यह उनकी माताओं, स्त्रियों और बच्चों को तीव्र वेदना पहुँचाने का कारण है। यह युद्ध में संलग्न राष्ट्रों का आर्थिक विनाश कर डालता है। यह वाणिज्य, व्यापार, उद्योग, शिक्षा तथा नागरिक जीवन के अन्य पक्षों का ह्रास कर देता है। इसके कारण निर्बलों की स्वाधीनता छिन जाती है। इससे उनका आर्थिक शोषण, भुखमरी तथा इसके फलस्वरूप नैतिक पतन हो जाता है। इससे विजयी राष्ट्रों पर प्रतिक्रिया होती है और उनके जातीय अभिमान और उद्धतता में वृद्धि हो जाती है, जिनसे उनमें आक्रमणकारी देशभक्ति और साम्राज्य-वाद का प्रादुर्भाव हो जाता है। इससे वे उत्तरोत्तर विलासप्रिय, और स्त्रियों के तुल्य हो जाते हैं। युद्ध विजयी और विजित दोनों राष्ट्रों का नैतिक पतन कर देता है। यह राष्ट्रों के मध्य घृणा, द्वेष, प्रतिद्वन्द्विता और ईर्ष्या उत्पन्न कर देता है।

युद्ध के आधुनिक यन्त्र मानव-जीवन और सम्पत्ति के लिये भयानक रूप से विनाशकारी हैं। बमवर्षक, लड़ाकू और अन्य प्रकार के वायुयान नागरिक आबादी के ऊपर मौत की वर्षा करते हैं और कस्बों तथा शहरों को धाराशायी कर देते हैं। वे सैनिक उपकरणों, औद्योगिक क्षेत्रों तथा जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं को ध्वस्त कर देते हैं। छाताधारी सैनिक अचानक लोगों पर छापा मारते हैं और उनके शान्तिमय नागरिक जीवन की गति का अवरोध कर देते हैं। आधुनिक युद्ध और उसके सब ध्वंसकारी उपकरण मानव-जाति को पीड़ित करने वाले सर्वाधिक भयानक साधन हैं। अत: बहुसंख्यक महान् विचारक आज निश्चित-रूप से युद्ध के विपक्ष में हैं और प्रत्येक देश के बहुसंख्यक जन शान्तिवादी और युद्ध-विरोधी हैं, किन्तु वे राष्ट्रों का नेतृत्व नहीं करते।

समय-समय पर युद्ध को अवैधानिक घोषित करने व अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को मध्यस्थता द्वारा निपटाने व समझौता, सन्धि, नि:शस्त्रीकरण, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों की स्थापना करने के प्रयास, राष्ट्र संघ द्वारा किये जा रहे हैं। किन्तु, अब तक इन उपायों से सफलता नहीं मिली है। राष्ट्र संघ (League of Nations) से बड़ी उच्च आशायें थीं, किन्तु, द्वितीय महायुद्ध से पूर्व ही उसकी स्वाभाविक मृत्यु हो गयी। वस्तुत: राष्ट्र संघ, शक्तिशाली साम्राज्यवादी राष्ट्रों द्वारा अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिये, स्थापित किया गया सगठन था। इसलिये धीरे-धीरे नवीन महत्वाकांक्षी राष्ट्रों ने जो तत्कालीन व्यवस्था से असंतुष्ट थे, इस संघ से नाता तोड़ दिया और उसकी स्थिति में बाधा दी। यह संघ अबीसीनिया को इटली के आक्रमण से नहीं बचा सका। यह जापान को भी मंचूरिया को पराजित करने और चीन का विनाश करने से नहीं रोक सका। द्वितीय युद्ध के पश्चात् सयुक्त राष्ट्र संघ (United Nation) ने अपना जीवन प्रारम्भ किया है। युद्ध का उन्मूलन करना इसका भी लक्ष्य है, किन्तु इसमें वही पुरानी ईर्ष्या तथा प्रतिद्वन्द्विता दृष्टिगोचर हो रही है।

प्रथम महायुद्ध, युद्ध को समाप्त करने के उद्देश्य से लड़ा गया था। इसे युद्ध का अन्त करने के लिये युद्ध कहा गया था। यह कहा जाता था कि वह विश्व को प्रजातन्त्र के लिये सुरक्षित बनाने के लिये युद्ध है। दूसरे महायुद्ध का लक्ष्य भी यूरोप के प्रजातन्त्रों की रक्षा करना बताया गया था। परन्तु युद्ध से युद्ध का अन्त होना असम्भव है। हिंसा, प्रतिद्वन्द्विता और ईर्ष्या के द्वारा पुष्ट युद्ध सदैव युद्ध का जनक होगा। युद्ध का अन्त केवल पारस्परिक सदिच्छा और समझौते, आर्थिक आवश्यकताओं के पारस्परिक समायोजन, तथा राष्ट्रों की प्रभुता के न्यूनीकरण पर आधारित विश्व-संघ स्वतन्त्र राष्ट्रों के संघ अथवा मनुष्य जाति के स्वतन्त्र समाज के ही द्वारा हो सकता है। जब तक विभिन्न राष्ट्रों की आर्थिक आवश्यकताओं का परस्पर सन्तोषजनक समायोजन नहीं हो जाता और युद्ध के कारणों का पूर्णतया विनाश नहीं हो जाता, तब तक युद्ध को अवैधानिक करने की चिल्लाहट व्यर्थ रहेगी। युद्ध का अन्त नहीं हो सकता, जब तक कि लोग आक्रमणात्मक राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद का परित्याग नहीं करते तथा उदात्त और विचारपूर्ण देश-भक्ति और राष्ट्रवाद को न छोड़ते हुये किसी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की आधीनता स्वीकार नहीं करते। शक्तिशाली साम्राज्यवादी राष्ट्रों का निरन्तर संघष और तज्जन्य विनाशपूर्ण नि:शस्त्रीकरण और अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के लिये मार्ग प्रस्तुत कर सकते हैं विश्व-संघ के मार्ग में जो सबसे बड़ा कटक है वह एशिया और अफ्रीका के निर्बल, अरक्षित तथा अशिक्षित लोगों की सत्ता। कोई भी उन्हें तब तक स्वतन्त्र नही करेगा जब तक कि वे इसके योग्य नहीं होते। उन्हें बलवान, शिक्षित, अनुशासनयुक्त, संगठन तथा राजनैतिक चेतना-युक्त होना पड़ेगा। वे तभी स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकते हैं और राष्ट्रों के भ्रातृ-मण्डल के आत्म-सम्मान युक्त सदस्य हो सकते हैं। काल की गति

उसके पुनर्जागरण की क्रिया को क्षिप्र करेगी और साम्राज्यवादी राष्ट्र की लोलुपता का निरोध करेगी। किन्तु बल की समानता पारस्परिक सदिच्छा और समझौता, सहकारित्व और भ्रातृत्व का भाव जो एक दृढ़ अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को स्थापित करने के लिये आवश्यक है सभी दुर्लभ है और युद्ध का अन्त एक सुदूरस्थ वस्तु है।

(६) अनिवार्य सैनिक भर्ती (Conscription)—

न्यायपूर्ण उद्देश्य के लिये युद्ध उचित है। कभी-कभी ऐसे गम्भीर संकट के अवसर भी आते हैं जब कोई राज्य किसी उच्च उद्देश्य के लिये अपने सब युद्धक्षम और उपयुक्त शरीर वाले नवयुवकों को अनिवार्य भर्ती कर सकता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी देश को आक्रमण का भय है या कोई आक्रमणकारी वस्तुत: उसके ऊपर आक्रमण कर देता है, तो राज्य को अनिवार्य भर्ती तथा सब युवकों को लड़ने के लिये विवश करने लिये विधान निर्माण करने का पूर्ण अधिकार है, क्योंकि व्यक्तिगत शुभ का स्थान सदैव सार्वजनिक शुभ से गौण होना चाहिये। जहाँ पर राज्य के द्वारा बल-प्रयोग अन्ततोगत्वा व्यक्तियों के शुभ की वृद्धि करता है, यह उन्हें आत्म-प्रकाशन तथा आत्म-लाभ के लिये अधिक उपयुक्त क्षेत्र प्रदान करता है। किन्तु कुछ दशाओं में जहाँ सब लोग दृढ़ता के साथ युद्ध के विरोधी हैं, अपवाद भी होने चाहियें यदि इससे युद्ध संचालन पर विपरीत प्रभाव न पड़े। कभी-कभी छोटे प्रजातन्त्रात्मक राज्य के लिये श न्तिवादियों तथा युद्ध-विरोधियों की अन्त:करण की स्वतन्त्रता देना दुष्कर हो जाता है, जबकि वह अपनी सत्ता बचाने के लिये किसी तानाशाही राज्य से जीवन और मृत्यु के संघर्ष में संलग्न होता है। ऐसे राज्य के लिये अपनी प्रभु-सत्ता और स्वतन्त्रता के त्याग की अपेक्षा व्यक्ति की स्वतन्त्रता दमन करना अधिक अच्छा है। अधिक शुभ के लिये कम शुभ का सदैव उत्सर्ग कर देना चाहिये।

(७) राष्ट्रवाद अथवा देश-भक्ति (Nationalism and Patriotism)—

देश-भक्ति राष्ट्रवाद की भावना का एक उत्कृष्ट रूप है। राष्ट्रीय राज्यों का उदभव देशभक्ति की भावना के विकास का साथी रहा है। यह एक मानसिक अवस्था है जिसमें अपने राष्ट्रीय राज्य के प्रति वफादारियों को सब अन्य वफादारियों से जैसे परिवार, गोत्र या सम्प्रदाय के प्रति वफादारी से उत्कृष्ट माना जाता है। देशभक्ति, स्वार्थ, वर्गवाद, साम्प्रदायिकता तथा प्रान्तीयता को भंग कर देती है। इससे सामाजिक एकता की भावना का विस्तार हो जाता है। इससे नागरिकता की बुद्धि गहन हो जाती है और सार्वजनिकता की भावना का उदय होता है। देशभक्त अपने देश से प्रेम करता है। अत: वह अपने नागरिक और राजनैतिक कर्त्तव्यों के प्रति सच्चा होता है। वह अपने वोट देने के अधिकार का विचार और बुद्धिपूर्वक प्रयोग करता है। वह टैक्स देता है और नियमों का पालन करता है। वह यथा-शक्ति अपने साथी नागरिकों के हित और सुख के लिये प्रयत्न करता है। उसे अपने देश पर अभिमान है तथा उसे अपने देश के सम्मान से उत्साह होता है। वह युद्धकाल में देश-सेवा के लिये तत्पर होता है, और उसके लिये अपने जीवन तक का

उत्सर्ग कर देता है । देश-भक्ति की भावना व्यक्ति की उत्कृष्टतम शक्तियों को जाग्रत करती है और उसे उच्च स्तर पर पहुँचा देती है । यह साहस, वीर्य और आत्मोत्सर्ग का उद्रेक करती है । इसके अतिरिक्त वह एक सच्चा देशभक्त अन्य स्वतन्त्र राष्ट्रों का आदर करता है । वह निर्बल और अविकसित राष्ट्रों के प्रति सहानुभूति रखता है । उसे दूसरे राष्ट्रों के सद्गुण का भी ज्ञान रहता है । वह कदापि दूसरे राष्ट्रों के मूल्यों पर अपने राष्ट्र की वृद्धि का विचार नहीं रखता । साम्राज्यवादी प्रवृत्ति उसके अन्दर नहीं होती । वह सम्पूर्ण मानव जाति को अपनी विस्तृत देश-भक्ति का विषय बनाकर उसे अन्तर्राष्ट्रीयतावाद (Internationalism) में विकसित कर सकता है ।

किन्तु विकृत देश-भक्ति एक बड़ा दोष है । निर्दोष राष्ट्रवाद या देश-भक्ति के विरुद्ध दोषपूर्ण राष्ट्रवाद या आक्रमणात्मक देश-भक्ति है । आक्रमणात्मक देश-भक्ति वह दोष है जो व्यक्ति के अन्य राष्ट्रों को दलित और निन्दित करते हुये राष्ट्र को उन्नत बनाने के लिये प्रेरित करता है । यह केवल अपने राष्ट्र को ही ईश्वर के द्वारा चुना हुआ मानता है और अन्य राष्ट्र को उसकी अपेक्षाहीन समझता है । यह उसका दृढ़ विश्वास होता है । वह साम्राज्यवाद (Imperialism) का समर्थक बन जाता है और सोचता है कि उसकी सरकार को अन्य राष्ट्रों का शोषण करना चाहिये तथा शोषित राष्ट्र का उसके राष्ट्र के विरुद्ध कोई अधिकार ही नहीं है । इस प्रकार विकृत देश-प्रेम आक्रमणात्मक राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद में पतित हो जाता है । वह अन्य राष्ट्रों के विरुद्ध शत्रुभाव को जन्म देता तथा युद्ध और उसके परिणाम मानव-यन्त्रणा का कारण बनते हैं । शक्तिशाली और स्वार्थी राष्ट्रों की देश-भक्ति ने शुभ से अधिक अशुभ को जन्म दिया है । किन्तु जब उदात्त स्वार्थ और अन्य राष्ट्रों के अधिकारों और हित के लिये उचित सम्मान के द्वारा इसका परिष्कार हो जायेगा तथा मनुष्य जाति के भ्रातृभाव के द्वारा यह परिवर्तित हो जायेगा तो यह मानवता के अत्यधिक हित और सुख को जन्म देगी ।

(८) रंगभेद (Colour Prejudice)—

आक्रमणात्मक राष्ट्रवाद वर्गभेद और जातिवाद को प्रोत्साहन देता है । यूरोप तथा अमेरिका के श्वेत साम्राज्यवादी राष्ट्र पिछड़े हुये अश्वेत लोगों के प्रति द्वेष और घृणा का भाव रखते हैं । अमेरिका के स्वतन्त्रता-प्रिय लोगों द्वारा नीग्रो और रैड इण्डियनों का दमन सर्वविदित है । अफ्रीका में श्वेत उपनिवेशवादी वहाँ के आदिम-वासियों को पाशविक यन्त्रणा देते हैं । यूरोप की श्वेत जातियाँ एशिया और अफ्रीका के अश्वेत लोगों से घृणा करती हैं तथा उनका पूर्ण रूप से शोषण करती हैं । नाजी जर्मनी का यहूदी विरोधी आन्दोलन अंशत: जाति-भेद का परिणाम था । विकृत राष्ट्र-वाद का पालन-पोषण रंग-भेद और जाति-भेद से होता है । यह तत्वत: एक नैतिक दोष है । किसी राष्ट्र को अपनी सभ्यता, संस्कृति तथा अपनी जाति अथवा जातियों को सुरक्षित रखने के लिये सभी सम्भव उपायों का आश्रय लेने का अधिकार है ।

किन्तु उसे किसी अन्य राष्ट्र या जाति से घृणा नहीं करनी चाहिये। व्यक्ति स्वयं साध्य है; उनके व्यक्तित्व की महत्ता का सम्मान होना चाहिये। उन्हें साधन मात्र नहीं समझना चाहिये। यदि उन्हें अन्य व्यक्तियों की स्वार्थ-पूर्ति का साधन मात्र बनाया जाता है, तो वे स्वयं नैतिक दृष्टि से पतित हो जाते हैं और अपने स्वामियों को भी पतित बना देते हैं। नैतिक अपराध अपने प्रवर्त्तक पर प्रतिक्रिया करता है और उससे बदला लेता है।

(९) राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद (Nationalism and Internationalism)—

अन्तर्राष्ट्रवाद देश-प्रेम या राष्ट्रवाद का स्वाभाविक विस्तार है। सच्चा देश-भक्त जो अपने राष्ट्र से प्रेम करता है अन्य राष्ट्रों के प्रति द्वेष और घृणा का भाव नहीं रखता। वह अन्य राष्ट्रों को समझने का तथा उन्हें अपने राष्ट्र को समझने देने का प्रयत्न करता है। वह जानता है कि अन्य राष्ट्रों के लोग अपने देश से प्रेम करते हैं और उसके अपने देश वासियों के समान अधिकार रखते हैं। उसका विश्वास है कि सभी राष्ट्रों के समान अधिकार, आशायें और आकांक्षायें हैं। उसका विश्वास है कि सभी राष्ट्रों के मध्य प्रतियोगिता, द्वेष और युद्धों का कारण अधिकांशत: एक दूसरे को न समझना और सदिच्छा का अभाव है। उसका विश्वास है कि यदि सभी मनुष्य विचारयुक्त और उदात्त देश-प्रेम से प्रेरित हों तो वे समझ जायेंगे कि उनके अपने राष्ट्र के अन्तिम उद्देश्यों की प्राप्ति एकमात्र अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा, न्याय और सदिच्छा से पूर्ण ससार में ही हो सकती है। अन्तर्राष्ट्रवाद उदात्त देश-प्रेम का उत्कर्ष है। यह राष्ट्रवाद का विरोधी नहीं है। यह राष्ट्रवाद का पूर्णरूप है। अन्तर्राष्ट्रवाद का एक विकृत रूप विश्ववाद है जो राष्ट्रीय देश-प्रेम को एक त्याज्य संकीर्णता समझता है। सच्चा अन्तर्राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद के अधिकार का निषेध नहीं करता, बल्कि उसका सीमाविस्तार करके सम्पूर्ण मानवता को उसमें समाविष्ट करता है।

(१०) प्रजातन्त्रवाद बनाम तानाशाही (Democracy and Dictatorship)—

द्वितीय विश्व-युद्ध को प्रजातन्त्रवाद तथा तानाशाही के मध्यम आदर्श रक्षा के लिये कहा जाता है। प्रजातन्त्रवाद व्यक्ति की स्वतन्त्रता का पक्ष ग्रहण करता है, तानाशाही राज्य के निरपेक्ष प्रभुत्व का पक्ष लेती है। प्रजातन्त्रवाद का लक्ष्य व्यक्ति की अधिकतम स्वतन्त्रता है, तानाशाही व्यक्ति की प्राय: समग्र स्वतन्त्रता को समाप्त करती है। प्रजातन्त्र शक्ति को विचार और उसके प्रकाशन की स्वतन्त्रता देता है। तानाशाही इन स्वतन्त्रताओं का दमन करती है। यह व्यक्ति के जीवन का पूर्ण नियन्त्रण और सैनिकीकरण चाहती है। दोनों का लक्ष्य व्यक्ति का अधिकतम हित तथा सुख है। एक व्यक्ति अधिकतम स्वतन्त्रता के द्वारा उसे प्राप्त करने का यत्न करता है; दूसरा राज्य के अधिकतम हस्तक्षेप के द्वारा उसे प्राप्त करने का यत्न करता है।

नैतिक दृष्टि से प्रजातन्त्रवाद तानाशाही की अपेक्षा अधिक अच्छा आदर्श है, क्योंकि यह व्यक्ति को स्वयं-साध्य स्वीकार करता है और उसके व्यक्तित्व की महत्ता

का सम्मान करता है। तानाशाही बलपूर्वक आत्म-प्रकाशन और आत्म-विकास के लिये व्यक्ति की इच्छा का दमन करती है। यह उसके समग्र जीवन का नियन्त्रण करती है और उसे जड़ यन्त्र बना देती है। विचार और उसके प्रकाशन की स्वतन्त्रता का निर्दयतापूर्ण दमन तथा व्यक्तियों के विचार और व्यवहार का सैनिकीकरण व्यक्तित्व के उत्कर्ष के लिये घातक है, यद्यपि यह उनकी आधिभौतिक उन्नति और सुख का साधक हो सकता है। यदि तानाशाही जनता की सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है तो उसका नैतिक दोष बहुत कम हो जाता है। किन्तु यदि तानाशाह इच्छा का प्रतिनिधित्व नहीं करता है, तो उसकी तानाशाही खराब से खराब नैतिक बुराई है। वह जनता की इच्छा का दमन करती है और उसे गुलाम बना देती है। किन्तु, यदि तानाशाही एक नैतिक बुराई है तो जनतन्त्र के वेष में धनिक-वर्ग का शासन भी अल्प बुराई नहीं है। सच्चा जनतन्त्र शिक्षित व्यक्तियों के राजनैतिक और आर्थिक स्वातन्त्र्य पर आधारित व्यक्तित्व की प्रभुता का प्रतिनिधि है। इसका पोषण पूँजीवाद, सैनिकवाद और साम्राज्यवाद के द्वारा नहीं होता। विश्व में आदर्श की रक्षा के हेतु होने वाले अनेक संघर्ष अन्ततोगत्वा सच्चे प्रजातन्त्र को जन्म देंगे। मानवता के सामाजिक और आर्थिक विकास में पूँजीवाद प्रजातन्त्र तथा साम्राज्यवादी, साम्यवादी अथवा फासिस्ट तानाशाही अल्पस्थायी अवस्थायें हैं। ●

(१) **निजी सम्पत्ति (Private Property)**—

आत्म-सिद्धि, आत्मपूर्णता अथवा आत्मविकास अर्थात् मूल्यों की सिद्धि परम पुरुषार्थ है। लेकिन जब तक कुछ साधनों के यथेच्छ उपयोग की छूट न हो तब तक आत्म-सिद्धि सम्भव नहीं। जीवित और स्वस्थ बने रहने के लिये खाना, कपड़ा और मकान अत्यन्त आवश्यक हैं। जैविक, बौद्धिक और सौन्दर्य-सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये धन आवश्यक है। इसलिये आत्म-सिद्धि इस पर निर्भर है कि मात्रा में निजी सम्पत्ति हो जिसके निर्बाध इस्तेमाल की छूट रहे। यह हेगेल (Hegel) का सिद्धान्त है।

प्लेटो (Plato) ने इस बात का समर्थन किया कि सम्पत्ति पर आम जनता का स्वामित्व रहे। सम्पत्ति को समुदाय के अधिकार में रहना चाहिये। ऐसी व्यवस्था हो कि सभी लोग परस्पर मिल-जुलकर सम्पत्ति के स्वामी रहें और उसका उपभोग करें। अरस्तु (Aristotle) ने सार्वजनिक श्रेय के लिये सम्पत्ति पर व्यक्ति का अधिकार रहने का समर्थन किया।

व्यक्तिवाद या व्यष्टिवाद सम्पत्ति पर व्यक्ति के अधिकार का समर्थन करता है। उसकी यह मान्यता है कि प्रतियोगिता पर कोई रोक न रहे, निजी सम्पत्ति जो जितनी चाहे उतनी रखे और वह जिसे चाहे उसे दे सके। किन्तु यदि भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार करने पर कोई रोक न रहे तो भूमि के बंटवारे में अत्यधिक असमानता आ जायेगी, क्योंकि भूमि सीमित है। इससे यह होगा कि भू-स्वामी थोड़े से ही रहेंगे और भूमि-विहीन श्रमिकों की एक भारी फौज पैदा हो जायेगी। फलस्वरूप मुफलिसी पैदा हो जायेगी जिससे आदमी का नैतिक पतन होता है। इसी तरह पूंजी और उद्योग के व्यक्तिगत स्वामित्व पर कोई रोक न रहने से धन के बंटवारे में अत्यधिक असमानता आती है। इससे थोड़े से पूंजीपति करोड़पति बन बैठते हैं और उद्योग पर उनका एकाधिकार हो जाता है तथा करोड़ों मजदूर पेट-भर अन्न के लिये तरसते हैं। पूंजीवाद और उसकी सारी बुराइयों की जड़ व्यक्तिगत स्वामित्व की पद्धति है।

इसलिये समष्टिवाद या समूहवाद पूंजीवाद की उपर्युक्त बुराइयों को दूर करने के लिये भूमि और उद्योग पर व्यक्तिगत अधिकार के बजाय समष्टि अर्थात् सार्वजनिक अधिकार को श्रेयस्कर मानता है। सम्पत्ति पूरे समुदाय की है। सारा अधिकार राज्य के हाथ में होना चाहिये। राज्य को चाहिये कि वह सारी भूमि का किसानों में वितरण कर दे। किसान सामूहिक रूप से खेती करें तथा पैदावार को सबमें उनके व्यक्तिगत श्रम के अनुपात में बांट दें। राज्य सब उद्योगों को अपने हाथ

में रखे, विशेषज्ञ अफसरों की सहायता से उनका प्रबन्ध और नियन्त्रण करे तथा उनसे उत्पन्न माल को सारे उपभोक्ताओं में समान रूप से बांट दे। भूमि और पूंजी पर व्यक्तिगत अधिकार के स्थान पर सार्वजनिक अधिकार होना चाहिये।

लेकिन समष्टिवाद प्रयत्न करने के लिये प्रोत्साहित करने वाली मुख्य चीज अर्थात् व्यक्तिगत लाभ को समाप्त कर देता है। लाभ की आशा (Profit Motive) काम का एक जब जबर्दस्त प्रेरक है। समष्टिवाद लाभ के लिये कोई स्थान नहीं छोड़ता जिससे उत्पादन में ह्रास होता है। उद्योगों के कुशल उद्योगपतियों के प्रबन्ध द्वारा देख-रेख में होने से उनमें जितनी तेजी आती और कम खर्च पड़ता है उतना सरकार का प्रबन्ध और देख-रेख होने से नहीं। समष्टि का स्वामित्व होने से राष्ट्र का धन बढ़ेगा ही ऐसा आवश्यक नहीं है और जनता के जीवन का स्तर तो तभी ऊँचा हो सकेगा जब राष्ट्र का धन बढ़ेगा। इसका फल यह भी हो सकता है कि धनिकों का स्तर घटकर उनकी अवस्था गरीबों की तरह दयनीय हो जाये। समष्टिवाद से गरीबों का जीवन-स्तर ऊँचा उठे ही, ऐसा आवश्यक नहीं। इसके अतिरिक्त, चरित्र की उत्कृष्टता सबसे ऊंचा साध्य मूल्य है और चरित्र का विकास केवल तभी हो सकता है जब व्यक्ति को पर्याप्त मात्रा में आजादी और स्वेच्छा से काम करने की छूट रहे। जब राज्य व्यक्ति की बहुत आवश्यक देख-रेख करता है और उसे हर तरह से अपनी इच्छा के अनुसार चलाता है तब व्यक्ति के चरित्र के गिरने का और उसके व्यक्तित्व के हीन बनने का खतरा होता है। राज्य का अत्यधिक मात्रा में नियन्त्रण होना व्यक्ति के चरित्र पर घातक प्रभाव डालेगा। धन की अत्यधिक असमानताओं को दूर करने के लिये समान वितरण का कोई अन्य तरीका अपनाना चाहिये। लेकिन व्यक्ति की आजादी और काम करने की स्वतन्त्रता को अधिक छीनना ठीक नहीं है और न ही राज्य का उस पर अत्यधिक नियन्त्रण रखना ही ठीक है। समाजवाद सीमित निजी सम्पत्ति के विरुद्ध नहीं है। लेकिन वह निजी पूंजी के अवश्य विरु॰ है। समाजवाद व्यक्तिगत स्वामित्व की जगह सामूहिक स्वामित्व का समर्थक है, लेकिन स्वामित्व की भावना मनुष्य के स्वभाव में इतनी गहरी जड़ जमाए हुये हैं कि समाजवाद उसका उन्मूलन नहीं कर सकता। लाभ की इच्छा को मिटाकर उसके स्थान पर सेवा का भाव (Service Motive) भर देना पूरी तरह सम्भव नहीं। समाज के पुनर्निर्माण में और धन के समान वितरण की योजना में सीमित निजी सम्पत्ति को स्वीकृति देनी ही पड़ेगी। चाहे समाज में धन के समान वितरण की आदर्श अवस्था आ भी जाये, तब भी योग्यता में स्वभावतः जो असमानता रहती है वह अवश्य ही निजी चीजों में कुछ न कुछ असमानता तो लायेगी ही। जिस सामाजिक शुभ का समाज के सदस्यों में बराबर बंटवारा करना हमारा लक्ष्य है उसकी वृद्धि के लिये धन की थोड़ी सी असमानता और सीमित निजी सम्पत्ति आवश्यक है। लोगों में योग्यता की समानता नहीं है। लोगों की निजी चीजों मे पूर्णतया समानता होना भी सम्भव नहीं है। न्यायसंगत साम्यावस्था तभी लाई जा सकती है जब कुछ

सीमाओं के अन्तर्गत निजी सम्पत्तियों में असमानता हो।

(२) न्याय (Justice)

चीजों के आबंटन में न्याय का सिद्धान्त होना चाहिये। वितरण-न्याय (Distributive Justice) का सिद्धान्त क्या है ? बेन्थम (Bentham) ने इस सिद्धान्त का प्रस्ताव किया कि 'हर एक की गिनती एक हो और किसी को एक से अधिक न माना जाये।' सामान्य सुख के अर्थात् आराम के भौतिक साधनों के बँटवारे में सब व्यक्तियों का बराबर ध्यान रखा जाय। रैशडैल (Rashdall) ने इस सूत्र से यह अभिप्राय लिया है, 'प्रत्येक व्यक्ति की भलाई को प्रत्येक अन्य व्यक्ति की तुल्य भलाई के बराबर के महत्व का समझना चाहिये।' बेन्थम का यह सूत्र यह नहीं कहता कि प्रत्येक व्यक्ति को सम्पत्ति की बराबर मात्रा मिलनी चाहिये, बल्कि केवल यह कहता है कि भौतिक शुभ के बँटवारे में सबका बराबर विचार रखना चाहिये। बेन्थम समाजवादी नहीं था। वह एक लोकतन्त्रवादी (Democrat) था। उसने न्याय का जो सिद्धान्त बताया वह एक लोकतन्त्री सिद्धान्त है।

शुभ के बँटवारे से कभी-कभी उसकी मात्रा घट जाती है। अगर फौज दुश्मन से घिरी हुई है और उसके पास खाने की मात्रा घट जाती है तथा बाहर से बहुत समय तक खाना मिलने की सम्भावना नहीं है तो उपलब्ध खाने को सब सिपाहियों में बराबर बाँटना ठीक नहीं है, क्योंकि उस हालत में वे थोड़े समय के अन्दर ही भूखे मर जायेंगे। उपयुक्त तो यह है कि खाना पर्चियां डालकर या किसी अन्य तरीके से थोड़े से लोगों को दिया जाये ताकि वे जीवित रह सकें और शत्रु का मुकाबला करते रहें। यह एक चरम दृष्टान्त है। यह बिलकुल सत्य है कि इस समय अच्छी चीजों का बंटवारा अत्यधिक असमान और अविवेकपूर्ण है। इस तरह की असमानता को दूर करना जरूरी है। लेकिन इसका अर्थ यह नही है कि समाज के चरम कल्याण को घटाकर सबकी अवस्था को समान रूप से विपन्न और अभाव-ग्रस्त बना दिया जाये। ऐसी वितरण प्रणाली अपनाई जानी चाहिये कि जिससे लोगों को चीजों की थोड़ी-सी असमान मात्रा प्राप्त हो जिससे कि जो चीजें बांटनी हैं वे नष्ट न हों। समानता एक अच्छी बात है। लेकिन वही एकमात्र अच्छी बात नहीं है। अगर सामान्य शुभ की मात्रा समान वितरण से घट जाती है तो हमें कम से कम एक सीमा तक असमानता का सिद्धान्त अपना लेना चाहिये। सामान्य शुभ की मात्रा बढ़नी चाहिये ताकि सबमें उसका बँटवारा हो सके। व्यक्तियों को अपेक्षा की समानता मिलनी चाहिये। लेकिन अपेक्षा की समानता का अर्थ यह नहीं कि सबके पास बराबर चीजें होंगी। कालेज के पुस्तकालय की पुस्तकों को सब विद्यार्थियों में बराबर बांट देने का कोई लाभ नहीं उठा सकते। इसलिये सब प्रकार की चीजों का सबको समान वितरण ठीक नहीं है। चीजों को बांटने में यह भी ध्यान रखना चाहिये कि उनका उपयोग और उपभोग करने की क्षमता सबमें बराबर हो। सबको एक ही प्रकार का और सम-मात्रा में खाना दिया जाये तो

अलग-अलग व्यक्तियों के आनन्द में असमानता पैदा हो जायेगी। इसलिये भौतिक वस्तुओं के वितरण में बिल्कुल समानता लाने से सब मिलकर श्रेय की मात्रा में कमी होने की सम्भावना रहती है और फलत: व्यक्तियों की क्षमताओं में निहित अन्तर की उपेक्षा करने से सुख की असमानता उत्पन्न होती है। अपेक्षा की समानता का अर्थ यह नहीं है कि भौतिक वस्तुओं का वितरण समान होगा। इसलिये रैशडैल ने कहा है कि "अन्य बातों के समान रहने पर हरेक की गिनती एक होगी" अथवा "अगर प्रत्यक व्यक्ति अन्यों के बराबर है तो वह अन्यों के बराबर गिना जायेगा लेकिन अगर किसी के अन्दर उच्चतर जीवन बिताने की क्षमता अधिक है तो इस आधार पर उसे अन्य लोगों के बराबर नहीं गिना जाना चाहिये" अथवा "प्रत्येक मनुष्य इन्सान के श्रेय को हर दूसरे मनुष्य के तुल्य श्रेय के बराबर गिना जाना चाहिये।" अपेक्षा की समानता में भौतिक वस्तुओं के वितरण में असमानता की कुछ मात्रा आने की आवश्यकता निहित है।[1]

---

1. थ्योरी ऑफ गुड एण्ड ईविल, जि० १, पृ० २२३–४२।

(१) परिवार (Family)

परिवार प्रारम्भिक सामाजिक संस्था है। यह समाज की इकाई है। हम समाज की उस स्थिति की कल्पना भी नहीं कर सकते जिसमें मनुष्य किसी परिवार का सदस्य न रहा हो। पति, पत्नि और सन्तति से मिलकर एक नैसर्गिक सामाजिक इकाई का निर्माण होता है। सामूहिक जीवन के प्राचीनतम रूप आत्मीयता के सम्बन्ध पर आधारित थे। आदिकालिक दलों ने भी अपने नैतिक निर्णय को पति-पत्नी और सन्तान के मध्यवर्ती सम्बन्धों को अपने अनुभव से प्राप्त किया था। आज सभ्य राष्ट्रों में एक पत्नीव्रत के ऊपर स्थापित परिवार सामाजिक संस्थाओं में सबसे अधिक सुरक्षित है।

परिवार, प्रेम और वात्सल्य के नैसर्गिक भावों की भित्ति पर स्थापित है। पति-पत्नी प्रेम के बन्धन में आबद्ध होते हैं। माता-पिता और बच्चे वात्सल्य के बन्धन में आबद्ध होते हैं। इन संवेगों के आधार नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ हैं। बच्चों की रक्षा उनके नैसर्गिक अभिभावकों के द्वारा होती है। माता-पिता उनकी देख-रेख करते हैं, उन्हें भोजन, वस्त्र और संरक्षण प्रदान करते हैं तथा उनकी शारीरिक, बौद्धिक और नैतिक शिक्षा का प्रबन्ध करते हैं, मानवीय शैशव की लम्बी अवधि में माता-पिता नैसर्गिक संरक्षक होते हैं।

परिवार नैतिक शिक्षा की पाठशाला है। परिवार के सदस्य सहानुभूति, सहभाव, प्रेम और सहयोग के सामाजिक धर्मों को सीखते हैं। उन्हें आत्मोत्सर्ग की भावना की शिक्षा मिलती है जो नैतिक जीवन का मूल है, और वे उत्तरोत्तर व्यापक क्षेत्रों में उनका प्रयोग करते हैं। परिवार की भावना सभी सामाजिक भावनाओं और धर्मों का आधार है।

ड्यूई और टफ्ट्स कहते हैं, "आदर्श परिवार का एक उद्देश्य है—अपने सदस्यों का सामान्य कल्याण। विवाह पुरुष और स्त्री के वासना अथवा मैत्री के सम्बन्ध को पारस्परिक हित के उभयगत उद्देश्य की सिद्धि के लिए एक विचारपूर्ण, घनिष्ठ, स्थायी और उत्तरदायित्वपूर्ण बन्धन में परिणत कर देता है। यही सामान्य उद्देश्य, जो पति अथवा पत्नी के द्वारा एकान्त में उपलब्ध किये जा सकने वाले शुभ की अपेक्षा उच्चतर, अधिक व्यापक और अधिक पूर्ण प्रकार के शुभ हैं, वासना को उद्वेगात्मक अथवा स्वार्थ पर स्तर से ऊपर उठाकर नैतिक स्तर में पहुंचाता है। जाति की रक्षा और शिक्षा के लिए परिवार श्रेष्ठ सामाजिक साधन है। यह कार्य माता-पिता के चरित्र पर प्रतिक्रिया करता है। बच्चे वात्सल्य, सहानुभूति,

आत्मोत्सर्ग, प्रयोजन की दृढ़ता, दायित्व और क्रियाशीलता की मांग करते हैं और उन्हें उद्दीप्त करते हैं।"[1]

राइट ने कहा है, "आदर्श परिवार सर्वाधिक सुन्दर और मानवीय सम्बन्ध है। पति, पत्नी, माता-पिता और बालक ये शब्द गम्भीर अर्थ और मूल्य से भरे हुये हैं। आदर्श परिवार में प्रत्येक सदस्य को प्रत्येक व्यक्ति के हित-साधन के हेतु दूसरों के साथ मिल कर काम करने में चरम आनन्द प्राप्त होता है। पति और पत्नी स्वतन्त्र व्यक्ति हैं, उनके समान अधिकार हैं, प्रत्येक अपने व्यक्तिगत क्षेत्र में निपुण है और दूसरे की सहायता तथा अवलम्बन की अपेक्षा नहीं रखता। प्रत्येक बालक प्रेम-युक्त विनय के साथ माता-पिता के आदेश और पथ-प्रदर्शन को स्वीकार करता है, तथा अपने व्यक्तित्व के विकास में स्वतन्त्र प्रकाशन को प्राप्त करने में सहायता पाता है। परिवार के सभी सदस्य प्रत्येक की आकाँक्षाओं की पूर्ति के लिये मिल कर काम करते हैं, प्रत्येक प्रसन्नतापूर्वक सामान्य हित के लिये बलिदान करता है। यद्यपि आदर्श परिवार की सिद्धि प्रायः बहुत कम पूर्ण होती है, किन्तु सभी विचारशील पुरुष और स्त्रियाँ उसे प्राप्त करने के लिए संकल्पपूर्वक विवाह करते हैं।"[2]

तथापि परिवार को अपने सदस्यों के ऊपर संकीर्ण करने वाला प्रभाव भी पड़ता है। इनकी प्रवृत्ति उनके दृष्टिकोण को संकुचित करने और उनकी भावनाओं को अपने ही तक सीमित रखने की दशा में होती है। यह उनकी भक्ति पर एका-धिकार कर सकता है। यह उनकी राज्यभक्ति को बाधित और उनकी राष्ट्रीय चेतना को संकुचित कर सकता है। यह उनकी मानवतावादी भावना को अवरुद्ध कर सकता है। अतः कुछ प्रसिद्ध विचारक परिवार से मुक्त होना चाहते हैं। किन्तु यह रोगमुक्ति के लिए एक ढोंगी वैद्य का बताया हुआ उपाय है। राज्य परिवार का स्थानापन्न न हो सकता है, न उसे होना चाहिए। एक अधिक समाज-व्यवस्था के द्वारा परिवार के दोषों का निराकरण हो सकता है।

किन्तु किसी सीमा तक परिवार के ऊपर राज्य का नियन्त्रण होना चाहिए। उसे माँ-बाप के बालकों के ऊपर किये जाने वाले शासन का नियन्त्रण करना चाहिए। उसके द्वारा बालकों से श्रम कराने पर रोक लगाई जानी चाहिए। उसे कम से कम एक सीमा तक उनकी उचित शिक्षा के लिए उन्हें बाध्य करना चाहिए। उसे पति की तुलना में पत्नी की हीनता को कम करना चाहिए और उसको आर्थिक स्वतन्त्रता का आश्वासन दिलाना चाहिये। उसे पति के द्वारा होने वाले पत्नी के ऊपर शासन को अत्याचार में पतित होने से बचाना चाहिये। किन्तु राज्य को परिवार का स्थानापन्न नहीं होना चाहिये।

यह वस्तुतः सत्य है कि घर का वातावरण अत्यधिक संकीर्ण, अत्यधिक वैयक्तिक

---

1. नीति-शास्त्र, पृ० ४१६।
2. नीति-शास्त्र की सामान्य भूमिका, पृ० ४५३।

और संवेगात्मक होता है। माता-पिता प्रायः बालकों के शरीर, मन और विशेषतया उनके आचार-व्यवहार की यथोचित देख-रेख से अनभिज्ञ होते हैं। तथापि इससे यह तर्क-सम्मत अनुमान नहीं निकाला जा सकता कि माता-पिता के द्वारा उनकी व्यक्तिगत देख-रेख करने की अपेक्षा विशेषज्ञों के द्वारा देख-रेख होना अधिक उपयुक्त है। यदि शिशुओं को जन्म के उपरान्त तुरन्त माता-पिता से विच्छिन्न कर दिया जाये, शुश्रूषागृह में उनका पालन-पोषण हो, सस्थाओं में उनकी उचित शिक्षा-दीक्षा तथा उन्हें काम दिया जाये, तो उनमें उनके माँ-बाप के प्रेम के मधुर मानवीय स्पर्श का अभाव पाया जायेगा जो उनके आत्म-प्रकाशन और आत्म-लाभ के लिए अत्यावश्यक है, उनकी नैतिक शिक्षा अपूर्ण होगी, संस्थाओं की अवैयक्तिक देख-रेख में उन्हें जड़-यंत्र बन जाने का खतरा हो जायेगा और माता-पिता भी अपने स्वाभाविक काम-संवेग को बच्चों के प्रति आदर्श स्वार्थहीन वात्सल्य में परिवर्तित करने के सुअवसर से हाथ धो बैठेंगे। वे बालकों के आदर्श बनाने वाले, सामाजिक बनाने वाले और उदात्त बनाने वाले प्रभाव से वंचित हो जायेंगे। उनका जीवन संकीर्ण और स्वार्थ-पर व्यक्तिवाद में पतित हो जायेगा। अतः परिवार को समाप्त करने का कोई भी प्रयत्न समाज के नैतिक ढांचे के मूल पर आघात करेगा।

एलेन ने कहा है, "परिवार का उन्मूलन नहीं करना है, बल्कि परिवार के अधिकारों में सुधार करना है; माँ-बाप की शिक्षा को नहीं हटाना है, ब[illegible]क उसे चालू करना है, गृह को नहीं, बल्कि गृह-हीनता को नष्ट करना है।"[3]

(२) विवाह (Marriage)—

परिवार का आधार विवाह की प्रथा है। विवाह, स्त्री-पुरुष के जन्मजात यौन-आकर्षण को घनिष्ठ और स्थायी सम्बन्ध में परिणत करता है। यह परस्पर प्रेम के बन्धन में आबद्ध प्रत्येक के आत्म-लाभ और आत्म-विकास का साधन है। काम एक जैविक प्रवृत्ति है। यह मानव स्वभाव में प्रधान है क्योंकि इससे जाति की वृद्धि और अक्षुणता होती है। अर्बन ने कहा है, "काम के प्रारम्भिक मूल्य जैविक होते हैं। इस रूप में मूलतः वे विकृत होते हैं। किन्तु वे पूर्णतया वैसे नहीं हैं, जैसे सम्पत्ति के आर्थिक मूल्य होते हैं। इन्द्रिय-तृप्ति अन्य मूल्यों का हे है, किन्तु उसका प्रकृत मूल्य भी है। इन प्रकृत और विकृत जैविक मूल्यों के साथ कालान्तर में अति-जैविक मूल्यों (Super Organic Value) का साहचर्य हो जाता है जिनमें सहवास के मूल्य प्रधान हैं।"[4] काम के जैविक मूल्य सहवास और चरित्र के मूल्यों के, यथा, सहकारित्व, मैत्री, प्रेम, वात्सल्य, आत्मोत्सर्ग प्रभृति के साधन हैं। साधारण रूप में सक्रिय काम-प्रवृत्ति पुरुष और स्त्री के जीवन में एक महान् संयोजक शक्ति है। किन्तु असाधारण रूप में यह एक महान् विच्छेदन शक्ति का काम करती है और उनके जीवन को छिन्न-भिन्न कर देती है। विवाह स्वाभाविक काम-संवेग को आदर्श

3. प्रेम और विवाह, पृष्ठ २४०।
4. नीति-शास्त्र के मूल तत्व, पृष्ठ २६१–२६२।

प्रेम और सहकारिता के रूप में परिष्कृत कर देता है। यह एक पाशविक वासना को दिव्य भावना बना देता है। यह एक सामाजिक संस्था है। अर्बन ने कहा है, "यह समाज के द्वारा अनुमोदित, सामाजिक माध्यम में स्थित सामाजिक व्यक्ति के अन्दर सक्रिय काम-प्रवृत्ति है। यह समाज के द्वारा आदिष्ट प्रायः स्थायी यौन-सम्बन्ध है।"[5] यह एक शक्तिशाली सामाजिकीकरण और आध्यात्मिकीकरण का साधन है। यह नर-नारी सम्बन्ध को दिव्य बनाकर अति-जैविक मूल्यों की सिद्धि की मांग करता है।

वैयक्तिक दृष्टिकोण से विवाह एक महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था है। ड्यूई और टफ्ट्स कहते हैं, "साधारण व्यक्ति के अन्दर एक ओर तो कामवासना को अभिव्यक्त अथवा तृप्त करने की आवश्यकता है और दूसरी ओर उसे परिष्कृत करने और व्यक्ति की विशेष रुचियों तथा संवेगात्मक जीवन से समायुक्त करने की आवश्यकता है जिससे उसके ऊपर उचित दृष्टि बनी रहे। काम-वासना को अतृप्त रखने अथवा उसके दमन से असाधारणता, संवेदनशून्यता और संकीर्णता, अथवा यहाँ तक कि मनोविकृति और स्नायविक विकृति भी हो सकती है। बिना नियन्त्रित की हुई अथवा बिना परिष्कार किये हुये और बौद्धिक रसात्मक तथा सामाजिक रुचियों और प्रभावों के साथ बगैर घनिष्ठता स्थापित किये काम-वासना व्यक्तित्व को गन्दा और विकृत बना सकती है। यदि स्त्रियाँ पहली अवस्था से अधिक ग्रस्त हैं तो पुरुष दूसरी से।"[6]

सामाजिक दृष्टिकोण से भी विवाह एक महत्वपूर्ण संस्था है। विवाह, स्त्री-पुरुष के मध्य मैत्री का उत्कृष्टतम रूप है, जो किसी भी अन्य रूप से अधिक घनिष्ठ, अधिक सुन्दर और एक दूसरे के लिये अधिक सहायक है। सामान्य सुख, दुख, आशा, आकाँक्षा से हिस्सा बाँटना और बालकों के कल्याण की चिन्ता करना उनके जीवन में वह समानता उपस्थित करते हैं जो कोई भी अन्य सम्बन्ध उपस्थित नहीं करते। विवाह हमें रचनात्मक कार्य के लिये अवसर देता है जिसके लिये दूसरे व्यक्तियों से सहयोग करना आवश्यक है। हम अन्य व्यक्तियों के सहयोग से सामान्य हित की सिद्धि के लिये अवसरों का उपयोग करते हैं। समाज ने मानव-जीवन को अधिकांश में भाषा, परम्परा और पारस्परिक सहायता तथा सहयोग के द्वारा वर्तमान स्थिति में पहुँचा दिया है और समाज की सभी इकाइयों में गोत्र और परिवार सबसे अधिक दृढ़तया सम्बद्ध और प्रभावशाली रहे हैं।

राइट ने कहा है, "आधुनिक काल में विवाह में जो आदर्श निहित है वह एक नैतिक संस्कार है। यह साधारण व्यापारिक समझौते से अधिक पवित्र वस्तु है। यह वह सूत्र है जो एक पुरुष और एक स्त्री को जीवन-पर्यन्त परस्पर विश्वास में संयुक्त रखता है। इसका संवेगात्मक आधार प्रेम की पवित्र भावना है जिसमें वात्सल्य,

5. नीति-शास्त्र, पृ० ५०३।
6. वही।

स्वस्थापन, सम्मान, सहानुभूति, दूरदर्शिता संग्रहशीलता और सृजनात्मकता की यौन-आकर्षण के साथ पूर्ण संगति होती है—सबका एक सामान्य रुचि और सामान्य इच्छा में उदात्तीकरण हो जाता है ।"

विवाह के विविध रूप हैं : (१) सामूहिक विवाह, जिसमें बहुसंख्यक पुरुष बहुसंख्यक स्त्रियों से सम्बन्धित होते हैं, (२) बहुपतित्व, जिसमें एक स्त्री कई पुरुषों से सम्बन्धित होती है, (३) बहुपत्नीत्व, जिसमें एक पुरुष की कई स्त्रियाँ होती हैं, (४) एक पत्नीव्रत, जिसमें एक स्त्री का एक ही पुरुष से सम्बन्ध होता है । एक पत्नी-तन्त्र (Monogamy) विवाह का सर्वोत्कृष्ट रूप है । समाज को इसकी प्राप्ति अनेक युगों के पश्चात् हुई है । विवाह के नैतिक आदर्श को प्राप्त करने के लिये यह सबसे अधिक उपयुक्त है ।

अर्बन ने कहा है, "प्रत्येक दृष्टिकोण से स्थायी एक-पत्नी-सम्बन्ध सर्वोच्च नैतिक विकास का, जैसा कि हम उसे जानते हैं, अनिवार्य हेतु प्रतीत होता है । व्यक्ति की दृष्टि से यह आत्मोपलब्धि की अनिवार्य शर्त है । समाज की दृष्टि से यह अच्छे जीवन के लिये आवश्यक है ।" अतः विवाह की चिर-स्थापित नैतिक संस्था के नष्ट करने का प्रयत्न करना और पूर्णतया अव्यवस्थित दशा में पतित हो जाना असभ्य और पाशविक जीवन की ओर लौट जाना है ।

(३) असंस्कृत प्रेम-विवाह (Unsolemnised Marriage)—

अनेक आधुनिक लेखक प्रेम विवाह की प्रशंसा करते हैं और उसे प्रचलित विवाह-प्रथा से अच्छा मानते हैं । वे यह युक्ति देते हैं कि परस्पर सम्मति से और स्थायित्व की आकांक्षा से किया जाने वाला प्रेम-विवाह आदर्श के निकटतम है, यद्यपि समाज या धर्म इसका आदेश नहीं करता । वे इसे समान आत्माओं के सच्चे विवाह के रूप में देखते हैं, प्रचलित विवाह जिसकी पवित्रता में कोई वृद्धि नहीं कर सकता ।

इसे निषेध नहीं किया जा सकता कि इस आधार पर अनेक उच्च सम्बन्धों की स्थापना हो सकती है, किन्तु इस प्रकार के सम्बन्ध बुद्धि और विचार पर बहुत कम तथा भावना और वासना पर बहुत अधिक आश्रित होते हैं । उन पर समाज विरोधी तत्व का रंग चढ़ा होता है । उनमें संशयात्मक और अस्थायित्व का भय होता है । अतः उनसे जीवन के सर्वोच्च मूल्यों की प्राप्ति होना असम्भव है । यदि वे प्रेमविहीन इन्द्रिय-तृप्ति पर आश्रित होते हैं, तो वे और भी अधिक अनैतिक और पाशविक सम्भोग के तुल्य हो जाते हैं । विवाह एक सामाजिक संस्था है । उसे विचार और संकल्प के द्वारा अनियन्त्रित समाज और धर्म के द्वारा अनादिष्ट तथा भावना और वासना के ऊपर आश्रित नहीं होना चाहिये ।

(४) परीक्षात्मक विवाह (Trial Marriage)

विवाह का अर्थ पति-पत्नी स्थायी संयोग है । वे परस्पर सयोग से प्राप्त आनन्द द्वारा अधिक सम्पन्न तथा अधिक पूर्ण जीवन के भागी होते हैं । विवाह एक

नैतिक संस्था है जिससे प्रेम तथा सहवास के सामान्य सूत्र से स्थायी रूप में परस्पर संयुक्त विवाहित जोड़े के आत्म-लाभ और आत्म-विश्वास को बल मिलता है।

अत: स्वतन्त्र प्रणय, परीक्षात्मक विवाह अत्यन्त आपत्तिजनक हैं। उनसे आजीवन संयोग की आशा नहीं की जा सकती। उनसे विवाह का नैतिक प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। पति-पत्नी के मध्य स्थायी अनन्यता का सम्बन्ध समाज में युगों के पश्चात् स्थापित हुआ है। असंख्यक पीढ़ियों के सामाजिक प्रयोगों के पश्चात् इस स्थायी अनन्यता की प्राप्ति हुई है। जब तक स्त्री-पुरुष इस पवित्र संकल्प से विवाह में प्रवृत्त न हों कि आजीवन वे एक दूसरे से प्रेम करते रहेंगे विवाह कदापि स्थायी नहीं हो सकता। परीक्षात्मक विवाह-सूत्र में आबद्ध स्त्री-पुरुष साहचर्य और चरित्र के उच्चतर मूल्यों को प्राप्त नहीं कर सकते। इन्हें आनन्द-लाभ नहीं हो सकता। अनिश्चतता का भय उनके मानसिक जीवन को छिन्न-भिन्न कर देता है। उनमें से प्रत्येक को एक अधिक अच्छा साथी प्राप्त करने की इच्छा होती है और शीघ्र ही वह ऐसा करना चाहता अथवा चाहती है। प्रत्येक को ईर्ष्या की वेदना होती रहती है। वे और उनके बच्चे आनन्दित नहीं हो सकते। सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्य उन्हें प्राप्त नहीं हो सकते। परीक्षात्मक विवाह व्यक्तिवादी और समाज-विरोधी होते हैं। काम की जैविक प्रवृत्ति उनका आधार है। वे वैवाहिक सम्बन्ध को परिष्कृत तथा आध्यात्मिक स्तर में नहीं पहुँचा सकते। उनका कोई नैतिक औचित्य नहीं है। उनका समर्थन उग्र व्यक्तिवादियों द्वारा किया जाता है जो नर-नारी के स्थायी विवाहात्मक सम्बन्ध पर स्थापित समाज के दीर्घकालीन नैतिक ढांचे को गिराना चाहते हैं।

(५) विवाह-विच्छेद (Divorce)—

इस समस्या पर निम्नलिखित तीन मत हैं—(१) अनुदार मत के अनुसार विवाह एक धार्मिक संस्कार है। अर्बन ने कहा है, "एक पत्नीव्रत के ऊपर आश्रित स्थायी परिवार स्त्री-पुरुष सम्बन्ध का आदर्श है क्योंकि विवाहित दम्पति और बच्चे दोनों के लिये यह आत्मोपलब्धि की अनिवार्य शर्त है। सामाजिक सामंजस्य और कल्याण के लिये तथा अपने शिक्षा-विषयक मूल्य के लिये तो और भी अधिक कानून के द्वारा कठोरतापूर्वक इसे स्थिर रखना आवश्यक है।"[7] कठोरतावादियों की धारणा है कि अधिकतम गम्भीर परिस्थिति में पति-पत्नी का सम्बन्ध-विच्छेद वैध होना चाहिये, किन्तु उनमें से किसी को भी पुनर्विवाह की आज्ञा नहीं दी जानी चाहिये। हिन्दू-विवाह एक धार्मिक संस्कार है। किसी भी स्थिति में उसका विच्छेद नहीं हो सकता। यह विवाह-विच्छेद या वैध पृथक्करण का आदेश नहीं देता। तथापि अब हिन्दू परिवार में विवाह विशेष परिस्थति में कानून-संगत हो गया।

किन्तु बढ़ते हुए व्यक्तिवाद के इस युग में पुरुष और स्त्री धर्म के द्वारा संस्कृत, अत्यन्त विरोधी और आनन्दरहित वैवाहिक सम्बन्ध के अत्याचार के सम्मुख

7. नीति-शास्त्र के मूल तत्व, पृ ३२०।

नहीं झुक सकते । उन देशों में, जहाँ तलाक नितान्त अवैध है, वहां पुरुष और स्त्रियों में सम्बन्ध की स्थिरता और विश्वसनीयता नहीं पाई जा सकती । विशेष रूप से पुरुष वैवाहिक सम्बन्ध से बाहर तृप्ति लाभ करने की चेष्टा करते है । ऐसे देशों में प्राय: अवैधता का प्राचुर्य होता है और अवैध संतान साधारण घर में अपने मां-बाप के प्रेम और देख-रेख के अभाव में बड़ी होती है । पत्नियों को यह सिखाया जाता है कि चाहे उनके पति अत्याचारी, मद्यसेवी, व्यभिचारी और गुप्त रोगों से ग्रसित ही क्यों न हों, उनके प्रति सच्चा रहना उनका कर्त्तव्य है । जो बच्चे ऐसी स्थिति में विकसित होते हैं वे शरीर, मन और चरित्र में असाधारण (abnormal) हो जाते हैं । अत: नैतिक दृष्टि से इस कठोरतावादी मत को मानना कठिन है ।

(२) उग्रवादी मत के अनुसार दम्पत्ति की पारस्परिक सम्मति से तलाक की स्वीकृति दे देनी चाहिये । यह युक्ति दी जाती है कि यौन सम्बन्धों का प्रारम्भिक सम्बन्ध अकेले व्यक्ति से होता है और इसलिये पारस्परिक सम्मति पर विच्छेद की अनुमति दी जानी चाहिये। कोई विवाह अपने नैतिक प्रयोजन को सिद्ध करने में असफल होता है—यदि इससे घर-कलह, ईर्ष्या और द्वेष से अभिभूत हो जाता है, तो पति, पत्नी और बच्चों में से किसी के भी चरित्र और प्रसन्नता में वृद्धि नहीं हो सकती । अत: ऐसे विवाह का विच्छेद ही श्रेयस्कर है तथा पुरुष और स्त्री को पुनर्विवाह का अधिकार मिलना चाहिये । सोवियत रूस में पारस्परिक सम्मति पर तलाक वैध माना गया गया है ।

किन्तु पारस्परिक सम्मति पर विच्छेद नैतिक दृष्टि से उचित नहीं हो सकता । यदि कानून सर्वत्र इसकी अनुमति दे दे, तो छिप्र गति से यह पति या पत्नी की इच्छा पर तलाक में पतित हो जायेगा; क्योंकि कोई भी अन्य व्यक्ति को उस विवाह-बन्धन में रखना पसन्द नहीं करेगा जो उसके लिये अरुचिकर हो चुका है । पति या पत्नी को जिसको भी प्यार करना छोड़ दिया गया है दूसरे को विवाह-बन्धन से मुक्त करने के लिये बाध्य होना पड़ेगा और यदि दम्पत्ति में से कोई भी किसी समय दूसरे को तलाक देने के लिये बाध्य कर सकता है, तो वैवाहिक सम्बन्ध में सुरक्षा और स्थायित्व नहीं रहेंगे । सफल पतियों का पीछा आकर्षक युवतियां करेंगी, जो अपने यौवन और सौन्दर्य के द्वारा उन्हें पति के आरम्भिक जीवन के संघर्षमय वर्षों की आर्थिक कठिनाइयों तथा सन्तति उत्पादन के कारण वृद्ध और अनाकर्षक पत्नियों से छीन ले जायेंगी । अनेक प्रेमी और विश्वसनीय पत्नियों के हृदय टूट जायेंगे और उनके बच्चे अपने पिताओं की वात्सलयपूर्ण छत्र-छाया से वंचित हो जायेंगे । सुन्दर, स्वार्थी तथा आकांक्षु स्त्रियां वर्तमान विवाह को अधिक लाभप्रद विवाह का साधन समझेंगी । अत: पारस्परिक सम्पति से तलाक का नैतिक औचित्य नहीं है ।

(३) उदारमत के अनुसार तलाक की अनुमति अपवादात्मक परिस्थितियों में होनी चाहिये । तलाक की स्वीकृति मिलनी चाहिये यदि पति या पत्नी कोई ऐसे

गम्भीर अपराधों का अपराधी सिद्ध हो चुका है, जैसे कि अभ्यासपूर्वक व्यभिचार, मद्यपान, निर्दयता, परित्याग, भयंकर अपराध, नपुंसकत्व, असाध्य विक्षिप्तावस्था आदि । किन्तु यदि व्यक्ति न्यायालय की शरण लेता है तो उसे गम्भीर स्थिति में तलाक की अनुमति प्राप्त होनी चाहिये ।

तलाक की समस्या का अन्तिम समाधान विवाह के विषय में जनता की नैतिक अन्तःप्रेरणा के उत्थान पर निर्भर है । यदि सभी एक नैतिक संस्था के रूप में विवाह-सूत्र का सतत् स्मरण कर सकते हैं—यदि सभी को पारस्परिक प्रेम के सूत्रों में आबद्ध परिवारों में पवित्र जीवन यापन करने का संकल्प प्रेरित कर सकता है तो तलाक का प्रश्न स्वयं अपना समाधान ढूंढ निकालेगा । राइटर ने कहा है, "तलाक स्वयं एक रोग नहीं है; यह रोगोपचार के लिये एक शल्य-चिकित्सा के तुल्य है । रोग का कारण स्वयं परिवार के नैतिक मूल्यों को समझने में असफलता है ।"

(६) बलात् वैधव्य (Enforced Widowhood)—

हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार है । विवाह अविच्छेद है । हिन्दू धर्म में किसी भी स्थिति में तलाक का विधान नहीं है । वह पति की मृत्यु के पश्चात् पुनर्विवाह की अनुमति देता है । किन्तु पति की मृत्यु के पश्चात् पत्नी को ऐसी अनुमति नहीं देता । विवाह सूत्र की पवित्रता की रक्षा के हेतु पतियों की मृत्यु के उपरान्त स्त्रियों के ऊपर बलात् वैधव्य लाद दिया जाता है । इस प्रसंग में यह भी विदित हो कि हिन्दू धर्म में बहुविवाह का विधान है ।

यदि कोई स्त्री अपने मृत पति के प्रति वफादार रहना चाहती है, तो वह ऐसा कर सकती है और विवाह के उत्कृष्ट आदर्श को प्राप्त कर सकती है । वह ब्रह्मचर्य और पतिव्रत्य के उदात्त गुणों का अर्जन कर सकती है तथा अपनी हीन वासनाओं को उच्च आध्यात्मिक भावनाओं में परिवर्तित और परिमार्जित कर सकती है । परन्तु, यदि प्रतिकूल परिस्थितियों के प्रभाव में वह स्त्री पुनर्विवाह करना चाहे, तो उसमें किसी को भी बाधक नहीं होना चाहिये । ब्रह्मचर्य बाहर से बल-प्रयोग द्वारा नहीं आ सकता । इसकी प्रेरणा इच्छापूर्वक अन्तरात्मा से होनी चाहिये । निःसन्तान विधवाओं को पुनर्विवाह करने देना चाहिये; क्योंकि मातृत्व स्त्रीत्व का उद्देश्य है । मातृत्व के लिये उनकी अभिलाषा की पूर्ति होनी चाहिये । बाल-विधवाओं को उनकी आत्माभिव्यक्ति और आत्मोपलब्धि के हेतु पुनर्विवाह की आज्ञा होनी चाहिये । युवती-विधवाओं को, जो अपने काम-वेग को रोकने में असमर्थ है, पुनर्विवाह की अनुमति होनी चाहिये, अन्यथा वे कुमार्ग में पड़कर पतित हो जायेंगी और फिर उनका सुधार नहीं हो पायेगा । बलात् वैधव्य के फल प्रायः अवैध यौन-सम्बन्ध, अपहरण परस्त्री का परपुरुष के साथ भाग जाना, वेश्यावृत्ति, अवैध सन्तान इत्यादि हैं । इच्छापूर्वक वैधव्य एक उच्च और उदात्त आदर्श है । परन्तु बलात् वैधव्य का कोई नैतिक औचित्य नहीं है, क्योंकि व्यक्ति स्वयं साध्य है और वह साधन

नहीं बनाया जा सकता, अत: एक विकृत शुभ के हेतु उसकी इच्छा और विचारपूर्ण विश्वास के विरुद्ध किसी स्त्री को विधवा रहने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता।

(७) वेश्यावृत्ति (Prostitution)—

कान्ट (Kant) का कथन उचित है कि "व्यक्ति स्वत: साध्य है; उसको साधन नहीं बनाना चाहिये।" राइट ने कहा है, "वेश्या-वृत्ति अनुचित है; क्योंकि इसमें स्त्री के व्यक्तितत्व के पतन के मूल्य पर उसे पुरुष के उपयोग का साधन बनाया जाता है। यह तथ्य कि स्त्री स्वयं अपने पतन की अनुमति देती है केवल यह सूचित करता है कि वह भी नैतिक नियम के उल्लघन की अपराधिनी है, क्योंकि वह स्वयं अपने व्यक्तितत्व का सम्मान नहीं करती।"[8]

अर्बन ने कहा है, "वेश्या-वृत्ति नैतिक अर्थ में काम-जीवन के आदर्श का गम्भीरतम उल्लंघन है। वेश्या का यह धन के लिये निकृष्टतम आत्म-विक्रय है। वेश्यागामी के लिये यह नैतिक आदर्श उल्लंघन का चरम रूप है, जिसके अनुसार नैतिक व्यक्ति को सदैव तथा कदापि साधन नहीं समझना चाहिये।"[9]

(८) महिलाओं के लिए व्यवसाय (Career of Women)—

कुछ उग्र विचारकों की धारणा है कि प्रत्येक प्रौढ़ स्त्री को किसी उद्योग या व्यापार में नौकरी दी जानी चाहिये। केवल गर्भ और शिशु को दूध पिलाने की अवस्था में माताओं को इससे मुक्त किया जाना चाहिये, राज्य को उनकी आर्थिक सहायता करनी चाहिये। किसी भी व्यस्क महिला को पुरुष के ऊपर आर्थिक दृष्टि से निर्भर रहने की आज्ञा नहीं मिलनी चाहिये। महिलायें क्रमश: पूरे नागरिक और राजनैतिक अधिकारों को प्राप्त कर रही हैं। उन्हें पुरुषों के समान व्यवसाय अपनाने चाहियें और रचनात्मक कार्य, आत्म-लाभ तथा आनन्द के लिये समान अवसर ही मिलने चाहियें।

राइट ने कहा है, "आधुनिक परिस्थितियों में प्रत्येक स्वस्थ महिला का कोई व्यवसाय होना चाहिये। प्रत्येक अविवाहित नारी को, जिसकी सेवाओं को परिवार की आवश्यकता है, उसके भाइयों के समान दैनिकचर्या के रूप में कोई पेशा या व्यापार अपनाना चाहिये। यह उसके अपने चरित्र के विकास तथा सुख के लिये वांछनीय है। रचनात्मक कार्य-मात्र द्वारा मिलने वाला आत्म-लाभ का सुअवसर जिस पुरुष या स्त्री को दुर्लभ है उसे जीवन में परम सन्तोष भी अप्राप्य है।"[10]

महिलायें पुरुषों के समान पेशे स्वीकार कर सकती हैं। किन्तु इससे कौटुम्बिक जीवन में बाधा नहीं होनी चाहिये। पुरुष के लिये अपनी स्त्री तथा बच्चों का भरण-पोषण नैतिक रूप से अच्छा है; दायित्व उसके चरित्र को दृढ़ बनाता है; वह अपने परिवार से अधिक प्रेम करता है और उसके प्रति वफादार रहता है। बच्चों

8. नीति-शास्त्र की सामान्य भूमिका, पृष्ठ ३०६।
9. नीति-शास्त्र के मूल तत्व, पृष्ठ ३१७।
10. नीति-शास्त्र की सामान्य भूमिका, पृष्ठ ४६६।

के लिये भी सुखी परिवार श्रेयस्कर है। सार्वजनिक संस्थाओं की अवैयक्तिक देख-रेख की अपेक्षा अपनी माता की व्यक्तिगत देख-रेख में उनका अधिक अच्छा बौद्धिक तथा नैतिक विकास होता है।

महिलायें परिवार-निर्माण को भी एक व्यवसाय समझ सकती हैं। आधुनिक मशीनें निश्चित व्यवस्था वाले कार्यों के लिये आवश्यक समय को घटा देती हैं और बौद्धिक तथा आध्यात्मिक स्वभाव वाले बड़े कार्यों के लिये महिलाओं को मुक्त कर देती हैं। एक गृहिणी भोजन के रसायन का ज्ञान प्राप्त करके उचित रूप से संतुलित भोजन बनाकर परिवार को स्वस्थ रख सकती है। साधारण रोगों और परिचर्या के लिये उसे स्वास्थ्य-विज्ञान और औषधि का भी ज्ञान होना चाहिये। उसे परिवार के बजट (Budget) के लिये बही-खाते का भी ज्ञान होना चाहिये और परिवार के व्ययों पर दृष्टि रखनी चाहिये। उसे बाल-मनोविज्ञान और शिक्षा सिद्धान्त तथा प्रयोग का भी ज्ञान अर्जित करना चाहिये, जो बच्चों की घरेलू शिक्षा-दीक्षा से उसके लिये बहुत मूल्यवान सिद्ध होंगे।

महिलायें अपनी प्रकृति के अनुकूल किसी व्यवसाय का विशेष-ज्ञान प्राप्त कर सकती हैं। बालकों की पाठशालाओं में वे अध्यापिकायें बन सकती हैं। बालिकाओं की पाठशालाओं और कालेजों में वे अध्यापन कार्य करती हैं। वे स्त्री रोगों, दाई, नर्स इत्यादि के पेशे का भी विशेष ज्ञानार्जन कर सकती हैं। वे सार्वजनिक स्वास्थ्य तत्सम्बन्धी स्थितियों के सुधार की देख-रेख कर सकती हैं। वे वृद्ध, मानस-रोगी तथा निर्बलों की शुश्रूषा कर सकती हैं। वे उन्माद रोग से ग्रसित स्त्रियों की देख-रेख कर सकती हैं। वे पतित स्त्रियों को अपना सकती हैं और कुत्सित जीवन का सुधार कर सकती हैं।

महिलाओं को ऐसे व्यवसायों को स्वीकार नहीं करना चाहिये जो स्त्रीत्व के प्रतिकूल हों और उनके नैसर्गिक स्त्रीत्व का अपहरण कर दें। उन्हें मातृत्व के आदर्श को नहीं त्यागना चाहिये। उन्हें पुरुषों के साथ मल्लयुद्ध, खोज करने, शिकार, युद्ध और साहसपूर्ण कार्यों में प्रतियोगिता नहीं करनी चाहिये। उन्हें शारीरिक बल और वीर्य में पुरुषों का अनुकरण नहीं करना चाहिये तथा पुरुष बनने की चेष्टा नहीं करनी चाहिये।

(९) अस्पृश्यता (Untouchability)—

हिन्दू समाज कुछ वर्ण के लोगों को अस्पृश्य समझता है। हिन्दू समाज में असंख्य जातियाँ हैं। उनमें अन्तर्विवाह और आपस में खान-पान निषिद्ध हैं। किन्तु इन जातियों के दो मुख्य विभाग स्पृश्य और अस्पृश्य हैं तथाकथित उच्च वर्ण स्पृश्य हैं। कुछ तथाकथित निम्न-वर्ण अछूत समझे जाते हैं तथाकथित निम्न वर्ण अपनी गन्दी और अनैतिक आदतों के लिये नहीं, बल्कि निम्न-जन्म के कारण अस्पृश्य हैं। वंशानुक्रम से वे अछूत हैं। उनका स्पर्श पाप माना जाता है। दक्षिण भारत में ब्राह्मण

उनकी छाया को भी नहीं छूते। वे सार्वजनिक तालाबों और कुओं का उपयोग नहीं कर सकते। वे अपने बच्चों को सार्वजनिक पाठशालाओं में नहीं भेज सकते।

यह अनैतिक प्रथा हिन्दू धर्म के ऊपर सबसे बड़ा कलंक है। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं लक्ष्य है। हमें प्रत्येक व्यक्ति की उच्चता का सम्मान करना चाहिये। कोई व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत गन्दगी, संक्रामक रोग और अभ्यासजनित अनैतिकता के कारण गन्दा और अस्पृश्य होता है। शरीर, मन तथा आत्मा के शुद्ध होते हुए भी केवल जन्म के कारण कोई अस्पृश्य नहीं हो सकता, किन्तु बहुत से यथा-कथित अछूत मृत पशुओं का मांस भक्षण करते हैं; अभ्यासपूर्वक सुरापान, व्यभिचार तथा अपराध करते हैं। उन्हें इन गन्दी और अनैतिक आदतों का परित्याग कर देना चाहिये और दूसरे के साथ सम्मान व्यवहार की योग्यता प्राप्त करनी चाहिये। हमें उनका आलिंगन करना चाहिये और उनकी अनैतिक आदतों का सुधार करना चाहिये।

(१०) भिक्षावृत्ति (Professional Begging)—

मनुष्य को काम करने का अधिकार है। इस अधिकार की प्राप्ति उसके जीवित रहने के अधिकार से होती है और उसका अपने जीविकोपार्जन के लिये काम करने का कर्त्तव्य है। काम करने के लिए वह नैतिक रूप से बाध्य है। वह पर-निर्भर नहीं हो सकता। उसे समाज के ऊपर भार-स्वरूप होकर जीवित रहने का अधिकार नहीं है। उसे अपने काम से समाज के मंगल के हेतु अपना भाग प्रदान करना चाहिये। भीखमांगने का पेशा मनुष्य के गौरव को नष्ट कर देता है। वस्तुतः मनुष्य एक बुद्धिमान प्राणी और स्वयं साध्य है। इससे उसके आत्म-सम्मान, स्वावलम्बन और आत्म-विश्वास का अपहरण हो जाता है। इसमें आत्माभिव्यक्ति और आत्मोपलब्धि के अवसर उससे छिन जाते हैं। अतः यह एक बड़ा नैतिक दोष है।

भिक्षावृत्ति एक महान सामाजिक दोष है। मांगने वाले जो भीख से जीविकोपार्जन करते हैं समाज के लिये कुछ नहीं करते। वे कोई रचनात्मक कार्य नहीं करते। वे समाज में कोई लाभप्रद कार्य नहीं करते। वे आलसी लोगों को प्रोत्साहन देते हैं। वे समाज पर भार-स्वरूप हैं। वे अयोग्य हैं।

भिक्षावृत्ति वाले दान के पात्र नहीं हैं। कुछ उदारवृत्ति वाले अविवेकशील लोग उनकी सहायता करके अपनी स्वाभाविक सहानुभूति को तृप्त करते हैं। वे मांगने वालों के साथ व्यक्ति अथवा स्वयं साध्यों के प्रति किये जाने वाला व्यवहार नहीं करते, बल्कि उन्हें साधन मात्र समझते हैं। वे उनके अन्दर स्थित तत्व का शोषण कर देते हैं और उन्हें निष्क्रिय तथा दास बना देते हैं। कुछ अच्छे शरीर वाले भिक्षुक ठगने और दुष्टता करने का पेशा अपना लेते हैं। अतः भिक्षावृत्ति एक नैतिक तथा सामाजिक बुराई है। इसे विधान बनाकर समाप्त कर देना चाहिये। राज्य का कर्त्तव्य है कि वह सब लोगों को नौकरी दे और अयोग्य तथा वृद्ध व्यक्तियों को आर्थिक सहायता प्रदान करे।

(११) क्या दान बुरा है ? (Is Charity an evil ?)—

परोपकार एक सामाजिक धर्म है। दान देना एक प्रकार का परोपकार है। इसमें दया, धैर्य और सहनशीलता का समावेश होता है तथा इसमें ईर्ष्या, दम्भ प्रदर्शन और द्वेष का अभाव होता है। समाज की वर्तमान व्यवस्था में अनेक निर्धन और अकिंचन व्यक्ति हैं। उनकी विपत्ति से मुक्ति करने में सहायता होनी चाहिये। उनके स्वावलम्बी बनाये जाने में उन्हें सहायता दी जानी चाहिये। तथापि दानी को विवेकपूर्ण और पात्र का विचार करने वाला होना चाहिये।

पात्रापात्र का विचार न करने वाला दान अश्रेयस्कर है। क्योंकि यह समाज में अयोग्य परोपजीवियों के वर्ग की सृष्टि करता है। इससे उनके उपक्रम का विनाश हो जाता है। इससे उनकी अपने आप काम करने की शक्ति का ह्रास हो जाता है। उनके आत्म-सम्मान और आत्म-विश्वास का अपहरण हो जाता है। दान का लक्ष्य सदैव पात्र के अन्दर आत्म-सम्मान को जाग्रत करना होना चाहिये। अविचारपूर्ण दान, दाता की सहजात सहानुभूति की तृप्ति करता है। इससे उनकी बुद्धिमत्तापूर्ण परोपकार-वृत्ति की तृप्ति नहीं होती। यह उसे भावना के प्रवाह में बह जाने वाला बना देता है। अविचारपूर्ण दान को सद्गुण नहीं मानना चाहिये वरन् इसे "विलासिता का एक विशेष विनाशकारी रूप" समझा जाना चाहिये।

त्रिवेकपूर्ण दान एक धर्म है। इसने अत्यधिक व्यक्तिगत परोपकार किया है, और अनेक व्यक्तियों का वास्तविक हित किया है। इससे चिकित्सालय, पाठशाला, अनाथालय, कुष्ठ रोगियों के गृह प्रसूति व अन्य परोपकारी संस्थाओं की स्थापना करने में सहायता मिली है।

आधुनिक विचारक दानशीलता को मध्ययुगी नैतिकता के विचार का अवशेष मानते हैं। ड्यूई और टफ्ट्स कहते हैं, "वह सिद्धान्त, जो दानशीलता को सर्वोत्कृष्ट चरित्र-गुण बनाता है सामन्तशाही समाज का अवशेष है, अर्थात् उन स्थितियों का, जिनमें एक उच्च वर्ग एक निम्न वर्ग के लिये अकस्मात् ही कुछ करके नाम अर्जित करते हैं। दानशीलता के इस विचार के विरुद्ध आपत्ति यह है कि यह भी उन कानूनों और सामाजिक व्यवस्थाओं को स्थिर रखने का बहाना बन जाता है जिन्हें स्वयं न्याय के लिये बदल जाना चाहिये। दान का उपयोग अपनी सामाजिक अन्तरात्मा को सन्तुष्ट करने के साधन के रूप में भी किया जा सकता है जबकि उसी समय सामाजिक अन्याय के शिकार होने वालों के मन में पैदा होने वाले रोष की भी इसमें शान्ति हो जाती है। उदात्त परोपकार निर्दय, आर्थिक शोषण को छिपाने का साधन भी हो सकता है। पुस्तकालय, अस्पताल, मिशन, पाठशाला इत्यादि को दान का तत्कालीन संस्थाओं को अधिक सहने योग्य बनाने तथा सामाजिक परिवर्तन को न करने के साधन से रूप में उपयोग किया जा सकता है।"[11] अतः दानशीलता विशुद्ध शुभ नहीं है। हमें समाज की ऐसी आदर्श व्यवस्था को लक्ष्य बनाना चाहिये जिसमें निर्धनता शेष न रहे।

11. ड्यूई और टफ्ट्स; नीति-शास्त्र पृष्ठ ३३४।

QUESTIONS

1. Definition and Scope and Methods of Ethics.

1. Indicate the Scope of Ethics. 2. Describe the distinctive character of Ethics showing how it differs from the natural science. 3. How do you distinguish Science from philosophy ? Do you consider Ethics to be a Science or a branch of Philosophy ? What arguments will you advance to defend your position? 4. 'Ethics is a science of the Good.' 'Ethics is a science of the Right. What different points of view do these definitions imply ? 5. In morals the achievement cannot be distinguished from the inner activity by which it is brought about. (*Mackenzie*). Explain this statement and discuss why Ethics cannot be regarded as an Art. If Ethics is a Science, is it natural or normative ? 6. Explain the Method of Ethics, and distinguish it from the Psychological, the Historical, and the Metaphysical method. 7. Discuss the value of Historical Method as applied to Ethics. 8. Distinguish between Facts and Values. With which of them is Ethics concerned ? Can an ethical theory be constructed on the basis of the mere study of facts ? 9. Explain the terms *positive, normative* and *practical* as applied to Ethics as a science. Discuss the suitability of each. 10. Explain :—(a) 'Ethics is *par excellence* the science of the *ought,* (*b*) 'Ethics is the science of the ideal involved in human life.' 11. 'Ethics is more closely related to Philosophy than to the natural science.' Explain the statement. 12. What is the practical value of the study of Ethics. What is the end of Ethics ? 13. Examine the view the Ethics, through a normative science, is not to be regarded as a practical science. 14. A science is a systematic investigation into some aspect of Nature. What, then, is exactly meant when we say that Ethics is a science ? Is Ethics a positive science, a normative science, or an Art ? Discuss. 15. 'Ethics is the study of what is right or good in conduct.' Discuss.

2. Relation of Ethics to other Sciences.

1. Discuss the relation of the Ethics to Metaphysics. Is Ethics based on Metaphysics ? Is Metaphysics based on Ethics ? Discuss. 2. Discuss the relation of Ethics to Psychology and Metaphysics. 3. Discuss the relation of Ethics to Economics. 4. Indicate the relation of Ethics to Psychology. Is Ethics a part of Psychology. Discuss. 5. Explain the relation of Ethics to Sociology and bring out the difference between them. Can Ethics be regarded as a branch of Sociology ? Clearly distinguish the method of Ethics from that of Sociology. 6. 'Ethics is the science

of the conduct of man as a social being.' Explain the statement. 7. Discuss briefly the view that Ethics must either be based on or perfect itself in religion. 8. Explain the relation of Ethics to Psychology, and show how far ethical theory has been affected by the results of psychological investigations. 9. Discuss the relation of Ethics to Politics and consider how far the conduct of a nation can be judged by the same moral standard as the conduct of an individual ? 10. 'The study of conduct leads us inevitably into the study of social life.' (*Mackenzie*). Explain the statement. Bring out clearly in this connection the relation of Ethics to Politics and Sociology.

3. The Psychological Basis of Ethics.

1. Distinguish between Moral and Non-moral actions. If a person is coerced to do wrong, is he morally responsible for the action ? 2. 'Conduct is the continuous adjustment of internal relations to external relations (*Herbert Spencer*). Discuss the statement. 3. Explain the biological and the ethical significance of conduct and indicate the relation of conduct to character. 4. Explain the relation of character to circumstances. Can conduct be said to be determined by character and circumstances as co-ordinate factors? 5. 'Virtue is a kind of knowledge, as well as a kind of habit.' (*Mackenzie*). Explain the statement 5. 'Desires are always for objects, and these objects are always relative to a self for whom they have value'· Discuss the statement. 7. 'Conduct consists of human actions, and these are always regarded as the expressions of the character of the man whose actions they are'. Describe fully the relation between character and conduct indicated in the above extract. 8. Explain 'the Universe of Desire, and show its bearing on moral life. Analyse desire. 9. Is desire always and necessarily directed to pleasure ? 10. Distinguisn between Desire and Motive ; Motive and Intention. Determine the meaning of Motive in Ethics. 11. Distinguish human *wants* from organic *wants* and animal *appetites*. 12. What are habits ? What is their moral significance ? Do they imply moral responsibility ?

4. Evolution of Moral Consciousness.

1. Trace the development of moral consciousness through different stages. 2. Explain custom as the standard of Group Morality. 3. Trace the growth of Individual Morality from Group Morality.

5. Moral Judgement

1. Distinguish the moral from the non-moral. Characterise the precise object of normal judgement. 2. Discuss the normal value of the following :—(*a*) A surgical operation that fails and kills the patient ; (*b*) A murder that is committed in the belief that it will bring political freedom to the country. 3. Is moral judgement intuitive or inferential ? What do you consider to be

the proper object of moral Judgement ? Give a reasoned answer. 4. What is the proper object of Moral Judgement ? Do you agree with the view that the end justifies the means ? 5. Does the moral quality of an act inhere in the act regarded objectively or in the subjective willing of the act, or in both ? Discuss the question with reference to a concrete example. 6. Give an account of the nature of moral judgement, showing wherein it differs from logical judgement and aesthetic judgement. What are the objects with which it may be said to be concerned and to what controversy has this led ? Was St. Crispin right when he stole leather from the rich to make shoes for the poor ? 7. 'The fully developed moral judgement is always pronounced directly, or indirectly, on the character of the agent. It is never simply on a *thing* done, but always on a *person* doing, that we pass moral judgement. Discuss the statement. 8. Distinguish between Motive and Intention. Which of them determines the moral quality of an action ? 9. What is the distinctive character of Moral Judgement ? Do we judge an act by its Intention or consequences ? 10. 'The end justified the means.' 'All is well that ends well'. Discuss. 11. Explain the various kinds of intentions, and bring out their moral importance. 12. 'The nature of an action has nothing to do with the morality of the action, though much with the worth of the agent.' 'The morality of an action depends entirely upon the intention.' (*Mill*). Discuss the statements.

6. Moral Concepts

1. Distinguish between Duty and Merit. How are degrees of merit to be estimated ? 4. Distinguish between Duty, Merit, and Virtue. Are they connected in any way ? 3. Determine the conditions and limits of moral responsibility ? 4. Distinguish between Right and Duty, Duty and Virtue, Merit and Demerit and Merit and Virtue. 5. 'Freedom and Necessity both are essential morals'. (*Mackenzie*) Explain the statement. 6. Analyse the concept of moral responsibility. What are the circumstances that exempt a person from the fulfilment of normal social obligations ? 7. Analyse the consciousness of duty and distinguish between 'obligations' and 'right' and 'virtue' and 'duty' as moral categories.

7. External Law as the Moral Standard.

1. Estimate the relative value of the theories which take Divine Law and Political Law as the moral standard. 2 'Moral obligation is founded on the belief that virtue is enjoined by the command of God,' Explain and discuss. 3. Classify the legal theories of the standard of morality and standards ? 4. Explain them briefly, and distinguish between Jural Ethics and Theological Ethics 5. Consider the significance of *Law* in Ethics, and explain the different forms in which it has been conceived as a standard of conduct. 6. Discuss the view of Morality in which Law is the dominant conception. What are its defects ? 7. Discuss

the relative merits of the various conceptions of the Moral Law.

8. Hedonism.

1. How does psychological Hendonism differ from Ethical Hedonism ? Is there any logical connection between them ? Give a critical estimate of psychological Hedonism. 2. Explain clearly the respective claims of Egoistic and Alruistic Hedonism. Are the two capable of reconciliation ? 3. Give an outline of J.S. Mill's arguments for (*a*) Psychosological Hedonism, (*b*) Ethical Hedonism, (*c*) Altruistic Hedonism, (*d*) Quality of Pleasures. Examine the soundness of his arguments. 4. In what respect is J.S. Mill's Utilitarianism an improvement on Bentham's Hedonism ? 5. Examine the doctrine of Psychological Hedonism. Does it necessarily lead to Ethical Hedonism ? What are the elements of truth in Psychological Hedonism ? 6. How did J. S. Mill's attempt to make Utilitarian Ethics consistent with Hedonistic psychology ? Is his recognition of 'kind of pleasure' consistent with his psychological Hedonism ? 7. Examine the difficulty of passing from the individual pleasures to the universal pleasure. Test the so-called proof of Utilitarianism. 8. How does the admission of J.S. Mill, that some forms of pleasure are intrinsically preferable to others, affect the doctrine of Utilitarianism ? 9. Explain clearly what you understand by the expression the greatest happiness of the greatest number. How far is the pursuit of this end consistent with the principle that every person desires his own happiness ? 10 Discuss the various objections against Ethical Hedonism. 11. Is Hedonism identical with Utilitarianism ? Give a critical estimate of the Utilitarianism of J.S. Mill. 12. Show how Bentham bases his Altruistic Hedonism on Psychological Hedonism. What does he understand by dimensions of pleasure ? Critically examine Bentham's ethical doctrine. 13. Examine the psychological and metaphysical presuppositions on which Hedonism is based ? Can an Altruistic system be erected on Hedonism basis? 14. Write short notes on the following :—(a) paradox of Hedonism ; (b) Egoistic Hedonism; (c) Universalistic Hedonism; (d) Kinds of pleasure; (e) External and Internal Sanctions of Morality; (f) 'The amount of pleasure being equal pushpin is as good as poetry' 15. Discuss how far the principal of summition of pleasure is fundamental to Utilitarianism. 16. What improvement is made by J.S. Mill upon Bentham's Utilitarianism ? Mill's refined Utilitarianism is said to be a departure from the hedonistic standpoint, Discuss. 17. Show how Bentham and J.S. Mill attempt to pass from Egoism to Altruism. It is possible to do so on the basis of Hedonism. 18. How does J.S. Mill define a Hedonism against the charges of (*a*) Selfishness, and (*b*) Sensuality ? How for does he succeed in his attempts ? 19. 'Altruism is only magnified Egoism." 'A philanthropist is therefore to be denounced as an egosit. Do you agree ? Discuss. 20. Give Mill's proofs of his theory of

Utilitarianism, and discuss their validity. 'It is better to be Socrates dissatisfied than a pig satisfied,' (*Mill*). Examine the statement.

9. Evolutionary Hedonism.

1. Distinguish between Empirical Hedonism and Evolutionary Hedonism. How far does evolutionary Ethics provide us with a moral standard ? Is Herbert Spencer's standard of Absolute Ethics attainable ? 2. What contributions has the theory of Evolution made towards the solution of Ethical problems ? Estimate their value. What are the main difficulties in applying the general theory of Evolution to the problems of Ethics ? What ethical criterion does the evolutionist set up in place of Utilitarianism ? 4. How does Evolutional Hedonism account for moral obligation and origin of conciousness ? Do you think it possible to conserve the objective character of the authority of conscience ‹ n the basis of this theory ? 5. What explanation is given by Evolutional Hedonism of—(a) the sense of moral obligation ; (b) the relation between Egoism and Altruism ? 6. Write short notes on the following—(a) Evolution as applied to morals ; (b) Absolute Ethics ; (c) Social organism ; (d Natural selection in morals. 7. How has the Utilitarianism of Bentham been modified by J. S. Mill by Herbert Spencer ? Is the transition from Bentham to J. S. Mill and from J. S. Mill to Spencer a gradual abandonment of Hedonism ? Discuss. 8. How does Leslie Stephen's ethical doctrine differ from Herbert Spencer's ethical doctrine ? Discuss.

10. Rational Utilitarianism

1. Compare the rational hedonism of Sidgwick with the empirical hedonism of Mill. How does the former avoid the faults of the latter ? Show how Sidgwick combines Hedonism with Rationalism ? How far does he succeed in reconcilling the two with each other ? 3. State Sidgwick's doctrine of Rational Utilitarianism. Does Sidgwick undermine Hedonism when he tries to establish it on the foundation of reason ? Discuss. 4. Trace the development of Hedonism from Bentham to Sidgwick. 5. Discuss how the progress of Hedonism through Bentham, Mill, Spencer and Sidgwick is an illustration of the gradual surrender of the Hedonistic principle. 6. Can Hedonism rightly pass from Egoism to Altruism ? Discuss. 7. Briefly trace the theory of Hedonism through the several stages of its growth. 8. How does Sidgwick reconcile Egoism with Altruism ?

11. Ideal Utilitarianism.

1. Distinguish Ideal Utilitarianism from Rational Utilitarianism. 2. Give a critical estimate of Ideal Utilitarianism. 3. Explain Naturalistic fallacy.

12. Intuitionism.

1. When conscience is referred to as fundamental principle of morals, we must not understand it to mean the conscience of this or that individual. Discuss. Is diversity of moral judgements compatible with Intuitionism, and is it consistent with Hedonism ? 3. Estimate the value of Intuitionism as a school of ethical thought. 4. Can the doctrine of Moral Sense provide an adequate basis for a standard of conduct which is universal and authoritative ? 5. Give a critical exposition of the characteristic historical forms of Intuitionism. 6. Explain clearly what you mean by Intuition in Ethics. Discuss the statement. If every man cities his own conscience, it is futile to talk about Objective Morality. 7. Give some account of 'moral Sense' theory of Hutchesen and Shaftesbury. Is it possible to base morality on feeling ? 8. Outline the leading features of Intuitionism as an ethical theory, noticing the difficulties involved in it. 9. Give a classification of the springs of action on a Psychological basis. Estimate the value of Martineau's ethical classification of the springs of action. 10. Examine the Aesthetic Sense theory of morality.

13. Rationalism.

1. Compare Kant's Categorical imperative with Utilitarian principle of conduct ; and discuss Kant's conception of humanity as a 'kingdom of ends'. 2. Discuss the Categorical Imperative of Kant. How far does it help us in determination of our duties ? 3. Discuss the principle of 'duty for duty's sake.' Give a critical estimate of the doctrine. 4. Formulate Kant's doctrine of the Categorical Imperative. Can particular duties be deduced from it ? What are the elements of truth in Kant's doctrine ? 5. 'There is nothing in this world or out of it that can be called good without qualification except a good will.' (*Kant*) Discuss this statement pointing out its logical implications in the ethics of Kant. 6. Kant's Ethics has been described both as too *formal* and as too *stringent*. Critically consider that view and estimate the importance of the Kantian principle in moral life. 7. Explain the nature of the moral law. Distinguish it from the law of Nature and the political law. Can the moral law be described as of the nature of a Categorical Imperative ? 8. Give a critical exposition of the characteristic historical forms of extreme Rationalism. 9. Give a critical exposition of Kant's view of the Moral Reason. 'It has been said that the idea of a Categorical Imperative lands us in sheer emptiness'. Discuss the proposition. 10. What is the meaning of Kant's dictum : 'you ought and therefore you can' ? 11. 'Kant's moral law is a negative precept; it is a mere principle of self-consistency'. (*Mackenzie*). Explain the statement. 12. Write short notes on the following :—(*a*) Paradox of Ascerticism : (*b*) Kant's composite theory of the End:

(*c*) Kingdom Ends ; (*d*) Autonomy ; (*e*) Categorical Imperative ; (*f*) Postulates of morality. 13. Kant's moral theory does not justify any doctrine of the *good ;* 'it is a theory of *duty* for duty's sake'. Elucidate the statement. 14. State briefly Kant's ethical theory. How far is the charge of Formalism levelled against Kant's theory valid ? Do you agree with the statement, 'Kant may be taken when some-what liberally interpreted, as one of safest guides in morals' ? (*Mackenzie*). 15. Mention the different ways in which Kant formulated his Categorical imperat ve and the aspects of moral life, brought by them.

14. Perfectionism : Eudaemonism : The Ethics of Personality.

1. Discuss 'Self-realization' as a conscious ethical end. Show that the ideals of self-realization and self-sacrifice are not inconsistent, if the meaning of the self' is correctly understood. 2. What is meant by self-realization as moral end ? Discuss the relation between self-realization and self-sacrifice. 3. How does the Ethics of self-realization reconcile Hedonism with Rationalism and Egoism with Altruism ? 4. 'We can realize the true self or the complete good only by realizing social ends. We must realize ourselves by sacrificing ourselves.' (*Mackenzie*). Explain the statement. 5. 'As the watchword of Hedonism may be said to be self gratification, and as that of Rationalism is apt to be self-sacrifice, so the watchword of Eudaemonism may be said to be self-realization. (*Seth*). Explain this fully. 6. What is the significance of the expressions (*a*) *Be a person* and (*b*) *Die to live ?* Consider this relation to the conception of self-realization as an ethical principle. 7. 'Every action which promotes the general good also must promote the agent's own good'. Discuss the statement with reference to the problem of self-realization. 8. Which self is to be realized ? Hedonism answers : 'The sentient self : Rationalism answers : The rational self ; Eudoemonism the total self, rational and sentient' (*Seth*). Explain the statement. 9. How does Eudaemonism account for moral obligation ? What is the nature of conscience according to the theory ? 10. Write short notes on the following—(*a*) 'My station and its Duties.' (*b*) Aristole's definition of Virtue ; (*c*) Butler's theory of conscience and its relation to Self-love and Benevolence ; (*d*) Plato's theory of Justice. 11. 'The realization of human personality means its realization in Society.' Fully explain this. 12. Distinguish between Hedonism and Eduaemonism, and estimate their ralative values as moral theories. 13. Fully expound the moral theory according to which the highest good lies in realization of the highest self. 14. Show how the question as to the nature of the Ethical End is connected with the question as to the nature of the Self. 15. Each of the various ethical theories has contributed some valuable element to the whole of ethical

thought.' Discuss the statement. 16. 'Perfectionism embodies all the elements of truth contained in other system of morality.' Explain the statement. 17. Define Personality, and give a simple exposition of the Ethics of Personality. 18. Explain the moral significance of the following :— (*a*) 'Know thyself' ; (*b*) Whosoever will seek to save his life shall lose it, and whosoever shall lose his life shall preserve it. 19. Distinguish between Egoism and Altruism. Is it possible to effect a conciliation between their rival claims ? 20. Is Eudaemonism Egoistic Hedonism ? Discuss.

15. The Standard as Value.

1. Is Moral Value extrinsic of intrinsic in character ? Is it commensurate with other values ? Expound the idea of value. In this connection bring out fully the distinction between intrinsic and extrinsic values, and show how in all types of ethical theory the chief Good belongs to the former category. 3. Distinguish between intrinsic and extrinsic values and show their relation to each other. What do you mean by commensurability of values ? What are the principles of the organization of values ? 4. Show how the Highest Good consists in the realization of extrinsic and intrinsic values in their proper relation to one another. Explain the relation of self-realization to realisation of values. 5. What is meant by Intrinsic Value ? Examine the view that Pleasure is the sole constituent of Intrinsic Value, 6. Write short notes on the following :— (*a*) Intrinsic Value : (*b*) Commensurability of Values : (*c*) Standard as Value ; (*d*) The Highest Good.

16. Nietzsche : Ethics Will-to power.

1. 'It is the function of philosophy to transform all values, to create new values, and a new civilization' (*Nietzsche*). Estimate the truth of this statement through a brief and critical exposition of the *newness* in Nietzsche's ethical philosophy. Has he really built a new morality or only demolished the old ? 2. Explain the ethical significance of Nietzsche's ideal of the Superman. 3. Comment on— (*a*) the Superman ; (*b*) Transvaluation of values ; (*c*) Morality of Masters ; (*d*) the Will to power. 4. Comment on the following :— 'Man is to be surpassed. He is a bridge and not the goal. (*Nietzsche*). 5. Compare Nietzsche's concept of Superman with Aurobindo's concept.

17. Gandhi's Ethics of Ahimsa.

1. Explain the ethical significance of Gandhi's principles of *Ahimsa* and fasting. Discuss the moral aspect of Non-violence as a rule of conduct. Write a short note on Ahimsa-3. Compare the ethical views of Nietzsche and Gandhi. Gandhi's principles of *Satyagraha* and *Non-violence* are in spirit ethical. Bring out the ethical significance of these two principles, and discuss their validity in the moral life of the

individual and the society. How would you judge them in the light of the moral standards of Hedonism, Evolution, and Self-realization ? 5. Discuss how far the good life must be a social life, with particular reference to the teachings of Gandhi and Nietzsche. Is there any purely *individual* good which rises far superior to the merely *social good* ? 6. Bring out clearly the differences between Nietzsche's Ethics of will to power and Gandhi's ethics of Ahimsa. Which of them appears to be satisfactory, and why ? Give your estimate of non-violence as a moral ideal.

18. Marxian Ethics.

1. What are the chief elements of Marxial Ethics ? Discuss their ethical value. Compare Marxial Ethics with utilitarianism, and discuss their metaphysical presuppositions.

19. Emotional Ethics of Logical Positivism.

1. 'Ethical judgments are expressions of emotions'. Discuss. 2. Explain the ethical theory of some Logical Positivists and evaluate its ethical value.

20. Neo-Intuitonism.

1. Explain the relation of 'Right' to 'Good' according to Neo-Intuitonism. Which of them is fundamental and why ? Give critical estimate of the ethical doctrine of W. D. Ross. Is it a satisfactory doctrine ? Give reasons for your answer.

21. Indian Ethics.

1. Give a critical estimate of the Ethics of the Charvakas. 2. Compare the Karmayoga of the *Bhagavad Gita* with Kant's Ethics of 'Duty for Duty's sake'. Bring out the points of similarity and difference between them. 3. Explain Aurobindo's concept of 'Superman' and compare it with Nietzsche's concept.

22. Individual and Society.

1. In what respects has 'the organic view of society' corrected and influenced Ethical Ideals ? 2. While it is true that life of an individual is relative throughout to the social unity to which he belongs it is none-the-less true that it is in the personality of individuals that the social unity is realised.' (*Mackenzie*). 3. State the problem raised by the conflicting claims of Individualism and Socialism and indicate the lines on which you would attempt a solution of its what sense and to what extent is the analogy of an organism applicable to human society ? 4. Dwell on the following points :—(*a*) the relation between the individual and society ; (*b*) the facts supporting this conception : (*c*) the sense in which the end is to be regarded as a personal one. 5. Discuss the relation between Society

and Individual and in the light of this discussion, examine the statement : 'The individual cannot be true to his own personality without being true to the personality of all whom his conduct in any way affects. (*Seth*). 6. How far does the conception of a social organism adjust the respective claims of the individual and society ? 7. What is your own view of the relation of the individual to society ? 8. How would you, according to this view, reconcile the conflicting claims of Individualism and Socialism and indicate the lines on which you would attempt a solution of it. 9. As the individual apart from society is an unreal abstraction, so is society apart from the individual. Examine the position.

23. Moral Institutions.

1. Attempts have been made to destory the family and the State. Discuss the etoical merits and demerits of such attempts. 2. Estimate the value of Social Institutions in the moral life cf an individual. 3. Describe certain Social Institutions favouring the growth of morality (1).

24. Rights and Duties.

1. What is the relation of rights to duties ? 2. Write short notes on the following—(*a*) Casuistry ; (*b*) Duties of Perfect and Imperfect Obligation ; (*c*) Conflict of duties ; (*d*) My station and its Duties. 3. Point out the place of rights and obligations in the relation of individual and society and critically estimate the distinction between duties of perfect obligation and duties of imperfect obligation. 4. What do you understand by conflict of duties ? How should an individual act in such a case ? 5. What do you mean by a Conflict of Duties ? Give an example of it. Can each of the conflicting elements in such a case be properly called a duty ? What is the ethical solution for such a conflict ? 6. Casuistry consist in the efforts to interpret the precise meaning of the commandments and to explain which is to give way when a conflict arises *Mackenzie*. Is Casuistry the goal of ethical investigation ? Discuss the question fully, meaning what has been said for and against it. 7. Distinguish between (*a*) legal right, (*b*) Legal obligation and moral obligation. It may not be always right to do what one has a right to do. Explain and discuss. 8. Explain the meaning of the term 'right'. Would you concede Shylock's right to the pound of flesh according to the terms of his contract with Antonio ? If not, why not ? Is the distinction between Duties of Perfect Obligation and Duties of Imperfect Obligation valid ?

25. Virtues.

1. What is the relation of Duties to Virtues ? Give your own estimate of the Platonic classification of Virtues. 2. Discuss

the statement—'Virtue is a mean between two extremes, this mean, however, is no absolute and mathematical mean, the same for all individuals, but is relative to persons and circumstances'. (*Aristotle*). 3. What is meant by Cardinal Virtues ? Discuss the statement. 'The theory of Cardinal Virtues grows out of the psychological analysis of human nature.' 4. Is it possible to classify the virtues from the ethical standpoint ? What principles must be followed in attempting such a task ? 5. How far is the Platonic classification of Virtues suitable to the circumstances of the modern times ? 6. Is Virtue a kind of knowledge ? Discuss. 7. Explain the statement : 'Virtue is a kind of knowledge as well as a kind of habit.' (*Mackenzie*) 8, Comment on the following :—(*a*) 'Virtue is one, but the forms of vice are innumerable.' (*b*) 'The man who seeks to have a higher morality than that of his worth is in the threshold of immorality.' (*Bradley*) 9. Write short notes on the following :—(*a*) Aristotle's conception of virtues ; (*b*) Cardinal virtues ; (*c*) Ethos, (*d*) Duty and Virtue ; (*e*) Socratic conception of Virtue. 10. The virtues which it is desirable for human being to cultivate very considerably with different times and places'. Explain and examine.

26. Conscience moral Faculty.

1. Analyse the nature of conscience. It is present in ready-made form in all persons ? Give reasons for your answer. 2. Define conscience and consider how far it is reliable as a faculty of moral judgement. 3. Determine the nature of the moral faculty and its place in the human constitution. 4. 'An erring conscience is a chimera.' (*Kant*). Discuss. Consider how far it is infalliable as a faculty of moral judgement. 5. Discuss the different views of conscience, and give your own view with reasons. 6. Carefully distinguish the different functions attributed in conscience, when it is asserted by some that it is infallible, and by others that it can be unabated. 7. Expound the genesis of conscience from the standpoint of intuitional and utilitarian schools and thoughts, and discuss its validity as a standard of conduct. 8. Ethical doctrine must tell why, if the devil's conscience approves of the devil's acts, as it well may do, the devil's conscience may nevertheless be in the wrong. Discuss the statement. How does Butler's theory of conscience fare in the light of this criticism ? We must hope that a state of sentiment will grow up, such that the very thought of cheating the community or performing public duties slackly will be abhorrent to the moral sense of the average man'. Discuss this statement pointing out how the human conscience may be developed. Does such development mean that this standard is only a relative one ? 9. What is conscience ? How is Conscience interpreted from the standpoint of evolutionary ethics ? 10 Discuss the relation of Conscience to the Social System. 11. What is Conscience ? Explain the nature and place of Conscience in the human-

Conscience according to Butler. 12. What is the nature of Conscience according to Intutionism and Eudaemonism and Evolutionary Hedonism ?

27. Moral Authority.

1. Explain critically the different kinds of authority of the moral standard. Discuss the following :—'The authority, indeed must come home to us with a far more absolute power, where we recognize that it is our own law, than when we regard it as an alien force. (*Mackenzie*). 2. Discuss carefully the theories which admit but mistake moral obligation. 3. Determine the nature and ground of Moral Obligation. Is it possible to transcend it. 4. Discuss how far Hedonism in any of its forms can be regarded as furnishing an adequate basis for moral obligation. 5. Discuss the various theories of the source of moral obligation. What do you think to be the real basis of moral obligation ? 6. What is the explanation given of moral obligation by Evolutionary Hedonism. Is it sound ? What is meant by moral obligation ? Moral Obligation implies belief in a permanent spiritual self which is really the cause of its own actions. Discuss the statement. 7. Compare Martineau's Theory of Moral Obligation with Green's account it. 8. What is your own theory of moral obligation. Why do you prefer it ? Why am I morally obliged to do what I perceive to be right ? Briefly explain the different views held on the subject.

28. Moral Sanctions.

1. What do you understand by 'Moral Sanction ? Explain Bentham's classification of Moral Sanction, and the improvement introduced into it by Mill. 2. Which has greater authority in morals, a 'must' or an 'ought' ? In this connection explain Benthem's sanctions as forms a 'must' and show how Mill tries to improve upon them. 3. Discuss the basis of moral obligation. Explain, in this connection, the values, if any of external and internal sanctions. 4. What according to Utilitarianism, is the Internal Sanction of Morality ? Is Utilitarianism justified in setting up such a sanction ? 5. What are the external Sanctions of Morality ? What is their function in moral life ? Is J. S. Mill justified in introducing the internal Sanction of Morality ?

29 Theories and Punishment.

1. What is the ethical justification for the punishment of criminals ? What is *moral evil* and how can *sin and crime* be embraced under it ? 2. Is it possible to justify the infliction of punishment on ethical grounds? Explain the following statement fully : We may regard the retributive theory, then, when thus understood, 'as the most satisfactory of all theories of punishment (*Mackenzie*). 3. Discuss the ethical justification of capital punish-

ment. Critical examine the Deterrent, Reformative and Retributive theories of punishment. Which of them is valid and why ? 'Punishment is the negation of the wrong by the assertion of the right'. Discuss. What part has punishment played in the education of human race ? 6. Distinguish between Natural Evil and Moral Evil, and between Moral Evil and Error, and give examples. Can a person be morally responsible for his Error ? Give your reason with examples. 7. Distinguish between Sin and Error. Is it a sin or an error on the part of a young man to neglect his education ? Discuss the retributive theory of punishment with special reference to the question of capital punishment.

30. Moral Progress.

1. Can the moral be evolved out of the non-moral ? Discuss. Briefly indicate the chief directions in which there has been moral progress. 2. Indicate the character and course of moral progress. It is consistent with the Intuitional theory of moral ? 3. Write a brief essay on the nature of the Moral Progress and its relation to the moral ideal. 4. 'If in some respects our actions seem more trustworthy and based on broader and reasonable principles, in other respects we seem to have grown more selfish and dishonest than men were before.' (*Mackenzie*). Show by a critical interpretation of this statement what measure of moral progress we have attained. 5. Have we any right to think that world is getting morally better ? What ethical theory seems to be best fitted to account for moral progress ? Mention the criteria of moral progress. 6. Explain the statement ; A manifestation of the law of moral progress is found in the gradual subordination of the sterner to the gentler virtues.' (*Seth*). 7. Explain the statement : 'The fundamental law of moral progress is the gradual discovery of the individual.' (*Seth*). 8. What are the conditions of Moral Progress ? It is determined by a development of moral consciousness or by a change in the environment ?

31. Ethical Functions of the State.

1. 'The state exists for the sake of the person, not the person for the sake of the State. (*Seth*). Explain the statement. How is the existence of the State justified ethically, and what are its ethical functions ? 2. Discuss the value of the state as an ethical institution. 3. Herbert Spencer thinks that the only legitimate function of the State is the police function—protecting citizens from mutual aggression. Do you agree with him ? 4. Discuss the relation of the State to the individual from the moral standpoint. 5. Discuss the theories of individualism and collectivism, Socialism and Communism from the ethical standpoint. 6. Is Socialism or Communism the only alternative to Individualism ? Discuss.

32. International Morality.

1. 'Civilised nations are now so interdependent that one nation cannot suffer without bringing suffering upon the rest, and that one cannot rise in the scale of culture unless the others also are raised.' (*Stuart*). Discuss this statement from the standpoint of international morality, pointing out whether the standards of judging conduct should vary when we pass from morals between individuals to those between nations. 2. Write short notes on International Morality. 3. What is meant by International Morality ? Nations, it is affirmed, have no philanthrophy ; the only principle of action they recognize is the principle of self-interest. If this be so, can we talk of international morality at all ? 4. What are the causes of low international morality ? How can we promote it ?

33. Postulates of Morality.

1. 'In willing I am both free and determined ? *Determined* because my volition is not uncaused ; *free* because the immediate casual determinants of my volition are within my own consciousness.' Discuss this, and consider how far freedom, in this sense, is of ethical importance.' 2. 'Freedom of the will is a postulate moral Judgment.' Examine this view in the light of arguments advanced by Determinister against it, and show in what sense and to what extent moral conduct must be both free and determined. What does Mackenzie mean by the highest freedom ? 3. 'Since a man of character is bound by the law of his character, a free man must be without character.' Examine this statement, bringing out the true meaning and relation of *character* and *freedom*. Can a man be ethically both *free* and *bound* ? 4. What is the meaning of Kant's dictum '*you ought*, and therefore *you can*'. It has been said that the idea of self-determination combines the Libertarian and determinist theories. Examine this view. 5. Examine the validity of the arguments which are advanced by the Determinist against freedom of the will. 6. Freedom and Necessity both are essential to the morals (*Mackenzie*). Explain. 7. Is Determinism of Indeterminism consistent with ethical responsibility ? 8. What arguments are advanced by Determinism, Indeterminism, Self-determinism in favour of their positions ? Examine their validity, and give your view with reasons. 9. Explain the following :—(*a*) The Moral Law implies a law-giver ; (*b*) 'Ought' implies 'Can'. 10. 'Some belief in God and Immortality is postulated by the moral attitude.' (*Mackenzie*). Explain the statement. 11. Discuss the nature of God and Immortality of the finite self implied by morality. What are the moral arguments for the existence of God and Immortality of the Soul ? 12. Show how morality implies a theistic construction

of the Universe. Explain the attitude Nietzsche and Gandhi towards this problem. 13. Immortality is taken as one of the implications of moral life. What is meant by immortality here ? What are the Postulates of morality according to Kant ?

34. Relativity of Morality.

1. Is morality relative or absolute ? Discuss. 2. Morality varies in different societies and in the same society at different times. How can it be absolute ? Discuss.

35. Theory and Practice.

1. Discuss the relation of Theory to Practice according to the different ethical theories. 2. Write short notes on : (*a*) Moral syllogism ; (*b*) Contemplative Life : (*c*) Active Life. 3. Distinguish Ethics from Logic. Is Ethics an Art ? Discuss.

36. Problems of Political Ethics.

1. Can the State do without force ? Can it be based upon non-violence ? 2. Can the state be superseded by as social organization ? Discuss. 3. Discuss the ethical value of (*a*) war (*b*) racialism, (*c*) colour prejudice, (*d*) conscription. 4. Write critical notes on the following :— (*a*) Whether patriotism is capable of greater moral evil than good ; (*b*) Whether colour and race prejudice is a moral evil ? (*c*) Whether War for defending the independence of one's country or liberating one's country from domination by foreign power is morally justifiable 5. Discuss the comparative merits and demerits of Democracy and Dictatorship as political ideals. 6. Is an individual morally justified in revolting against the State ? Discuss. 7. Discuss the merits and demerits of war from standpoints of the personal good and the common good. 8. Is Totalitarianism ethically justifiable ?

37. Problems of Economic Ethics.

1. How far is the possession of private property essential to man's moral development ? Discuss. 2. On what moral principle distributive justice be based ? Discuss.

38. Problems of Social Ethics.

1. Discuss the following :— (*a*) Whether woman should be allowed equal opportunities service with man ; (*b*) Whether the existence of communal institutions is morally justifiable ; (*c*) Whether an individual should co-operate with social groups with which he is not in complete agreement. 2. Write critical notes on the following :— (*a*) Whether divorce is a moral evil or cure of moral evil. (*b*) Whether charity is essentially an

evil. (*c*) Whether woman should let careers interfere with motherhood. 3. Estimate the moral value of (*a*) Untouchability ; (*b*) Divorce, (*c*) Compulsory Widowhood : (*d*) Abolition of marriage. 4. Discuss ethical merits and demerits of the attempt to abolish the family as a social institution. 5. Discuss the ethical value of marriage as a condition of the self-realization of man and woman. 6. Discuss the moral value of (*a*) professional begging; (*b*) untouchability and (*c*) polygamy. 7. Indicate the place of the family in individual and social morals and discuss the view that as an ethical institution it should be abolished.